ओ३म्

व्याख्या सहित

शतपथ-ब्राह्मण

प्रथम काण्ड



भाष्यकार

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

दयानन्द संस्थान

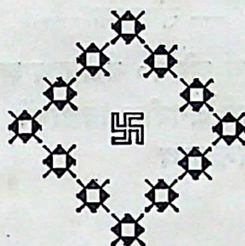
नई दिल्ली-५

जन-ज्ञान-प्रकाशन का १००वाँ पुष्प

॥ ओ३म् ॥

शतपथ - ब्राह्मण

[प्रथम काण्ड]



— भाष्यकार —

महान् विद्वान्

स्व० स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

[पं० बुद्धदेव विद्यालंकार]



: प्रकाशक :

दयानन्द - संस्थान

नई दिल्ली-५

प्रकाशक :

पंडिता राकेश रानी

मंत्री

दयानन्द संस्थान

१५६७ हरध्यानसिंह मार्ग, नई दिल्ली-५

दूरभाष : ५६६६३९



— संपादक —

—आचार्य श्री पं० वैद्यनाथ शास्त्री

—आचार्य जगदीश विद्यार्थी

—भारतेन्द्रनाथ

मूल्य : १५) मात्र

मार्गशीर्ष : संवत् २०३०

रायबहादुर चौ० नारायणसिंह प्रताप सिंह धर्मार्थ ट्रस्ट ने ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ १००१) प्रदान किया। संस्थान उनका आभारी है।

मुद्रक :
सैनी प्रिण्टर्स,
पहाड़ी धीरज, दिल्ली।



पौष संवत्
२०३०

प्रकाशक की ओर से !

ज्ञान-कर्म और साधना की पृष्ठ भूमि पर वेद-शास्त्र और दर्शनों के प्रकाण्ड पण्डित स्व० पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार ने अपने जीवन में जो अनमोल ग्रन्थ रचे हैं उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन है यह "शतपथ-ब्राह्मण" का भाष्य ।

स्वर्गीय पंडित जी का हम पर सदा विशेष स्नेह रहा, उनका आशीर्वाद भी मिलता ही रहा । शतपथ का भाष्य पूर्ण करना उनका स्वप्न था, इसीलिए जब वर्णाश्रम संघ के प्रधान माननीय स्वामी विवेकानन्द जी महाराज ने इसके प्रकाशन का प्रस्ताव रखा, तो हम ने सहर्ष स्वीकार किया ।

शीघ्रता में ग्रंथ के मुद्रण प्रकाशन में कुछ त्रुटियां रह जानी स्वाभाविक हैं, जिन्हें ध्यान दिलाने पर अगले संस्करण में ठीक कर दिया जाएगा । इस खंड के प्रकाशन का उद्देश्य विशेष रूप से यही रहा है कि यह अनमोल निधि प्रकाश में आ जाए । विद्वद्जनों ने यदि इसका स्वागत किया तो शीघ्र ही हम अगले कांडों का भाष्य भी प्रस्तुत कर सकेंगे ।

प्राचीन साहित्य की बुद्धिपूर्वक व्याख्या की यह विशिष्ट कड़ी है । जिसे पढ़कर हम सही दिशा व निर्देश प्राप्त कर सकते हैं । प्रभु का आशीर्वाद और सुहृद् जनों के सहयोग से ही यह सब कार्य सफल होते हैं और होते रहेंगे…… ……….।

सभी "शतपथ" के सत्पथ को समझ सकें, इसी कामना से यह ग्रंथ आप की सेवा में अर्पित हैं ।

अध्यक्ष :

दयानन्द-संस्थान

नई दिल्ली-५ १-१२-७३

—भारतेन्द्र नाथ



विषय-सूची





भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक जिसकी भूमिका लिखने का प्रयास किया जा रहा है शतपथ ब्राह्मण के भाषा-भाष्य का प्रथम काण्ड है। शतपथ ब्राह्मण में चतुर्दश कांड हैं। परन्तु यह केवल प्रथम कांड है। इस पर आर्य समाज के सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ महारथी एवं ख्यातनामा विद्वान् स्वर्गीय स्वामी समर्पणानन्द जी सरस्वती (भूतपूर्व श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार) कृत सुन्दर भाषा-भाष्य है। स्वर्गीय विद्वान् ने अपने जीवन काल में इस पर बहुत बड़ा प्रयत्न किया था। इस भाष्य में क्या विशेषता है और शतपथ ब्राह्मण जैसे गहन पारावार का मन्थन कर किन रत्नों को भाष्यकार विद्वान् ने पाठकों के लिये प्रस्तुत किया है, यह तो ग्रंथ के देखने से ज्ञात किया जा सकेगा। यहां पर मैं उन बातों पर कोई विशेष प्रकाश डालने को उद्यत नहीं हूँ। शतपथ ब्राह्मण का भाषा-भाष्य स्वर्गीय पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय कृत भी प्रकाश में आया है। परन्तु वह शतपथ ब्राह्मण का भाषा में अनुवाद-मात्र है। भूमिका में डा० स्वामी सत्यप्रकाश जी ने वैज्ञानिकी प्रक्रिया आदि पर कुछ प्रकाश डाला है। स्वामी समर्पणानन्द की यह कृति अनुवाद मात्र नहीं अपितु भाष्य है। इसमें उन्होंने अपनी प्रक्रिया को दृष्टि से ब्राह्मण के रहस्यों को खोलने का प्रयत्न किया है। शतपथ ब्राह्मण चूँकि वेद का व्याख्यान है अतः लेखक ने यह प्रक्रिया स्वीकार की है—

१. मंत्रों का अर्थ।

२. यज्ञ की प्रक्रिया।

३. मंत्रार्थ और क्रिया का परस्पर सम्बन्ध।

यह प्रक्रिया लेखक ने वस्तुतः ब्राह्मण शब्द के व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति के निमित्त को लेकर स्वीकार की है। भाष्यकार की दृष्टि में यही ब्राह्मण शब्द का अर्थ है और इसी के लिये वह प्रवृत्त है।

एक घना घोर जंगल : यह शतपथ

शतपथ ब्राह्मण वस्तुतः एक घना घोर जंगल है। इसमें पार होना

बड़ा कठिन ही नहीं दुःसाध्य भी है। जो जितना ही इसमें बुद्धिपूर्वक भटकने की शक्ति रखेगा उतना ही ज्ञानराशि के खोजने में सफल होगा। जंगल तो यह घोर भी, घना भी है और कण्टकाकीर्ण भी है। परन्तु ज्ञान-विज्ञान के सुस्वादु फलों से लदा हुआ है। वर्तमान में उसकी प्रक्रिया लुप्त सी है अतः वह दुःसाध्य मालूम पड़ता है। मैं समझता हूँ कि इस ग्रन्थ को पढ़कर इस महा घने घोर जंगल में बैठने की प्रवृत्ति तो उत्पन्न हो ही जावेगी।

शतपथ-ब्राह्मण क्या है ? ब्राह्मण का अर्थ

वस्तुतः देखा जावे तो शतपथ और ब्राह्मण दोनों ही शब्द एक समस्या हैं। शतपथ नाम इस ब्राह्मण का क्यों पड़ा ? यह ज्ञात करना कठिन हो गया है क्योंकि इस सम्बन्ध में अन्य ग्रन्थ उस काल के उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी शतपथ ब्राह्मण के कलेवर-विस्तार और उसमें वर्णित एवं प्रतिपादित ज्ञान क्रमों और उनकी शाखाओं के विस्तार को देखकर एवं मनन कर यह सुतराम् स्पष्ट हो जाता है कि शतपथ वस्तुतः शत पथों वाला ही है। इस ब्राह्मण के अध्ययन से निम्न बातें सामने आती हैं—

१—मंत्रों का अर्थ।

२—यौगिक निरुक्ति जो वेद के शब्दों पर की गई है।

३—यज्ञ के रूप की समृद्धि करना और निहित क्रियाओं की वैज्ञानिकी व्याख्या करना।

४—वेद के शब्दों का सृष्टिगत पदार्थों से सम्बन्ध स्थापित करना।

५—यज्ञ पद के व्यापक अर्थ को लेकर यज्ञों की प्रक्रिया का संमगन करना तथा वेदार्थ को उसी दृष्टि से खोलना।

६—वेद छन्द है, देवतामय हैं, मंत्र हैं, ज्ञान के आकर हैं—इन तथ्यों की पुष्टि करना।

शतपथ ब्राह्मण में ये सभी वस्तुएं घटती हैं। ऋग्वेद के १०वें मण्डल के १३०वें सूक्त में भाववृत्त का वर्णन है। उससे पूर्व नासदीय सूक्त १२९वां सूक्त है। इसमें भी भाववृत्त का ही वर्णन है। इन सूक्तों में दर्शन और विज्ञान की प्रक्रियायें पाई जाती हैं। इस १३०वें सूक्त के एक मंत्र में संसार को यज्ञ के रूप में वर्णन करके उसे अनेक तन्तुवों वाला बतलाया गया है। और इस यज्ञ को एक शत देवकर्मों से विस्तारित कहा गया है। अतः यज्ञ का वर्णन करने वाले शतपथ ब्राह्मण का यदि शतपथ नाम है तो अत्यन्त सार्थकता और महत्ता का द्योतक है।

ब्राह्मण वेद के व्याख्यान हैं। शतपथ तो इसका परम प्रमाण है।

इसमें यजुर्वेद के मंत्रों की नव-दश अध्यायों तक क्रमिक व्याख्या पाई जाती है। ऋषि दयानन्द ब्राह्मण पद का अर्थ ब्रह्मा आदि ऋषियों द्वारा किया गया वेद-व्याख्यान करते हैं। अतः ब्रह्मादिभिर्ऋषिभिः कृतं ब्रह्मणः (वेदस्य) व्याख्यानम् ब्राह्मणम् अर्थात् ब्रह्मा आदि ऋषियों द्वारा किया गया ब्रह्म अर्थात् वेद का व्याख्यान ब्राह्मण है। 'मख' पद यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसकी निरुक्ति ब्राह्मण ग्रन्थ करते हैं कि 'ख' का अर्थ छिद्र है और 'म' का अर्थ प्रतिषेध है। अतः मख अर्थात् यज्ञ वह कर्म है जिसमें कोई छिद्र वा न्यूनता नहीं रहती है। इसी प्रकार शतपथ १४।१।१।१३ में मघवान् की व्याख्या करते हुए इन्द्र को वस्तुतः मखवान् अर्थात् यज्ञवाला कहा गया है।

शतपथ ९।६।३।२८ में यह आख्यान मिलता है—यज्ञ ने कहा कि मैं नग्नता से डरता हूँ। फिर तेरी अनग्नता क्या है ? अर्थात् मुझे चारों तरफ से घेरना चाहिए। इसलिए चारों तरफ से इसे अग्नि से घेरा जाता है। यज्ञ ने कहा कि मैं तृष्णा से डरता हूँ। फिर किस प्रकार की तृप्ति तुम्हारी होगी—अर्थात् विद्वानों की तृप्ति से मेरी तृप्ति होगी। अतः यज्ञ में विद्वान् की तृप्ति से यज्ञ की तृप्ति होती है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण अनेक प्रकार की व्याख्याओं से भरा पड़ा है। सबको पढ़ने और विचार करने पर विविध प्रकार का ज्ञान उद्भासित होने लगता है। ब्राह्मण ग्रन्थ यह मानते हैं कि वेद छन्द और मन्त्र से युक्त है। छन्दों से ही सारा भुवन परिवेष्टित है। मन्त्र ज्ञान की राशि हैं जो विचार और यज्ञ के उन्नायक हैं। वेद शब्दों से सृष्टि के पदार्थों का सम्बन्ध है। सृष्टि की प्रक्रिया यज्ञ की प्रक्रिया से अनुस्यूत है अतः इसकी व्याख्या ही जगत्, जीव और भगवान् की व्याख्या है। इस समन्वय को ब्राह्मण स्थापित करते हैं। शतपथ में सर्वत्र इसका उदात्त रूप देखा जाता है। यह ब्राह्मण बहुत ही उपयोगी है। महर्षि ने यजुर्वेद भाष्य में मंत्रों के भाष्य के अन्त में लिखा है अयं मंत्रः शतपथे व्याख्यातः अर्थात् इस मंत्र की व्याख्या शतपथ में की गई है। फिर इसका विज्ञान-समन्वित भाष्य क्यों नहीं ?

जब यह ग्रन्थ इतना महत्त्वपूर्ण है तो इसका वैज्ञानिक भाष्य क्यों नहीं किया जाता—ऐसा लोग प्रश्न करते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में दो भाष्यों का वर्णन किया ही जा चुका है। अंग्रेजी में इस पर 'इगिलग का अनुवाद है। जयपुर से विज्ञानभाष्य के नाम से एक भाष्य प्रकाशित हुआ है। इस भाष्य की विशेषता यह है कि शतपथ ब्राह्मण को समझा जा सकता है परन्तु यह भाष्य नहीं समझा जा सकता है। कल्पनाओं की महती उड़ान है यह भाष्य। मेरे कई विद्वान् मित्र मुझसे बार-बार अनुरोध करते हैं कि

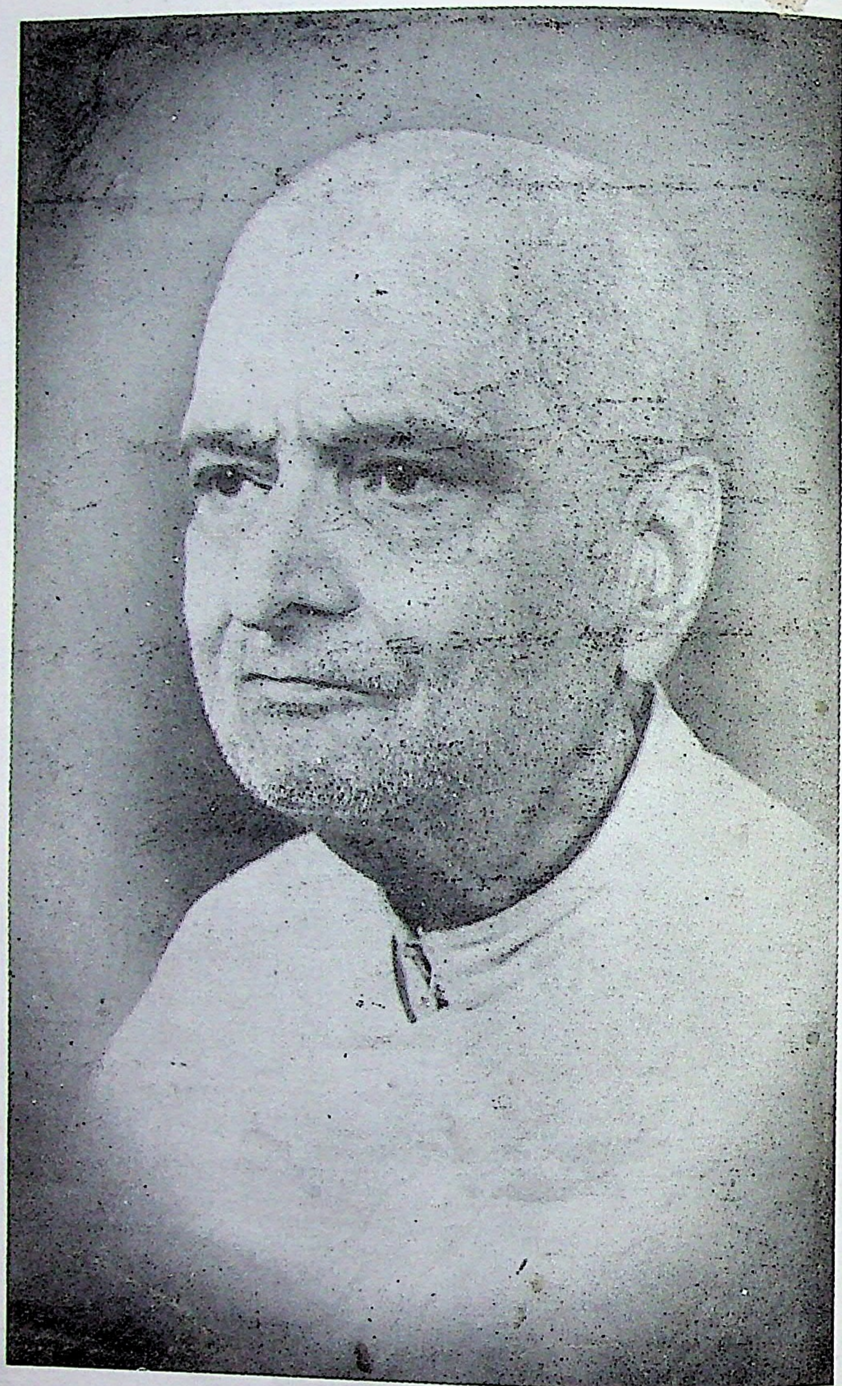
मैं 'मीमांसा दर्शन' और शतपथ ब्राह्मण का भाष्य करूँ। परन्तु अभी तक अन्य कार्यों में व्यस्तता के कारण इस महान् कार्य को करने में प्रवृत्त नहीं हो सका हूँ। मेरी इच्छा है कि इन दोनों कार्यों को मैं पूरा करूँ। समय मिलने पर इस इच्छा की पूर्ति का जीवन में प्रयत्न करूँगा। परन्तु इनके लिए पर्याप्त समय और साधन आदि अपेक्षित हैं। भगवान् चाहेगा तो इन कार्यों की पूर्ति हो सकेगी।

ऐसे महत्त्वपूर्ण शतपथ ब्राह्मण के एक काण्ड का यह प्रस्तुत भाष्य दयानन्द-संस्थान प्रस्तुत कर रहा है। यह भाष्य जैसा ऊपर कहा गया है स्वर्गीय स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज के दीर्घ प्रयत्नों का फल है। इस ग्रन्थ के पढ़ने से शतपथ के महत्त्व को समझने में साहाय्य ही नहीं अपितु दिशा भी मिलेगी। स्वामी जी महाराज के इस उत्तम ग्रन्थ को जनता के समक्ष प्रस्तुत कर दयानन्द-संस्थान ने एक बहुत ही उपयोगी कार्य किया है और स्वामी जी की निधि को रक्षित किया है। लोग इसे पढ़ें और ज्ञान-गंगा में गोते लगावें; अपना उपकार करें और औरों को भी पढ़ावें। सर्वत्र इसका प्रचार हो—ऐसी मेरी कामना है।

बड़ौदा
८-११-७३

—वैद्यनाथ शास्त्री





— ग्रन्थ के लेखक —

महाविद्वान् स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

[श्री पं॰ बुद्धदेव विद्यालंकार]

ग्रन्थ-परिचय

ग्रन्थ का परिचय देने के लिए मुझे यही ठीक जान पड़ता है कि इस बात का परिचय दूं कि मेरा इस ग्रन्थ से परिचय किस प्रकार हुआ। वाद-रसिक मैं बाल्य-काल से ही था। गुरुकुल में पढ़ते हुए यह रसिकता कदाचित् नीरस मात्रा तक बढ़ी हुई थी। मुझे इसका परिचय यों है कि एक समय सहाध्यायी लोग मुझे दूर से देखते ही कन्नी काटने की चिन्ता करने लगते थे। विशेषकर जिन्हें परीक्षा की तय्यारी के लिये अथवा किसी अन्य कारण से पढ़ाई में विशेष मनोयोग देना अपेक्षित होता था। इसका कारण यह था कि मेरा दूर से उदय होता देखकर ही वे समझ लेते थे कि अब उनके स्वाध्याय को वाद-राहु का खग्रास लगा चाहता है। पीछे से एक आदरणीय बन्धु की सुशिक्षा से मेरा यह लोक-पीड़ाकर स्वभाव तो दूर हो गया परन्तु इतनी बात अब भी स्मरण है कि उन दिनों के विवाद के विषयों में यज्ञों में पशुहिंसा भी एक विषय था। मेरा पक्ष होता था पशुयाग के विरुद्ध। अन्त को तान पूर्व-मीमांसा पर और पीछे उसके आधारभूत ब्राह्मण ग्रन्थों पर आकर टूटती थी। इन दोनों ग्रन्थों का ज्ञान न होने के कारण हम लोग यों ही चिरकाल तक व्योमताडन करके चुप हो जाते थे। यद्यपि पीछे से महाविद्यालय में शतपथब्राह्मण पाठ्यग्रन्थ भी था परन्तु उससे तीन ही लाभ हुए। एक तो निरर्थक यज्ञ-क्रियाओं के द्वारा हास्यरस के आलम्बन विभाव की प्राप्ति, दूसरे उस समय के शतपथाध्यापक पण्डित श्री सूर्यदेव जी की विचित्र भाव-भंगी-पूर्ण किन्तु सरलता-द्योतक विचित्र भाषा द्वारा कुछ विनोद-रसिकों का विनोद और तीसरे परीक्षा में कुछ अंकों की प्राप्ति। परन्तु उस वाद-रसिकता तथा ग्रन्थ-पाठ से हृदय में यह संकल्प अवश्य जाग्रत हो गया कि एक दिन इस बीहड़ ग्रन्थ रूपी जंगल में स्वतन्त्र संचार का मार्ग अवश्य ढूंढ निकालना है। इसी पशुयाग के निर्णय के लिए मैंने पूर्व-मीमांसा पढ़ने का भी प्रयास किया। किन्तु जितनी बार यह उद्योग किया उतनी बार ही यह दीखा कि जब तक यज्ञ-प्रक्रिया और ब्राह्मण ग्रन्थों का ज्ञान न हो पूर्व-मीमांसा पढ़ना नदी के किनारे खड़े होकर तैरना सीखने के समान है। तैरने के सब सूत्र याद हो जायेंगे परन्तु डूबने से बचना न आएगा। यही कारण था कि गुरुकुल छोड़ने के पश्चात् बरेली रहकर भी मैं यथासम्भव इस ग्रन्थ का स्वाध्याय करता रहा। उसके पश्चात् घटना-चक्र में पड़कर मैं लाहौर आया। वह लम्बी कथा है और यहाँ अप्रासंगिक भी है। बस मैं आ गया। उन दिनों आचार्य रामदेव जी वेद-प्रचार के अधिष्ठाता थे और मैं उन्हीं के साथ एक प्रकार का अन्ते-वासी होकर रहता था। एक प्रकार का इसलिए कहा कि यद्यपि मैं उनसे कोई ग्रन्थ अथवा विषय नहीं पढ़ता था तथापि वहाँ रहकर मैंने वह सीखा जिसे मैं अपने जीवन में सबसे मूल्यवान् पाठों में से एक समझता हूँ। अर्थात् मैंने अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखा कि लक्ष्मी एक सच्चे ब्राह्मण के आँगन में किस प्रकार ठोकरें खाती है। धन में अनुराग पहले भी कुछ अधिक न था, परन्तु हां, एक पाठ पढ़ना शेष था। सो वहाँ सीख लिया। मैं तो उसी दिन से उन्हें आचार्य कहता हूँ। उससे पहले तो वह **'विचार**

ग्राहयति विचार्यः' थे 'आचारं ग्राहयति आचार्यः' नहीं। अस्तु उस अन्तेवास-काल में आगरे से पण्डित घनश्याम जी की लिखी एक पुस्तक 'भूमिकाधिक्कार' निकली। मुझे कहा गया कि इसका उत्तर लिखो। मैंने इन्कार कर दिया। कारण यही था कि उसमें ऋषि दयानन्द पर आक्षेप किया गया था कि उन्होंने शतपथादि के अनुसार भाष्य करने की प्रतिज्ञा तो की परन्तु निभा न सके। हृदय नहीं मानता था कि ऋषि निभा न सके। परन्तु उत्तर तो तभी दे सकता था जब शतपथ का ज्ञान हो। उधर वेद में पशुयागवादियों का पक्ष पूर्व-मीमांसा की प्रक्रिया सहित विशाल व्यूह में सुसज्जित खड़ा था। इस समय से मेरी शतपथ पढ़ने की इच्छा एक प्रबल भूख का रूप धारण कर उठी। जितनी बार शतपथ का पारायण करता था यही दीखता था कि इस ग्रन्थ के साथ अन्याय हुआ है। अन्त को शतपथ ने ही मुझे वेद के पारायण के लिये बाधित किया। यह कथा तो यहाँ सुनानी अत्यन्त आवश्यक है। शतपथ ब्राह्मण में सोमयाग प्रकरण में पढ़ा कि **"दीक्षातपसो ह वा कुश्योरन्तर्निहितः सोम आस"** अर्थात् सोम दीक्षा और तप के गमलों में लगा हुआ था, वहाँ से वह लाया गया। एक और वाक्य जिसने मुझे अत्यधिक प्रभावित किया वह पुरोडाश विषयक था। वह यों था—**"यान्येवास्य शीर्ष्णः कपालानि तान्येवास्य कपालानि मस्तिष्क एव पिष्टानि"** अर्थात् पुरोडाश के कपाल वही कपाल हैं जो इस हमारे सिर के हैं, और उसमें पीस कर रक्खी हुई चावलों की पिट्ठी वस्तुतः मस्तिष्क है। अस्तु इस वाक्य की कथा तो यथा प्रसंग फिर कहूँगा। यहाँ तो केवल सोम की कथा कहनी है। मैंने विचारना आरम्भ किया कि दीक्षा और तप के गमलों में तो ब्रह्मचारी ही लगा होता है। तब फिर यह सोम जंगल का सोम नहीं किन्तु अवश्य ही कुछ और है। जंगल का सोम दीक्षा और तप के गमलों में नहीं होता। इसे मेरी सम्पूर्ण खोज का सूत्रपात कहिए। फिर सोम का जो सोमयाग में 'आतिथ्य' होता है उसे गुरुकुल से समावृत्त स्नातक के स्वागत से अत्यन्त मिलता-जुलता पाया। यहाँ से यह सन्देह और भी दृढ़ हो गया। हृदय कहने लगा कि हो न हो जिन्होंने सोम को एक बूटी समझ कर अर्थ किया है उन्होंने निस्सन्देह वेद का अनर्थ किया है। इसी खोज की इच्छा ने वेद के पारायण के लिए बाधित किया जिसके फलस्वरूप वह व्याख्यान है जो मैंने सोम के विषय में गुरुकुल विश्वविद्यालय व्याख्यानमाला में दिया और जो अब पुस्तकरूपेण प्रकाशित है। उस समय तक ऋक्, यजुः, अथर्व तीन वेदों का पारायण किया था, साम का नहीं। किन्तु मैं समझता हूँ कि उस पुस्तक में मैं निर्विवादरूपेण सिद्ध कर चुका हूँ कि सोम शब्द का प्रयोग कहीं वनस्पति, ऐश्वर्य, विद्वान्, न्यायाधीश आदि के लिये भी हो, परन्तु उसका वेद में सबसे अधिक मात्रा में प्रयोग गुरुकुल के स्नातक के अर्थ में हुआ है। इस पुस्तक के लिखने के पश्चात् मैंने साम का पारायण भी किया जिसमें एक मन्त्र ऐसा देखा जो मेरी स्थापना को इतना पुष्ट करता है कि कदाचित् फिर विवाद के लिये कोई स्थान ही नहीं रहता। मन्त्र यों है--

"शिशुं जज्ञानं हर्यतं मृजन्ति शुम्भन्ति विप्रं मरुतो गणेन। कविर्गीर्भिः काव्येना कविः सन्त्सोम-पवित्रमत्येति रेभन् ॥१॥ ऋषिमना य ऋषिकृत् स्वर्षाः सहस्रनीथः पदवीः कवीनाम्। तृतीयं धाम महिष: सिषासन्त्सोमो विराजमनुराजति ष्टुप् ॥२॥ चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्। अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति" ॥३॥ (सामवेद उत्तरार्चिक पंचम प्रपाठक प्रथमार्ध, मन्त्र १)।

इसका अर्थ सुनिये—

"वह सोम 'हर्यत" है---सबका वात्सल्य-भाजन है, सबका प्रेममात्र है। जब से वह जन्मा था, नन्हा-सा शिशु था, तबसे उसे माँजते आये हैं। वह 'विप्र' मेधावी है। सैनिक लोग अपने गण में रखकर उसे सुशोभित करते हैं। वह अनेक विद्याओं का, अनेक भाषाओं का पण्डित है। कविता करता हुआ बड़ी पवित्र भावनाएँ लिये हुए सभा में प्रवेश करता है। उसका मानसिक विकास हुआ है, उसका मन ऋषियों का मन है। वह आगे भी ऋषि पैदा करेगा, क्योंकि वह स्वयं 'स्वर्षाः' सूक्ष्मदर्शी है। हजारों को रास्ता दिखाने वाला है। कवियों की पगडण्डी है। वह विराट् अर्थात् प्रजा में शोभा पाता है, और फिर पीछे से विद्या बाँटने की भावना से वह महान् सोम तृतीय धाम अर्थात् वानप्रस्थाश्रम में स्तम्भ के समान विराजमान होता है। यदि वह क्षत्रधर्म धारण करता है तो शक्तिशाली सबका विभृत्वा (भरण करने वाला, क्वनिप्) होकर सेना में प्रवेश करता है और शस्त्र धारण करता हुआ नई-नई भूमि लाभ करता है और ऐश्वर्य्य रस में सबको स्नान कराता है। यदि वही महान् सोम तुरीयधाम अर्थात् संन्यास में प्रवेश करता है तो फिर वह नदी, पर्वत और समुद्र की सीमाओं से ऊपर उठ जाता है, उसका कोई स्वदेश नहीं रहता, वह समुद्र-तरंगों में विहार करता हुआ देश-देशान्तरों में शास्त्र का विवेचन करता है।"

इस प्रकार शतपथ ने मुझे वेद तक पहुँचाया और फिर वेद ने शतपथ के रहस्य खोले। आज मुझे निश्चय है कि महाभारत में जो पशुयाग के विषय में लिखा है कि---

धूर्तैः प्रकल्पितं चक्रं नैतद्वेदेषु कल्पितम्। (शान्तिपर्व २६४ अ०)
यह बिल्कुल ठीक लिखा है।

यद्यपि "मैं शतपथ के तत्त्व को पा गया हूँ और इसके विषय में कुछ जानना शेष नहीं" ऐसा कहने का दुस्साहस वही कर सकता है जिसे कभी विद्वन्मण्डली में बैठने का सौभाग्य न मिला हो, किन्तु इतना तो अवश्य कह सकता हूँ कि मैंने शतपथ के विषय में अब तक जो कुछ जाना है वह आगे आने वाले भाष्यकारों के लिये मार्गदर्शक होगा तथा अनेक ग्रन्थ-ग्रन्थियों को सुलझाने में सहायक होगा।

पशुयाग के विषय में भी इतना वक्तव्य है कि हो सकता है कि जिन स्थलों से पशुयाग के विधान की भ्रान्ति होती है उनमें से सबका यथार्थ अर्थ क्या है, यह मैं पूर्णरूपेण प्रकाशित न कर सकूं, परन्तु मेरा विश्वास है कि मैं पाठकों को इतना मनाने में तो सफल हो जाऊँगा कि पशुयाग विधानपरक अर्थ ठीक नहीं। और अधिकतर स्थलों का रहस्य खोलने में भी समर्थ हो जाऊँगा। यदि मेरे दिखाये मार्ग से मेरे किये अर्थों का प्रत्याख्यान करके भी कोई विद्वान् ठीक अर्थ तक पहुँचने में समर्थ हो जावे तो मैं समझूँगा कि भगवती श्रुति के हृदय-मन्दिर तक पहुँचने में एक विद्वान् का चरण-सोपान बनकर मेरा मस्तक धन्य हो गया है।

अब मैं संक्षेप से ग्रन्थ का परिचय देता हूँ। इस परिचय में अधिकतर स्थापनाएं ही होंगी। प्रमाण बहुत कम होंगे। जिन्हें प्रमाण-पुरस्सर उन स्थापनाओं की उपपत्ति देखनी हों वे मेरे बनाए लघु ग्रन्थ "शतपथ में एक पथ" का परिशीलन करने की कृपा करें।

इस ग्रन्थ के विचार महर्षि याज्ञवल्क्य के हैं और उनके किसी शिष्य ने इसकी रचना की है। इसमें १४ काण्ड हैं। इनकी विषय-सूची इस प्रकार है —

प्रथम काण्ड	दर्श-पौर्णमासयाग
द्वितीय काण्ड	अग्न्याधान
	अग्निहोत्र
	उपस्थान
	पिण्ड पितृयज्ञ
	आग्रयण
	दाक्षायण
	वैश्वदेव
	वरुण प्रघास
	साकमेध
	महाहविः
	त्र्यम्बकयाग
	शुनासीर्य्य
तृतीय काण्ड	सोमयाग
चतुर्थ काण्ड	,,
पंचम काण्ड	वाजपेय
	राजसूय
षष्ठ काण्ड	
सप्तम काण्ड	
अष्टम काण्ड	चयन विद्या
नवम काण्ड	
दशम काण्ड	अग्नि-रहस्य
एकादश काण्ड	यज्ञ-रहस्य
द्वादश काण्ड	सौत्रामणि
त्रयोदश काण्ड	अश्वमेध
चतुर्दश काण्ड	बृहदारण्यकोपनिषत् अर्थात् ब्रह्मविद्या

इस प्रकार देखने से पता लगता है कि समस्त ब्राह्मण में यज्ञ की विद्या है। फिर प्रश्न उठता है कि ऋषि दयानन्द ने ब्राह्मण को वेद का व्याख्यान-ग्रंथ क्यों कहा है, इसे तो यज्ञ का व्याख्यान-ग्रन्थ कहना चाहिये। इस प्रश्न का उ ार पाने के लिये पहले यज्ञ शब्द को समझना होगा। प्रायः यज्ञ का अर्थ अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त कर्मकाण्ड-गत क्रिया-कलाप लिया जाता है। परन्तु यह घोर भ्रान्ति है। वस्तुतः यज्ञ शब्द का अर्थ अग्निहोत्र, अश्वमेधादि कुछ भी नहीं। यज्ञ शब्द का अर्थ तो है—'संगठित समारम्भ' (Organised activity)। व्याकरण में जो संगतिकरण के साथ देवपूजा और दान ये दो शब्द और लगे हैं वस्तुतः वे स्पष्टीकरणार्थ हैं, देवपूजा और दान संगतिकरण के ही दो रूपान्तर हैं। जब कोई अवयव आपस में संगत होते हैं तो उन्हें संगत करने वाला उन्हें

संगतिदान करता है और वे संगत होने वाले उसकी पूजा करते हैं। जब एक सभा लगती है तो सभापति अथवा व्याख्याता निर्देशादेशोपदेश दान करते हैं और सभा उनकी पूजा करती है। सो भोजन खाने से लेकर सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना तक सम्पूर्ण संगठित कर्म्म यज्ञ हैं। अंगों की दृष्टि से भोजन यज्ञ है। परिवार की दृष्टि से गर्भाधान यज्ञ है। समाज की दृष्टि से वर्ण-व्यवस्था यज्ञ है। मानव-जगत् की दृष्टि से सार्वभौम राज्य यज्ञ है। और सम्पूर्ण चराचर की दृष्टि से संन्यासियों का सर्वभूत-दयामय वेद-प्रचार यज्ञ है। किन्तु जिस प्रकार घर में व्यूह-रचना की सुशिक्षा पाए बिना सेना युद्ध-क्षेत्र में नहीं लड़ सकती इसी प्रकार बारम्बार स्मरण किए बिना समुदाय के लिए एक अंग के बलिदान की वह भावना जो सम्पूर्ण यज्ञ-क्रिया का मूल है, मनुष्यों के हृदय में घर नहीं कर सकती। वेद का मन्त्र २ इसी भावना से भरा है। उन मन्त्रों के भाव को लेकर ऋषियों ने कुछ स्थूल क्रियाएँ ऐसी रचीं जो देखने में अति साधारण प्रतीत हों परन्तु उनका भाव अति गम्भीर हो। उदाहरण के लिए बालकों की शिक्षा ले लीजिए। एक मनुष्य बड़ा भारी विज्ञानवेत्ता है। उसने एक ऐसे अस्त्र का आविष्कार किया है जिससे एक घण्टे में लाखों मनुष्यों का संहार हो सकता है। वह इस अस्त्र को एक डाकू के हाथ बेचना चाहता है। उसके एक मित्र को इस बात का पता चलता है। वह कहता है, देख भाई, इससे लाखों नर-नारियों का वध होगा, यह अस्त्र तू किसी धर्मात्मा को दे, जिससे लाखों का विध्वंस होने के स्थान में भला हो। वह वैज्ञानिक उत्तर देता है--हम तो सूखे वैज्ञानिक लोग हैं, हम भावुक नहीं, लाखों मरें चाहे जिएं हमें क्या, हमें तो अपना आराम चाहिए। मित्र कहता है कि वज्र पड़े ऐसी शुष्क शिक्षा के सिर जो मनुष्य को सहृदय नहीं बनाती। उस समय वह अनुभव कर रहा है कि शिक्षा में सरसता अपेक्षित है। दूसरी ओर शत्रु का आक्रमण हो रहा है। संगीताचार्य जी अपना तम्बूरा लेकर चले। रास्ते में तोपखाने वाले मिल गए। उन्होंने पूछा, महाराज ! कहाँ जा रहे हो ? आप बोले इन्हें राग सुनाकर कहूँगा--**'वैष्णव जन तो तेने कहिए जो पीर पराई जाणे रे'**। बस तम्बूरा लेकर दो करुणरस भरी तान लेते ही विदा हो जावेंगे। उस समय तोपखाने का अध्यक्ष कहता है, महाराज ! किन पशुओं के आगे राग सुनाने चले हो। ये लातों के भूत बातों से न मानेंगे। यहाँ तो हमारी तोपों का नाद ही कुछ काम करेगा, आप अपने तम्बूरे का रस रहने दीजिए। उस समय हम अनुभव करते हैं कि शिक्षा में शुष्क ज्ञान की कितनी अपेक्षा है। यह दोनों ही अंश शिक्षा के लिए आवश्यक हैं।

वेद में ये बातें यों कही गई हैं--

अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि। यजु० १।१०।

अर्थात् हे मनुष्य, तुझे अग्नि और सोम दोनों की सेवा में लगा हुआ ग्रहण करता हूँ।

'अग्नीषोम' की व्याख्या करते हुए शतपथ में याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं—

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति आर्द्रं चैव शुष्कं च यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत् सौम्यं......अग्नीषोमयोः पुरोडाशः। श० का० १।६।२।२।२३

"अर्थात् यह संसार दो भागों में बँटा है, एक गीला, एक सूखा तीसरा कोई नहीं। जो सूखा है वह आग्नेय है जो गीला है वह सौम्य है। पुरोडाश अग्नि और

सोम का बना है।" सो उत्तम शिक्षा में शुष्क तथा आर्द्र, अग्नि तथा सोम (Intellect और Emotion) ज्ञान तथा भावना, विज्ञान तथा ललित-कला, आचार तथा विचार दोनों का उचित समावेश होना चाहिये। यही बात पौर्णमासयाग में पुरोडाश द्वारा कही गई है। ऊपर हम कह आए हैं कि "अग्नीषोमयोः पुरोडाशः" अर्थात् पुरोडाश अग्नि और सोम दोनों का मिलकर बना है। अब वह पुरोडाश क्या है, सो सुनिए :–

शिरो ह वा एतद्यज्ञस्य क्रियते यत् पुरोडाशः। (का. १.२.५–२.)

अर्थात् पुरोडाश यज्ञ का सिर होता है।

पुरुष को यज्ञ कहा ही है। सो सबका सार यों हुआ :—

पुरुष = यज्ञ
पुरोडाश = यज्ञ का सिर। इसलिए
पुरोडाश = पुरुष का सिर
पुरोडाश = अग्नीषोम। इसलिए
अग्नीषोम = पुरुष का सिर
अग्नीषोम = शुष्क आर्द्र। इसलिए
शुष्क + आर्द्र = पुरुष का सिर

शुष्क का प्रतिनिधि पिष्ट तथा आर्द्र का जल तथा घृत है।

सो परिणाम यह हुआ कि शिक्षा सहृदयता बिना ऐसी है जैसे बिना जल के तथा घृत के आटा। उसका न कोई पिण्ड बन सकता है, न रोटी। वह खाने के काम का नहीं। आग दोगे तो भस्म हो जायेगा। दूसरी ओर ललित कलाओं की शिक्षा बिना वैज्ञानिक तथा सांसारिक शिक्षा ऐसी है जैसा बिना आटे का जल। उससे प्यास मिट सकती है, भूख नहीं।

सो बिना इस शिक्षा के यह क्रिया बिलकुल निरर्थक है। और वह शिक्षा मंत्रों में भरी है। इस प्रकार यज्ञ भावनोत्पादक अग्निहोत्रादि कर्म जो उपचार से यज्ञ कहलाता है, वह मन्त्रों के बिना लगभग निरर्थक हैं। जो तत्त्व है सो तो मन्त्रों में भरा है। इसलिए जब तक मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान न हो तब तक यज्ञ एक प्राणहीन देह है। इसलिये यज्ञ-क्रियाओं में वेदमन्त्रों के अर्थ के प्रति जो अनुकूलता है उसका समझना आवश्यक है। किन्तु वह तब तक समझ में नहीं आ सकती जब तक मन्त्रों के अर्थों का ज्ञान न हो। इस प्रकार हमने देखा कि यज्ञों का रहस्य समझने के लिये तीन बातों का ज्ञान आवश्यक है :—

(१) मन्त्रों का अर्थ
(२) यज्ञ की प्रक्रिया
(३) मन्त्रार्थ और क्रिया का परस्पर सम्बन्ध।

इन तीन से मिलकर शतपथ ब्राह्मण बना है। अतः मन्त्रार्थ और यज्ञ-प्रक्रिया के परस्पर सम्बन्ध को समझाने के लिये महर्षि याज्ञवल्क्य को मन्त्रों के अर्थ भी दिखाने पड़े। इसलिये यज्ञ की व्याख्या के निमित्त से मन्त्रों की व्याख्या अपने आप हो गई है।

ऋषि दयानन्द ने अपने यजुर्वेदभाष्य में उस व्याख्या का ही उपयोग किया है, यज्ञ-प्रक्रिया का नहीं। इसीलिये अबोध अथवा दुराग्रही लोग कह उठते हैं कि ऋषिकृत भाष्य अपनी प्रतिज्ञा के अनुकूल नहीं।

इस प्रकार हमने संक्षेप से शतपथ ब्राह्मण का परिचय दिया है। क्रमशः भाष्य होने पर आप देखेंगे कि शिक्षाशास्त्र, समाजशास्त्र, युद्धकला, राजनीति आदि के गहरे तत्त्वों को शतपथकार ने सीधी-सादी क्रियाओं द्वारा कैसा अभिव्यक्त किया है! यह उपलक्षण (Symbol) द्वारा भाव व्यक्त करने की चाल थोड़ी बहुत सारे भूमण्डल के साहित्य तथा जीवन में देखने में आती है। परन्तु पूर्वापर-सम्बद्ध व्याख्यान के व्याख्यान उपलक्षण द्वारा कदाचित् संसार-भर के साहित्य में कहीं व्यक्त नहीं किये गए। पर शतपथ में यही किया गया है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ विश्व के साहित्य में अद्वितीय है। इतने दिनों तक यह रत्नों की खान रुधिर, मांस, हड्डी और कराहते पशुओं के आर्त्तनाद के भीषण ताण्डव के नीचे दबी पड़ी थी। ऋषि दयानन्द ने वेद की कुदाली हमारे हाथों में दी। उससे खोद कर मैंने यथाशक्ति जो कुछ निकाला है वह विद्वन्मण्डली के सामने है। मेरा जीवन तो इसके शब्दमय तथा कार्यमय दोनों प्रकार के भाष्य के अर्पण है। इसमें सफलता कितनी होगी वह फलदाता ही जाने। हाँ, कुदाली हाथ से न छोड़ना मेरा काम है। सो वह न छूटेगी, यह मेरा पूर्ण विश्वास है। भगवान् इन दुर्बल हाथों में बल दें।

—समर्पणानन्द सरस्वती

(१)

गाम्भीर्य्यं यदि तच्छ्रुतेरभिनवः पन्था यदि स्वीकृतः,
पूर्वाचार्य्यविलक्षणो [1]यतिवरस्यानुग्रहः कोऽप्यसौ ।
[2]शालग्रामगुरोः कृपा यदि पुनः पाण्डित्यलेशः क्वचित्,
किं किं नात्र परोपकारजनितं दोषास्तु ये ते मम ॥

प्रथमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

पौर्णमास यज्ञ के आरम्भ में व्रतोपायन विधि है। उससे पहले नाट्यारम्भ में नाट्यार्थ सूचक नान्दी की तरह आचमन क्रिया की जाती है। उसकी विधि इस प्रकार है कि—

व्रतमुपैष्यन् अन्तरेणाहवनीयञ्च गार्हपत्यञ्च प्राङ् तिष्ठन्नप उपस्पृशति। तद्यदप उपस्पृशत्यमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति तेन पूतिरन्तरतो मेध्या वाऽआपो मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति। पवित्रं वाऽआपः पवित्रपूतो व्रतमुपायानीति। तस्माद्वाऽअप उपस्पृशति ।१।

"व्रत धारण करने की इच्छावाला यजमान आहवनीय और गार्हपत्य अग्नि के बीच पूर्व की ओर प्राङ्मुख खड़ा हुआ जल का उपस्पर्शन करता है। सो इसका अभिप्राय यह है कि पुरुष अनृत बोलने (आदि दुष्ट कर्मों) से अपवित्र हो जाता है सो इसीलिये इस पवित्र कर्म में "इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि" (यजु० १।५) कहकर व्रत धारण करता है जैसा कि अभी आगे बताएंगे। सो व्रतधारण से मन में अनुकूलता उत्पन्न करने के लिये जल का उपस्पर्शन अर्थात् आचमन करता है, क्योंकि जल मेध्य है। मैं भी मेध्य होकर व्रत धारण करूँ। जल पवित्र है, मैं भी पवित्र पदार्थ से पवित्र होकर व्रत धारण करूँ।"

अब प्रश्न उठ सकता है कि जल तो शरीर को पवित्र करता है, मन को नहीं। तो इसका उत्तर यह है कि मन को पवित्र करनेवाले सत्य का व्रत धारण करते समय शरीर को पवित्र करनेवाले जल को भी अन्दर लेना एक विशेष सामञ्जस्य रखता है। स्वतन्त्ररूपेण जल मन की शुद्धि नहीं कर सकता, किन्तु हाँ आन्तरिक शुद्धि की इच्छा वाले व्रत धारणकर्त्ता की सहायता मधुरकण्ठ से गाते हुए कलाधर की मधुर वाद्य के समान सहायता अवश्य कर सकता है। यों तो किसी अंश तक जल का मन पर साक्षात् प्रभाव भी होता है, इसीलिये क्रोधाविष्ट मनुष्य को

---

१. ऋषि दयानन्द जी   २. पं० श्रो० शालग्राम जी शास्त्री

शीत जलपान का उपदेश दिया जाता है। किन्तु विशेष सुन्दरता इसमें यह है कि मनुष्य चिन्तन करता है जिस प्रकार जल शरीर में शान्ति उत्पन्न करनेवाला तथा मल का क्षालन करने वाला है, इसी प्रकार सत्यरूप व्रत मेरे मन को शान्त तथा निर्मल करेगा। जिस प्रकार गान-वाद्य एक स्वर में मिले होते हैं इसी प्रकार यहाँ भी वाह्य तथा आभ्यन्तर शुद्धि है। सो यह शुद्धि का स्वर दोनों ओर बज रहा है। इस आचमन क्रिया का यही स्वारस्य है।

सोऽग्निमेवाभीक्षमाणो व्रतमुपैति। 'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यता(यजुः १।५) मि' त्यग्निर्वै देवानां व्रतपतिस्तस्मा एवैतत्प्राह व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यतामिति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥२॥

"वह अग्नि को ही देखता हुआ व्रत धारण करता है। उस समय मन्त्र पढ़ता है **'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्"** सो इसका कारण यह है कि अग्नि अर्थात् परमात्मा सब देवों का व्रतपति है। जिस प्रकार यह भौतिक अग्नि प्रकाशमान होने के कारण मार्ग-दर्शक है उसी प्रकार इस व्रतपालन में परम प्रकाशधाम परमाग्नि अर्थात् परमाग्रणी प्रभु मार्गदर्शक है। साथ ही जिस प्रकार यह अग्नि दाह-गुण युक्त है उसी प्रकार सत्य-मार्ग से भ्रष्ट होने पर वह प्रभु मुझे दग्ध भी कर सकता है। इस प्रकार अग्नि को देखते ही इन भावों का चिन्तन करता हुआ परमाग्नि परमात्मा को साक्षी करके वह कहता है—हे व्रतपते! मैं व्रत पर चलूंगा। उसे पूर्ण करने में मैं समर्थ होऊँ। यह मेरा व्रत सिद्ध हो। इसमें अधिक और स्पष्ट करने की कोई बात नहीं।"

अथ संस्थिते विसृजते। "अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधी"-(यजु० २।२८) त्यशकद्धयेतद्यो यज्ञस्य संस्थामगन्नराधि ह्यस्मै यो यज्ञस्य संस्था-मगन्नेतेनन्वेव भूयिष्ठा...इव व्रतमुपयान्त्यनेन त्वेवोपेयात् ॥३॥

"अब समाप्ति पर व्रत विसर्जन के समय इसी को परिवर्तन करके इस प्रकार बोलता है **"अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधि"** अर्थात् हे व्रतपते अग्ने! आपकी कृपा से मैंने व्रत पालन किया। आपकी कृपा से मैं यह कर सका हूँ। आपकी कृपा से यह कार्य सिद्ध हुआ। जिसका यज्ञ समाप्त हुआ वह उसे पूर्ण कर सका है। उसी के लिये यज्ञ सिद्ध हुआ है जो यज्ञ की समाप्ति तक पहुँचा है। इसीलिये इस प्रकार कहता है। बहुधा लोग इसी ऊपर कहे 'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि' इस वाक्य से व्रत धारण करते हैं इसी वाक्य से व्रत धारण करे।"

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतञ्च सत्यमेव देवा अनृतम्मनुष्याः "इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति" (यजु० १।५) तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति ॥४॥

"यह निश्चय से दो हैं, तीसरा नहीं है अर्थात् संसार में दो ही प्रकार की शक्ति है, सत्य तथा अनृत। सत्य ही देव हैं। अनृत मनुष्य हैं। जब मनुष्य कहता है कि मैं अनृत को छोड़कर सत्य की ओर आता हूँ तो वह मनुष्यों में से निकल कर देवों की ओर आता है।"

"सत्यमेव देवाः" यहाँ कारण में कार्य की लक्षणा है जिसका उद्देश्य यह व्यञ्जित करना है कि देवों तथा मनुष्यों में और कुछ भेद नहीं। जात्या दोनों मनुष्य हैं। परन्तु सत्यभाषण, सत्याचरण, सत्य-व्यवहार, यह सत्य-परायणता ही उनमें देवत्व की उत्पादिका है। किं बहुना जिस समय से मनुष्य यह निश्चय कर लेता है

कि अब मैं सत्य की ओर जाऊँगा उसी समय से वह देवों में प्रवेश प्राप्त कर लेता है।

स वै सत्यमेव वदेत्। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यं तस्मात्ते यशो, यशो ह भवन्ति य एवं विद्वांत्सत्यं......॥५॥

"इसलिये मनुष्य सदा सत्य ही बोले। देव लोग इसी व्रत पर आचरण करते हैं। इसीलिये वे यश-स्वरूप हैं। जो इस बात को जानता हुआ सत्य बोलता है वह भी यशस्वरूप अर्थात् परम कीर्तिमान् होता है।"

अथ संस्थिते विसृजते "**इदमहं य एवास्मि सोऽस्मी**' (यजु० २।२८)त्यमानुष **इव वा एतद्भवति यद्व्रतमुपैति। न हि तदवकल्पते** यद्ब्रूयादिदमहं सत्यादनृतमुपैमीति तदु खलु पुनर्मानुषो भवति तस्मादिदमहं य एवास्मि सोऽस्मीत्येवं व्रतं विसृजेत्।६।

"पूर्वोक्त प्रकार से '**इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि**' कहकर व्रत धारण करने वाला व्रत विसर्जन के समय '**इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि**' अर्थात् इस समय में जो ही हूँ सो हूँ, इस प्रकार कहकर व्रत विसर्जन करे। क्योंकि व्रतोपायन द्वारा मनुष्य अमानुष-सा हो जाता है सो यह बात शोभा नहीं देती कि वह 'इदमहं सत्यादनृत-मुपैमि' कहे अर्थात् वह यह कहे कि अब मैं सत्य छोड़ कर अनृत की ओर आता हूँ। इस प्रकार करने से तो वह फिर मनुष्य कोटि में चला जायेगा। इससे तो यज्ञ का उद्देश्य ही नष्ट हो जायेगा। यज्ञ का उद्देश्य ही यह है कि प्रति पर्व्व में इस प्रकार व्रत धारण की आवर्त्तनिका (मुहारनी) से सत्य व्रत को मनुष्यों में दृढ़ करके उन्हें देव बनाना। यहाँ इसलिये 'य एवास्मि सोऽस्मीत्येव' जो कुछ हूँ सो हूँ, यह कहकर व्रत विसर्जन करे।"

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। जो मनुष्य 'व्रतमुपैति' अर्थात् व्रत धारण करता है वह '**अमानुष इव भवति**' अमानुष-सा हो जाता है। इस 'सा' पर ध्यान दीजिये। व्रत धारण करने मात्र से कोई देव नहीं हो जाता है। किन्तु हाँ, इस प्रकार के दृढ़ सङ्कल्प से उसमें देवत्व का स्वल्प काल के लिये आवेश हो जाता है। किन्तु वह देव होता कब है? इसका उत्तर है '**सत्यं वै देवाः व्रतं चरन्ति**' जब बार-बार व्रतोपायन द्वारा यह उसका स्वभाव उसके आचरण का एक अंग बन जाता है उस समय वह देव हो जाता है।

'अमानुष इव भवति यो व्रतमुपैति एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्।'

अब आशङ्का हो सकती है कि इसका अर्थ यह क्यों न करें कि मनुष्यों से भिन्न देव-योनि विशेष में उत्पन्न लोग सत्य पर आचरण करते हैं तो इसका उत्तर शतपथकार स्वयं दे रहे हैं '**सत्यमेव देवाः**' अर्थात् यहाँ देवयोनि विशेष कोई अभिप्रेत नहीं किन्तु '**सत्यमेव देवाः**' जो लोग सत्यस्वरूप हो जावें वही देव हैं। '**यदि सत्यादनृतमुपैमि**' अर्थात् सत्य से अनृत की ओर आता हूँ ऐसा कहे तो '**पुनर्मानुषो भवति**' फिर मानुष हो जाता है। इस वाक्य में यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। यहाँ किसी जन्मान्तर वा योन्यन्तर का कथन नहीं। '**यद् ब्रूयाद्.......तदु**' है। जो ऐसा कहे तो फिर मानुष हो जाता है। देवत्व की प्राप्ति के लिये केवल व्रत धारण करना पर्याप्त नहीं। किन्तु जिसने पूर्णमास-नाटक का अभिनय मात्र किया है उसे देवत्व से गिराने के लिये उलटा सङ्कल्प भी पर्याप्त है।

अथातोऽशनानशनस्यैव। तदु हाषाढः सावयसोऽनशनमेव व्रतं मेने। मेने ह टी देवा मनुष्यस्याजानन्ति तऽएनमेतद्व्रतमुष्यतं विदुः प्रातर्नो यक्ष्यत इति तेऽस्य विश्वे देवा गृहानागच्छन्ति तेऽस्य गृहेषूपवसन्ति स उपवसथः ॥७॥

अब यहाँ से खाने न खाने की (बात छेड़ते हैं), अर्थात् यह प्रश्न उठाते हैं कि व्रतोपायन के दिन कुछ खाना चाहिए कि नहीं। सो इस विषय में सवयस् के पुत्र आषाढ़ आचार्य का मत है कि अनशन अर्थात् कुछ न खाना ही व्रत है अथवा यदि बहुव्रीहि समास मान लें तो जिसमें खाना न हो वही व्रत है अर्थात् व्रत के दिन कुछ नहीं खाना चाहिए। यहाँ प्रसंग से उपवसथ अर्थात् उपवास शब्द की भी व्याख्या करते हैं। आजकल हिन्दी भाषा में उपवास शब्द का अर्थ कुछ न खाना यह समझा जाता है। परन्तु इस शब्द में यह अर्थ किस प्रकार आ गया इस बात पर इस प्रकरण में बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। उपवसथ की व्याख्या में कहते हैं कि देव लोग मनुष्य के मन को भली प्रकार जान लेते हैं। हमारी सम्मति में आजानन्ति का अर्थ 'आते हैं' करने से और भी सुन्दरता आ जाती है। उपसर्ग लगने से 'ज्ञा धातु' गमनार्थक बहुत स्थान पर देखी गई है जैसे—

देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते।

अस्तु 'आजानन्ति' का अर्थ आना हो अथवा जानना यहाँ सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि इस प्रकरण में 'देवाः' का अर्थ क्या है। हमारी सम्मति में यहाँ 'देवाः' का अर्थ 'दिव्य भावाः' ऐसा है। पहले हम अपना अर्थ उपस्थित करते हैं और पीछे उसके सम्बन्ध में युक्तियाँ देंगे। पहले अर्थ लीजिए। व्रतोपायन के दिन यज्ञ करने के अभिलाषी यजमान के मन में दिव्य, पवित्र भाव अतिथि होकर आते हैं। क्योंकि वह व्रतोपायन के समय देख लेते हैं कि कल प्रातःकाल यह हमारे निमित्त हवन करेगा। इसलिए उस दिन सब पवित्र भाव, सब प्रकार की दिव्य उमंगें उसके घर डेरा करती हैं। सो इन अर्थों में देव लोग उसके घर में आकर उसके समीप वसते हैं। इसलिए वह उपवसथ कहलाता है। सो ज्ञात हो गया कि उपवास शब्द का अर्थ वस्तुतः 'भूखा रहना' नहीं। इस शब्द का अर्थ वस्तुतः वही है जो इसका धात्वर्थ है अर्थात् समीप वसना। इसका अर्थ भूखा रहना किस प्रकार हो गया यह अगली कण्डिका में स्पष्ट हो जायेगा। अब पहले हम इस पर विचार करना चाहते हैं कि देव शब्द का अर्थ हमने दिव्य भाव किस प्रकार लिया। इसके लिए हम अंग्रेज़ी के एक शब्द का दृष्टान्त उपस्थित करना चाहते हैं। अंग्रेज़ी में एक शब्द सैल (cell) है। इसका अर्थ आप क्या करेंगे? आपको बाधित होकर कहना पड़ेगा कि हमें इसका अर्थ प्रकरण के अनुकूल करना होगा। बिजली के प्रकरण में इसका अर्थ बैटरी का कोष होगा। आयुर्वेद के प्रकरण में इसका अर्थ शरीर का घटक छोटा-सा पदार्थ ऐसा किया जाएगा। चलती भाषा में आप लोग इसका अर्थ जेलखाने की कोठरी इस प्रकार करेंगे। और वनस्पति शास्त्र में इसका अर्थ दूसरा ही होगा। इसी प्रकार देव शब्द का अर्थ असाधारण शक्तिमान अथवा इससे भी सीधा 'देने वाला' इस प्रकार करते हैं। किन्तु प्रकरणवश वह सूर्य्य, चन्द्रादि प्रकाश देने वाले पदार्थों का भी नाम होगा। दक्षिणा 'देने वाले' यजमान का भी नाम होगा। विद्या 'देने वाले' ब्राह्मण का भी नाम होगा। राज्य सुख 'देने वाले' राजा का भी नाम होगा। तथा अध्यात्म सृष्टि में नया उत्साह 'देने वाले' पवित्र भावों का भी नाम होगा। अब देखना चाहिए कि यहाँ क्या प्रकरण है? सो आचमन प्रकरण में कह आए हैं कि आचमन क्यों करना, "तेन पूतिरंतरन्तः" जिससे कि अन्दर से शुद्ध हो जाये।

पता लग गया कि इस क्रिया-कलाप का वास्तविक कार्यक्षेत्र 'अन्तरतः' अर्थात् अन्दर की ओर है। बस, जिस प्रकार आचमन आभ्यन्तर शुद्धि का प्रतिनिधि है इसी प्रकार भोजन करने न करने का सम्बन्ध भी आभ्यन्तर देवों से है। इसीलिए यहाँ भी आरम्भ में ही कह दिया गया है **"मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति"** अर्थात् देव लोग यजमान के मन को भली प्रकार जान लेते हैं। अथवा यदि **'आगच्छन्ति'** ऐसा अर्थ करें तो मन में आकर डेरा कर लेते हैं यह अर्थ होगा। किसी प्रकार भी समझें इस बात का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता कि यहाँ देवों का सम्बन्ध मन के साथ है।

अब प्रश्न यह रहता है कि यह सब कल्पना मात्र है अथवा इन अर्थों में देव शब्द का प्रयोग कहीं देखा भी जाता है। इस बात के निर्णय के लिए यथाक्रम प्रमाण उपस्थित करते हैं।

(१) सूर्य्यचन्द्रादि को देवता कहा गया है—

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्य्यो देवता चन्द्रमा देवता।

यजु० १४-२०

(२) यजमान को देव कहा गया है—

यो दीक्षते सः देवतानामेको भवति।

श० कां० ३ ब्रा० १ अ० १ कं० ८

जो यज्ञ में दीक्षित होता है वह देवों में से एक होता है।

(३) **मुग्धा देवा उत शुना यजन्त।**

अथ० ७।५।५

इस मन्त्र के भाष्य में सायणाचार्य देवाः का अर्थ **यजमानाः** ऐसा करते हैं।

(४) 'राजा' के अर्थ में 'देव' शब्द संस्कृत साहित्य में इतना प्रसिद्ध है कि इसके लिए प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं।

(५) ब्राह्मण के अर्थ में देव शब्द –

ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः।

श० कां० २ ब्रा० ५ अ० २ कं० ६

जिन्होंने पहले गुरु से विद्या पढ़ी है और फिर अनुवचन में लगे हुए हैं वे मनुष्यों में देव हैं।

(६) अश्वमेध प्रकरण में राजा को इन्द्र कहकर कहा है –

तस्य देवा विशस्ता इमा आसत इति श्रोत्रिया अप्रतिग्राहका उपसमेता भवन्ति तानुपदिशति।

श० कां० १३ अ० ४ ब्रा० १ कं० १४

उसकी प्रजा देव हैं, वे ये बैठे हैं, ऐसा कहकर जो अश्वमेध में प्रतिग्रह न लेने वाले श्रोत्रिय अर्थात् विद्वान् बैठे होते हैं उन्हें सामवेद सुनाता है (होता)।

(७) मानसिक पवित्र भाव देव –

आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा।

यजु० ४।७

शतपथ कां० २ अ० १ ब्रा० ४ कं० ६-१४

यहाँ अग्निदेव के आकूति, मेधा, दीक्षा, सरस्वती यह भेद कहे गए हैं जिनके अर्थ महीधर तक ने सङ्कल्पादि किए हैं।

(८) शतपथ प्रथम काण्ड अध्याय ४ ब्राह्मण ५ कण्डिका ६ में कहा गया है –

मनो वै देववाहनम्।

अर्थात् मन देवों का वाहन है। क्योंकि **'मनोहीदं मनस्विनं भूयिष्ठं वनीवाह्यते'** अर्थात् क्योंकि वह मनस्वी को बड़ी भारी उन्नति की दशा तक खींच कर ले जाता है।

(९) अश्वमेध प्रकरण में (कां०१३ अ०४ ब्रा०१ कं०३-१४) एक ही राजा को मनुर्वैवस्वत, यम वैवस्वत, वरुण आदित्य, सोमावैष्णव, काद्रवेय, कुबेर वैश्रवण, असित धान्व, मत्स्यसांमद, तार्क्ष्यवैपश्यत, धर्म्म इन्द्र, इन दस नामों से याद किया गया है।

अब राजा के ये दस नाम किन्हीं गुणों के भेद के ही कारण हो सकते हैं; अन्य कोई कारण नहीं हो सकता। वे गुण मन के अतिरिक्त और कहाँ निवास कर सकते हैं? अपनी भिन्न-भिन्न मानसिक अवस्थाओं के कारण ही राजा के दस नाम हैं। मानसिक अवस्थाओं का वह भेद कैसे पैदा होता है? राजा जब राज्य के भिन्न-भिन्न विभागों का अधिष्ठाता होता है तो उसको प्रत्येक विभाग के अनुकूल कोई विशेष भाव धारण करना पड़ता है। वही भाव उस विभाग का देव है। उसके मन में आविष्ट होने के कारण उस समय राजा का भी वही नाम हो जाता है। अब किस अवस्था के कारण राजा का क्या नाम होता है इस पर प्रत्येक अवस्था में जो राजा की प्रजा बताई गई हैं इनसे बड़ा अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसलिए हम नीचे उनकी तालिका देते हैं—

राजा	प्रजा	भाषार्थ
मनुर्वैवस्वत	अश्रोत्रियागृहमेधिनः	साधारणगृहस्थ
यमवैवस्वत	स्थविराः	बूढ़े लोग
वरुण आदित्य	युवानः शोभनाः	बाँके नौजवान
सोमावैष्णव	युवतयः शोभना	सुन्दर युवतियाँ
काद्रवेय	सर्पाः सर्पविदश्च	सर्प तथा सर्प विद्या जानने वाले
कुबेरवैश्रवण	पापकृतः	दण्डित दुष्ट लोग
असितधान्व	कुसीदिनः	व्याज खाने वाले महाजन
मत्स्यसांमद	मत्स्यहन्	(ग्राह आदि दुष्ट) मच्छों को मारने वाले पक्षी
वैपश्यतराजा	वयांसि वायोविधिकाश्च	तथा पक्षि-विद्या जानने वाले
धर्म्मइन्द्र	श्रोत्रिया अप्रतिग्राहकाः	निर्लोभ विद्वान्

इस प्रकरण में साहचर्य्य के बल से सर्प तथा पक्षी का अर्थ तद्गुण विशिष्ट मनुष्य लेना चाहिये ।

अस्तु हमारा इस प्रकरण के उपस्थित करने का यह तात्पर्य नहीं कि हम मनु-वैवस्वत आदि शब्दों की विस्तृत व्याख्या करें । वह तो हम त्रयोदश काण्ड के भाष्य में करेंगे । किन्तु यहाँ तो हमें केवल यह दिखाना है कि स्थिति (Capacity) के भेद से एक ही मनुष्य अनेक देवों का नाम पाता है । इससे ज्ञात हुआ कि उस स्थिति के मुख्य भाव का नाम देव है ।

वस्तुतस्तु देव नाम है ही भाव विशेषों का । वह भाव विशेष परमेश्वर में एकत्र समुदित हैं । इसलिये परमेश्वर के वे सब नाम हैं । अन्यत्र भी जहाँ मनुष्यों में, पदार्थों में, मानसिक भावों में, वह गुण पाये जायेंगे, उसी नाम से वह निर्दिष्ट होंगे, यही इसका मर्म्म है ।

अस्तु, हमने यह दिखला दिया कि देव शब्द के सूर्य्यादि पदार्थ, राजा, ब्राह्मण, यजमान, दिव्य भाव आदि अनेक अर्थ हैं । अब प्रश्न है कि यहाँ उपवसथ के अथवा सच पूछिये तो पूर्णमास के प्रकरण में देव का क्या अर्थ है, तो शतपथकार स्वयं ही इसका उत्तर देते हैं—

"मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति ।"

अर्थात् देव लोग मनुष्य के मन को जान लेते हैं । अथवा उसमें आ बसते हैं । इससे स्पष्ट है कि यहाँ देव शब्द से अभिप्राय पवित्र भावों से है ।

अब कण्डिका का अर्थ इस प्रकार हुआ—

"देव लोग अर्थात् दिव्य भाव मनुष्य के मन को जान लेते हैं अथवा उसमें आ बसते हैं । क्योंकि वह व्रतोपायन के समय ही जान लेते हैं कि प्रातःकाल हमारे लिये यज्ञ करेगा । सो उस समय सब प्रकार की पवित्र उमंगें तथा पवित्र मानसिक शक्तियाँ, उसके घर में आती हैं । सो क्योंकि उस दिन देव लोग, पवित्र भाव रूप देव उसके घर में आकर उसके उप अर्थात् समीप बसते हैं इसीलिये वह दिन उपवसथ कहलाता है ।"

अब भोजन न खाने का नाम उपवास कैसे हुआ इसकी व्याख्या अगली कण्डिका में सुनिये---

ताम्वेवानवक्लृप्तम् । यो मनुष्येष्वनश्नत्सु पूर्वोऽश्नीयादथ किमु यो देवेष्वनश्नत्सु पूर्वोऽश्नीयात्तस्मादु नैवाश्नीयात् ॥८॥

"सो यही बात बड़ी अनुचित है कि कोई मनुष्य घर में मनुष्य अतिथियों के आने पर उन्हें भोजन कराये बिना उनसे पहले भोजन करले फिर उसका तो कहना ही क्या जब कोई देवों को घर बुला कर उन्हें भोजन कराये बिना उनसे पहले भोजन करले । इसलिये उस दिन कुछ भोजन न करना चाहिये ।"

इस प्रकार आषाढ़ आचार्य्य का मत दिखा कर याज्ञवल्क्य का सिद्धान्त पक्ष उपस्थित करते हैं—

यदु होवाच याज्ञवल्क्य यदि नाऽश्नाति पितृदेवत्यो भवति यद्युऽअश्नाति देवानत्यश्नातीति स यदेवाशितमनशितं तदश्नीयादिति यस्य वै हविर्न गृह्णन्ति तदशितमनशितं स यदश्नाति तेनापितृदेवत्यो भवति यद्यु तदश्नाति यस्य हविर्न गृह्णन्ति तेनो देवान्नात्यश्नाति ॥९॥

"सो इसी विषय में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यदि उस दिन सर्वथा भोजन न करे तो पितृदेवत्य अर्थात् क्षीण हो जाता है और यदि भोजन करता है तो देवों का अपमान करके खाता है (इस उलझन से कैसे निकलना चाहिये ?) सो इस उलझन से बचने के लिये ऐसा करना चाहिये कि जिस द्रव्य के खाने पर भी वह न खाए के बराबर हो वह खा लेना चाहिये। प्रश्न उठ सकता है कि इस प्रकार का द्रव्य कौन-सा हो सकता है तो उत्तर देते हैं कि जिसकी हवि यज्ञ में न दी जावे अर्थात् जो यज्ञ में आहुति देने के काम न आतो हो, वह पदार्थ खाने पर भी न खाए के समान है, वह खा लेना चाहिये। सो क्योंकि कुछ खा लेता है इसलिये व्रत-विघातिनी क्षीणता नहीं आने पाती, वह अपितृदेवत्य अर्थात् अक्षीण हो जाता है। और क्योंकि ऐसा पदार्थ खाता है जो हविरूप से उपयोग में नहीं आता इसलिये देवों का अपमान करके भी नहीं खाता।"

तात्पर्य यह है कि यदि व्रतोपायन के समय मनुष्य बिलकुल भूखा रहे तो यज्ञ में उसका ध्यान क्या लगेगा और यदि उत्तम हविष्यान्न अर्थात् बढ़िया माल खा खाकर पेट भर ले तो भी चित्तवृत्ति रसास्वाद-कषायिता तथा भोजनोत्थ मांसलता के कारण तन्द्रायुक्त-सी हो जाती है। इसलिये कोई साधारण हलका भोजन आधार-मात्र खा ले, जिससे बोझ भी न हो और सर्वथा न खाने के कारण व्याकुलता भी न हो। इस प्रकार हमने देख लिया कि उपवास का अर्थ थोड़ा खाना, बहुत खाना, सर्वथा न खाना, आदि कुछ भी नहीं। उपवास शब्द का अर्थ तो समीपवास अर्थात् देवों के समीप वसना है। दिव्य भावों को मन में स्थिर करने के लिये विशेषकर कोई प्रतिज्ञा विशेष धारण करने अथवा पुनरावृत्ति करने के लिये मनकी एकाग्रता विशेष करने के निमित्त आचार्य्य लोग समय-समय पर थोड़ा तथा हलका भोजन अथवा सर्वथा भोजन न करने का आदेश करते आए हैं। इसलिये इस शब्द का अर्थ बिलकुल कुछ न खाना ऐसा समझा जाने लगा है। वस्तुतः उपवास शब्द स्वयं खाने न खाने के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहता।

अब यहाँ एक शङ्का और उठ सकती है। हमने यहाँ "पितृदेवत्य" शब्द का अर्थ 'क्षीण' ऐसा कर दिया है। यह बहुत लोगों को आश्चर्य में डालेगा। इसलिये हम इसके प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(१) वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः। ते देवा ऋतवः शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरो य एवापूर्य्यतेऽर्धमासः स देवा योऽपक्षीयते स पितरोऽहरेव देवा रात्रिः पितरः पुनरह्नः पूर्वाह्णो देवा अपराह्णः पितरः।

श० कां० २ अ० १ ब्रा० ३ कं० १

वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा यह देवऋतु हैं। शरद, हेमन्त, शिशिर ये पितर हैं। जो अर्ध मास बढ़ता है अर्थात् जिस अर्धमास में चन्द्रमा बढ़ता है वह देव है जो अर्धमास क्षीण होता है अर्थात् जिस अर्धमास में चन्द्रमा क्षीण होता है वह पितर है। तात्पर्य यह कि चढ़ता पाख देव तथा उतरता पाख पितर हैं। दिन देव है, रात्रि पितर है। फिर दिन का भी पूर्वाह्णदेव है, अपराह्ण पितर है।'

यहां स्पष्ट है कि 'योऽपक्षीयते' जो क्षीण होता है वह पितर है।

(२) और लीजिये—

यमो वैवस्वतो राजेत्याह तस्य पितरो विशस्त इम आसत इति स्थविरा उपसमेताः भवन्ति तानुपदिशति।

१३ कां० ब्रा० १ अ० ४ कं० ६।

अश्वमेध के पारिप्लवाख्यान में दूसरे दिन राजा को यम वैवस्वत कहकर उसकी स्तुति की जाती है। वहाँ कहा जाता है—"यह राजा यम वैवस्वत है, उसकी प्रजा पितर हैं, वे यहां बैठे हैं। सो जो बूढ़े लोग वहां होते हैं उन्हें वही होता यजुर्वेद सुनाता है।"

स वाऽआरण्यमेवाश्नीयात्। या वारण्या ओषधयो यद्वा वृक्ष्यं तदु ह स्माहापि बर्कुर्वार्ष्णो माषान्मे पचत न वाऽएतेषां हविर्गृह्णन्तीति तदु तथा न कुर्याद् व्रीहियवयोर्वाऽएतदुपजं यच्छमीधान्यं तद्व्रीहियवावेवैतेन भूयांसौ करोति तस्मादारण्यमेवाश्नीयात्।१०।

वह यजमान जंगली पदार्थ ही खावे। जंगली ओषधि अथवा अन्य जंगली वृक्षों के फल आदि जो मिल सकें अर्थात् फल मूलादि हलका भोजन करे। यह स्पष्ट रूप से कहने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि कोई मनचला हविष्यान्न के अतिरिक्त पदार्थों से ही भोग सामग्री पैदा न कर ले। उदाहरण के लिए बर्कुर्वार्ष्ण यजमान बना तो कहने लगा हविष्यान्न का निषेध है, सो उड़द का भी हवि तो कहीं नहीं दिया जाता, चलो मेरे लिए उड़द ही पका दो। परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। धान और जौ की हवि दी जाती है और फलियों से पैदा होने वाली दाल आदि भी उनके समकक्ष ही हैं। वहीं उपजती हैं और उन्हीं के व्यंजन बनते हैं, उन्हीं में दाल मिला कर उनका परिमाण बढ़ाने के काम में लाई जाती हैं। इसलिए सादा जंगली पदार्थ ही खावे।

स आहवनीयागारे वैतां रात्रिँशयीत। गार्हपत्यागारे वा देवान्वाऽएव उपावर्त्तते यो व्रतमुपैति स यानेवोपावर्त्तते तेषामेवैतन्मध्ये शेतेऽधः शयीताधस्तादिव हि श्रेयस उपचारः।११।

"वह यजमान इस रात आहवनीयागार अथवा गार्हपत्यागार में सोए। क्योंकि जो व्रत धारण करता है वह देवों की श्रेणी में सम्मिलित हो जाता है। सो जिन की श्रेणी में सम्मिलित होता है उन्हीं के बीच सोता है। उस दिन भूमि पर शयन करे क्योंकि अपने से बड़ों का आदर करने की यही रीति है कि उन से नीचे बैठे, नीचे सोए इत्यादि।"

स वै प्रातरप एव प्रथमेन कर्मणाभिपद्यतेऽपः प्रणयति यज्ञो वाऽआपो यज्ञमेवैतत् प्रथमेन कर्म्मणाभिपद्यते ताः प्रणयति यज्ञमेवैतद् वितनोति।१२।

"वह प्रातः सब से प्रथम कर्म द्वारा जल ही को पहुंचता है अर्थात् प्रातः जो कर्म करता है उसमें उसे सबसे पहला काम जल से पड़ता है। वह काम क्या है? वह जल को प्रणीता-पात्र में डालता है। इस घड़े से प्रणीता-पात्र में जल डालने को प्रणयन कहते हैं और यह प्रणीत अर्थात् विधि पूर्वक 'नीत' आपः जिस पात्र में डाली जाती हैं वह पात्र प्रणीताओं का पात्र होने के कारण प्रणीता-पात्र कहलाता है। सो आपः (जल) क्यों डाला जाता है क्योंकि वह यज्ञांग होने के कारण साक्षात् यज्ञ रूप है। सबसे पहले वह जल प्रणयन रूप प्रथम कर्म द्वारा यज्ञ को ही पहुँचता है। सो आपः का प्रणयन भी यज्ञ का ही विस्तार है।"

यहां आपः का क्या अर्थ है, वह किस की प्रतिनिधि हैं इस पर हम कुछ नहीं कहते क्योंकि १८वीं कण्डिका में स्वयं शतपथकार इस की व्याख्या कर देंगे। वहीं हम भी सारे प्रकरण पर अपना अभिप्राय प्रकाश कर देंगे।

स प्रणयति। 'कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ती' (यजु: १।६) त्यनिरुक्ताभिर्व्याहृतिभिः।१३।

अब यह व्रतोपायनरूप कर्म तथा यह सम्पूर्ण यज्ञ परमार्थतः किस उद्देश्य से किया जा रहा है यह बताते हैं। क्योंकि गार्हपत्याग्नि कुल संकल्प का तथा आहवनीय यजमान के व्यक्तिगत संकल्प का प्रतिनिधि है ऐसा आगे चल कर स्पष्ट करेंगे। परन्तु वे सब संकल्प अन्ततः किस परम संकल्प के अधीन हैं, किस संकल्प के अनुपघातेन चलते हैं, यह यहां बताने लगे हैं। प्रश्न हो सकता है कि तब तो पहले महासंकल्प का वर्णन होना चाहिये था, पीछे छोटे संकल्प का। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं। जिस प्रकार वरयात्रा में दूल्हा अनेक वृद्ध, गुरु आदि से छोटा होता हुआ भी प्रयोजनवशात् सबसे अधिक पूजा पाता है तथा मध्यासन पर बैठता है, इसी प्रकार यह यज्ञ व्यक्तिगत संकल्प के अध्यास निमित्तक होने के कारण अग्नि को देखते हुए व्रत धारण करने के पश्चात् महासंकल्प का वर्णन करते हैं। प्रश्नोत्तर रूप में यह मन्त्र है। "इस यज्ञ में तुझे कौन नियुक्त करता है ? वह किस लिए ? उसके लिए" जहाँ इस प्रकार परामर्शनीय-विहीन सर्वनाम का प्रयोग होता है वहां इस प्रकार बिना विशेष्य के सीधे 'उस' शब्द का प्रयोग हिन्दी भाषा में भी होता है वहां तात्पर्य परमेश्वर से ही होता है। यही बात यहां कही गई है कि यहां 'अनिरुक्त' अर्थात् देव विशेष नामोल्लेखविहीन कौन, किस के लिए' 'वह, उसके लिए' इस प्रकार के अस्फुट व्याहृति अर्थात् वचनों से यह क्रिया की जाती है, सो वह अनिरुक्त शब्दों से इशारों का पात्र प्रजापति है। यज्ञ यजमान के लिये प्रजापति है और परम प्रजापति प्रभु परस्परोपकारक अनेक शक्तियों का संगतिकरण होने का कारण यज्ञरूप है। इसलिये प्रजापति के साथ ही इस छोटे प्रजापति अर्थात् यज्ञ को जोड़ता है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मार्पण यह यज्ञ है। उसी को साक्षी रख के उस के प्रसाद निमित्त ही यह यज्ञ किया जाता है। यद्यपि अधिक विस्तार से आगे लिखेंगे किन्तु इतना लिख देना आवश्यक है कि जल यज्ञ में स्त्रीजाति का प्रतिनिधि है। इसलिये इस क्रिया में यह दिखाया गया है कि जब तक 'प्रणीता' अर्थात् सुशिक्षिता स्त्रियाँ भगिनी, माता, पत्नी आदि रूप में सम्मिलित हो कर यज्ञ संकल्प की साक्षी न बनें तब तक पुरुष परमेश्वर से विमुख रहता है।

यद्वेवापः प्रणयति । अमिद्र्वाऽइदं समाप्तं तत् प्रथमेनैवैतत्कर्मणा सर्वमाप्नोति ।१४।

"यह जो जल प्रणयन करता है इसका कारण है कि 'आपः' का अर्थ ही आपः' अर्थात् प्राप्त कराने वाली है, सब कुछ इनके द्वारा ही प्राप्त होता है। सो 'पहला ही कर्म ऐसा करता है जिस से सब कुछ प्राप्त हो जाता है।"

अब सब कुछ का क्या तात्पर्य है यह अगली कण्डिका में खोलते हैं—

यद्वेवास्यात्र होता वाध्वर्युर्वा ब्रह्मा वाग्नीध्रो वा स्वयं वा यजमानो नाभ्यापयति तदेवास्यैतेन सर्व्वमाप्तं भवति ।१५।

"अत्र अर्थात् इस यज्ञ में जो कुछ भी होता, अध्वर्यु, अग्नीध्र नहीं प्राप्त करा सकते अथवा स्वयं यजमान भी अपने आपको प्राप्त नहीं करा सकता वह सब उसे इस कर्म से प्राप्त हो जाता है" अर्थात् प्रणीता (सुशिक्षिता) स्त्रियाँ बहुत से ऐसे काम भी कर सकती हैं जो होता अध्वर्यु अग्नीध्र और स्वयं यजमान भी नहीं कर सकता।" भारतीय सभ्यता के विरोधी इन पंक्तियों को जरा आँखें खोल कर पढ़ें।

अब प्रश्न उठता है कि स्त्री-जाति जैसी शक्तिशालिनी जाति के लिए जिसे लोग शक्ति के नाम से ही पुकारते रहे हैं, जल प्रतिनिधि क्यों चुना गया तो इस का उत्तर देते हैं—

यद्वेवापः प्रणयति। देवान्ह वै यज्ञेन यजमानांस्तानसुररक्षसानि ररक्षुर्न यक्ष्यध्वम् इति तद्यदरक्षंस्तस्माद्रक्षाꣳसि।१६। ततो देवा एतं वज्रं ददृशुः यदपो वज्रो वाऽआपो वज्रो हि वाऽआपस्तस्माद्यनैता यन्ति निम्नं कुर्वन्ति यत्रोपतिष्ठन्ते निर्दहन्ति तत एतं वज्रमुदयच्छंस्तस्याभयेऽनाष्ट्रे निवाते यज्ञमतन्वत तथो एवैष एतं वज्रमुद्यच्छति तस्याभयेऽनाष्ट्रे निवाते यज्ञं तनुते तस्मादपः प्रणयति।१७।

"यह जो जल-प्रणयन विधि करता है सो इसका अभिप्राय यह है कि जब-जब देवों ने यज्ञ किया तब-तब उन्हें असुरों ने आकर रोक दिया। कहा, बस अब तुम और यज्ञ न कर पाओगे। सो क्योंकि उन्होंने रोक दिया इसलिए वह 'रक्षस्' अर्थात् रोकू कहलाते हैं।१६। जब-जब उन्होंने विघ्न किया तब-तब देवों को यही वज्र सूझा कि 'आपः'— स्त्रियाँ वज्र हैं। जल भी वज्र है। इसीलिए जहाँ से जल जाता है उस प्रदेश को नीचा करता जाता है। जहाँ रक्खा जाता है उस लौहपात्रादि को जला देता है। इसीलिए देवों ने इस वज्र को उठाया अर्थात् स्त्री-जाति की शरण गए। इस वज्र की सहायता से देवों ने 'तस्य' अर्थात् अपने यजमान का निर्भय निवास स्थान में यज्ञ विस्तारा। इसी प्रकार इस यज्ञ में भी यह यजमान उसी वज्र को उठाता है। इसका फल यह होता है कि इसका यज्ञ भी अभय अर्थात् भयहीन, अनाष्ट्र नाश रहित अर्थात् विध्वंसकारियों से रहित निवात स्थान में विस्तारा जाता है। इसीलिए जल-प्रणयन-विधि की जाती है।"

स्त्री-जाति के लिए जल से बढ़ कर अच्छा अभिनेता और कौन चुना जाय? जिस प्रकार वे आपाततः अबला हैं किन्तु उनमें अद्भुत शक्ति निगूढ़ है, इसी प्रकार जल भी आपाततः कितना सुकुमार है। किन्तु **"येनैता यन्ति निम्नं कुर्वन्ति यत्रोपतिष्ठन्ते निर्दहन्ति,"** जिधर गुज़रें बड़ों-बड़ों की अकड़ तोड़ कर नीचा कर दें, जहाँ ठहरें उस लोहे तक को दग्ध कर दें। इसमें भी कैसी शक्ति छिपी है। सब कुछ है पर अनुवादकर्त्ता बेचारा क्या करे। संस्कृत में स्त्रियाँ तथा जल पर्य्यायवाची "आपः" हैं। दोनों स्त्रीलिंग हैं। वह भाषा में ऐसा शब्द कहां से लाये और कोई शब्द ढूंढ भी निकाले तो उसमें 'आपः' के धात्वर्थ का "अभ्य पयन्ति" में जो चमत्कार दिखाया गया है वह कहां से लाए?

ता उत्सिच्योत्तरेण गार्हपत्यं सादयति। योषा वाऽआपो वृषाग्निर्गृहा वै गार्हपत्यस्तद् गृहेष्वेवैतन्मिथुनं प्रजननं क्रियते वज्रं वाऽएष उद्यच्छति योऽपः प्रणयति यो वाऽअप्रतिष्ठितो वज्रमुद्यच्छति नैनꣳशक्नोत्युद्यन्तुꣳ स ꣳ हैन ꣳ शृणाति।१८।

"ताः उनको अर्थात् उस जल को उंड़ेल कर गार्हपत्य की उत्तर दिशा में रख देता है। यह काम इसलिए करता है क्योंकि जल स्त्री है, तथा अग्नि पुरुष है गार्हपत्य घर है। जोड़ा मिल कर प्रजनन अर्थात् उत्पत्ति घर में ही करता है (घर के बिना नहीं)। जो आदमी जल-प्रणयन करता है वह एक वज्र उठाता है। बिना टेक बनाए जो वज्र उठाता है वह उठा नहीं सकता। क्योंकि वज्र उलटकर उसे मार देता है।"

जब कोई आदमी किसी भारी पदार्थ को दूर फेंकना चाहता है तो उसे अपने आपको टिकाने का भी यत्न कर लेना चाहिए, नहीं तो फेंकने का धक्का उसी पर उलट पड़ता है। इसीलिए तोप आदि चलाने के लिए विशेष प्रकार का स्थान बनाना पड़ता है। शतपथकार कहते हैं कि विवाह करना ऐसा है जैसा वज्र फेंकने का यत्न

करना। जो आदमी बिना सुखप्रद घर बनाए पत्नी को घर में ले आता है, उसके निवास का उचित प्रबन्ध नहीं करता, तो यह पत्नीरूप वज्र उसका उसी प्रकार नाश कर देता है जैसे जल कच्चे पात्र को अथवा वज्र बिना टेक के फेंकने वाले को। परिणय से पहले प्रणय और प्रतिष्ठा आवश्यक है। किन्तु प्रणय का अर्थ प्रेम नहीं सुशिक्षा भी है यह व्यञ्जना यहां है। स्त्री-जाति मात्र प्रणीता अर्थात् सुशिक्षिता होनी चाहिए, फिर परिणीता प्रणीता अर्थात् प्रणयवती भी होनी चाहिए। और उसका अधिकार है कि वह उत्तम घर में रहे। जो समाज इसका प्रबन्ध नहीं करता उसे यह सुकुमार वज्र 'आपः" संभृणाति' नष्ट कर देता है। जो पुरुष इस नियम का भंग करता है उसको भी यह नष्ट कर देता है।

स यद् गार्हपत्ये सादयति। गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा तद् गृहेष्वेवैतत प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति तथो हैनमेष वज्रो न हिनस्ति तस्माद् गार्हपत्ये सादयति।१९।

"वह जो जल को गार्हपत्य में अर्थात् गार्हपत्य के समीप उत्तर में रखता है इसका तात्पर्य्य यह है कि गार्हपत्य घर का प्रतिनिधि है, सो वस्तुतः 'आपः' को घर में प्रतिष्ठा अर्थात् टिकने के स्थान में प्रतिष्ठित करता है। तब उसको यह वज्र नष्ट नहीं करता। इसीलिए गार्हपत्य में रखता है।"

ता उत्तरेणाहवनीयं प्रणयति। योषा वाऽआपो वृषाग्निर्मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियतऽएवमिव हि मिथुनं क्लृप्तमुत्तरतो हि स्त्री पुमाँसमुपशेते।२०।

"आहवनीय के उत्तर की ओर प्रणयन करता है। इसका कारण यह है कि जल स्त्री है और अग्नि पुरुष है। दोनों मिल कर ही प्रजनन करते हैं। जोडे का यही ढंग सुहाता है। स्त्री की शय्या पुरुष के समीप उत्तर की ओर ही होती है।"

ता नान्तरेण संचरेयुः। नेन्मिथुनं चर्य्यमाणमन्तरेण संचरानिति ता नातिहृत्य सादयेन्नोऽअप्रनाप्ताः सादयेत् स यदतिहृत्य सादयेदस्ति वाऽअग्नेश्चापां च विभ्रातृव्यमिव स यथेव ह तदग्नेर्भवति यत्रास्याप उपस्पृशन्त्यग्नौ हाधि भ्रातृव्यं वर्धयेद् यदतिहृत्य सादयेद्यद्युऽअप्रनाप्ताः सादयेन्नो हाभिस्तं काममभ्यापयेद् यस्मै कामाय प्रणीयन्ते तस्माद्दु सम्प्रत्येवोत्तरेणाहवनीयं प्रणयति।२१।

"आहवनीय के उत्तर में जहाँ प्रणीता पड़ी हों उन के तथा आहवनीयाग्नि के बीच में से आना जाना नहीं चाहिए। क्योंकि कहीं ऐसा न हो जाय कि जोड़े के परस्पर व्यवहार के बीच में से गुज़र जावें।" इस का तात्पर्य्य यह है कि स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में दूसरे लोगों का हस्ताक्षेप जहां तक न हो वहां तक अच्छा है। इसलिए जहां स्त्री-पुरुष परस्पर प्रेमालापादि करते हों वहां जाना सभ्यता विरुद्ध है। यहीं तक नहीं। उनके परस्पर कलह आदि भी यथासम्भव उन्हें ही निपटा लेने चाहिएँ। तीसरे मनुष्य के लिए गहरे सम्बन्धों में यथार्थ तथ्य का ज्ञान प्राप्त करके ठीक-ठीक न्याय करना असम्भवकल्प है। नियम यह है कि जितना कोई व्यवहार अन्तरंग हो उतना ही उसमें बाह्य हस्ताक्षेप अनुचित है। प्रजनन स्त्री-पुरुष का अन्तरंगतम व्यवहार है। वही यहां उनके परस्पर व्यवहारों का उपलक्षण हो कर आया है। इस सिद्धान्त से कोई सहमत हो वा न हो, जिन ऋषियों ने पूर्णमास नाटक की रचना की है उनका और कम से कम पूर्णमास के याज्ञवल्क्य संस्करण द्वारा याज्ञवल्क्य का यही मत है।

"ता नातिहृत्येत्यादि—सो उस जल को न तो आहवनीय के अत्यन्त समीप ला कर रक्खे और न पहुँच से बाहर।"

ऐसा क्यों करे इसका भाव बताते हैं। वह कहते हैं कि "यदि अत्यन्त समीप ला कर रखें तो याद रखना चाहिए कि जल और अग्नि का परस्पर शत्रुभाव-सा 'अस्ति' अर्थात् जगत् प्रसिद्ध है, सो उसी प्रकार अग्नि पर जल की शत्रुता को बढ़ावे जैसा कि अग्नि पर जल स्पर्श कराने से होती है अर्थात् अग्नि बुझ जावे, यदि अति समीप ला कर रखे। यदि पहुँच से बाहर रखे तो वह उद्देश्य ही पूरा न हो जिस के लिये प्रणयन किया जाता है। इसलिए उचित दूरी पर आहवनीय के उत्तर की ओर प्रणयन करता है।"

प्रश्न हो सकता है कि यहां 'सम्प्रति' का अर्थ उचित दूरी पर ऐसा क्यों किया तो इस का उत्तर यह है कि ऐसा ही अर्थ करना संगत है।

इस विधि का भाव यह है कि पति-पत्नी को गृहस्थाश्रम में इस प्रकार रहना चाहिये जिससे उन्हें परस्पर एक दूसरे के ज्ञानादि अग्नि को उद्दीप्त करने के लिए पर्याप्त समय मिले। किन्तु इतना अधिक समीप न होना चाहिए जिससे कामातुरता बढ़े और पत्नी पति की अग्नि बुझाते-बुझाते अन्त को जीवनाग्नि के भी बुझाने का कारण बन जाय। दूसरी ओर एक दूसरे से वियुक्त भी न रहना चाहिए। क्योंकि यदि वियुक्त रहेंगे तो परस्पर सुसंगति से ज्ञान-वृद्धि आदि द्वारा उत्तम सन्तान प्राप्ति रूप जो गृहस्थाश्रम का उद्देश्य है वह भी पूरा न होगा।

हाय, आज हिन्दू-गृहस्थों का क्या बुरा हाल है ? जिस कर्म से बचाने को कहा था उस अग्निनाशक कर्म के लिए तो सास, ससुर, माता, पितादि सब ही पूरा-पूरा प्रबन्ध कर देते हैं। और परस्पर गम्भीर वार्त्तालाप, ज्ञान चर्चा आदि अग्नि-वर्धक कर्मों के लिए उन का बड़ों के सामने बात करना भी बेहयाई समझी जाती है। जिस जाति में काम के दीप्त होने का और ज्ञान के दीप्त न होने देने का ऐसा सर्वांगसम्पन्न प्रबन्ध हो वह नष्ट क्यों न हो ?

अथ तृणैः परिस्तृणाति। द्वन्द्वं पात्राण्युदाहरति शूर्पं चाग्निहोत्रहवणीं च स्फ्यं च कपालानि च शम्यां च कृष्णाजिनं चोलूखलमुसले दृशदुपले तद्दश दशाक्षरा वै विराड् विराड्वै यज्ञस्तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभिसम्पादयत्यथ यद् द्वन्द्वं द्वन्द्वं वै वीर्य्यं यदा वै द्वौ संरभेतेऽथ तद् वीर्यं भवति द्वन्द्वं वै मिथुनं प्रजननं मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते।२२।

"फिर वेदि को तृणों से ढकता है। जोड़ा-जोड़ा मिलाकर पात्रों को रखता है। वे जोड़े इस प्रकार हैं। शूर्प और अग्निहोत्रहवणी, स्फ्य और कपाल, शम्या और कृष्णाजिन, ऊखल और मूसल, सिल और बट्टा। ये सब मिलकर दस हुए। सो दस पात्रों से यहां दस अक्षरों वाला विराट् छन्द सूचित हुआ। इससे यज्ञ विराट् है। सो इस यज्ञ को भी विराट्रूपता प्रदान की गई। अब यह जो जोड़-जोड़े मिला कर रखता है सो इसका अर्थ यह है कि जोड़े में शक्ति है। जब दो मिल कर कार्य करते हैं तब शक्ति उत्पन्न होती है। इससे सिद्ध होता है कि दो का मिलना ही शक्ति है। संसार का पुण्यतम कार्य प्रजनन भी जोड़े से होता हैं। अतः इस यज्ञ का उद्देश्य-भूत प्रजनन भी जोड़े के अधीन है।"

यहां तृण-परिस्तरण पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। उस पर आगे चल कर लिखेंगे। यहाँ केवल यह लिखना है कि इसका तात्पर्य यह है कि स्त्री की

रक्षा पुरुष का कर्त्तव्य है। आगे जो विधि है उसमें यह बात निश्चय से नहीं कही जा सकती कि दस पात्रों की आवश्यकता थी और उनकी प्रशंसा मात्र के लिए विराट् छन्द की कल्पना की गई अथवा विराट् छन्द का नाम लाना था इसलिए दस पात्र रखे गए। किन्तु हमारा झुकाव इसी पक्ष की ओर है कि दस पात्र स्वभावतः प्रयोजन सिद्ध थे। यह विराट् की बात तो उसमें चमत्कारमात्र के लिए बढ़ा दी गई है। यदि ११ पात्रों की आवश्यकता होती तो ११ संख्या से सम्बन्ध रखने वाले किसी सुन्दर सिद्धान्त का इससे सम्बन्ध बना दिया जाता। तात्पर्य यह कि यज्ञ का उद्देश्य यजमान का तथा उसके द्वारा सन्तान का संस्कार करना है। कई स्थानों पर भाव-विशेष को सूचित करने के लिए विधि रखी गई है। जैसे 'भूमा' को सूचित करने के लिए गड्डे में रख कर पुरोडाश योग्य पदार्थ लाना। कई स्थानों पर स्वभाव सिद्ध बातों में भाव-विशेष का विन्यास कर दिया गया है। जैसे यहाँ दस पात्रों में विराट् का। क्योंकि यदि छन्द के लिए पात्रों की कल्पना मानें तो जिस प्रकार छन्द में अक्षर की कमी होने पर पादपूर्त्यर्थ कई शब्द व्यर्थ भर दिए जाते हैं, ऐसे हो सकता है किसी अनावश्यक पात्र को भी संख्या पूरणार्थ भर दिया गया हो परन्तु इससे यज्ञ की कल्पना के सौन्दर्य में विघात आता है। इसलिए यही मानना संगत प्रतीत होता है कि यथाप्राप्त दस संख्या में उन्होंने विराट् का भाव जोड़ दिया।

अब देखना चाहिए विराट् का भाव क्या है। उलझन की बात है कि विराट् शब्द के दो अर्थ हैं और दोनों एक दूसरे के सर्वथा विपरीत हैं। एक **"विशेषेण राजते विराट्"** अर्थात् जो विशेष रूप से चमके वह विराट् है। दूसरा **"विगतो राड्यस्मात स विराट्"** अर्थात् जिसमें राट् न हो। यहां **"विराड वै यज्ञः"** में कौन सा अर्थ ठीक है यह विचारणीय है। अब हम यहाँ एक ऐसी बात उपस्थित करते हैं जिससे दोनों ही संगत हो जावें। वह इस प्रकार कि यज्ञ विराट् अर्थात् विशेष चमकने वाला है। कौन सा यज्ञ ? जो कि विराट् अर्थात् राट् रहित हो, किन्तु हो फिर भी यज्ञ। इसका तात्पर्य यह है कि यज्ञ नाम संगतिकरण का है। किन्तु भिन्न व्यक्तियों का वही संगतिकरण आदर्श है, वही विशेष चमकने वाला है, जिसमें किसी एक को राजा न बनाना पड़े। इस पर आपत्ति यह होगी कि फिर वह यज्ञ अर्थात् संगतिकरण न रहेगा। क्योंकि राट् के न रहने से वह बिखर जाएगा। इस पर हम यह कहते हैं कि यदि यज्ञ के भिन्न-भिन्न पात्रों में परस्पर संश्लेषक शक्ति बड़ी प्रबल होगी तब तो बिना राट् अर्थात् Central Figure के भी वह 'विराट्' अर्थात् विशेष रूप से चमकने वाला होगा। इसीलिए कहा **"विराड् वै यज्ञः"** अर्थात् आदर्श यज्ञ वही है जिसमें कोई अकेला राट् न हो। परन्तु सब मिल कर विशेषेण राट् हों। अर्थात् उसका प्रत्येक पात्र इतना निःस्वार्थ रूप के सामुदायिक योगक्षेम के लिए आत्मार्पण करने वाला हो कि हर एक अपने आपको राजा तथा प्रजा समझे। विराट् अर्थात् राजा रहित समुदाय दो प्रकार के होते हैं। एक यज्ञ तथा दूसरे अयज्ञ। अयज्ञ विराट् तो निन्दनीय है, वह तो विशृंखलता (Chaos) है। किन्तु यदि यज्ञ होकर विराट् हो तब तो वह प्रशस्यतम है। इसीलिए ब्राह्मणों में प्रजातन्त्र राज्य को विराट् कहा है तात्पर्य यह है कि यज्ञ होना आवश्यक है चाहे वह सराट् हो अथवा विराट्। परन्तु यज्ञ-भावना की पराकाष्ठा विराट् है। और उसका मूलसूत्र है, **"द्वन्द्वं वै वीर्य्यम् अथवा द्वौ संरभेते"**, परस्परोपकारकता। सो इस प्रकार विराट् का दोनों में से कोई भी अर्थ करें दोनों संगत हैं।

निचोड़ इस प्रकार है—

"विशेषेण राजते" इस पक्ष में सन्दर्भ का अर्थ इस प्रकार हुआ—यज्ञ अर्थात् संगतिकरण बड़ी चमकदार वस्तु है और उसका प्रधान साधन है परस्परोपकारकता।

"विगतो राड् यस्मात्" इस पक्ष में इस प्रकार होगा—यज्ञ का आदर्श है राजा के विना काम चलाना। जहां यज्ञ के भिन्न-भिन्न पात्र एक दूसरे का पूरा ध्यान रख सकें वहाँ राजा का प्रयोजन नहीं रहता। वहां ही ऐसी अद्भुत शक्ति उत्पन्न होती है।

इस प्रकार आपने देखा कि नाटककार किसी अवसर को हाथ से नहीं जाने देते। पात्रों के विन्यास तक में दो परम यज्ञोपयोगी उपदेश दे दिए। यह उपदेश यज्ञ सामान्य में उपयोगी है। इसलिए यह विशेष अर्थात् पौर्णमास में उपयोगी स्वयं ही हो गए। यह परस्परोपकारता की शिक्षा सबके लिए ही उपयोगी है, फिर उत्तम पूर्णमासी के चन्द्र अर्थात् श्रेष्ठ पुत्र की कामना करने वाले स्त्री-पुरुषों के जोड़े के लिए उपयोगी क्यों न होगी। स्त्री-पुरुष एक दूसरे के लिए तथा वह दोनों परम यज्ञ अर्थात् ब्रह्मराष्ट्र के लिए उपकारक बनने का यत्न करें। तब ही सन्तान भी इन गुणों से युक्त होने के कारण उपयुक्त होगी—'**द्वन्द्वं वीर्य्यम्**।'

इति प्रथम ब्राह्मणम्

अथ प्रथमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

अथ शूर्पञ्चाग्निहोत्रहवणीञ्चादत्ते "कर्म्मणे वां वेषाय वामिति" (यजु० १।६) यज्ञो वै कर्म्म यज्ञाय हि तस्मादाह कर्म्मणे वामिति वेषाय वामिति वेवेष्टीव हि यज्ञम् ।१।

पात्रासादन के पीछे शूर्प अर्थात् छाज और अग्निहोत्रहवणी को लेकर मन्त्र पढ़ता है, "**कर्म्मणे वाम् वेषाय वाम्।**" सो बात यह है कर्म का अभिप्राय इस प्रकरण में यज्ञ है, कर्म्ममात्र नहीं। सो इसीलिए कहा कि तुम दोनों को मैं यज्ञ के लिए, यज्ञ को अभिव्याप्त करने के लिए ग्रहण करता हूँ। इस प्रकार वह इन दोनों से यज्ञ को अभिव्याप्त करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अब नाटकशाला में ये दोनों पात्र किसी ऐसे भाव के प्रतिनिधि होकर आए हैं जिसको नाटककार सम्पूर्ण यज्ञ में व्यापक मानते हैं। स्त्रीलिंग तथा पुंल्लिग से यह तो स्पष्ट ही है यह पति-पत्नी का जोड़ा है। अब देखना है, कि "शूर्प" किस भाव का प्रतिनिधि है? इसका उत्तर है 'विवेक' का। इसमें प्रमाण यह हैं कि आगे चलकर चतुर्थ ब्राह्मण में जब शूर्प का प्रयोग किया गया है तो वहाँ '**परापूतं रक्षः परापूता अरातयः**' तथा '**वायुर्व्वो विविनक्तु**' यह दो वाक्य पढ़े गये हैं। शूर्प का काम भी यही है कि तुषादि को पृथक् करके वायु में उड़ा देना। इस प्रकार हम ने जान लिया कि जाया-पति के जोड़े में पुरुष का काम विवेक होना चाहिये। अब प्रश्न है कि पत्नी किसकी प्रतिनिधि है। तो इसका उत्तर है जिज्ञासा की। क्योंकि अग्निहोत्र की व्याख्या करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा है कि यह वस्तुतः श्रद्धा में सत्य का हवन है। **तेज एव श्रद्धा, सत्यमाज्यम्।** शत० ११।३।१।१। अब वहाँ सत्य का प्रतिनिधि घृत दूध को रखा है। उनका मूल व प्रत्यक्ष ज्ञानरूप दूध है। घृत प्रत्यक्ष ज्ञानरूप दूध का सार है।

अब प्रश्न उठ सकता है कि आगे चलकर चौथी कण्डिका में लिखा है कि **अहूयतैव सत्यं श्रद्धायाम्** और दूसरी कण्डिका में लिखा है **पय इति** अर्थात् अग्निहोत्र में दूध से हवन होता है, सो यह विरोध कैसा? सो इसका उत्तर है कि इन्द्रियों से जो प्रत्यक्ष ज्ञान उपलब्ध होता है उसे दूध कहा है और उस प्रत्यक्ष से सामान्य लक्षण द्वारा जो नियम निकाले जाते हैं सो घृत है। सो इस प्रकार दूध तथा घृत में कोई विरोध नहीं। दूध का हवन भी घृत का ही हवन है और घृत का हवन दूध का। जिससे हवन होता है यह दूध अग्निहोत्रहवणी में रक्खा जाता है सो अग्निहोत्रहवणी में इन्द्रिय ज्ञानरूप दूध रक्खा जाता है। इसीलिए शतपथ में लिखा है "**इन्द्रियं वै वीर्यं गावः**"। शत० ५।४।३ अर्थात् इन्द्रियाँ ही शक्ति हैं और वे ही गौ हैं, अतः उनका सार घृत हुआ।

अब सत्य किस पात्र में रक्खा जाता है? एक स्थान पर शतपथ में ही कहा गया है—

तद्वा एतत् । एवं विचिकित्सायै जन्म यदि प्रजापतिर्व्यचिकित्स विचिकित्सा तच्छ्रेयसा ध्रियते। त्रयी हैवमेतद्विचिकित्सायै जन्म वेद यद्वा किं च विचिकित्सा-तिश्रेयसि हैव ध्रियते । शत० २.२।४।६ जो आंखें बन्द कर काम नहीं करता, जिज्ञासा रूप सन्देहपूर्वक निर्णय करता है उनका कल्याण होता है । **"विचिकित्सा वै श्रेयसो जन्म"** जिज्ञासा ही कल्याण की जननी है । वह जिज्ञासा है, सत्य की जननी है और उसकी गोद में सत्य पलता है । इसका आशय यह है कि जो पति पत्नी की जिज्ञासा की शान्ति अपने बुद्धि बल से नहीं कर सकता वह ऐसा ही है जैसा नपुंसक युवती के लिये । वह उसका पति होने का वैसा ही अनधिकारी है और पत्नी उससे उसी प्रकार असन्तुष्ट रहती है । अब प्रश्न यह है कि सब पुरुष पत्नियों की जिज्ञासा कैसे मिटा सकते हैं, तो उत्तर यह है कि सब स्त्रियों में एक-सी ज्ञान की भूख भी कब होती है । जिस प्रकार स्त्रियों की काम-पिपासा प्रतिव्यक्ति भिन्न है इसी प्रकार ज्ञान-पिपासा भिन्न है । जिसकी विवेक-शक्ति जिस पत्नी की जिज्ञासा के मिटाने में जितनी समर्थ है शतपथकार की सम्मति में उतना ही वह उसके पति होने का अधिकारी है । यदि किसी कन्या का विवाह उससे हीनतर विवेक रखने वाले तथा प्रबलतर जिज्ञासा रखने वाले पुरुष से कर दिया जायेगा तो वह उसी प्रकार दुःख भोगेगी जैसे दन्तहीन वृद्ध की तरुणी भार्य्या । इसका यह तात्पर्य्य नहीं कि स्त्री-जाति की अपेक्षा पुरुष जाति विवेक युक्त है । इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि हर स्त्री से हर पुरुष का विवेक बढ़ा हुआ होता है । परन्तु इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम तो स्त्री जाति को अपने आप को पुरुषों की इन्द्रियवासना की तृप्ति का साधन मात्र न समझना चाहिये । उन्हें अपनी जिज्ञासा बढ़ानी चाहिये । दूसरा उनके पति ढूंढने में पति की विवेक शक्ति का ध्यान इसी प्रकार रक्खा जाना चाहिये जैसे अति दृढ़ शारीरिक शक्तिशाली कन्या के लिये वाजी पुरुष का ध्यान रक्खा जाता है । यदि पुरुष का विवेक अत्यधिक बढ़ा होगा तथा पत्नी की जिज्ञासा बहुत दुर्बल होगी, तो वही कष्ट होगा जो पुरुष-द्वेषिणी कन्या से किसी वाजी युवा का विवाह होने पर होता है । शतपथकार की सम्मति में इस बात का विचार स्त्री-पुरुष की काम-शक्ति के विचार की अपेक्षा भी अधिक आवश्यक है । सच तो यों है कि शतपथकार की दृष्टि में यदि इसका पूरा विचार कर लिया जाय तो दूसरी बात बहुत अंशों में स्वयं ही हो जाती है । इसका यह तात्पर्य नहीं कि शारीरिक अनुरूपता की विवेचना की आवश्यकता नहीं । वह भी एक स्वतन्त्र तथा बड़ा आवश्यक विषय है । इसीलिये उसका स्वतन्त्र तथा बड़ा विशद वर्णन अगले पात्र करेंगे । किन्तु शतपथकार आध्यात्मिक अनुराग को मुख्य मानते हैं । इसलिये इसे व्यापक भाव कहा है । 'अग्निहोत्रहवणी' अर्थात् जिज्ञासा अर्थात् 'पत्नी' में पति सत्यरूपी इन्द्रिय प्रत्यक्ष रूप दूध को रखता है । फिर विवेक के आधार पर बढ़ी हुई श्रद्धा की रूपान्तर-भूत शिवसंकल्प की आग में उस सत्य का हवन होता है । फिर सन्तानाग्नि के उत्पन्न होने पर वही सत्यरूप दूध जननी के स्तनों द्वारा सन्तानाग्नि में हवन होता है । हमारी कन्याएँ कब जिज्ञासा बनेंगी ?

फिर यह रहस्य यहीं समाप्त नहीं होता । पुरुष शूर्प है, पत्नी अग्निहोत्रहवणी है । पुरुष विवेक है, पत्नी जिज्ञासा है, (आदर्श पत्नी) । किन्तु वे दोनों भी एक दूसरे की कामतृप्ति वा जिज्ञासा तृप्ति के साधन नहीं हैं । वे दोनों यज्ञ के अर्थात् सामुदायिक योगक्षेम के लिये अर्पित हैं । जिस समाज के युवा सामुदायिक योग-क्षेम के लिये शिवसंकल्प की अग्नि हृदय में धारण करेंगे, जिस देश की कन्याएँ जिज्ञासा

होगी, वहां सन्तान भी अग्निरूप होंगी। यह नाटकशाला में इन दो पात्रों का वक्तव्य है। इसका विस्तार कितना भी हो सकता है। हाँ एक शब्द छूट गया **'वेषाय वाम्'**। शतपथकार इतने मात्र से सन्तुष्ट नहीं कि पति-पत्नी विवेक तथा जिज्ञासा का खेल खेलें, दिल बहलाने को एक शिवसंकल्प रख छोड़ें। वे कहते हैं—**'वेषाय वाम्'** तुम दोनों को हम यज्ञ के लिए, यज्ञ में व्याप्ति के लिए, तन्मयता के लिए ग्रहण करते हैं। 'वेष' शब्द 'विष्लृ व्याप्तौ' से बना है। उसका अर्थ है व्याप्ति। केवल संकल्प पर्याप्त नहीं। दोनों उससे आविष्ट (Surcharged) होने चाहिएँ।

अथ वाचं यच्छति। वाग्वै यज्ञोऽविक्षुब्धो यज्ञं तनवाऽइत्यथ प्रतपति 'प्रत्युष्टँरक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तँरक्षो निष्टप्ता अरातय इति वा (यजु० २।७) ॥२॥

विवेक और श्रद्धा की तरह यज्ञ-कर्म में व्याप्त हुए दम्पती अब **'अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनम्'** (यजु० १।१५) इस मन्त्र द्वारा पात्रोद्वादन के साथ जो वाग्विसर्जन होगा उस क्रिया तक मौन धारण करते हैं। मूल में केवल एक वचन है अर्थात् यजमान मौन धारण करता है। किन्तु इससे पूर्व में दोनों की एक साथ यज्ञ में व्याप्ति लिखी है इसी आधार पर हमने वाक्संयम करते हैं ऐसा लिख दिया है। इस मौन धारण के काल में जितनी क्रियाएँ दिखाई गई हैं वे यह क्रिया हैं जो माता पिता को उस समय तक करनी हैं जब तक **बालक गुरुकुल में प्रविष्ट न हो।** जहां से उसके बोलना सीखने के पश्चात के उपदेश हैं। वहां **'अथ वाचा विसर्जनम्'** यों लिखा गया है। यज्ञार्थ (न तु स्वार्थ) कर्म्म करने वालों की वाणी भी यज्ञरूप है। उसके लिये उससे पहले अविक्षुब्ध होकर एकाग्र मन से अत्यन्त सावधान होकर तय्यारी की आवश्यकता है। इसलिये यह कालयज्ञ में मौन से उपलक्षित है। अब पंक्ति का अर्थ यों हुआ

"इसके पश्चात् यजमान वाणी का संयमन करता है अर्थात् मौन धारण करता है। यह इसलिए करता है कि यज्ञ-परायण की वाणी भी यज्ञ है। सो इस यज्ञ में वाग्यज्ञ को अविक्षुब्ध होकर करूँ इसलिए मौन धारण करता है।"

अथ प्रतपति। 'प्रत्युष्टँरक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तँरक्षो निष्टप्तः अरातयः' ॥

(यजु० १।१७) इति

"इस वाक्संयम के पश्चात् **"प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः निष्टप्तं रक्षः निष्टप्ता अरातयः"** यह बाक्य बोलकर शूर्प और अग्निहोत्रहवणी को तपाता है।"

यद्यपि ये दोनों वाक्य लगभग एकार्थक हैं, और इसीलिये इनमें विकल्प है तथापि अर्थों में सूक्ष्म भेद इस प्रकार है—

यहां कुमारिलादि ने वाक्यों में एकार्थकता के कारण पुनरुक्ति से बचने के लिये विकल्प माना है परन्तु हमारी सम्मति में विकल्पाश्रयण का कोई प्रयोजन नहीं। वाक्य का अर्थ यों हुआ, "राक्षस को प्रत्युष्टं अर्थात् फूंक दिया, अदानशील शत्रुओं को फूंक दिया।" वह दाहकर्म्म कब तक करना सो अगले वाक्य में कहते हैं— "राक्षस की निष्टप्तं तपाकर निकाल दिया। शत्रुओं को तपा कर निकाल दिया।"

फूंकने से यह भ्रम हो सकता है कि जो ऊपर दूषित पदार्थ लगे हों उन्हें जला दिया जाए परन्तु बहुत से दूषित पदार्थ अन्दर छिपकर रहते हैं उन्हें भी तपा कर बाहर निकालना आवश्यक है तब दाहकर्म पूरा होगा इसीलिये कहा, "निष्टप्तं रक्षः निष्टप्ता अरातयः।"

तात्पर्य यह है कि तपाना स्वयं कुछ उद्देश्य नहीं, वह तो राक्षसों के निकालने का साधन है। तपाग्रो, इतना तपाग्रो कि राक्षस निकल जावें। न इससे कम न इससे अधिक। इसका तात्पर्य्य यह है कि दम्पती गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके तप को भूल न जावें। जो पौर्णमास याग करना चाहते हैं, अर्थात् षोडश-कला-सम्पन्न पूर्ण चन्द्र तुल्य आह्लादकारक सन्तान उत्पन्न करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि गर्भाधान से पूर्व तपोयुक्त हों।

देखिये महाभारत में जब माता सत्यवती ने व्यास जी को भ्रातृजाया अम्बा, अम्बालिका से पुत्र उत्पन्न करने को कहा तो उन्होंने क्या उत्तर दिया—

ईप्सितं ते करिष्यामि दृष्टं ह्येतत् सनातनम्।
भ्रातुः पुत्रान् प्रदास्यामि मित्रावरुणयोः समान् ॥४१॥
व्रतं चरेतां ते देव्यौ निर्दिष्टमिह यन्मया।
संवत्सरं यथान्यायं ततः शुद्धे भविष्यतः ॥४२॥
नहि मामव्रतोपेता उपेयात् काचिदङ्गना।
(महाभारत आदिपर्व १०५ अध्याय)

व्यास जी बोले—"हे माता मैं अपने भाइयों को मित्र और वरुण के समान पुत्र दूंगा किन्तु ये दोनों देवियाँ जो व्रत मैं बताऊँ······वह मेरे निर्देशानुसार एक वर्ष तक ठीक-ठीक करें। तब वह शुद्ध अर्थात् मेरे समान तपस्वी का वीर्य्य धारण करने योग्य होंगी। जिसने व्रत धारण न किया हो वह स्त्री मेरे पास नहीं आ सकती।"

देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः। तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गादबिभयाञ्चक्रुस्तद्यज्ञमुखा देवैतन्नाष्ट्रा रक्षाᳬस्यतोऽवहन्ति ॥३॥

"देव लगे यज्ञ करने। सो वे असुर और राक्षसों से डरने लगे कि कहीं वे हमें न चिपट जावें। सो इस प्रतपन क्रिया द्वारा यज्ञ के आरम्भ में ही नाशकारी राक्षसों को मारता है।" यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ असुर राक्षसों से तात्पर्य्य मुख्यरूप से मानसिक असुर राक्षसों से है। क्योंकि आरम्भ में ही कह आए हैं "**मनो ह वै देवा मनुष्यस्या···जानन्ति**।' तात्पर्य्य यह कि अग्नि राक्षसों का नाशक है इसलिये सूर्य्य की धूप तथा अग्नि द्वारा घर तथा वस्त्रादि को तपाना चाहिये। व्यायाम, वृद्ध सेवा ब्रह्मचर्य्यादि द्वारा शरीर को तपाना चाहिये। तथा ज्ञान और सत्य रूप तप से मन को तपाना चाहिये। इस प्रकार तपोयुक्त होकर पूर्णचन्द्र अर्थात् उत्तम सन्तान का लाभ कर सकता है। और सब प्रकार के राक्षसों का विध्वंस कर सकता है।

अथ प्रैति। "उर्वन्तरिक्षमन्वेमी" (यजु० १।७) **त्यन्तरिक्षं वाऽनु रक्षश्चरत्यमूलमुभयतः परिच्छिन्नं यथायं पुरुषोऽमूल उभयतः परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति तद् ब्रह्मणैवैतदन्तरिक्षमभयमनाष्ट्रं कुरुते ॥४॥**

शूर्प तथा अग्निहोत्रहवणी को तपाने के पीछे हविर्धान-शकट में से, अर्थात् उस छोटी सी यज्ञ की गाड़ी में से, जिसमें हवि रक्खा होता है हवि लेने के लिये शकट के पास जाता है। उस समय वाक्य बोलता है—

"उर्व्वन्तरिक्षमन्वेमीति" (यजुः १।७) विशाल अन्तरिक्ष की ओर जाता हूँ।" अब यह क्रिया क्यों की जाती है इसकी व्याख्या करते हैं—

"अन्तरिक्षं वा इत्यादि"—न्यग्रोध जटादि चोटी की ओर से बँधी होती हैं अतः ऊर्ध्वमूल होती हैं। वृक्ष अधोमूल होते हैं। परन्तु मनुष्य दोनों ओर से बन्धन रहित होकर अन्तरिक्ष में घूमता है। और राक्षस भी इसी प्रकार अन्तरिक्ष में घूमते हैं। इस मन्त्र से अन्तरिक्ष को नाशक जीवों से रहित निर्भय निष्कण्टक करता है।" इस मन्त्र का तात्पर्य्य यह है कि गृहस्थों के मकान खुले और हवादार होने चाहिएँ जिससे नाशक जीव उसमें न पल सकें। साथ ही 'द्यौः' अर्थात् पति तथा 'पृथिवी' अर्थात् पत्नी के सम्वन्ध से उत्पन्न 'अन्तरिक्ष' अर्थात् गृहस्थाश्रम' भी 'उरु' अर्थात् विशाल होना चाहिये। पति पत्नी के परस्पर व्यवहार में भी वडी उदारता तथा स्वाधीनता होनी चाहिये। ऐसा न हो कि एक दूसरे की सन्देहशीलता के कारण एक दूसरे का दम घुटने लगे जैसा कि तंग मकान में घुटने लगता है।

स वा ऽअनस एव गृह्णीयात्। अनो ह वा अग्रे पश्चेव वाऽइदं यच्छालँ स यदेवाग्रे तत्करवाणीति तस्मादनस एव गृह्णीयात् ।।५।।

'सो वह धान की मुट्ठी जो पुरोडाश बनाने के लिये ली जाती है पहले धान को गड्डे में रखकर उसमें से ही लेनी चाहिएँ। क्योंकि गड्डा तीन भावों का सूचक है। वह तीन भाव आगे वताते हैं। सवसे प्रथम –"**अनो हवा-अग्रे पश्चेव वाऽइदं यच्छालँ स यदेवाग्रे तत् करवाणीति तस्मादनस एव गृह्णीयात्।**" यदि घर में से सीधा मुट्ठी भर लावे तो एक खड़ी रहने वाली वस्तु से लावेगा। हमें तो सन्तान को और अपने आप को सदा अग्रगामी (Progressive) बनाना है। इसलिये एक स्थान पर खड़ी न रहने वाली किन्तु आगे बढ़ने वाली चीज़ अर्थात् गाड़ी में रखकर लावे। जिसका तात्पर्य्य यह कि सन्तान को जहाँ तक माता-पिता पहुँचे हों वहीं तक खड़े न रहना चाहिये किन्तु सदा प्रगतिशील आगे बढ़ने वाला होना चाहिये गाड़ी आगे वढ़ने वाली है घर तो पीछे रह जाने वाली चीज है। जो आगे वढ़ने का काम हो वही मैं करूं इस भावना से गाड़ी में से ही अन्न ले।" अव गाड़ी का दूसरा गुण वताते हैं—

भूमा वाऽअनः। भूमा हि वाऽअनस्तस्माद्यदा बहु भवत्यनो बाह्यमभूदित्याहु-स्तद्भूमानमेवैतदुपैति तस्मादनस एव गृह्णीयात् ।।६।।

"गाड़ी समृद्धि अर्थात् बरकत का चिह्न है जव किसी के घर बहुत अन्न पैदा होता है तो यों ही कहा जाता हैं कि इसके घर गाड़ी अन्न पैदा हुआ। सो यह समृद्धि की ओर जाता हैं। इसलिये गाड़ी से ही ले"।

इसका तात्पर्य यह है कि जिसके घर अन्न समृद्धि तथा शरीर में वीर्य समृद्धि न हो वह सन्तान उत्पन्न न करे शरीर में वीर्य थोड़ा होने पर सन्तान उत्पन्न करना ऐसा ही है जैसे घर में अन्न न होने पर भिक्षुओं का द्वार पर बुलाना। यहां सायणाचार्य ने एक वड़ा सुन्दर श्लोक उद्धृत किया है—**आत्मानं पीडयित्वा तु भिक्षां यः सम्प्र-यच्छति। सा भिक्षा हिंसिता ज्ञेया न सा ग्राह्या कदाचन।।** इसलिए जहाँ बरकत हो वहीं पूर्ण चन्द्र का उदय होता है।

अव गाड़ी का तीसरा गुण वर्णन करते हैं—

यज्ञो वाऽग्रनः । यज्ञो हि वाऽग्रनस्तस्मादनस एव यजूंषि सन्ति न कौष्ठ्यस्य न कुम्भ्यै भस्त्रायै ह स्मर्षयो गृह्णन्ति तदृषीन् प्रति भस्त्रायै यजूंष्यासुस्तान्येतर्हि प्राकृतानि यज्ञाद्यज्ञं निर्मिमसाऽइति तस्मादन एव गृह्णीयात् ॥७॥

"यज्ञ का अर्थ है संघटन । सो गाड़ी संघटन रूप है । यह हमें दूसरों के साथ मिलकर काम करना सिखाती है । इसमें पहिए हविर्धान ईषादण्ड, प्रउग आदि अनेक अंग परस्परोपकारक होकर एक शकट का निर्वाह करते हैं, इसलिए यजुर्वेद के मन्त्र शकट पर ही सुन्दर रूप से घटते हैं । कोष्ठ व कुम्भी अर्थात् धान के कोठे व घड़े पर नहीं घटते । पहले (अर्थात् शतपथकर्त्ता याज्ञवल्क्य से पहले) ऋषि लोग चमड़े की बोरी के सम्बन्ध में यही मन्त्र पढ़ते थे । उनके लिए यही मन्त्र बोरी के सम्बन्ध में विनियुक्त थे । किन्तु बोरी में धुरी आदि न होने के कारण उन्हें वह बात 'स्फ्य' आदि द्वारा पूरी करनी पड़ती थी । परन्तु मूलवेद में जो यज्ञ का स्वरूप है उसी से यह स्थूल यज्ञ बनाए गए हैं । प्राकृत अर्थात् मूलाधार-भूत तो मन्त्र हैं । यही मन्त्र वह भस्त्रा के विषय में पढ़ते थे । याज्ञवल्क्य ने देखा कि भस्त्रा के सम्बन्ध में विनियोग सुन्दरता के लिए अभिनेयानुवर्ती शकट में विनियोग कर दिया । क्योंकि शकट यज्ञरूप है, कई अंगों से मिलकर बना है, अतः उससे यह हवि-ग्रहण करना सुन्दर है । इसलिए शकट से ही ग्रहण करे ।" जिससे सन्तान अपनी ही उन्नति में उन्नति समझने वाली न हो किन्तु अन्यों की सहायता करने तथा लेने में संकोच न करे ।

जो लोग विनियोग को तथा ब्राह्मण ग्रन्थों को अनादि और अपौरुषेय मानते हैं उनके लिए यह प्रकरण आँख खोलने वाला होना चाहिए।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि पदार्थ मात्र परमाणु-संयोग-जन्य होने से यज्ञरूप हैं । किन्तु यहाँ तो सुन्दरता अभीष्ट है । अन्य पदार्थों में अर्थात् कुम्भी भस्त्रादि में यह परस्परोपकार-जन्यता डुबकी मार कर मिलती है । किन्तु शकट में यह यज्ञ-रूपता स्पष्ट दीखती है । इसलिए शकट ही उपयुक्त है ।

इस प्रकार शकट में अग्रगामिता, भूमा तथा यज्ञरूपता यह तीन उपलक्षण दिखा कर आगे चलते हैं ।

उतो पात्र्यै गृह्णन्ति । अनन्तरायमु तर्हि यजूꣳषि जपेत स्फ्यमु तर्हि अवस्तादु पोह्यगृह्णीयाद्यतो युनजाम ततो विमुञ्चामेति यतो ह्येव युञ्जन्ति ततो विमुञ्चन्ति ॥८॥

"कोई-कोई पात्री में से भी लेते हैं" उनको शकट के धूरसि आदि मन्त्र किस प्रकार पढ़ने होंगे सो आगे बताते हैं । **अनन्तरायमित्यादि—**

"जो पात्री में से लें वह **धूरसि धूर्व्वादि** (यजुः १।८) मन्त्र लगातार ही पढ़ लें । अर्थात् उनमें 'धूरसि' यह बोलकर 'धूः' का स्पर्श करता है—आदि क्रिया न करके एक साथ ही ईषारोहण तक के मन्त्र बोल लेते हैं । परन्तु पात्री में से व्रीहि मुष्टि लेने वालों को पात्री के नीचे स्फ्य का सहारा दे देना चाहिए । तात्पर्य्य यह कि जिससे योजन क्रिया हो उसी से ही विमोचन कर्म्म भी करें । क्योंकि संसार का नियम यही है जो नियुक्त करता है वही विमुक्त भी करता है ।" 'जहाँ से नियुक्ति वहीं से विमुक्ति' इस पंक्ति का अर्थ सायण यों करता है कि क्योंकि अप्-प्रणयन भी स्फ्य ग्रहण पूर्वक होता है इसीलिए विमोक्ष भी स्फ्य से हो । किन्तु यह बात युक्ति संगत प्रतीत नहीं होती । अप्-प्रणयन में स्फ्य ग्रहण का विधान शतपथ में नहीं है । वह आपस्तम्ब में है । फिर अप्-प्रणयन में स्फ्य का ग्रहण व्रीहि-ग्रहण में युक्ति का,

काम कैसे कर सकता है ? हमारी समझ में तो तात्पर्य्य यह है कि शकट में जो तीन भाव (१) अग्रगामिता (२) भूमा (३) यज्ञरूपता, उपलक्षित थे उनके स्थान में पात्री ग्रहण करने वालों ने एक ब्राह्मणानुमोदन को ही पर्याप्त समझा क्योंकि वे इस में ही तीनों को समाविष्ट समझते थे। क्योंकि ब्राह्मण किसी बात को तब ही अनुमोदन करते हैं जब वह उचित हो किन्तु याज्ञवल्क्य महाराज ने ब्राह्मणों को भी मर्यादा में बाँधने के लिए शकट का विनियोग कल्पित किया। स्फ्य के साथ ब्राह्मणानुमोदन का भाव होने में शतपथ प्रथम काण्ड का वाक्य प्रमाण है—

ततो द्वाभ्यां ब्राह्मणा यज्ञे चरन्ति द्वाभ्याᳪ राजन्यबन्धवः संग्यामे। यूपेन स्फ्येन च ब्राह्मणा रथेन शरेण च राजन्यबन्धवः।

(शतपथ १ कां० २ ब्राह्मण २ अध्याय कं० २)

'दो से ब्राह्मण यज्ञ-सम्पादन करते हैं, दो से क्षत्रिय युद्ध में व्यापार करते हैं, ब्राह्मण यूप और स्फ्य से, क्षत्रिय रथ और शर से। अर्थात् ब्राह्मणों का राज्य चिह्न Emblem of sovereignty स्फ्य है। सो पात्री के नीचे स्फ्य का सहारा देने का अर्थ यह है कि इस बात पर ब्राह्मणों ने अपनी मोहर कर दी है। जिस पात्री पर स्फ्य का उपधान हो उससे मुष्टि ग्रहण का भाव यह हुआ है कि पौर्णमास याग अर्थात् उत्कृष्ट सन्तान उत्पन्न करने में वह लगे जिसे ब्राह्मण परीक्षा पूर्वक कह दें कि तुम अधिकारी हो। इसीलिए कहा कि जिसने यज्ञ में नियुक्त किया वही व्रीहि मोक्ष पूर्वक पुरोडाश-पाक अर्थात् उत्कृष्ट सन्तानोत्पत्ति की भी अनुज्ञा दे।

तस्य वाऽएतस्यानसः। अग्निरेव धूरग्निर्हि वै धूरथ य एनद्वहन्त्यग्निदग्धमिवैषां वहं भवत्यथ यज्जघनेन कस्तम्भीं प्रऽउगं ह्वेदिरेवास्य सा नीड एव हविर्धानम् ॥९॥

इस कण्डिका की व्याख्या से पहिले हम 'धूः, ईषा, प्रउग, नीड' इन चार शब्दों की व्याख्या कर देना चाहते हैं।

गाड़ी में जो जुआ है अर्थात् जिस डण्डे में बैल जोते जाते हैं वह धूः है। जो डण्डा जुए को गाड़ी से मिलाता है जिस पर बैठ कर गाड़ीवान हांकता है उसका नाम ईषा है जो डण्डा बैल खोलने पर गाड़ी खड़ी करने के लिए ईषादण्ड में नीचे की ओर लटका रहता है उसे कस्तम्भी कहते हैं। कस्तम्भी के पीछे जो हांकने वाले के बैठने का स्थान "प्रउग" है वह ही वेदि है। अब इस डण्डे की यज्ञ रूपता देखने के लिए उसमें यज्ञ का अलंकार बाँधते हैं। जिस प्रकार यज्ञ में अग्नि वेदि तथा हविर्धान अर्थात् हवि रखने का पात्र तीन मुख्य अंग होते हैं, इसी प्रकार धूः अग्नि है क्योंकि आगे खींच कर ले जाने का स्थान यही है। इसीलिए बैल के कंधे पर ऐसा दाग़ बन जाता है कि मानो अग्नि तपा कर दाग़ दिया गया है। उस धुरी को सहारा देने वाली 'प्रउग' है। और पीछे को 'नीड' अर्थात् बैठने, सामान आदि रखने का स्थान हविर्धान है। इसलिए शकट यज्ञ रूप है। तात्पर्य यह कि जो श्रम को दाग़ के यज्ञ की अग्नि के समान पवित्र नहीं समझता जिसके पास इस अग्नि में डालने की सामग्री नहीं और रहने का घर नहीं वह पौर्णमास का अधिकारी नहीं। जिसके हाथ में मेहनत के छाले पड़े हैं उसके हाथ यज्ञाग्नि की मुहर से अलंकृत हैं।

स धुरमभिमृशति। 'धूरसि धूर्व्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्व्व यं वयं धूर्व्वाम।' (यजु० १।८) इत्यग्निर्वाऽएष धुर्यस्तमेतदत्येष्यन् भवति हविर्ग्रहीष्यंस्तस्माऽएवैतान्निह्नुते तथो हैतमेषोऽतियन्तमग्निर्धुर्यो न हिनस्ति ॥१०॥

"हविर्ग्रहण के समय 'धूः' को स्पर्श करता है और उस समय यह मन्त्र जपता है—तू धू है जो हमें धूर्वन करे हमारी हिंसा करे अथवा तेरी हिंसा करे उसकी तू हिंसा कर, हिंसा कर उसकी जो हमें मारता है, हिंसा कर उसकी जिसे हम मारते हैं।"

पुरोडाशपाक क्या है ? उत्तम सन्तान उत्पन्न करके उसे परिपाक तक पहुंचाना। परिपाक तो जब होगा तब होगा पहले तो इसमें हानि ही होगी। गर्भाधान में वीर्य हानि, उत्पन्न बालक के पालन-पोषण और शिक्षा-दानादि में निद्राहानि, धन-हानि, शरीर-शक्तिहीन सब कुछ ही होगी। परन्तु यदि वह बालक गाड़ी को आगे खेंच करले जावे और उभयविध युद्ध (Aggressive and defensive) में हमारा सहायक हो तो फिर वह हानि हानि नहीं, किन्तु शक्ति का विनियोग अथवा निर्व्वाप (Investment) हो गया। जिस प्रकार सुपरिकल्पित खेत में बीज डालना 'व्यर्थ फेंकना' नहीं, किन्तु 'बोना' है इसी प्रकार यह भी सार्थक होगा। इसीलिए पुरोडाश के लिए हवि निकालने से पहले बार-बार यह बात दोहराई जा रही है कि यह तेरा हविर्ग्रहण आगे बढ़ाने के लिए हो न कि हानि के लिए। कुल-संकल्परूप अग्नि को दीप्त करने के लिए हो न कि बुझाने के लिए। इसलिए कहा—"धूः का उद्देश्य अग्नि है और हविर्ग्रहण करते समय आपाततः तो उसका अतिक्रमण करता है इसीलिए एतान् अर्थात् यजमानों को उसके सामने शरणागत करता है। और जो इस प्रकार मर्यादा से चलता है उसे धुर्य्य अग्नि नहीं मारता अर्थात् जो सन्तान उत्पन्न ही इसीलिए करता है कि कुल-मर्यादारूप अग्नि की दीप्ति करे और विरोधी शक्तियों का नाश करे उसे वीर्य्य हानि रूप दोष नहीं मारता। क्योंकि उसका वीर्य्य उत्कृष्ट सन्तान द्वारा बहुगुण होकर उसकी बलवृद्धि करता है।"

तद्ध स्मैतदारुणिराह। अर्धमासशो वाऽअहꣳ सपत्नान् धूर्व्वामीत्येतद्ध स्म स तदभ्याह ॥११॥

"सो आरुणि जो कहा करते थे कि मैं तो पखवाड़े-पखवाड़े अपने शत्रुओं के धुर्रे उड़ाता हूँ सो उनका भाव यही था कि मैं दर्शपौर्णमास द्वारा आधे महीने के पीछे अपने बाह्याभ्यन्तर शत्रुओं से लड़ने की शक्ति उत्पन्न करने वाले दर्शपौणमास याग करता हूँ।"

अथ जघनेन कस्तम्भीमीषामभिमृश्य जपति। "देवानामसि वह्नितमं सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम्।" (यजु० १।८) अह्रुतमसि हविर्धानं दृꣳहस्व माह्वाः" (यजु० १।९) इति अन एवैत दुपस्तौत्युपस्तुताद्रातमनसो हविर्गृह्णानीति। "मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षी" (यजु० १।९) दिति यजमानो वै यज्ञपतिस्तद्यजमानायैवैतदह्वला-माशास्ते ॥१२॥

अपने कल्याणार्थक समुदाय का अंगभूत होकर स्वार्थ को समुदाय के लिए बलिदान करने वाला जीव यज्ञपति है वही यजमान है और उसका शरीर अनः अर्थात् रथ है। सो जो इस शरीर को यज्ञ के काम में लाते हैं उनका शरीर देववाहन है। जो इसे स्वार्थ में अथवा उससे भी नीच कर्म परार्थ विघात में लाते हैं उन का शरीर असुर-वाहन, रक्षोवाहन, पिशाच वाहन है। उनके यहाँ पूर्ण चन्द्र का उदय कैसे हो सकता है। यही शरीर है जो इससे बुरा कार्य लें उनके लिए मलमूत्र का थैला मात्र है। किन्तु ठीक काम लेने वालों के लिए क्या है वह बताते हैं—

"कस्तम्भी अर्थात् गड्डा खड़ा करने के लिए जो आधार दण्ड लगाया जाता है उसके 'जघनेन' अर्थात् पीछे की ओर ईषा दण्ड को स्पर्श करके जपता है—

'तू देवों को वहन करने वालों में श्रेष्ठ है, प्रजा के लिए कल्याण बांटने वालों में श्रेष्ठ है, लोक तर्पण करने वालों का मूर्धन्य है, देवों के आह्वान का सर्वश्रेष्ठ साधन है, भंग वक्रतादि दोष रहित हविर्धान है, तू वृद्धि को प्राप्त हो, कहीं ठोकर मत खा, तेरा कुछ भी बांका न हो।' यह सब स्तुति शकट अर्थात् शकटोपलक्षित यजमान के शरीर की है इसीलिए आगे कहते हैं 'तू मा ह्वाः' अर्थात् कुटिलगामी न हो जिस से तेरा यज्ञपति भी निरुपद्रव अपने अभीष्ट तक पहुँचे।' वह यजमान ही यज्ञपति है। सो यह यजमान के लिए ही आशीः, प्रार्थना है कि उसका बाल भी बाँका न हो। और मैं जो हवि ग्रहण करूँ तो स्तुति द्वारा प्रसन्न शकट से जिसने अपना मन दिया हो ग्रहण करूँ।" तात्पर्य यह कि उत्तम सन्तान की कामना करने वाले को गर्भाधान तब करना चाहिए जब उसे पूर्ण सन्तोष हो कि मैं देव कार्य कर रहा हूँ, स्व कार्य नहीं, और स्त्री पुरुष दोनों का शरीर भी प्रसन्नता से वीर्य दान का अभिलाषी हो, मानो शरीर उन से कह रहा हो कि हविर्धान करो। इसी प्रकार अन्य संगति कार्यों में भी सब अंगों में परस्पर मैत्री अभीष्ट है। यहां तथा यजमान अन्य कार्यकर्त्ताओं का उपलक्षण है, सब के शरीर हविर्धान हैं।

अथाक्रमते। "विष्णुस्त्वा क्रमता" (यजु० १।९) मिति यज्ञो वै विष्णुः स देवेभ्य इमां विक्रान्ति विचक्रमे येषामियं विक्रान्तिरिदमेव प्रथमेन पदेन पस्पाराथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेनैतामवेवैष एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विक्रान्ति विक्रमते ॥१३॥

"फिर हवि ग्रहण करने के लिए शकट पर पैर रखता है, उस समय कहता है 'विष्णु तुझ पर पैर रखे।' विष्णु नाम यज्ञ का, संगठन का है अतएव सबसे बड़े संगठन के आधार परमेश्वर का, और तदानुगुण्येन राष्ट्र का, अथवा मानवसमाज का है। यजमान कहता है कि मैं स्वार्थ का प्रतिनिधि होकर हवि ग्रहण नहीं कर रहा किन्तु हे शकट आज राष्ट्र तुझ से हवि माँगता है, मानव-समाज हवि माँगता है। और क्योंकि सच्चा राष्ट्र भी ईश्वर के अर्पण है इसलिए यह हवि ग्रहण परम विष्णु के लिए हो रहा है। सो यज्ञरूप विष्णु ने देवों के लिए यह तीन पाद-विक्षेप मार्ग नियत किए हैं जो यह इनकी जीवनयात्रा पद्धति है। प्रथम पद में उसने इसको अर्थात् प्रत्यक्ष भूत पृथ्वी लोक अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम को पालन किया। दूसरे पद में इस अन्तरिक्ष अर्थात् गृहस्थाश्रम को और तीसरे से द्यौः को अर्थात् वानप्रस्थाश्रम को। महाविष्णु की आज्ञानुसार मानव-समाज रूप यज्ञ मनुष्य के लिए, यही विक्रान्ति अर्थात् जीवनयात्रा पद्धति अपने नियम द्वारा पार करता है।"

अथ प्रेक्षते। "उरु वाताये (यजुः १।९) ति।" प्राणो वै वातस्तद् ब्रह्मणैवैतत्-प्राणाय वातायोरुगायं कुरुते ॥१४॥

"फिर उस शकट में पड़े धान्यराशि को देखकर कहता है कि सदा गति को स्थिर रखने के लिये, अपने कुल तथा राष्ट्र का प्राण बनने के लिये, पुष्कल मात्रा में हविर्ग्रहण करता हूँ। वात ही प्राण है सो इस ब्राह्मण अर्थात् वेदवाक्य वा वेद मन्त्रै-कदेश से प्राण का कीर्तन करता है।"

अथापास्यति। "अपहतꣳ रक्षो (यजुः १।९) ति" यद्यत्र किञ्चिदापन्नं भवति यद्यु नाभ्येव मृशेत्तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षाꣳस्यतोऽपहन्ति ॥१५॥

"फिर यदि उसमें कुछ तृणादि दोष हों तो उन्हें निकाल कर फेंकता है और वाक्य बोलता है "**अपहतꣳरक्षः**" और '**यद्यु नाम्येव**' अर्थात् यदि वह तृणादि दोषों से रहित हों तो भी उन धानों का स्पर्श करके यह मन्त्र बोल दे। इसका तात्पर्य यह है कि नाशकारी राक्षसों को दूर करता है।"

उत्तम सन्तान की प्राप्ति के लिये दुष्ट भावों को दूर करता है तथा स्वार्थ की भावना से रहित होकर परार्थ सन्तान उत्पन्न करना अभीष्ट है। अतः इन भावों को जितनी बार दुहराया जाए थोड़ा है। संसार में स्त्री-पुरुष के सहवास से बढ़कर स्वार्थपूर्ण (Individualistic) कर्म्म कोई नहीं। उसमें परमार्थ का पुट देने के लिये बारम्बार खरल करने तथा शोधने की आवश्यकता है। अतः यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं, अलङ्कार है।

अथाभिपद्यते। "यच्छन्तां पञ्चे (यजुः १।९) ति" पञ्च वाऽइमा अङ्गुलयः पाङ्क्तो वै यज्ञस्तद् यज्ञमेव तदत्र दधाति ॥१६॥

"अब मुट्ठी भरने के समय फिर यज्ञभावना को दुहराया गया है। यह हवि मैं नहीं ग्रहण कर रहा। पांच पंच ग्रहण कर रहे हैं। इसीलिये तो प्रभु ने अंगुली भी पांच दी हैं। ग्रहण करने के समय ये पाँचों एक-दूसरे की सहायक हैं। अतः यह भी एक पंचायत है और अतएव यज्ञरूप है। भला पाँच पंचों के बिना कहीं यज्ञ होता है? अतः इस मन्त्र को बोलकर यज्ञ-भावना को यहां धारण करना है।"

अथ गृह्णाति। "देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं गृह्णामी (यजुः १।१०) ति।" सविता वै देवानां प्रसविता तत्सवितृप्रसूत एवैतद् गृह्णात्यश्विनोर्बाहुभ्यामित्यश्विनावध्वर्यू पूष्णो हस्ताभ्यामिति पूषा भागदुघोऽशनं पाणिभ्यामुपनिधाता सत्यं देवा अनृतं मनुष्यास्तत्सत्येनैवैतद् गृह्णाति ॥१७॥

वैदिक धर्म के अनुसार सन्तान उत्पन्न करना भी एक ऐसा ही राष्ट्र कर्म्म (State Function) है जैसा किसी राजनियम की घोषणा करना, किसी के नाम गांव लगाना, किसी को पकड़ना अथवा न्यायाधीश के आसन पर बैठकर किसी को छोड़ना, जिस प्रकार ऐसे अवसरों पर स्पष्ट घोषणा की जाती है कि अमुक राज नियमानुसार, राजराजेश्वर की आज्ञा से मैं अमुक प्रकार की घोषणा करता हूँ, ठीक इसी प्रकार यहाँ कहा गया है कि "सम्पूर्ण राष्ट्रनियमों के 'प्रवसिता' परमेश्वर अथवा तदनुवर्ती राजा की आज्ञा में, आदान-विसर्जन रूप दोनों 'अश्वि' कर्म्मों के अधिष्ठाता प्रभु की अथवा तदनुवर्ती राजा की सामर्थ्य से, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के बलिहर्त्ता 'पूषा' प्रभु अथवा तदनुवर्ती राजा के हाथों द्वारा, मैं संकल्प-रूप परमाग्नि परमेश्वर की आज्ञानुकूल मेरे हृदय में आहित कुल मर्य्यादोद्दीपक सङ्कल्पाग्नि के निमित्त इस हवि को ग्रहण करता हूँ।" अर्थात् मेरी सन्तान मानव-राष्ट्र के लिये मेरा उपहार होगी। मैं साधारण व्यक्ति नही हूँ। अपने शरीर में से सारभूत वीर्य्य को ऐसे निकालता हूँ जैसे राज्य के कोष से विधि पूर्वक मुद्राङ्कित पत्र लेकर कोई धन निकालता है। और अन्त को राष्ट्र के निमित्त ही इसे दान करता हूँ। बिना राज्य की मोहर के राज्य के खजाने से धन निकालना जिस प्रकार चोरी है—इसी प्रकार व्यक्तियों का वीर्य्य भी राष्ट्र की सम्पत्ति है। वह राष्ट्र के कार्य्य में ही व्यय किया जा सकता है।

जिन कुलों में हर १५ दिन के पीछे यह पवित्र उपदेश दोहराया जाए वहाँ पौर्णमास अर्थात् उत्तम सन्तान रूप पूर्णचन्द्र का उदय हो सकता है। यही बात स्पष्ट रूप से अगली कण्डिका में कह रहे हैं।

सविता वै देवानां प्रसविता तत्प्रसवितृप्रसूत एवैतद् गृह्णात्य श्विनोर्बाहुभ्यामित्यश्विनावध्वर्यू पूष्णो हस्ताभ्यामिति पूषा भागदुघोऽशनं पाणिभ्यामुपनिघाता सत्यं देवा अनृतं मनुष्यास्तत् सत्येनैवैतद् गृह्णाति ॥१७॥

अथ देवताया आदिशति। सर्व्वा ह वै देवता अध्वर्युᳬहविर्ग्रहीष्यन्तमुपतिष्ठन्ते मम नाम ग्रहीष्यतीति ताभ्य एवैतत् स ह सतीभ्योऽसंमदं करोति ॥१८॥

'सविता' देवों में वह देव है जो आज्ञा देने वाला, प्रेरणा करने वाला है जिसे हम राष्ट्र में Legislator के नाम से पुकार सकते हैं, जो काम हो उसकी आज्ञा से प्रेरित ही होना चाहिए **'अश्विनो, बाहुभ्याम्'** इसलिए कहा क्योंकि अश्वि राष्ट्र के मुख्य कार्यकर्त्ता अर्थात् आलाओं को प्रयोग में लाने वाले हैं, जिस प्रकार यज्ञ में ब्रह्मा प्रेरणा करने वाला तथा अध्वर्यु कार्य करने वाला होता है। **'अश्विनौ'** दो इसलिए कहे गए हैं कि राज्य के सभी कर्मचारी दो भागों में विभक्त हैं। एक सामग्री समाचार आदि के राजा के पास पहुँचाने वाले और दूसरे राज्य की आज्ञा आज्ञप्तों तक पहुँचाने वाले पूषा का अर्थ है जो राज्य का अंश लेता अथवा देता है। इसलिए पूषा के हाथ कहे गए। क्योंकि पूषा दो काम करता है, भाग-दोहन और अपने हाथ से जिनको देना है उन्हें दान। जिस प्रकार राष्ट्र के इन देवों में ईमानदारी आवश्यक है वही ईमानदारी उत्तम सन्तानार्थी को परिवार में आवश्यक है। जो सन्तान राज-नियम विरुद्ध, राज्य की सामग्री की पहुँच से बाहर तथा राज्य से न सहायता ले, न राज्य को अपना अंश दे, वह किसी काम की नहीं। उत्तम सन्तान के लिए सविता अश्विनौ और पूषा तीनों ही देवताओं की सहायता अपेक्षित है। जहाँ यह सत्य और ईमानदारी है वहीं देव पैदा होते हैं। जहाँ जितने अंश में ये तीनों बातें नहीं हैं। जितना अनृत है, वहां उतना ही साधारण मनुष्य पैदा होता है।

फिर जो **'अग्नये जुष्टं गृह्णामि'** अर्थात् अग्नि के नाम पर समर्पित हवि लेता हूँ, इस प्रकार स्पष्ट देवता का नाम लिया जाता है। सो इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य के सामने अनेक दिव्य भावनाएं (Noble Impulses) आती हैं, परन्तु वे चिनगारी (Spark) की भाँति आती हैं, परन्तु जब तक उनमें से एक भावना निरन्तर एकाग्र अभ्यास से ज्वाला का रूप धारण नहीं कर लेती तब तक सन्तान उत्तम नहीं हो सकती। ज्वाला में से तो चिनगारी निकल सकती है, जो पहले ही चिनगारी है उसमें से चिनगारी क्या निकलेगी? इसलिए पौर्णमास याग करने का अभिलाषी इस प्रकार है जिस प्रकार एक उभरती हुई उमंगों वाला बालक। उसके सामने अनेक उच्च आदर्श आते हैं और उसका जी बारी बारी से सभी कुछ बनने को ललचाता है। प्रातः एक उत्तम चित्रकार का जीवन पढ़ता है तो उसका जीचित्रकार बनने को कर आता है। सायंकाल एक योद्धा का चरित्र पढ़ता है तो योद्धा बनूंगा, यही सोच लेता है। सारे ही देवता उसके उसकी कार्यशक्ति रूप अध्वर्यु के सामने खड़े होते हैं। हमारा नाम ले, हमारा नाम ले। किन्तु यदि वह सब का नाम ले तो वह किसी का भी नहीं हो सकता। अन्त को जब वह इन सब में से चुनकर एक को अपना ध्येय बना लेता है तब उसके हृदय में अग्न्याधान हो गया। बस उसके निमित ही हवि लेना उचित है। तब ही वह उत्तम सन्तान प्राप्त करने का अधिकारी है। सो जिसके हृदय में दिव्य भावनाएं भी अनेक उठें और वह भी उत्तम सन्तान नहीं पा सकता। जिस का हृदय कभी दैवी, कभी आसुरी और कभी राक्षसी भावनाओं में डांवाडोल होता हो उसका तो कहना ही क्या? इसलिये उत्तम सन्तानार्थी को चाहिये कि दिव्य भाव-

नाओं में से भी एक को दीप्त कर के ज्वाला का रूप दे ले। तव सन्तान की कामना करे।

यही बात यहां इन शब्दों में कही गई है। (कण्डिका १८) "अध्वर्यु जब हवि ग्रहण करने जाता है तो सारे देवता वहां उपस्थित हो जाते हैं कि अब मेरा नाम लेगा अब मेरा नाम लेगा। इन सब इकट्ठे हुए देवों में संमद अर्थात् गड़बड़-घोटाला न हो इसलिए एक देव का नाम लेता है। इस प्रकार असंमद करता है।"

यद्वेव देवतायाऽआदिशति। यावतीभ्यो ह वै देवताभ्यो हवीꣳषि गृह्यन्ते ऋणमु, ह वै तास्तेन मन्यन्ते यदस्मै तं कामꣳसमर्धयेयुर्यत्काम्या गृह्णाति तस्माद्व देवतायाऽआदिशत्येवमेव यथापूर्वꣳ हवींषि गृहीत्वा ॥१६॥

अब यह भी बताते हैं कि देवता का नाम लेना, कार्यशक्ति की एकाग्रता द्वारा लोक का ही कल्याण करता है अथवा यजमान का भी। इस सन्देह को मिटाने के लिए कहते हैं—"यह जो देवता का अर्थात् सङ्कल्पित आदर्श का नाम लेता है सो इसका प्रयोजन यह है, जिस देवता के नाम पर हवि ली जाती है अर्थात् जिस उद्देश्य को लेकर संगठित प्रयत्न किया जाता है वह सङ्कल्प कार्यकर्त्ता के लिए मानो ऋणी हो जाता है। और वह सङ्कल्प देव जिस कामना से उसकी आराधना की गई है उसे पूरा करे इसीलिए इन देवों का नाम ग्रहण किया जाता है। इसलिये देवता का नाम ग्रहण किया ही जाता है। और इसी प्रकार अन्य हवियों में भी इसके समान ही व्यवहार जानना कि हवि लेकर देवता का नाम लिया जाय।"

अथाभिमृशति "भूताय त्वा नारातय" (यजुः १।११) इति तद् यत एवं गृह्णाति तदेवैतत् पुनराप्याययति ॥२०॥

"फिर हवि का स्पर्श करता है। उस समय वाक्य पढ़ता है "**भूताय त्वा नारातये**" तुझे हम भूतमात्र के उपकार के लिये ग्रहण करते हैं न कि अदान के लिये। सो यह इसलि! किया जाता है कि जो हवि ली जायगी वह पञ्चभूत मात्र में से ही तो होगी। सो पाञ्चभौतिक प्राणीमात्र के उपकार में जिन भूतों से हवि लिया गया उनकी न्यूनता यज्ञ द्वारा पूर्ण करके ऋण से मोक्ष प्राप्त होगा। इसलिए भूतमात्र से ग्रहण करके जहाँ से लेवे उसे फिर आप्यायित (Compensate) करता है।"

अथ प्राङ्प्रेक्षते। "स्वरभिविख्येष (यजुः १।११) मिति" परिवृतमिव वाऽएनदनो भवति तदस्यैतच्चक्षुः पाप्म गृहीतमिव भवति यज्ञो वै स्वरहर्देवाः सूर्य्य-स्तत् स्वरेवैतदतोऽभिविपश्यति ॥२१॥

"फिर पूर्व की ओर मुख करके देखता हुआ कहता है "**स्वरभिविख्येषम्**" अर्थात् मैं स्वः की ओर देखूं। स्वः के चार अर्थ हैं – यज्ञ, दिन, देव, सूर्य सो शकट प्रगतिशीलता का चलते रहने का, खड़े न रहने का चिह्न है, यह पहले कह आये हैं। परन्तु तीव्रगति तो दोधारी तलवार है, उलटी चले तो सर्वनाश का कारण भी हो सकती है। इसलिए किस ओर जाना इसका भी निरूपण करने के लिए कहता है कि गाड़ी तो घिरी हुई भी, अन्धी-सी वस्तु है, इसकी आँख दोषयुक्त-सी है। इसलिए इस वाक्य से स्वः की ओर देखता है।" स्वः के अर्थ हैं – यज्ञ, दिन, देव, सूर्य अर्थात् अन्धकार का उलटा। तात्पर्य यह कि हम सदा अन्धकार से परे प्रकाश की ओर चलें तभी तीव्र-गामी सन्तान की प्राप्ति कल्याणकारक हो सकती है।

अथावरोहति "दृꣳहन्तां दुर्य्याः पृथिव्यामिति (यजुः १।११) गृहा वै दुर्यास्ते हेन ईश्वरो गृहा यजमानस्य योऽस्यैषोऽध्वर्युर्यज्ञेन चरति तं प्रयन्तमनु प्रच्योतोस्तस्ये-

स्वरः कुलविक्षोब्धोस्तानेवैतदस्यां पृथिव्यां दृꣳहति तथा नानुप्रच्यवन्ते तथा न विक्षोमन्ते तस्मादाह दृꣳहन्तां दुर्याः पृथिव्यामित्यथ प्रैत्युर्वन्तरिक्षमन्वेमीति सोऽसावेव बन्धुः ।।२२।।

यहां तक जितनी क्रिया हुई वह गर्भाधान तक की क्रिया को सूचित करती है और क्योंकि **'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः'** इस अथर्व वाक्य में उपनयन में गर्भाधान का अतिदेश किया गया है, इसलिये गुरु-शिष्य का सम्बन्ध स्थापन होने तक के वही नियम हैं। जो लोग गृहस्थाश्रम से तथा सन्तानोत्पत्ति से पौर्णमास का सम्बन्ध है, इसको स्वीकार करने में संकोच करते हैं वे इस आशीर्वाक्य को सुनें— शकट से हवि लेकर लौटता है, तो कहते हैं धरती पर हमारे घर बढ़ें, बहुवचनान्त प्रयोग गृहवासिमात्र की ओर निर्देश करता है। तात्पर्य यह है कि पत्नी तथा अन्य गृहपरिजन भी यजमान के जीवन के उद्देश्य में दीक्षित हों तब ही सन्तान उत्तम हो सकती है। इसीलिये कहा दुर्य नाम घर का है। सो यह जो यजमान का अध्वर्यु यज्ञ से घर की दिनचर्या ठीक करता है उसके पीछे चलने वाले यजमान को घर के लोग सुगमता से च्युत कर सकते हैं, उसकी बनी बनाई कुलमर्यादा को विक्षुब्ध कर सकते हैं, इसलिये उन्हें भी इस पृथिवी में अर्थात् यजमान के उद्देश्य में दृढ़ करता है। जब इसका ध्यान रक्खा जाता है तो न तो वे स्वयं च्युत और विक्षुब्ध होते हैं और न यजमान को च्युत तथा विक्षुब्ध करते हैं। इसलिये कहा दृꣳहन्तां 'दुर्याः' गृहजन दृढ़ हों।'

अथ प्रैति 'उर्वन्तरिक्षमन्वेमी' (यजु० १।११) ति सोऽसावेव बन्धुः ।।

अब उस हवि को लेकर यथास्थान रखने के लिए प्रयाण करता है। उस समय वाक्य बोलता है। **'उर्वन्तरिक्षमन्वेमि'** सो यह वाक्य पहले आ चुका है और जो इसके बोलने का वहां हेतु था वही बन्धु अर्थात् कारण यहां भी है।

स यस्य गार्हपत्ये हवींषि श्रपयन्ति गार्हपत्ये तस्य पात्राणि संसादयन्ति जघनेनो तर्हि गार्हपत्यं सादयेद्यस्याहवनीये हवींषि श्रपयन्त्याहवनीये तस्य पात्राणि संसादयन्ति जघनेनो तर्ह्याहवनीयꣳसादयेत् "पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामी (यजु० १।१५) ति मध्यं वै नाभिर्मध्यत अभयं तस्मादाह पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामि 'अदित्या उपस्थ' (यजु० १।११) इत्युपस्थऽइवैनदमाषुरिति वा आहुर्यत् सुगुप्तं गोपायन्ति 'तस्मादाहादित्याऽउपस्थऽ इत् यग्ने हव्यं रक्षे (यजु० १।११) ति' तदग्नये चैवैतद्धविः परिददाति गुप्त्याऽअस्यै च पृथिव्यै तस्मादाहाग्ने हव्यं रक्षेति ।।२३।।

कोई लोग अपने बच्चों का प्रसव मातृकुल में अर्थात् पत्नी की माता के घर में अथवा बच्चों की ननिहाल में कराते हैं, कोई-कोई अपने कुल में। दोनों के अपने लाभ हैं। ननिहाल में गर्भवती अवस्था में ब्रह्मचर्य विघातजन्य दोष नहीं होता। अपने कुल में यह लाभ रहता है कि गर्भवती की देख-रेख, अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति तथा पिता सन्तान में जो संस्कार दृढ़ करना चाहता है उनके दृढ़ होने की सम्भावना अधिक रहती है। इन दोनों में ही समान हानि वा लाभ हैं तथा उचित प्रतीकार करने से दोनों हानि दूर हो सकती हैं। इसलिए याज्ञवल्क्य महाराज ने दोनों में विकल्प रक्खा है। जैसा भी चाहे करे। परन्तु माता के चारों ओर पात्र ठीक हों और वह यज्ञाग्नि अर्थात् लोक-कल्याणार्थ गृहीत संकल्प से दूर न हों। दूसरे शब्दों में परिजन विशुद्ध हों तथा कुलमर्यादा का सतत स्मरण कराने वाले ब्राह्मण का संग अपरिहेय

है गार्हपत्यागार से यहां मातृकुल और आहवनीयागार से पितृकुल उपलक्षित है। इसलिये कहा जिनके कुल में गार्हपत्यागार में हवि पकाई जाती हो वहां सब पात्र गार्हपत्याग्नि के पीछे की ओर रक्खे जाते हैं, इसलिये हवि भी गार्हपत्याग्नि के पीछे की ओर रख दे। और जिसके कुल में आहवनीय में हवि पकाते हैं उसके पात्र आहवनीय में रक्खे जाते हैं, इसलिये उस कुल में आहवनीय के पीछे की ओर रख दे, उस समय वाक्य पढ़ा जाता है **'पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयाम्यदित्या उपस्थे'** मैं तुझे पृथिवी की नाभि में, अदिति की गोद में रखता हूँ। जिस पदार्थ को अत्यन्त सुरक्षित रखना होता है तो कहा जाता है इसे हमने गोद में रख लिया। इसलिये यहाँ भी अदिति - अधृष्यमाणा के गोद में रक्खा ऐसा कहा गया है। अब जिन्हें विवाह संस्कार का वाक्य **'द्यौरहं पृथिवी त्वम्'** स्मरण है यह हवि के पृथिवी की नाभि और अदिति के उपस्थ में रखने के साथ माता के गर्भ में सन्तान के स्थापित होने का क्या सम्बन्ध है सो अनायास समझ सकते हैं। आगे कहता है—**"अग्नेः हव्यं रक्ष"** सो यह अग्नि रूप पति तथा कुल विस्तारकारिणी पृथिवी रूप माता को हव्य रक्षा के लिये परिदान (Entrust) किया जाता है। इसीलिये कहता है, हे अग्ने हव्य की रक्षा कर। परन्तु याद रहे यदि पुरुष अग्निरूप रहेगा अर्थात् सङ्कल्पाग्नि से देदीप्यमान होगा तव ही रक्षा कर सकेगा। और यदि कामरूप राक्षस प्रवल हो गया तो अग्नि के साथ हव्य का भी नाश होगा। इसीलिये **'पते सन्तानं रक्ष'** के स्थान में **'अग्ने हव्यं रक्ष'** कहा है।

अब प्रश्न हो सकता है कि गार्हपत्यागार के स्त्रीकुल से तथा आहवनीयागार के पतिकुल से विशेष सम्बन्ध होने में क्या प्रमाण है ? तो इसके विषय में निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित करते हैं :—

द्यौराहवनीयः। श०।८।६।३।१४।

यजमान आहवनीयः। तै०।३।३।७।२।

शिरो वै यज्ञस्याहवनीयः पूर्वेऽर्द्धो वै शिरः पूर्व्वार्द्धमेवैतद्यज्ञस्य कल्पयति। श० १।३।३।१२

यद् गार्हपत्यमुपतिष्ठते पृथिवीं तदुपतिष्ठते। श०२।३।४।३६।

जाया गार्हपत्यः। ऐ० ८।२४।

गृहा वै गार्हपत्यः। श० १।१।१।१९।

गार्हपत्यभाजो वै पत्न्यः। कौ०।३।९।

जघनार्धो वा एष यज्ञस्य यत् पत्नी। श०।१।३।१।१२।

इति द्वितीयं ब्राह्मणम्।२।

अथ प्रथमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

पवित्रे करोति। "पवित्रेस्थो वैष्णव्याविति ।" (यजु० १।१२) यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञिये स्थ इत्येवैतदाह ।।१।।

हरेक स्त्री जो उत्तम सन्तान प्रसव करती है वह राष्ट्र का, यज्ञ का, विष्णु का काम कर रही है । इसलिये उसकी रक्षा केवल परिवार के लोगों पर नहीं छोड़ देनी चाहिए । राष्ट्र का धर्म्म है कि वह अपने दो कर्मचारी नियत करे । और वह दोनों स्त्री होने चाहिए । एक का काम हो यह देखना कि भोजन, वस्त्र, जल, वायु आदि जो कुछ गर्भवती के अन्दर प्रवेश करे वह सब स्वच्छ हो । दूसरी का काम हो कि वह देखे कि उसके शरीर का मल दूर होता है या नहीं और मलादि जो विसर्जन होता है वह घर से ठीक समय पर बाहर निकाल दिया जाता है या नहीं । संक्षेप में एक का कार्य्य तो घर में आने वाली वस्तुओं की सफाई देखना तथा पर्य्याप्त मात्रा में पहुंचाना; दूसरी का काम मैल को घर से बाहर निकालना हो । याज्ञवल्क्य आने वाली सन्तान को कितना गौरव देते थे, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वह इस कार्य्य के लिए भिन्न-भिन्न राष्ट्र कर्म्मचारी नियुक्त करना आवश्यक समझते थे। अब पंक्ति का अर्थ यों है—"हवि के पवित्र करने के लिए दर्भ की दो पवित्रा बनाई जाती हैं । फिर कहते हैं हे पवित्रे ! तुम दोनों वैष्णवी हो अर्थात् यज्ञिया हो । इससे स्पष्ट है कि गर्भवती की देखभाल केवल गृहपति पर नहीं छोड़ी गई है । उसकी देखभाल करने वाली वैष्णवी (Civil-Officials) हैं । क्योंकि विष्णु नाम यज्ञ अर्थात् संगठन का है ।

ते वै द्वे भवतः । अयं वै पवित्रं योऽयं पवते सोऽयमेक इवैव पवते सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टः प्राङ् च प्रत्यङ् च ताविमौ प्राणोदानौ तवेतस्यैवानुमात्रां तस्माद् द्वे त्वेव भवतः ।।२।।

सो वे पवित्रा दो होती हैं । यह पवन ही पवित्र है जो यह संसार को शुद्ध करता है । सो यह एक ही पुरुष के अन्दर प्रविष्ट पवन अभिमुख और प्रतिमुख, प्राङ् और प्रत्यङ्, अन्दर और बाहर आने-जाने से दो प्रकार का हो जाता है । अन्दर जाने वाला प्राण और दूसरा मैल को नासिका के रास्ते उलीच कर बाहर फेंकने वाला उदान । सो इन दो की नकल पर यह दो पवित्रा नियत की जाती हैं ।

अथोऽअपि त्रीणि स्युः । व्यानो हि तृतीयो द्वे त्वेव भवतस्ताभ्यामेताः प्रोक्षणीरुत्पूय प्रोक्षति तद्यदेताभ्यामुत्पुनाति ।।३।।

अथवा तीन हों । क्योंकि तीसरा व्यान भी है । किन्तु दो तो होने ही चाहिएं । उन दोनों से प्रोक्षणियों को पवित्र करके प्रोक्षण कर्म्म करता है । सो यह जो इनसे पवित्र करना है सो प्रोक्षणी को पवित्र करता है ।

अब देखना है कि यह प्रोक्षणी आपः क्या हैं । सो पहले आपः को लीजिये—

अग्निना वा आपः सुपत्न्यः । श० ६।८।२।३

अर्थात् अग्नि पति है और इस पति को पाने वाली सौभाग्यवती सुपत्नी आपः हैं ।

और लीजिये—

योषा वा आपः वृषा अग्निः । श० १।१।१।१८ ।।२।१।१।४।

आपः स्त्री हैं और अग्नि पुरुष है ।

ऋषि दयानन्द ने इसी आधार पर विशेषणों का सहारा लेकर यजुर्वेदभाष्य में ७ स्थलों पर आप: का अर्थ स्त्रियें ऐसा किया है। जिनमें से एक मन्त्र उदाहरणार्थ हम यहाँ देते हैं।

देवीराप: एष वो गर्भस्तं सुप्रीतं सुभृतम्बिभृत। देव सोमैष ते लोकस्तस्मिञ्छञ्च वक्ष्व परि च वक्ष्व। यजु० ८।२६।

हे आप: तुम अपने गर्भ का इस प्रकार भरण करो कि जिससे वह सदा सुप्रसन्न और सुपुष्ट रहे। तथा हे सोम ! अर्थात् गृहस्थ, यह गृहस्थाश्रम तेरा लोक है अर्थात् तुझे देख-रेख के लिए सौंपा गया है (लोकृ दर्शने) तुम इस प्रकार आचरण करो कि इसमें सदा कल्याण वार्ता ही सुननी मिले और सब ओर लोग इसका शुभ कीर्तन करें।

यहाँ आप: का अर्थ स्वयं मन्त्र में इतना स्पष्ट है कि उस पर टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार आप: का अर्थ जान कर अब प्रकरणोपात्त प्रोक्षणी आप: का अर्थ जानने का यत्न करते हैं। उक्ष का अर्थ है सींचना, परन्तु अब स्त्रियों के सम्बन्ध में वह विशेषण किस प्रकार चरितार्थ होता है यह देखना है। यह जानने के लिए पुरुष को उक्षा क्यों कहते हैं ? यह जानने से बड़ी सहायता मिलेगी। इसमें हम प्रमाण भी सायण का देंगे क्योंकि फिर उभय वादि-सम्मत होने से अर्थ निर्विवाद रूपेण मान्य होगा।

ते जज्ञिरे दिव ऋष्वास उक्षणो रुद्रस्य मर्य्या असुरा अरेपस: ।१।६४।२।

यहाँ मरुतों का वर्णन है।

वे दर्शनीय हैं, रुद्र के मनुष्य हैं, शत्रुओं का त्रास करने वाले हैं। अरेपस अर्थात् पाप रहित हैं, और उक्षा हैं। उक्षा का अर्थ करते हुए सायण लिखते हैं— "सेक्तारो युवान इत्यर्थ:" अर्थात् वह उक्षा इसलिए है कि वे सेचन करते हैं, अर्थात् युवा हैं। सेक्ता का अर्थ युवा तब ही हो सकता है जब इसका वीर्य-सेचन-समर्थ इस प्रकार अर्थ किया जाय। अब यदि उक्षा सेक्ता अर्थात् युवा है तो प्रोक्षणी का अर्थ सेक्त्री अर्थात् शोणित-सेचन समर्था युवती इस प्रकार होना चाहिए। यहाँ यह ध्यान रहे कि शोणित का अर्थ स्त्री-वीर्य है, रुधिर नहीं।

इन प्रोक्षणी आप: के पवित्र करने के लिए वैष्णवी पवित्रा नियत की गई हैं। अब वे क्या हैं यह स्वयं समझा जा सकता है। अब वे कैसी होनी चाहिएं इसका निरूपण करने के लिए आगे वृत्र की कथा आती है।

वृत्रो ह वाऽइदँ सर्व्वं वृत्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिदँ सर्व्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम ।४। तमिन्द्रो जघान स हत: पूति: सर्व्वत एवापोऽभि प्रसुस्राव सर्व्वत इव ह्ययं समुद्रस्तस्मादु हैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे ता उपर्यु पर्यति-पुप्रुविरे त इमे दर्भास्ता हैता अनापूयिताता आपोऽस्ति वाऽइतरासु संसृष्टमिव यदेना वृत्र: पूतिरभिप्रास्रवत्तदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्त्यथ मेध्याभिरेवाद्भि: प्रोक्षति तस्माद्वाऽएताभ्यामुत्पुनाति ।।५।।

सबसे पहले तो यहाँ कथा में 'शिश्ये' यह जो भूतकाल का प्रयोग है इस पर कुछ कहना है। यहाँ भूतकाल अविवक्षित है। ब्राह्मण की शैली है कि नित्य नियमों को एक वार ऐसा हुआ इस प्रकार की कथाओं द्वारा दिखाया करता है। उदाहरण के लिए प्रथम काण्ड, चतुर्थाध्याय, प्रथम ब्राह्मण, ६ कण्डिका से मन वाणी के झगड़े की कथा है। जिसमें लिखा है **'मनश्च ह वै वाक् चाहम्भद्र ऊदाते'** अर्थात् एक बार मन वाणी

में झगड़ा हुआ दोनों 'मैं बड़ा' चिल्लाने लगे। अन्त में प्रजापति ने निर्णय किया कि मन बड़ा है। यहाँ स्पष्ट है कि मन वाणी का तारतम्य निरूपण करने के लिए यह कथा बनी है। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं लिया जा सकता कि प्राचीनकाल में तो मन बड़ा था अब नहीं रहा। अथवा जब तक प्रजापति ने निर्णय नहीं दिया था उस समय तक मन वाणी नहीं जानते थे कि इसमें कौन बड़ा है। इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार के उपाख्यानों में काल अविवक्षित है। **'वृत्रः शिश्ये'** का अर्थ है वृत्र सदा सोता है।

अब देखना चाहिए कि 'वृत्र' है कौन ? इसके निर्णय के लिए पहले 'सूर्य' शब्द का निर्णय होना चाहिये जिसका विरोधी होकर वृत्र आया है। सूर्य शब्द का अर्थ जानने के लिए—

'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा' इस मन्त्र को लीजिए। इस मन्त्र के विषय में शतपथ में लिखा है—

'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति तदुभयतो ज्योतीरेतो देवतया परिगृह्णाति।'

(का०२ अ०३ ब्रा०३ क०३३)

अर्थात् इस मन्त्र से 'ज्योति' को वीर्य की देवता द्वारा दोनों ओर से घेरता है।

इसका प्रयोग अन्यत्र भी लीजिए, प्रश्नोपनिषत् में लिखा है।

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणञ्चोत्तरञ्च तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः।

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते।

अर्थात् संवत्सर एक प्रजापति है जिसके दक्षिण और उत्तर दो अयन हैं। सो जो लोग सांसारिक इष्टापूर्त्तादि कर्मों को लेकर ही हमने सब कुछ कर लिया ऐसा समझते हैं वह चन्द्रमा के लोक को जाते हैं, वह फिर लौट आते हैं। इसीलिए सन्तानार्थी ऋषि दक्षिणायन मार्ग से जाते हैं, यह रयि मार्ग है। यह पितृयाण मार्ग है।

उसके पीछे उत्तरायण मार्ग से तप, ब्रह्मचर्य और विद्या द्वारा आदित्यलोक को जाते हैं।

ऊपर के सन्दर्भ से हम इन परिणामों तक पहुंचते हैं—

(१) दक्षिणायन का दूसरा नाम पितृयान है।

(२) इस मार्ग द्वारा चन्द्रलोक प्राप्त होता है तथा इसका सम्बन्ध सन्तान उत्पन्न करने के साथ है।

अब तो यह सब जानते हैं कि उत्तरायण दक्षिणायन का सम्बन्ध सूर्य से है, संवत्सर के जिस भाग में सूर्य का प्रताप तीव्र होता है, वह उत्तरायण तथा दूसरा दक्षिणायन होता है। परन्तु प्रश्न यह है कि इसका सम्बन्ध चन्द्र' से तथा "प्रजाकामाः" के साथ क्या है ?

थोड़ा विचारने से पता चलेगा कि यहां जिस सूर्य का वर्णन है वह यह बाह्य सूर्य नहीं। क्योंकि भौतिक सूर्य अर्थ मानने से पितृयाण, चन्द्रलोक तथा प्रजाकामाः पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। संसार में सन्तान दक्षिणायन में होते हों और उत्तरायण

में न होते हों ऐसा कुछ नियम नहीं। फिर चन्द्र के साथ उसका क्या सम्बन्ध है, यह तो बिलकुल ही पता नहीं चलता।

अब हमने इस विषय में जो मन्तव्य स्थिर किया है उसे उपस्थित करते हैं। विद्वज्जन स्वयं विचार कर लें कि उससे सब गुत्थियाँ किस प्रकार सुलझती जाती हैं।

हमारी समझ में 'सूर्य' का अर्थ 'वीर्य' है। इस विषय में शतपथ का प्रमाण हम ऊपर दे ही चुके हैं।

जो लोग नैष्ठिक ब्रह्मचर्य धारण करते हैं उनका वीर्य सदा उत्तर अर्थात् ऊर्ध्वतर ब्रह्मकुण्ड (मस्तिष्क) में अयन करता रहता है। अर्थात् विचाराग्नि का ईंधन हो जाता है। उनका प्रताप उत्तरायण के सूर्य के समान होता है।

दूसरी ओर जो पितृयाण मार्ग से जाते हैं अर्थात् सन्तान उत्पन्न करके चन्द्र-लोक को जीतते हैं, उनका वीर्य क्षीण होने से उन का प्रताप दक्षिणायन के सूर्य के समान हो जाता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि सन्तान उत्पन्न करने से चन्द्रमा का क्या सम्बन्ध हुआ? सो इसके लिए विवाह-संस्कार की ओर आइए। विवाह-संस्कार में कहा जाता है 'द्यौरहं पृथिवी त्वम्' वर वधू से कहता है कि मैं द्यौः हूँ तू पृथिवी है। अब विचारिये कि सूर्य कहाँ रहता है? द्यौः में, सो पुरुष सूर्यवान् अर्थात् वीर्यवान् होने से द्यौः कहलाता है, पृथिवी माता है ही। सो द्यौः और पृथिवी के बीच में चन्द्र कौन हुआ? सहृदय गण झट इस रहस्य पर पहुँच जावेंगे कि चन्द्र नाम सन्तान का है। 'चदि आह्लादे' धातु का अर्थ तो यहाँ संगत है ही, चन्द्र का दृष्टान्त भी कितना हृदयग्राही है यह विज्ञजन स्वयं विचार लें जिस प्रकार चन्द्र के उदय होने पर पृथिवी का हृदय अर्थात् समुद्र हिलोरें मारने लगता है इसी प्रकार सन्तान के उदय होने पर जननी के हृदय में भी ज्वार उठती है।

एक और स्थान पर भी इस सूर्य का चमत्कार देखिए—उपनयन संस्कार में ब्रह्मचारी को सूर्य दर्शन करा के मन्त्र पढ़ा जाता है—

"तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतम्प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्भूयश्च शरदः शतात्।"

अब यहाँ प्रसंगवश चक्षु शब्द का भी चमत्कार देखिए। चक्षु शब्द का अर्थ क्या है? चक्षु शब्द का अर्थ है व्याख्याता, "चक्ष" धातु का अर्थ है बोलना उसी से चक्षु शब्द बनता है। नेत्र चक्षु क्यों हैं? क्योंकि वे बोलते हैं। जब न्यायालय में कोई साक्षी मुख से झूठ बोलता है तो नेत्र उसकी पोल खोल देते हैं। ताड़ने वाले ताड़ जाते हैं कि यथार्थ घटना क्या है। शोक अथवा हर्ष के वेग में जब वाणी मूक हो जाती है तब नेत्र की भाषा आरम्भ होती है। इसीलिये इनका नाम चक्षु है।

सो सूर्य के सामने ब्रह्मचारी खड़ा होकर परमेश्वर से प्रार्थना करता है कि देव आपने जो वह चक्षु हमारे कल्याण के लिये यहाँ निहित किया है, ऐसी कृपा कीजिये जिससे हम सदा इसे देखते रहें। किसलिये? इसीलिये कि चक्षु है, बोलता है? हमारे सामने वीर्य का उच्चारण करता है, कहता है कि ब्रह्मचारिन्! वीर्यवान् की आँख ऐसी होती है, तू भी ऐसी बना। बस हम इस व्याख्या को सौ वर्ष सुनें जिससे

सौ वर्ष तक श्रवण तथा प्रवचन की शक्ति हम में बनी रहे, जिससे हम सौ वर्ष तक कभी दीन न हों। यहाँ सूर्य वीर्य का चित्र कैसा स्पष्ट है।

कई लोग कदाचित् "उच्चरत्" में हम ने जो अन्तर्भावितण्यर्थ लिया है उस पर आपत्ति करें तो उनके मत में तो "शुक्र" सूर्य का ही विशेषण है। इसलिये वह तो हमारे अर्थ के और भी समीप गया।

आगे चलकर ब्रह्मचारी आचार्य की परिक्रमा करके कहता है:—**"सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते"** अर्थात् मैं सूर्य की परिक्रमा में घूमता हूँ। यहाँ आचार्य को भी सूर्य नाम से याद किया है अर्थात् आचार्य भी उसके लिये वीर्य का प्रतिनिधि है। यदि कभी वह भी रक्षक के स्थान में भक्षक बने और उसे वीर्य रक्षा से डिगाने लगे तो वह कहता है कि मैं आपकी परिक्रमा तो नहीं करता। मैं तो सूर्य अर्थात् वीर्य की परिक्रमा करता हूँ।

इस प्रकार सूर्य तथा द्यौः का अर्थ स्पष्ट हुआ।

अब इस रहस्य के समझ लेने में बहुत से मन्त्र कैसे स्पष्ट होते हैं यह भी देखना चाहिये।

यजुर्वेद प्रथमाध्याय का २८ वां मन्त्र है।

'पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन् उदादाय पृथिवीं जीवदानुं यामैरयँश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्यामनुदिश्य धीरासो यजन्ते।"

उसकी व्याख्या में शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

"देवा ह वै संग्रामं संनिधास्यन्तस्ते होचुर्हन्त यदस्यै पृथिव्या अनामृतं देवयजनं तच्चन्द्रमसि निदधामहै स यदि न इतोऽसुरा जयेयुस्तत एवार्चन्तः श्राम्यन्तः पुनरभिभवेम स यदस्यै पृथिव्या अनामृतं देवयजनमासीत् तच्चन्द्रमसि न्यदधत्।

(का० १ अ० २ ब्रा० ३ क० १८)

"जब-जब देवलोग युद्ध पर जाते हैं तो वे सोचते हैं कि इस पृथिवी का जो सारभूत देवयजन है, उसे चन्द्रमा में रख देते हैं जिससे यदि हमें असुर परास्त कर दें तो प्रभु का भजन करते हुए पुरुषार्थ के बल से फिर परास्त कर सकें। इसीलिये उन्होंने पृथिवी का सार चन्द्रमा में रख दिया।"

अब मन्त्र का अर्थ सुनिये :—

हे प्रभो! जब-जब युद्ध आया तब-तब क्रूर संग्राम से पहले जिस जीवनदाता पृथिवी को अर्थात् पृथिवी के सार को देव लोगों ने चन्द्रमा में रख दिया उसी को लक्ष्य करके आज भी धीर लोग यज्ञ कर रहे हैं।

कुछ समझा आपने! अब सूर्य चन्द्र और पृथिवी का जो अर्थ मैंने ऊपर वर्णन किया है उसे ध्यान में रखकर पढ़िये और सारा रहस्य खुल जावेगा। जब-जब युद्ध आता है तब वे बुद्धिमान् लोग विजयी होते हैं जो आने वाली सन्तान की रक्षा तथा सुशिक्षा का भी प्रबन्ध करके चलते हैं। क्योंकि वह जीवन देने वाली माता का सार सन्तान में रखकर चलते हैं। युद्ध में जय-पराजय भाग्य के भी आधीन है। यदि दौर्भाग्य से परास्त भी हो जावे परन्तु सन्तान सुरक्षित हो तो समय पाकर शत्रु का विजय करनेवाली शक्ति फिर उदय होती है और उन्हें परास्त कर देती है।

वृत्रासुर

इन तीनों शब्दों के समझ लेने से वृत्रासुर क्या है यह भी खूब समझ में आ जाता है। निरुक्त में वृत्र मेघ का नाम है। अब विचारिये कि भौतिक सूर्य का जो सम्बन्ध मेघ से है वह शरीर के सूर्य अर्थात् वीर्य का किससे है। उसी से वृत्र का अर्थ स्पष्ट हो जावेगा। देखिये शतपथ ब्राह्मण क्या कहता है--

वृत्र का अर्थ है भोग।

साथ ही वृत्र इन्द्र का शत्रु है, सो इन्द्र का अर्थ सूर्य है। इसके भी प्रमाण लीजिये।

इन्द्र इति ह्येतमाचक्षते य एष तपति।

(का० ४ अ० ६ ब्रा० ७ क० ११)

यह जो तपता है यह इन्द्र है।

अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः।

(का० ८ अ० ५ ब्रा० ३ क० २)

यह जो इन्द्र है यही वह आदित्य है।

"एकादश-कपालं पुरोडाशं निर्वपति अथ यदिन्द्राय वृत्रघ्ने। पाप्मा व वृत्रो यो भूतेर्वारयित्वा तिष्ठति कल्याणात्कर्मणः साधोः" पृ० ५४६

(का० ११ अ० १ ब्रा० ५ क० ७)

वृत्रघाती इन्द्र के लिए ११ कपालों का पुरोडाश बनाता है सो जो वृत्रघाती इन्द्र के लिए उसका तात्पर्य यह है कि वृत्र नाम पाप का है जो मनुष्य को ऐश्वर्य से और कल्याणकारी शुभ कर्मों से हटा देता है।

इन्द्र नाम ऐश्वर्य वाले का है उसका सब से बड़ा शत्रु भोग है। परन्तु क्या वह सदा ही बुरा है? नहीं। शास्त्र में धर्मानुकूल भोग भी बताया है। गीता में कहा है—

"प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः" तथा **"धर्माविरुद्धो कामोऽस्मि"** अर्थात् मैं सन्तानोत्पादक कामदेव हूँ तथा "मैं धर्म से अविरुद्ध हूँ।" शतपथ कहता है कि भोग केवल धर्मानुकूल ही नहीं, धर्मरूप है।

"स होवाच मानु मे प्रहार्षीस्त्वं वै तदेतद्यं सि यदहं व्येव मा कुरु मामुया मूवमिति स वै मे अन्नमेधीति तथेति तं द्वेधा अभिनत् तस्य यत्सोम्यं न्यक्तमास तं चन्द्रमसं चकार यदस्यासूर्य्यमास तेनेमाः उदरेणाविध्यत······यदिमाः प्रजा अशनमिच्छन्तेऽस्मा एव तद् वृत्रायोदराय बलिं हरन्ति।"

(का० १ अ० ६ ब्रा० २ क० १७)

वह वृत्र बोला बस मुझे और मत मार, मैं इस समय वही तो हूँ जो तू है। तू मेरा रूप बदल दे जिससे मैं नष्ट न हो जाऊं। मेरे लिए अन्न बना दे। तब इन्द्र ने उसके दो टुकड़े कर दिए। उसका जो सौम्य अंश था वह चन्द्र बना दिया तथा असुरांश से प्रजाओं पर पेट द्वारा प्रहार कर दिया। तो यह जो प्रजा भोजन खाती है यह वृत्रासुर को बलि देती है।

यहां स्पष्ट है कि इन्द्र और वृत्र एक ही चीज हैं। ऐश्वर्य ही भोग बनता है और वही शक्ति है। फिर वह वृत्रासुर तब है जब वह ऐश्वर्य का नाश करे। उसके दो रूप ठीक हैं। एक चन्द्रमा अर्थात् सन्तान, दूसरा भोजन। इनमें से भी सन्तान स्पष्ट परोपकार का रूप होने से सौम्य है तथा भोजन सम्पूर्ण स्वार्थ का होने से असुर है। लोग जो भोजन करते हैं वृत्रासुर को कर (Tax) देते हैं। परन्तु सन्तान और भोजन ये दो भाग इन्द्र की मर्यादा के अनुकूल हैं।

'आपः'

वृत्र का शरीर जलमय है। शतपथ में लिखा है—

वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्मात् वृत्रो नाम। तमिन्द्रो जघान स हतः पूतिः सर्वतः एवापोभिः प्रसुस्राव।

(का०अ०१ ब्रा०३ क०४)

"वृत्र, द्यावापृथिवी के बीच में जो भाग है, इस सब को घेर कर लेट गया। क्योंकि उसने सबका आवरण किया था इसलिए उसका नाम वृत्र है। उसको इन्द्र ने मारा। जब मरा, वह दुर्गन्धित था और उसमें से चारों ओर 'आपः' निकल पड़ी।"

आपः कौन है? शतपथ कहता है **'योषा वाऽआपो वृषा अग्निः'**—(का०आ०१ ब्रा०क०२०) 'स्त्री आपः' है, सो भोग स्त्री रूप है।

यजुर्वेद का मन्त्र है—**युष्मा इन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्ये॥ यजु० १।१३॥**

हे आपः! तुमको वृत्र के साथ युद्ध करते समय इन्द्र ने सहायरूपेण वरण किया और तुमने इन्द्र को वरण किया। अब साथ ही शतपथ कहता है कि वृत्र को मारा भी आपः ने।

एता उ हीन्द्रमवृणत वृत्रेण स्पर्धमानम् एताभिर्ह्येनमलम्।

(क०अ०१ ब्र०३ क०८)

इन्द्र के तथा वृत्र के युद्ध में सदा इन्होंने ही वृत्र को मारा है। सो यह बात क्या है, इसका रहस्य भी शतपथ ही खोलता है—

तस्माद् हैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे ता उपर्यु पर्यतिपप्रविरेऽत इमे दर्भास्ता हैता अनापूयित आपोऽस्ति वा इतरासु संसृष्टमिव यदेना वृत्रः पूतिरभिप्रास्रवत्तदेतासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्त्यथ मेध्याभिरद्भिः प्रोक्षति।

(का०१ अ०१ ब्रा०३ क०५)

बात क्या हुई? यज्ञ में आहवनीय के उत्तर में प्रोक्षणी आपः (जल) रखी जाती है। उन्हें पहले दर्भ से पवित्र करते हैं। फिर उनसे यज्ञभूमि को छींटे देते हैं। यह सब क्या है? शतपथ कहता है कि जब वृत्र के शरीर से दुर्गन्ध युक्त आपः निकली, कुछ ऐसी भी थी जो उससे बची रही और ऊपर-ऊपर तैरती भी रही। इसीलिए उनके प्रतिनिधिरूपेण यहाँ दर्भ है। यह दर्भ दुर्गन्ध रहित जल का प्रतिनिधि है। इन से पवित्र हुई आपः यज्ञभूमि के प्रोक्षण में काम आती है। संसार में जब-जब भोगवाद बढ़ा तब सब ही स्त्रियां उसमें फंस नहीं गयीं। कुछ ऐसी भी हुईं जो न पुरुषों को अपने भोग का साधन बनाना चाहती थीं, न भोग का साधन बनना

चाहती थीं। उनको इससे दुर्गन्ध आती थी इसलिए वे इससे दूर-दूर बची रहीं। वे इस समुद्र पर तैरती रहीं। वे तप से ऐसी कठोर बनीं जैसे कुशा। उन्हीं से पवित्र की हुई अन्य स्त्रियां यज्ञकर्म के योग्य हुईं। भाव स्पष्ट है– दर्भ के समान कठोर (Austere) भोग से घृणा करने वाली स्त्रियां स्त्री-शिक्षा देने की अधिकारिणी हैं। वृत्र का शरीर खड़ा भी स्त्रियों के सहारे है, और इस को नष्ट भी करती हैं स्त्रियां ही। परन्तु कौन-सी, जो दर्भ के समान तपः कठोर हों, भोग की दुर्गन्ध से दूर रहें, तथा जो इनकी संगति में पलें। स्त्रियां ही प्रमदा हैं और यही प्रमादा।

वृत्रासुर के प्रकरण में एक और मन्त्र उपस्थित करना असंगत न होगा—

वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि।

यह मन्त्र समावर्तन काल में जब ब्रह्मचारी को सुगन्ध माल्यादि सब भोग सामग्री दी जाती है, उस समय नेत्र में अञ्जन करते समय पढ़ा जाता है। हे अञ्जन! तू वृत्र का कनीनक है, भोग की आँखों का तारा है। देखना, मुझे ऐसा भोगने में न फंसाना कि मेरी आँखें फूट जावें। तू उलटा मेरी आँखों की ज्योति को बढ़ाने वाला बन। वृत्र को कैसा काबू किया है?

स उत्पुनाति "सवितुर्व्वः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिरिति" (यजुः १।१२) सविता वै देवानां प्रसविता तत् सवितृप्रसूत एवैतदुत्पुनाति अच्छिद्रेण पवित्रेणेति यो वाऽअयम्पवतऽएषोऽच्छिद्रं पवित्रमेतेनैतदाह सूर्य्यस्य रश्मिभिरित्येते वाऽउत्पवितारो यत् सूर्य्यस्य रश्मयस्तस्मादाह सूर्य्यस्य रश्मिभिरिति ॥६॥

पवित्रा द्वारा प्रोक्षणी जल के पवित्र करने के समय में मन्त्र पढ़ता है—"हे आपः अर्थात् जल के समान शान्त्यादि गुणयुक्त अथवा गृहस्थाश्रम को उसके उद्दश्य तक प्राप्त कराने वाली देवियो! मैं सविता परमात्मा अथवा राजा के प्रसव अर्थात् शासन में बद्ध होकर, दोष रहित पवित्रा द्वारा और सूर्य की रश्मि अर्थात् वीर्य्य और ज्ञानवर्धक साधनों द्वारा तुम्हें पवित्र करता हूँ और सूर्य्य रश्मियों द्वारा तुम्हारे स्थूल घर को पवित्र करता हूँ।

सो सविता देवों का शासनकर्त्ता प्रेरणा करने वाला है। उसकी प्रेरणा से प्रेरित होकर यह कार्य करता है।

अच्छिद्रेण पवित्रेण जो कहा तो यहां तात्पर्य इसी से है यह जो तपता है अर्थात् सूर्य से। यही अच्छिद्र पवित्र है। **सूर्य्यस्य रश्मिभिः** जो कहा सो इसलिए कि सूर्य्य की रश्मियां ही तो पवित्र करती हैं, यही तो उत्पविता हैं।"

वहां "**अच्छिद्रेण पवित्रेण**" में सूर्य्य का वर्णन करके वेद ने यह दर्शाया है कि स्त्रियों को गर्भ सम्बन्धी विद्या का उपदेश देने वाले तथा तत्सम्बन्धी देख-रेख रखने वाले जितेन्द्रिय हों, सूर्य्य की रश्मियों वाले हों।

ताः सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणेनोदिङ्गयत्युपस्तौत्येवैना एतन्महयत्येव "देवीरापोऽअग्रेगुवोऽअग्रेपुव इति" (यजुः १।१२) देव्यो ह्यापस्तस्मादाह देवीराप इति अग्रेगुव इति ता यत् समुद्रं गच्छन्ति तेनाग्रेगुवोऽग्रेपुव इति ता यत् प्रथमाः सोमस्य राज्ञो भक्षयन्ति तेनाग्रेपुवो "ऽअऽइममद्य यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिं सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवमिति" (यजु० १।१२) साधु यज्ञँ साधु यजमानमित्येवैतदाह ॥७॥

उत्पवन के पश्चात् उदिंगन विधि है।

इस में मन्त्र बोलता है—

देवीरापो अग्रेगुवोऽग्रेपुवोऽग्र इममद्य यज्ञन्नयताग्रे यज्ञपतिँ सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम्। (यजुः १।१२)

यह मन्त्र बोलकर बाएं हाथ में प्रोक्षणी रख कर दाहिने हाथ से उदिंगन करता है। अर्थात् ऊपर की ओर छिड़कने द्वारा हिलाता है। सो यह उनकी स्तुति है। आप थोड़ी देर के लिए जल को भूल जाइए और **'योषा वै आपः'** इस वाक्य के अनुसार आपः के स्थान पर **'सौभाग्यवती स्त्रियो'** यह वाक्य रख कर इस मन्त्र को पढ़िए। 'हे सदा आगे चलने वाली और सबसे प्रथम पवित्रता का प्रचार करने वाली, देवियो आज आप हमारे इस यज्ञ को आगे ले जाइए, और इस उत्तम धातुओं वाले, देवों के प्रेमी, यज्ञपति अर्थात् यजमान को आगे ले चलिए। यज्ञ को आगे ले जाइए। इतने से सन्तुष्ट न होकर यज्ञपति को आगे ले जाइए। ऐसा कहने से याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट दिखा दिया है कि यह यज्ञ उत्तम सन्तान के लिए किया जाता है। फिर सुधातुम् यह विशेषण तो हमारी स्थापना को और भी पुष्ट करता है। सो यहाँ स्पष्ट स्त्री-जाति को सम्बोधन करके कहा गया है कि आप की सहायता के बिना यह यज्ञ पूरा नहीं हो सकता। यह उदिंगन उत्साहन रूप विधि उन की स्तुति द्वारा उनको प्रोत्साहित करने के लिए की जाती है। इसका स्पष्ट तात्पर्य है कि राष्ट्र की स्त्रियों को उनकी महिमा, उनका गौरव, उनका उत्तरदायित्व, सदा बताते रहना चाहिए।

यहाँ दो विशेषण ध्यान देने योग्य हैं—

(१) **अग्रेगुवः** (२) **अग्रेपुवः**

'अग्रेगुवः' का अर्थ है हर कार्य में अग्रसर, 'अग्रेपुवः' का अर्थ है, हर पदार्थ को सब से पहले पवित्र करने वाली।

इसी भाव को महाकवि कालिदास ने अपने कुमारसम्भव में इस प्रकार प्रकट किया है—

क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलसाधनम्।

जल दिव्य गुण युक्त पदार्थ है। जल सदा प्रवहणशील है जैसा कि नदियों के समुद्र की ओर बहने से पता लगता है।

सोमयाग में देवताओं को सोम का अंश मिलने से पहले जल को वह प्राप्त होता है।ये तीनों गुण स्त्री जाति में हैं। इसीलिए उनका प्रतिनिधि जल को रक्खा गया है।

स्त्रियाँ भी दिव्य गुण युक्त होने से देवी हैं। उनमें भावुकता प्रधान है, उनका हृदय सद्भावों से तत्क्षण द्रुत हो जाता है, इसलिए उन्हें अग्रेगुवः कहा है।

वे नदियों की तरह प्रवहणशील हैं, वात्सल्य से सदा प्रस्तुत होती हैं। किसी महाकार्य की अपील का सबसे पहले प्रभाव उन पर होता है, इसलिए वे **'अग्रेगुवः'** हैं। और सोम अर्थात् स्नातक के सत्संग का लाभ सब से अधिक और सबसे पहले उन्हें मिलता है, इसलिए उन्हें **'अग्रेपुवः'** कहा है।

सोम का अर्थ स्नातक कैसे हुआ। इस विषय को विस्तार से जानने के लिए हमारी लिखी पुस्तक **'सोम'** को पढ़िए। यहाँ एक ही प्रमाण देना पर्याप्त होगा।

देवीरापः एष वो गर्भस्ते सुप्रीतं सुभृतम्बिभृत ।

देव सोमैष ते लोकस्तस्मिञ्छञ्च वक्ष्व परिचक्ष्व ॥८० यजु० अ० २६॥

यहाँ गर्भ शब्द इतना स्पष्ट है कि आपः के स्त्री अर्थ होने में और सोम के पति होने में कोई भी सन्देह नहीं रहता ।

आगे मन्त्र पढ़ता है—

'युष्मा इन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्य इति' (य०१।१३) एता हीन्द्रोऽवृणीत वृत्रेण स्पर्धमानः एताभिर्ह्येन महंस्तस्मादाह युष्मा इन्द्रो अवृणीत वृत्रतूर्य इति ।।८॥

यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्यऽइति ॥ (य०१।१३) एता उ हीन्द्रमवृणाति वृत्रेण स्पर्धमानमेताभिर्ह्येन महंस्तस्मादाह यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्य्यऽइति ॥९॥

'हे देवियो ! राष्ट्र में जब भोगवाद बढ़ता है तो राजा भोगवाद रूप सम्पूर्ण प्रकाशाच्छादक वृत्र को वध के लिए आप ही का वरण करता है । क्योंकि भोगग्रस्त अत्याचारियों की यन्त्रणाओं का सबसे दयनीय शिकार आप ही होती हैं । इसलिए उसके प्रति विद्रोह करने में भी सबसे प्रवल आप ही होती हैं । और अतएव वृत्र के वध के लिए तुम ही सब से पहले इन्द्र को जा घेरती हो । इसलिए यह वाक्य कहे गए हैं—

युष्मा इन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वंवृत्रतूर्य्ये । (यजु०१।१३)'

स्त्रियों को ही इस अत्याचार में अधिक कष्ट सहना पड़ता है इसके लिए प्रमाण पर्याप्त हैं—

१. संसार में बलात्कार युक्त व्यभिचार में अधिकतर संख्या पुरुषों की ओर से ही होती है । सारे संसार में ऐसी घटनाएं अत्यन्त न्यून अथवा सच कहिए तो, उपेक्षणीय संख्या में हुई हैं जहाँ स्त्रियों ने पुरुषों के साथ बलात्कार किया हो ।

२—वह भयंकर संख्या जिसमें गर्भवती के साथ भी पुरुष के प्रसंग करते रहने से प्रसूति जन्य रोगों द्वारा स्त्रियों की मृत्यु होती है ।

३—जघन्य रोग पीड़ित दुराचारियों की वह निरपराध पत्नियां जो निष्कारण ही इन रोगों का शिकार होती हैं जो उनके दुष्ट पति व्यभिचार द्वारा मोल ले आते हैं ।

४—वे सच्चरित्र देवियां जो माता बनना चाहती हैं, परन्तु जिन्हें पुरुषों की जघन्य वृत्ति की तृप्ति के लिये बाधित होकर गर्भ-निरोध वा भ्रूण-हत्या करनी पड़ती है और अतएव जिनकी वात्सल्य-भावना अतृप्त चली जाती है ।

यह तो दिग्दर्शन मात्र है । इन अत्याचारों की सूची अपरिमित है ।

इससे आगे वाक्य है **"प्रोक्षिताः स्थ"** (यजुः १।१३) । यह क्यों पढ़ा जाता है सो अगली कण्डिका में बताते हैं—

"प्रोक्षिताः स्थ" (यजु० १।१३) तदेताभ्यो निह्नुतेऽथ हविः प्रोक्षत्येको वै प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्यमेवैतत् करोति ।

"आप जो गुण सन्तान में सेचन करते हैं उनसे स्वयं सिक्त (Saturated) हों, ऐसा कहकर उनके आगे विनयावनत होता है । अर्थात् कहता है—हे देवियो ! तुम

सद्गुणों से प्रोक्षित हो। सो इस प्रकार 'ताभ्यः' अर्थात् यज्ञ मध्यगत देवियों के प्रति 'निह्नुते' प्रसादनार्थ नम्रीभूत होता है।

जहाँ कहीं भी प्रोक्षण-विधि होगी उसका एक ही बन्धु अर्थात् हेतु है—उस पदार्थ को मेध्य अर्थात् पवित्र करता है।

सः प्रोक्षति। "अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति" (यजु० १।१३) तद् यस्यै देवतायै हविर्भवति तस्यै मेध्यं करोत्येवमेव यथापूर्व्वं हवींषि प्रोक्ष्य।११।

अब वह अध्वर्य्यु वा यजमान हविः प्रोक्षण करता है। उस समय **'अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि'** यह वाक्य पढ़ता है। सो जिस-जिस देवता के लिए हवि होती है उसके नाम पर उसे पवित्र करता है और उसमें इसी प्रकार पूर्व्वोक्त रीति से चतुर्थ्यन्त देवता का नाम लेकर हविः प्रोक्षण करके पवित्र करता है।

हे सन्तान! मैं तुझे अपने कुल संकल्प रूप अग्नि के निमित्त समर्पित करके सेचन करता हूँ। यजमान पक्ष में सेचन का अर्थ गर्भाधान भी है। अध्वर्य्यु पक्ष में पवित्र करना मात्र। तात्पर्य्य यह कि प्रत्येक सन्तान किसी उद्देश्य से उत्पन्न होनी चाहिए। वही उद्देश्य उसका देवता है। गर्भाधान से पूर्व माता-पिता को इस योग्य होना चाहिए कि वह घोषणा कर सकें कि वह यह सन्तान किस देवता अर्थात पवित्र उद्देश्य के लिए बुला रहे हैं। और इस सङ्कल्प में सुशिक्षिता स्त्रियों का पूर्ण सहयोग आवश्यक है।

अथ यज्ञपात्राणि प्रोक्षति। "दैव्याय कर्म्मणे शुन्धध्वम् देवयज्याय इति। (यजुः १।१३) दैव्याय हि कर्मणे शुन्धति दैवयज्यायै। 'यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामीति" (यजुः १।१३) तद्यदेवैषामत्राशुद्धस्तक्षा वाऽन्यो वाऽमेध्यः कश्चित् पराहन्ति तदेवैषामेतदद्भिर्मेध्यं करोति। तस्मादाह यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामीति ॥२१॥

फिर यज्ञपात्रों पर जल छिड़कता है—"तुम दैव कर्म्म जो देवयज्या अर्थात् देवों का संगतिकरण है उसके लिए शुद्ध हो जाओ, अशुचियों ने तुम्हारे अन्दर जो अशुद्धि उत्पन्न कर दी है वह मैं शुद्ध करता हूँ। सो इन पात्रों में बढ़ई आदि ने विना धोए हाथ आदि लगा दिए हों वा किसी और ने अपवित्र अवस्था में अशुचि हाथों से उन्हें छुआ हो सो वह जल से पवित्र करता है। इसीलिए कहता है—

यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि।

तात्पर्य्य यह कि गर्भवती के वस्त्र, उसका परिच्छद, उसके परिचारक, उसके पठनादि की पुस्तकें, सब शुद्ध होनी चाहिएं। किसी अशुचि बात का संस्कार उस पर न पड़ना चाहिये। इसकी देख-रेख रखना उत्तम स्त्रियों का परम कर्त्तव्य है।

इति तृतीयं ब्राह्मणं समाप्तम्।

अथ प्रथमाध्याये चतुर्थ ब्राह्मणम्

यहाँ तक गर्भ में बालक के आने से पहले माता-पिता को किस प्रकार की मानसिक तैयारी करनी चाहिए सो लिखा। अब आगे यह लिखेंगे कि गुरुकुल में जाने के लिए बालक को किस प्रकार तैयार करना चाहिए। प्रसूत बालक को गुरुकुल में क्या करना होगा, उसकी शिक्षा के कौन-से मौलिक तथा व्यापक सिद्धान्त हैं, जो किसी प्रकार की भी शिक्षा दी जाय उसमें आवश्यक हैं उनका वर्णन इस अङ्क में दिया गया है। यह नाटक का द्वितीयाङ्क आरम्भ होता है।

प्रश्न हो सकता है कि माता के गर्भ में स्थित बच्चे के लिए जो संस्कार तथा मर्यादा अपेक्षित है उनका वर्णन यहां क्यों नहीं। उसके उत्तर में निवेदन है कि उनके लिए पृथक् यज्ञ निश्चित हैं उनका वर्णन वहीं करेंगे।

इस अङ्क में सबसे प्रथम जो पात्र अभिनय करने आता है इसका नाम कृष्णाजिन है। अब सावधान होकर सुनिए यह क्या कहता है।

अथ कृष्णाजिनमादत्ते यज्ञस्यैव सर्व्वत्वाय यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम स कृष्णो भूत्वा चचार तस्य देवा अनुविद्य त्वचमेवावच्छायां जह्रुः ॥१॥

तस्य यानि शुक्लानि च कृष्णानि च लोमानि तान्यृचां च साम्नां च रूपं यानि शुक्लानि तानि साम्नां रूपं यानि कृष्णानि तान्यृचां यदि वेतरथा यान्येव कृष्णानि तानि साम्नां रूपं यानि शुक्लानि तान्यृचां यान्येव बभ्रूणि हरीणि तानि यजुषां रूपम् ॥२॥

सैषा त्रयी विद्या यज्ञः तस्य एतच्छिल्पमेष व्वर्णस्तद् यत् कृष्णाजिनं भवति यज्ञस्यैव सर्व्वत्वाय तस्मात् कृष्णाजिनमधिदीक्षन्ते यज्ञस्यैव सर्व्वत्वाय तस्मादध्यवहननमधिपेषणं भवत्यस्कन्नं हविरसदिति तद्यदेवात्र तण्डुलो वा पिष्टं वा स्कन्दात् तदयज्ञे यज्ञः प्रतितिष्ठादिति तस्मादध्यवहननमधिपेषणं भवति ॥३॥

"अब यज्ञ को सर्वांग सम्पन्न बनाने के लिए कृष्णाजिन को लेता है। सो बात यह है कि यज्ञ देवों को चकमा देकर भाग गया और वह कृष्ण मृग बनकर घूमने लगा। अन्त को देवों ने उसे किसी प्रकार पीछा कर के जा पकड़ा। वह सारा तो हाथ नहीं आया, हाँ उन्होंने उसकी खाल उतार कर ले ली ॥१॥"

"उस खाल में जो श्वेत-श्वेत और काले रंग के बाल हैं वह ऋक् और साम के रूप हैं, जो श्वेत हैं वह साम के रूप हैं, जो काले हैं वह ऋक् का और चाहे तो उलटा समझ लीजिए। जो काले हैं वे साम का रूप हैं और जो श्वेत हैं वे ऋक् का, जो भूरे और हरे से रंग के हैं वे यजुः का रूप हैं ॥२॥"

"सो यह कृष्णाजिन वस्तुतः ऋक्, साम यजु तीन विद्या रूप यज्ञ हैं। यह कृष्णाजिन इस त्रयी विद्या का ही चिह्न है, उस की ही प्रतिमूर्त्ति है। इसीलिए यज्ञ को सर्व्वांग सम्पन्न बनाने के लिए कृष्णाजिन पर बैठ कर ही दीक्षा दी जाती है। यज्ञ को सर्व्वांग सम्पन्न बनाने के लिए ही हवि का कूटना और पीसना सब कृष्णाजिन पर ही होता है, जिससे हवि गिरे भी तो यज्ञ में ही गिरे, बिखरे नहीं, अस्कन्न रहे जो कोई चावल का दाना अथवा पिष्ट का छींटा गिरे वह यज्ञ का अंश यज्ञ में ही बना रहे। इसलिए कृष्णाजिन पर रखकर ही कूटना पीसना होता है। ३॥"

इन तीन कण्डिकाओं में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं।

सब से प्रथम तो इस बात की ओर देखिए कि, चाहे काले रोम को ऋक् और श्वेत को साम समझ लो और चाहे इससे उलटा समझ लो।

इससे यह स्पष्ट है कि यह सारी कथा काल्पनिक है। यह "यदि वा इतरथा" सिवाय कल्पना की सृष्टि के और कहां प्रयोग हो सकता है। वास्तविक सृष्टि में जो श्वेत है सो श्वेत है। जो काला है सो काला है। वास्तविक सृष्टि में कोई ऐसा नहीं कह सकता कि चाहे इसे काला मान लो और उसको श्वेत और चाहे उलटा मान लो।

फिर इसमें ४ वार 'रूपम्' शब्द आया है फिर 'वर्ण' और 'शिल्पम्' भी आया है। इसका अर्थ भी सायण 'रूपम्' ही करता है। क्या अब भी इसके रूपक होने में सन्देह है?

अब प्रश्न यह है कि मृग कौन-सा है इसके लिए पहले देखिए कि मृगचर्म का सम्बन्ध किससे है। इसके निर्णय के लिए सूत्र ग्रन्थादि की ओर न जाकर हम सीधा वेद ही का सहारा क्यों न लें। देखिए वेद क्या कहता है **ब्रह्मचार्य्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः। अथर्व० ११।५।**

यहाँ 'कार्ष्णं' का अर्थ स्वयं सायण ने भी **कृष्ण-मृग-सम्बन्धिअजिनं वसानः** ऐसा किया है। इसलिए कृष्णाजिन का सम्बन्ध ब्रह्मचारी से स्पष्ट है। इसलिए यदि हमने यह लिखा कि पौर्णमास याग का यह भाग ब्रह्मचारी की ओर निर्देश करता है तो यह उचित ही लिखा गया है।

अब यहाँ कृष्णाजिन में श्वेत, काले, भूरे और हरे चार प्रकार के बालों को ऋक्, यजु, साम इन तीन विद्याओं में बाँट कर स्पष्ट ही ऋग्, यजुः, साम, अथर्व इन चार वेदों को ऋक्, यजुः, साम; पद्य, गद्य, गीत इन भेदों में बांटने की ओर निर्देश किया है। अब यदि हम इस प्रकार लिखें तो बात बिलकुल स्पष्ट हो जायगी—

कृष्णाजिन=त्रयी विद्या=चार वेद=ब्रह्म सो कृष्णाजिनं वसानः=ब्रह्मचारी

अब देखना चाहिये कि उसके कृष्ण मृग बनकर घूमने की कथा का क्या तात्पर्य हुआ। तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञान तो एक भाग निकलने वाले मृग के समान है। जो चारों वेद भी पढ़ लेते हैं उन्होंने तो केवल इतना पाया जैसे मृग की खाल, हाड़, मांस, चर्बी, मज्जा अभी तो कुछ भी हाथ नहीं आया।

तब क्या यह मान लें कि वेद सब विद्याओं का भंडार नहीं?

नहीं ऐसा कदापि नहीं। जिस प्रकार चर्म सारे मृग को ढके हुए है इसी प्रकार वेद भी बीज रूप से सारे ज्ञान के क्षेत्र को घेरता है (Cover) करता है। किन्तु वह सारा मृग नहीं। मनुष्य का उपयोगी ज्ञान, बीज, रूप से उसमें सब आ गया परन्तु प्रभु का ज्ञान अनन्त है। वह आप भी अनन्त होने के कारण अपने आप को अनन्त जानता है। फिर हम उसका पार क्या पाएँ। वेद किन अर्थों में समस्त विद्याओं का भण्डार है और किन अर्थों में नहीं ये दोनों ही बातें इस दृष्टान्त में किस सुन्दरता से दिखला दी गई हैं।

अब प्रश्न उठता है कि इस सारी कथा का तात्पर्य क्या है? इसका उत्तर यह है कि याज्ञवल्क्य माता-पिता को उपदेश देते हैं कि जिस प्रकार धान कूटने तथा पिट्ठी पीसने में कुछ न कुछ दाने इधर उधर अवश्य गिरते हैं इस प्रकार विद्यार्थी का सारा समय भी ज्ञान मृग के पकड़ने में नहीं बीत सकता। उसे (Relaxation) भी चाहिए। कुछ न कुछ कण अवश्य इधर उधर गिरेंगे। नहीं तो उसे हवा न लगेगी और वह पवित्र न होगा परन्तु ध्यान यह रखना चाहिए कि उसके चारों ओर का वायु-मण्डल ऐसा हो कि उसके मस्तिष्क का जो अंश शिला से बचकर इधर उधर गिरे

वह भी यज्ञ पर, त्रयी विद्या पर, ज्ञान-वृद्धि पर ही गिरे अर्थात् उसके खेल कूद आमोद-प्रमोद भी शिक्षादायक हों उसे वास्तविक उद्देश्य से भ्रष्ट करने वाले न हों।

प्रश्न हो सकता है कि इन चावलों तथा पिठ्ठी का मस्तिष्क से क्या सम्बन्ध है ? सो उत्तर में निवेदन है कि थोड़ी प्रतीक्षा करिए। कुछ दूर आगे चलकर ही आप पढ़ेंगे। **"मस्तिष्क एव पिष्टानि"** (१।२।१।१) **अथ कृष्णाजिनमादत्ते "शर्मासि" (यजुः १।१४) इति चर्म वा एतत्कृष्णस्य तदस्य तन्मानुषं शर्म देवत्रा तस्मादाह शर्मासीति तदवधूनो "त्यवधूतं रक्षोऽवधूता अरातयः।" (१।१४) इति तन्नाष्ट्रा एधैतद्रक्षांस्यतोऽपहन्त्यतिनत्येव पात्राण्यवधूनोति यद्धयस्याममेध्यमभूत्तद्धयस्यै तदवधूनोति ॥४॥**

फिर कृष्णाजिन को लेकर वाक्य बोलता है "शर्म्मासि" तू कल्याणकारी है। वह कृष्ण मृग का चर्म्म है। किन्तु उसे चर्म्म कहना यह तो मनुष्यों का व्यवहार है। शर्म्म कहना देवों का व्यवहार है। इसलिए कहता है 'शर्म्मासि।"

तात्पर्य यह है कि जो इस चमड़े को केवल चमड़ा समझते हैं वह स्थूलदर्शी साधारण मनुष्य हैं। यह तो ज्ञान का प्रतिनिधि है। तात्पर्य यह है कि जो यह जान ले कि मैं मृगचर्म्म इसलिए पहनता हूँ कि मेरा कल्याण ऋग्, यजुः, साम, अथर्ववेद रूप ओढ़नी के ओढ़ने से, तदेकपरायण होने से होगा, अथवा जो माता-पिता यह समझ लें कि इस हमारी सन्तान का भला वेद परिवृत होने से होगा, वे तो देव हो जाएँगे और जो केवल मृगचर्म्म को चर्म्म समझ कर पहनेंगे और इसे ही ब्रह्मचर्य की इयत्ता मान लेंगे वे साधारण प्राकृतजन ही बने रहेंगे। उन में देवभाव कभी न आएगा। इसीलिए कहा है "परोक्षप्रिया इव वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः" अर्थात् देवलोग तो क्रियाकलाप के पीछे जो परोक्ष छिपा होता है उसके उपासक होते हैं, स्थूलदृष्टि से दृश्यमान कर्मकाण्ड के नहीं।

तदवधूनोत्यवधूतं रक्षोऽबधूता अरातय इति (यजुः १।१४) तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षांस्यतोऽपहन्त्यतिनत्येव पात्राण्यवधूनोति यद्धयस्याममेध्यमभूत्तद्धयस्यै तदवधूनोति ॥८॥

"फिर उस कृष्णाजिन को झाड़ता है। उस समय वाक्य पढ़ता है **अवधूतं रक्षोऽवधूता अरातयः** सो जो नाशकारी राक्षस होते हैं उन्हें इस वाक्य द्वारा दूर करता है। अर्थात् कृष्णाजिन में जो कोई दोषयुक्त वस्तु लगी हो उसे झाड़ता है। उस समय वाक्य पढ़ता है—हमने राक्षस झाड़ डाला, अदाता झाड़ डाले। यह कार्य पात्रों से कुछ अतिनत्य अर्थात् बचाकर करना चाहिए। अथवा कुछ झुककर करना चाहिए ऐसा भी अर्थ हो सकता है। परन्तु **अपेत्य पात्रेभ्योऽवधूनोति**। (का०३।८६)

इस कात्यायन श्रौतसूत्र के प्रमाण से परे की ओर होकर यही अर्थ ठीक प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि झाड़ने से धूल आदि पात्रों पर न गिरे। जो उसमें अपवित्र अंश था वही झाड़कर दूर करता है और कोई राक्षस उसमें नहीं घुसे हुए।"

ये "**निष्टप्तं रक्षः प्रत्युष्टं रक्षः अवधूतं रक्षः**" आदि वाक्य वारम्वार इसीलिए दोहराए जा रहे हैं जिससे बाह्य और आभ्यन्तर शौच का गौरव हमारे हृदयों पर भली प्रकार अङ्कित हो जावे। बालक की शिक्षा के लिए उसे चारों ओर से ज्ञान-चर्म्म से, वैदिक-वायुमण्डल से घिरे होना चाहिये। इतना विद्यात्मक वाक्य कहकर ही सन्तुष्ट न होते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि साथ ही इसका भी पूरा ध्यान रहना चाहिये कि दूषित विनाशकारी प्रभावों से उसे बचाया जाय। इसीलिए अवधूनन किया जाता है।

तत्प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणाति । "अदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्विव" (यजुः १।१४) तीयं वै पृथिव्यदितिस्तस्या अस्यै त्वग्यदिदमस्यामधि किञ्च तस्मादाहादित्यास्त्वगसीति प्रति त्वादितिर्व्वेत्त्विति प्रति हि स्वः संजानीते तत् संज्ञामेवैतत् कृष्णाजिनाय च वदति नेदन्योऽन्यं हिनसात इत्यभिनिहितमेव सव्येन पाणिना भवति।।५।।

"उस कृष्णाजिन को झाड़ कर कार्यकर्त्ता पश्चिम की ओर गर्दन वाला भाग रख के बिछाता है। उस समय वाक्य पढ़ता है—

अदित्यास्त्वमसि प्रति त्वादितिर्व्वेत्तु (यजुः १।१४) सो अदिति यही पृथिवी है। उस इस पृथिवी पर जो कुछ भी पदार्थ हैं वे इसकी त्वचा हैं। इसीलिए कहा, हे मृगचर्म्म तू पृथिवी की त्वचा है। फिर कहा अदिति तुझे पहचान ले। जो अपना होता है सो अपने को पहचान लेता है। यह कृष्णाजिन और अदिति के बीच परस्पर परिचय कराया गया है। जिससे वे एक दूसरे की हिंसा न करें, मृगचर्म्म बिछा कर ऊखल रखने तक बायां हाथ मृगचर्म्म पर धरे रखें।"

मृगचर्म्म नाम वेद का है, यह पहले बता आये हैं। अब अदिति वस्तुतः क्या है यह भी जान लें। तब इस क्रिया का अर्थ समझ में आ सकता है। इसके प्रमाण लीजिए—

पृथिव्यग्नेः पत्नी। गो. उ० २. ६
सयं देवानां पत्नी। श. १.३१.१५,१७।
अग्निगर्भा पृथिवी। श. १४.६।४।२१।
सा अग्निं गर्भे बिभर्त्तु। श. ६।५।१।११।
तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः। तै
२।७।१६।३।२।८।६।५।।३।७।५।४।।३।७।६।१५।
महिषी ह्येयम्। श० ६।५।३।१।

विवाह-संस्कार में पति कहता है "द्यौरहं पृथिवी त्वम्।" सो इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि पृथिवी नाम जाया तथा बच्चों की माता का है। और लीजिए—

उपहूता पृथिवी माता। श१।८।१।४१।
इयं वै माता तै ३।८।९। ।। श१३।१।६।२।
नमो मात्रे पृथिव्यै। यजु९।२२। श१३।१।६।१।
मातेव वाऽयं मनुष्यान् बिभर्ति। श५।३।१।४।

अब माता और हवि (बालक) के बीच वेद (कृष्णाजिन) का पर्दा डालने का क्या अभिप्राय है।

यहाँ याज्ञवल्क्य महाराज ने एक गम्भीर सामाजिक प्रश्न पर स्वाशयानुकूल वेदाशय प्रकट किया है। यह प्रश्न प्रायः समाज शास्त्रविशारदों को उलझन में डाले रखता है कि बच्चे पर समाज का कितना अधिकार है तथा माता-पिता का कितना। कई लोगों की सम्मति में बच्चा केवल माँ-बाप का है, वह उसका जो चाहें बनावें। कई दूसरे अतियोगी (Extremist) विचारकों की सम्मति में जननी का बच्चे पर कुछ अधिकार नहीं वह राष्ट्र का है और केवल राष्ट्र का है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि बच्चा दोनों का है, क्योंकि दोनों ही उसके बनाने में हिस्सेदार हैं किन्तु उनके बीच में वेद का पर्दा आवश्यक है। तात्पर्य्य यह है माता-पिता का यह अधिकार कदापि नहीं कि वह बच्चे को सुशिक्षा से, ज्ञान की प्राप्ति से, वंचित रख सकें। यदि वह ऐसा

करें तो राष्ट्र को उन से बच्चा छीन लेने का अधिकार है।

किन्तु साथ ही राष्ट्र को यह अधिकार नहीं कि वह बच्चों को ऐसी शिक्षा दे जिससे वह माता-पिता के, विशेषकर माता के, ऋण को भूल जाएं। इसलिए कहा **"नेदन्योन्यं हिनसात इति"** जब भी संसार में किसी प्रकार के अतियोगातुर प्रकट होंगे वह प्रतियोग उत्पन्न करके रहेंगे।

इस प्रकार माता, बालक और राष्ट्र के सम्बन्ध पर अपना आशय प्रकट करके, वेद तथा विद्यालय का परस्पर सम्बन्ध बताते हैं। किन्तु इसके बीच में बायां हाथ कृष्णाजिन पर रखने की छोटी सी क्रिया है। जिसका तात्पर्य यह है कि जब तक बालक पाठशाला जाता है उससे पहले घर का समय प्राय: खेलकूद मात्र का समझा जाता है, किन्तु याज्ञवल्क्य इसका खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि जब तक बालक गुरुकुल में न जावे तब तक---

(१) बाएं हाथ अर्थात् माता का विशेष कर्त्तव्य है कि वह कृष्णाजिन पर हाथ रखे अर्थात् बालक की ज्ञानवृद्धि का ध्यान रखे।

(२) अथवा बाएं हाथ का तात्पर्य यह है कि यद्यपि ब्राह्मणों का मुख्य कर्त्तव्य गुरुकुल में विद्यादान करना है इसलिए इस कार्य को वह दाहिने हाथ से करता है। किन्तु उनका एक तदपेक्षया किञ्चित् गौण किन्तु आवश्यक कर्त्तव्य यह भी है कि वह परिवारों की देख-रेख रखें, उन्हें भी एक हाथ से सम्भाले रहें, जिससे—कृष्णाजिन—वेद—ज्ञान का प्रभुत्व वहाँ भी बना रहे।

(३) अथवा यों भी अर्थ कर सकते हैं कि परिवारों में ज्ञान के प्रचार का कार्य मुख्यरूप से ब्राह्मणों की पत्नियाँ करें। किन्तु हमें इन तीनों में से दूसरा अर्थ ठीक जंचता है। क्योंकि उसमें दक्षिणांग वामांग की उलझन नहीं रहती। परिवारों की देख-रेख समानरूप से ब्राह्मण-ब्राह्मणी दोनों का गौण कर्त्तव्य हो जाता है।

अथ दक्षिणेनोलूखलमाहरति। नेदिह पुरा नाष्ट्रारक्षांस्याविशानितिब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता तस्मादभिनिहितमेव सव्येन पाणिना भवति ॥६॥

"फिर दाहिने हाथ से ऊखल लाता है। किन्तु साथ ही कहीं इसमें नाशकारी राक्षस न घुस जावे इसलिए बाएं हाथ से कृष्णाजिन दबाए रहता है। क्योंकि ब्राह्मण ही राक्षसों का मारने वाला है।" यहां ब्राह्मण शब्द से स्पष्ट है कि यहाँ मुख्यरूप से राक्षस मानसिक दुष्ट भाव ही अपेक्षित हैं क्योंकि उनको मारना मुख्यरूप से ब्राह्मण का कार्य है। दुष्ट मनुष्यों का ताड़न तो क्षत्रिय का काम है।

अथोलूखलं निदधाति। "अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्न" (यजु: १।१४) इति वा तद्यथैवाद: सोमं राजानं ग्रावभिरभिषुण्वन्त्येवमेवैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्यां हविर्यज्ञमभिषुण्वोत्यद्रय इति वै तेषामेकं नाम तस्मादाहाद्रिरसीति वानस्पत्य इति वानस्पत्यो ह्येष ग्रावासि पृथुबुध्न इति ग्रावा ह्येष पृथुबुध्नो ह्येष "प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति" (यजु:१।१४) तत् संज्ञामेवैतत् कृष्णाजिनाय च वदति नेदन्योऽन्यं हिनसात इति ॥७॥

सोम नाम गुरुकुल से समावृत्त विवाहार्थी स्नातक का है और क्योंकि बालक ही बड़ा होकर स्नातक होता है इसलिए बालक का भी है। इस विषय का एक

प्रमाण हम 'आपः' की व्याख्या करते हुए पहले दे आये हैं। इसका अधिक विस्तार हमारे 'सोम' नामक लघुनिबन्ध में देखना चाहिए। यहाँ केवल हम इतना लिखना पर्याप्त समझते हैं कि सोम को 'वधूयु' कहा गया है। सोम के अभिषव का अर्थ है कि जिस प्रकार सोम नामक उत्तम औषध से अभिषव द्वारा रस निकाला जाता है इसी प्रकार बालक को आचार्य कुल रूप कुम्भी में रख कर जो साररूप स्नातक बनता है वह भी सोम का अभिषव है और उसकी उत्तम विद्या सोम रस है। वैदिक साहित्य में कहीं तो बालक को सोम कह कर उसके अभिषव के दृष्टान्त द्वारा स्नातक को सुत सोम कहा गया है। और कहीं उसकी छोटे वृक्ष से उपमा देकर स्नातक को पूर्ण वनस्पति कहा गया है। सो सोम के अभिषव का अर्थ हुआ बालकरूप सोम का अभिषव करके स्नातक रूप सार बनाना। यहां ऊखल को सोम के अभिषव से उपमा देकर शतपथकार ने स्पष्ट कर दिया है कि पुरोडाश पकाना और सोम का अभिषव एक ही बात है। सो जिसमें रखकर पुरोडाश के व्रीहि कूटे जाते हैं वह ऊखल यहाँ गुरुकुल का प्रतिनिधि हुआ।

सो ऊखल रखते हुए वाक्य पढ़ता है—**"अद्रिरसि वानस्पत्यः ग्रावाऽसि पृथुबुघ्नः।"** तू वनस्पति गुरुकुल वास द्वारा वन के स्वामी, जो स्वयं स्नातक नहीं वह दूसरों को किस प्रकार स्नातक बना सकता है इसलिए सोमयाग में जिस विद्वान् को स्नातक तैयार करने के लिए विश्वविद्यालय का अध्यक्ष बनाने के लिए चुना जाता है। उसे वनस्पति सोम कहा गया है उसका रसपान करके ही विद्यार्थी स्नातक बनते हैं सो उसके समय का किस प्रकार उपयोग करें यह सोमयाग में बताया गया है इसलिए कहा वन के पालक विश्वविद्यालयाध्यक्ष स्नातक के लिए हितकारी पर्वत है। (यजुर्वेद २६ अध्याय मन्त्र १५ में लिखा है कि विद्वानों की उत्पत्ति नदियों के संगम तथा पर्वत की तलैटियों में होती है)। तू पृथुबुघ्न मोटे निचले भाग वाला ग्रावा अर्थात् पत्थर है। तात्पर्य यह कि जिस शिला पर रख कर सोम कूटते हैं उसका आरोप उलूखल में किया गया है। सो जैसे सोम राजा का अर्क पत्थरों से कूट कर खींचते हैं इसी प्रकार यहां ऊखल मूसल और दृषद् उपल से हविर्य्यज्ञ को अभिषव करते हैं। सो सोम के अभिषव साधनों का एक नाम अद्रि भी है। इसीलिए सोमयाग का आरोप यहां करने के लिये अद्रि कहा गया। 'वानस्पत्यः' का अर्थ तो स्पष्ट ही है कि ऊखल वनस्पति का बना हुआ है। **"ग्रावा सि पृथुबुघ्नः"** भी इसीलिये कहा है कि यह विशाल पत्थर के समान है। और **"प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु:"** यह वाक्य इसलिए कहा कि जिस से कृष्णाजिन और अदिति में परस्पर परिचय वाक्य बोलता है जिससे वे एक दूसरे का व्याघात न करें।"

इस सारे सन्दर्भ का अर्थ तब पता लगेगा जब हम पहले अद्रि और 'ग्रावा' शब्द का वास्तविक अर्थ जान लें। और साथ ही सोम का भी जान ले। सब से पहले 'अद्रि' शब्द की व्युत्पत्ति लीजिये। ऋग्वेद चतुर्थ मण्डल प्रथम सूक्त १४ मन्त्र में पाठ हैं :—

ददृवांसो अद्रिम्।

इससे पता लगता है कि अद्रि शब्द का अर्थ है जो विदीर्ण न हो। क्योंकि जो विदीर्ण नहीं होता उन्होंने उसे भी तोड़ डाला है, ऐसा भाव यहाँ स्पष्ट है। इससे पता लगा कि 'अद्रि' शब्द के प्रकरणानुसार कुछ भी अर्थ हों, विदीर्ण न होने

वाला यह अर्थ उसमें अवश्य विद्यमान है। अब प्रयोग से देखते हैं कि इस शब्द के क्या-क्या अर्थ हैं।

अद्रि शब्द का सबसे प्रथम अर्थ परास्त न होने वाला विद्वान् है। परास्त न होने वाला यह अर्थ हमने इसलिए किया कि विद्वान् के सम्बन्ध में विदीर्ण न होने का अर्थ परास्त न होना ही लिया जायगा। अब यहां कुछ मन्त्र ऐसे देते हैं जहां अद्रि का अर्थ विद्वान् ही करना पड़ता है। ऋग्वेद दशम मण्डल ८६ सूक्त का आठवां मन्त्र इस प्रकार है—

एते नरः स्वपसो अभूतन यह इन्द्राय सुनुथ सोममद्रयः। वामं वाम वो दिव्याय धाम्ने वसु वसु वः पार्थिवाय सुन्वते॥

"हे नरः अर्थात् मनुष्यो तुम जो सोम का सवन करते हो सो इसीलिए तुम स्वपस् अर्थात् उत्तम कर्म्मा होते हो। तुम्हारे दिव्य तेज की सर्वत्र प्रशंसा ही प्रशंसा है और तुम पुरुषार्थी राजा को धन ही धन से भर देते हो।"

यहां स्पष्ट रूप से अद्रियों को नरः कहा है। यही नहीं वह उत्तम कर्म्म क्या है वह भी सुन लीजिये :—

अपहतरक्षसो भङ्गुरावतः, स्कभायत निर्ऋतिम्, सेधता मतिम्। आ नो रयिं सर्व्ववीरं सुनोतन देवाव्यं भरतश्लोकमद्रयः॥१०।७६।४॥

"हे अद्रियो तुम टेढ़ी चाल चलने वाले राक्षसों को मारो, समाज से निर्व्वासन रूप जेलखाने आदि के दुःख को हम से दूर रक्खो, कुमति और अविद्या को दूर करो, वीर सन्तानयुक्त धन को हमारे लिए प्राप्त कराओ, और देवों के प्रसन्न करने वाले श्लोक सम्पादन करो।"

और लीजिए—

प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदता वदभद्‌यः। यदद्रयः पर्व्वताः साकमाशवः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः॥

"हे अदीर्ण पालन हारे, साथ मिलकर आनन्द भोगने वाले सोम सोमयुक्त विद्वानो तुम इन्द्र के लिए श्रवण-सुखद कीर्तन घोष सुनाओ। इस प्रकार की वाणी हम वाक्यपटु ग्रावा अर्थात् कवियों को कहें जिससे वे इस प्रकार का घोष इन्द्र के प्रति प्रवदन्तु प्रकृष्टरूप से कहें।

इन्द्र का अर्थ परमेश्वर, लौकिक राजा अथवा पौराणिक देवता, कुछ कीजिए किन्तु यहां अद्रियों से कहा गया है "**श्लोकं घोषं भरथ**" और उनके लिए 'वदभद्‌भ्दयः' यह विशेषण आया है। सो इससे स्पष्ट है कि वह व्यक्तवाक् हैं और श्लोक भरण में समर्थ हैं!

इस प्रकार के प्रमाण और भी अनेक उपस्थित किये जा सकते हैं किन्तु हम समझते हैं कि इतने पर्याप्त हैं। इस प्रकार अद्रि के अनेक अर्थ होते हुए भी यहाँ उसका लोक प्रसिद्ध अर्थ पर्व्वत ही हमने लिया और इसके द्वारा वेद क्या बताना चाहता है यह आगे दिखाते हैं।

यहाँ यह अद्रि यह बताने आया है कि विद्यालय के लिए उपयोगी स्थल कौन सा होता है। सो इस में बताया गया है कि वह कठोर होना चाहिए जिसमें खूब तप करना पड़े, किन्तु ऐसा तप न हो कि बालक बिलकुल मुरझा जावें। इसलिए वह

ऐसा पर्व्वत होना चाहिए जो वनस्पतियों के लिए हितकारी हो अर्थात् हरे भरे पर्व्वतों में विद्यालय बनना चाहिए। यही बात अन्यत्र भी वेद ने स्पष्ट कही है—

उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनां धिया विप्रो अजायत । यजु० २६-१५

किन्तु अद्रि शब्द का अर्थ है 'न दीर्ण' होने वाला अर्थात् कठोर' इसलिए आवश्यक नहीं पर्व्वत ही हो। हरियाली से युक्त पर्व्वत में कठोरता तथा शान्ति का जो अद्भुत संगम होता है वह जहाँ भी हो सके वह स्थान विद्या-स्थान के लिए सर्व्वोत्तम है। और क्योंकि यह संगम पर्व्वत में ही अधिक मिलता है अतः नदी अथवा निर्झर-युक्त पर्वत इस उद्देश्य के लिए उपयुक्ततम स्थान माना गया है।

अब प्रश्न हो सकता है कि आश्रम को ऊखल से उपमा क्यों दी गई। सो इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पदार्थ को कूटने में ऊखल कुछ कार्य नहीं करता, काम तो मूसल करता है, ऊखल तो केवल आधार मात्र है। इसी प्रकार विद्या दान में भी मुख्य तो गुरु है, किन्तु जिस प्रकार उपयुक्त आधार मिलने से मूसल अच्छा कार्य कर सकता है इसी प्रकार विद्या के अनुकुल वायुमण्डल मिलने से ही उत्तम गुरु भी अपना कार्य भली प्रकार कर सकता है।

साथ ही ऊखल में गढ़ा होने से कूटे जाने वाले पदार्थ का जो भाग उछलता है वह भी फिर उस में ही आ गिरता है। इसी प्रकार विद्यालय भी ऐसा ही होना चाहिए जिससे विद्यार्थी का सारा समय गुरु के पास ही बीते। उसका स्वाध्याय परिस्कन्न (Dissipate) न हो।

जिस प्रकार ऊखल घिरा हुआ होता है इसी प्रकार बालक का विद्या-मन्दिर भी मर्य्यादा से घिरा होना चाहिए। इसीलिए ऊखल के विषय में कहा कि—"तू कठोर है और वनस्पति से जन्मा और वनस्पति के संस्कार के ही काम आने वाला है। यह हवि भी वही है जो सोम है।" सोम का स्नातक होना हम दिखा चुके हैं। सो जिस प्रकार सोम-संस्कार में अद्रि नामक पत्थर कूटने के काम आते हैं वही काम यहाँ ऊखल कर रहा है। हवि भी उसका ही प्रतिनिधि है जिसका सोम औषधि है। अर्थात् स्नातक का। इसलिए कहा—"**अद्रिरसि वानस्पत्यः**"—ऊखल! तू वानस्पत्य अर्थात् वनस्पति हितकारी पत्थर के तुल्य है अर्थात् उत्तम विद्यास्थान कठोर तथा वनस्पतियों से भरा होता है।

तू "**ग्रावाऽसि पृथुबुध्नः।**" गहरे मूल वाला ग्रावा है अर्थात् पत्थर के तुल्य है। तात्पर्य यह कि विद्यालय का मूल गहरा होना चाहिए अर्थात् उसके सहायक बहुत हों और पुराना हो। अच्छी परम्परा (Traditions) उसके साथ हों। जितना उज्ज्वल और पुराना इतिहास उसके साथ लगा होगा, तथा जितना उसके कार्यकर्त्ता उसे लोकोपयोगी बनाने का यत्न करेंगे, उतना ही वह पृथुबुध्न होगा। इस का तात्पर्य यह है कि विद्यालयों के अध्यक्षों को अपने विद्यालयों को लोकप्रिय बनाने का भी सदा यत्न करना चाहिए, तभी वह पृथुबुध्न, विशाल आधार वाला, कहला सकता है। यही सोम और हवि की समानता आगे कण्डिका में कहते हैं—

'तद्यथैवादः सोमँ राजानं ग्रावभिरभिषुण्वन्त्येवमेव" इत्यादि।

"अर्थात् ठीक जिस प्रकार वहाँ सोमयाग में उस (अदः) राजा सोम को पत्थरों से कूटकर रस निकालते हैं इसी प्रकार यहाँ भी ऊखल-मूसल से तुष पृथक् करके सिल-बट्टे से पीस कर हविर्यज्ञ को अभिषव किया जाता है, अर्थात् क्रिया

योग्य किया जाता है। सोमयाग के पत्थरों के अनेक नामों में से एक नाम अद्रि भी है। इसी लिए यहाँ भी वही अद्रि शब्द प्रयोग किया है। 'वानस्पत्यः' जो कहा सो भी इसीलिए क्योंकि वह वनस्पति-समुद्भूत और वनस्पति के लिए ही उपयोगी है। उसी के यज्ञ-संस्कार में काम आया है। 'ग्रावासि पृथुबुध्नः' कहा क्योंकि वह ग्रावा है, दिग्दिगन्त में अपने स्नातकों के यश के द्वारा अपनी कीर्ति-कथा कहता है, और अतएव 'पृथुबुध्न' कहा क्योंकि ग्रावा (लोक-विश्रुत) होने के कारण वह पृथुबुध्नः अर्थात् विशाल आधार वाला है। 'प्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्तु' तुझे सारी धरती का पृष्ठ जाने, इतना लोकविश्रुत हो। यह जनता में अथवा माता में और कृष्णाजिन अर्थात् विद्या में परस्पर संज्ञा अर्थात् अनुराग की घोषणा करता है जिससे वे दोनों एक दूसरे को चोट पहुँचाने वाले न हों। तात्पर्य्य यह कि विद्यालयों की कीर्ति ऐसी होनी चाहिए कि माताएँ प्रसन्नता से अपने बालक वहाँ भेजें।"

अथ हविरावपति। "अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जन" (यजुः १।१५) मिति यज्ञो हि तेनाग्नेस्तनूर्वाचो विसर्जनमिति यां वा अमूꣳ हविर्ग्रहीष्यन्वाचं यच्छत्यत्र वै तां विसृजते तद्यदेतामत्र वाचं विसृजत एष हि यज्ञ उलूखले प्रत्यष्ठादेष हि प्रासारि तस्मादाह वाचो विसर्जनमिति॥ ८॥

अब हवि को लाकर ऊखल में रखता है। यहाँ 'आवपति' शब्द ध्यान देने योग्य है; 'वप्' का अर्थ होता है बीज बोना। यद्यपि स्थूलदृष्टि से हवि ऊखल में रख के कूटा जाता है परन्तु उसका उद्देश्य वही है जो धरती में बीज बोने का। अर्थात् बालक के मस्तिष्क को फलित, पुष्पित, विकसित करना। इसलिए यहाँ 'रखता है' के लिए 'आसादयति' आदि शब्दों का प्रयोग न करके 'आवपति' (Plants) का प्रयोग किया गया है।

उस समय मंत्र पढ़ते हैं: "अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनम्" (यजुः १।१५) हे हवि! अर्थात् बालक, तू गुरुकुल में उत्तम गुरु के अर्पण हुआ है। तू हमारे कुल संकल्प-रूप अग्नि का तनू अर्थात् विस्तार करने वाला है। तुझे इस प्रकार उत्तम गुरुकुल में सुप्रतिष्ठित देखकर ही हमारी वाणी का विसर्जन होता है। अर्थात् हमारे मुख से प्रभु के लिए धन्यवाद निकलते हैं। और जब तक तुझे उत्तम गुरु के अर्पण न करलें तब तक मारे चिन्ता के हमारी बोलती बन्द रहती है। जिस प्रकार आत्मा की अभिलाषाओं का विस्तार शरीर करता है इसी प्रकार पिता के शिव-संकल्प का विस्तार पुत्र करता है। इसीलिए कहा, तू अग्नि की तनू अर्थात् शरीर है। यहाँ योग और रूढ़ि दोनों मिल कर एक स्वर में वजते हुए कैसा मीठा अनुराग उत्पन्न कर रहे हैं, यह तो शब्दशास्त्र के मर्म्मज्ञ सहृदय लोग ही जान सकते हैं। 'तनू' का यौगिक अर्थ है विस्तार करने वाला, रूढ़ अर्थ है शरीर। यहाँ दोनों एक रेखा में चल रहे हैं। वैदिक वाङ्मय में सर्वत्र ही परम कवि का यह अद्भुत चमत्कार देखने में आता है। साथ ही माता-पिता को अपने बालक को उत्तम गुरु के अर्पण करने की कितनी चिन्ता होनी चाहिए, यह बात वेद ने "वाचो विसर्जनम्" इस वाक्य से अति सुन्दरता से दिखा दी है। ऐसा करने से पहले उसे किसी दूसरी बात के लिये अवकाश ही न होना चाहिए, यह वेद का तात्पर्य है।

"यह हवि यज्ञ के लिए है, इसलिए कहा, "अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनम्" सो जब हवि ग्रहण करने लगे थे उस समय जो यजमान ने मौनव्रत लिया था वह यहाँ आकर विसर्जन होता है। सो यहाँ आकर जो वाग्विसर्जन करता है उसका कारण यह है कि

अब यह यज्ञ निरालम्ब नहीं रहा, वह ऊलूखल अर्थात् गुरुकुल में सुप्रतिष्ठित हो गया। अब इसका निःशङ्क प्रसार होगा, इसलिए कहा—**वाचो विसर्जनम्** ॥८॥

स यदिदं पुरा मानुषीं वाचं व्याहरेत् । तत्रो वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेद्यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञं पुनरारभते तस्यो हैषा प्रायश्चित्ति "देववीतये त्वा गृह्णामी" (यजुः १।१५) ति देवानवदित्यु हि हविर्गृह्यते ॥ ९ ॥

इस नवम कण्डिका का व्याख्यान करने से पूर्व हम वैदिक वाङ्मय में 'विष्णु' शब्द का प्रयोग अति संक्षेप में समझा देना चाहते हैं। विष्णु शब्द का प्रयोग वेद और वैदिक साहित्य में ठीक उसी प्रकार होता है जिन अर्थों में हम अंग्रेजी भाषा में Public (पब्लिक) शब्द का प्रयोग करते हैं। यदि कोई कहना चाहे कि मेरे रास्ते में बाधा न डालिये, मैं इस समय Public duty (पब्लिक डयूटी) पर हूँ तो वैदिक भाषा में इसे यों कहेंगे कि मेरे रास्ते में बाधा न डालिये, मैं इस समय 'वैष्णव कर्म' में नियुक्त हूँ। हमारे देश से यह चीज इतनी लुप्त हो चुकी है कि इस भाव के लिए मुझे अंग्रेजी भाषा से ही शब्द उधार लेना पड़ा।

अब कण्डिका का अर्थ यों है कि वह यजमान जो कहीं हविरावपन से पहले कोई बातचीत यज्ञ से अतिरिक्त बोले तो ऐसी ऋचा वा यजु का जप करे जिसका देवता विष्णु हो, क्योंकि विष्णु का अर्थ यज्ञ है, सो वैष्णव मन्त्र के जप से फिर यज्ञ अविच्छिन्न हो जाता है, सो यही इस मौन भङ्ग का प्रायश्चित्त है।

तात्पर्य यह कि यदि किसी माता-पिता पर कभी ऐसा ही अवसर आ जाय कि उन्हें कुछ काल बच्चों को गुरुकुल से पृथक् रखना पड़े तो वह उन में वैष्णव भावना (Sense of public duty) पैदा करने का यत्न जहाँ तक हो स्वयं करे। क्योंकि कोई माता-पिता हजार यत्न भी करें, समाज के प्रति भक्ति और घर के प्रति झूठी ममता और मोह की वह कमी जो गुरुकुल में अनेक समान—वयोरूप, समान-शील-व्यसन विद्यार्थियों के साथ रहने से ही पैदा हो सकती है, घर के लाड़चाव में कदापि पैदा नहीं हो सकती। परन्तु आपत्काल हो, उत्तम गुरु न मिले, तो घर में ही उसे वैष्णव ऋचा और यजु (Public duty) की भावना पैदा करने वाले ज्ञान का स्वाध्याय और ऐसे ही कर्मों का अभ्यास माता-पिता करावें। यही प्रायश्चित्त (Substitute) है।

अब यह बताते हैं कि हवि किस उद्देश्य से ली जाती है। सो यह बात "देववीतये त्वा गृह्णामि" (यजुः १।१५) इस मंत्र भाग में बताई गई है—"हे हवि, तेरा ग्रहण देवों की रक्षा के निमित्त हो रहा है।" तात्पर्य यह कि बालक का मस्तिष्क दिव्य विद्याओं की वृद्धि के लिए अथवा अन्य देव-कार्य, अर्थात् लोकोपयोगी कार्य के निमित्त होता है। 'वीति' का अर्थ कई भोजन भी करते हैं, सो देवों का भोजन भी यही है। जब कोई बालक विद्वानों की सङ्गति में बैठकर अपने मस्तक को विद्वानों के बताये मार्ग में लगाता है, उस समय उसका मस्तक देव भोजन बनता है। किसी के मस्तक को फाड़कर खाना यह राक्षस-भोजन अथवा पिशाच-भोजन की रीति है। किन्तु उसके मस्तक को उत्तम कर्मों में लगाना यह देवों का मस्तक-भोजन है। अन्त को लोकोपयोगी कार्य करने में भी तो मस्तक का व्यय होता ही है। उसी मानसिक शक्ति के सद्व्यय का नाम देववीति अथवा देव-भोजन है। जो लोग 'संज्ञपन' का अर्थ मारना करते हैं उन्हें भी यही समझना चाहिए कि राक्षस लोग जब किसी को मारते हैं तो उसका रुधिर निकालते हैं। किन्तु देव लोग जब किसी अज्ञानी को मारते हैं तो उसे उत्तम ज्ञान देकर 'संज्ञप्त' कर देते हैं। उनकी यही हत्या है। यदि किसी ग्राम्य

में २०० अज्ञानी हों तो उन्हें मारने के दो प्रकार हैं। तलवार से उन्हें मार दो, उस ग्राम में कोई अज्ञानी नहीं रहा। यह अज्ञानियों को मारने का साधारण प्राकृत जनों का प्रकार है। किन्तु उन दो सौ अज्ञानियों को संज्ञपन (सम्यग् ज्ञान-दान) द्वारा ज्ञानी बना दो। अब वहाँ कोई अज्ञानी नहीं रहा। अज्ञानी मर गये, ज्ञानी हो गये। यह अज्ञानियों को मारने का देव-प्रकार है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जहाँ देवहूति, देववीति आदि शब्द आएँ तो उनका प्राकृत जनों से भेद समझना।

अथ मुसलमादत्ते। "बृहद्ग्रावासि वानस्पत्य" (यजुः १।१५) इति बृहद्ग्रावा ह्येष वानस्पत्यो ह्येष तदवदधाति "स इदं देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्व" (यजुः १।१५) इति स इदं देवेभ्यो हविः स ँ स्कुरु साधुस ँ स्कृत ँ स ँ स्कुर्विव्ये-वैतदाह ॥१०॥

हवि बालक का मस्तिष्क है। ऊखल आश्रम है। अब मूसल क्या है, स्वयं विचार लेना चाहिए। जिस प्रकार हवि के दोषों को कूट-कूटकर दूर करने का काम मूसल करता है इसी प्रकार मस्तिष्क (जिसका प्रतिनिधि पुरोडाश है) के दोष दूर करने का काम गुरु का है। अतः यद्यपि आकार-परिमाण में ऊखल बड़ा है किन्तु कर्म ज्येष्ठ होने के कारण मूसल को कहा 'बृहद् ग्रावाऽसि' (यजुः १।१५) अब इनके यौगिक और रूढ़ दोनों ही अर्थ लीजिए। यह ऊखल-रूप आश्रम ग्रावा है, उपदेश करने वाला है। किन्तु इसका उपदेश तो गौण है। यह तो अपने प्रशान्त पुण्य प्रभाव से उपदेश में सहायक होने के कारण ही ग्रावा कहलाता है। किन्तु बृहद् ग्रावा—बड़ा उपदेष्टा—तो गुरुकुल का कुलपति है, वनवासियों का असली हितकारी तो वही है।

अब रूढ़ार्थ लीजिए। जिस प्रकार सोम का रस निकालने के लिए एक सिल होती है और एक बट्टा होता है, इस प्रकार इस हवि के सस्कार के लिए वह वनस्पति-जन्मा, वनस्पति-हितकारी मूसल बड़े पत्थर के समान है। जो काम सोमरस निकालने में मूसल का है, वही विद्यार्थी के मस्तिष्क के दोष निकालने में गुरु का है। अतः वस्तुतः यह गुरु को कहा जा रहा है कि जिस प्रकार यह मूसल इस व्रीहिरूप वनस्पति का हितकारी अर्थात् इसके दोष दूर करके इसे यज्ञोपयोगी बनाने वाला है इसी प्रकार हे विद्वन्! तू बड़ा ग्रावा (बोलने वाला) है, और 'वानस्पत्यः' अर्थात् वनवासियों का हितकारी है।

"इसलिए जब मूसल पकड़ता है कि "बृहद् ग्रावाऽसि वानस्पत्यः" (यजुः १।१५) हे मूसल! तू वनस्पति का हितकारी बड़ा ग्रावा है, वह बड़े ग्रावा के समान है, वानस्पत्य इसलिए है कि उसको ऊखल में चलाता है। **स इदं देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्व** (यजुः १।१५) इसका तात्पर्य यह है कि इसे देवों के निमित्त अर्थात् लोककार्य के निमित्त संस्कृत कर, ऐसा सुसंस्कृत कर कि सुसंस्कृत हो जाय।

यहाँ ग्रावा का अर्थ विद्वान् करने में कोई आपत्ति नहीं हो इसलिए इसकी थोड़ी मीमांसा कर लेनी उचित है। सबसे पहले इस शब्द की व्युत्पत्ति देखिए।

भगवान् यास्क इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार देते हैं—

ग्रावाणो हन्तेर्वा गृणातेर्वा गृह्णातेर्वा। (निरु० ६ अ० १ पा० खं)

लोग निरुक्तकार के 'वा' को समझाने में बड़ी भूल करते हैं। प्रचलित रीति के अनुसार निरुक्तकार की इस पंक्ति का अर्थ यों है कि ग्रावा का अर्थ है शिला; और यह हन्, गृ और ग्रह्, इनमें से किसी भी धातु से बनाया जा सकता है। परन्तु यह निरुक्तकार का अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता। ऐसा अर्थ होता तो वह स्वयं इस शब्द को निघण्टु

१-१० में मेघनामों में न रखते। प्रचलित अर्थ पत्थर का तो निघण्टु में ग्रहण भी नहीं। वस्तुतः निरुक्तकार का तात्पर्य यह है कि इस शब्द के जो प्रयोग देखने में आते हैं, वे अर्थ-दृष्टि से तीन भागों में बाँटे जा सकते हैं। एक जो अर्थ 'हन्' धातु से पूरे हों, एक 'गृ' से, एक 'ग्रह्' से।

(१) प्रचलित अर्थ पाषाण को लीजिए—

यत्र ग्रावा पृथुबुध्न ऊर्ध्वो भवति सोतवे। उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः।
(ऋ० १-२८-१)

यहाँ स्पष्ट सोमादि ओषधियों को कूट कर रस निकालने का वर्णन है। यहाँ ग्रावा का अर्थ पाषाण है। यह अर्थ 'हन्' धातु से आएगा, क्योंकि इस ग्रावा का काम कूटना है।

(२) दूसरा अर्थ मेघ है। यह 'ग्रह' से आएगा क्योंकि वह सूर्य को पकड़ लेता है (अथवा 'गृ सेचने' से भी हो सकता है)।

(३) तीसरा अर्थ विद्वान् है। यह 'गृणाति' से आएगा। क्योंकि इसका अर्थ है स्तुति करना, अथवा बोलना, अथवा पदार्थों का स्वरूप-निरूपण करना। यही अर्थ वेद में सबसे अधिक प्रयुक्त है और उसी का दृष्टान्त भगवान् यास्क निरुक्त में देते हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः। यदद्रयः पर्वताः साकमाशवः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः॥ (ऋ० १०-९४-१)

पुत्र स्नातक होकर गुरुकुल से लौटा है। उस के समावर्त्तन के हर्ष में उत्सव हो रहा है। स्नातक का पिता अथवा उसके पक्ष का एक पुरुष कहता है—

(सोमिनः) आज तुम सोम वाले, स्नातक वाले हो गए हो। यहाँ आज इस स्नातक के गुरु तथा अन्य विद्वान् उपस्थित हुए हैं (एते) ये विद्वान् लोग (प्रवदन्तु) हमें आज इस पुण्य अवसर पर अनेक शुभ उपदेश दें, प्रवचन करें और हम बदले में (प्रवदाम) इनका गुणानुवाद करें। इन (वदद्भ्यः) उत्तम उपदेश करने वाले (ग्रावभ्यः) शास्त्रज्ञानवर्षी विद्वानों के लिए [गृ स्तुतौ, गृ सेचने, गृ विज्ञाने] (वाचम्) उत्तम स्तुतिरूप वाणी को (वदत) बोलो। और हे सोम वालो (इन्द्राय) जिस प्रभु अथवा सुशासक राजा की कृपा से यह दिन आज नसीब हुआ है उसके लिए (साकमाशवः) सहभोज करते हुए आप सब (पर्वताः) मेघ तुल्य सबकी कामना पूर्ण करने वाले (अद्रयः) आदरणीय विद्वान् लोग (श्लोकम्) काव्ययुक्त (घोषम्) आनन्द-घोष को (भरथ) इस व्योम-मण्डल में भर दो।

वैदिक साहित्य में ग्रावा शब्द का सबसे अधिक प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। इसके कुछ प्रमाण सङ्केतमात्र से यहाँ देते हैं। विशेष विस्तार 'अद्रि' तथा 'ग्रावा' नामक पुस्तक में करेंगे।

ग्रावा वदति (ऋ० १-८३-६)
वदन् ग्रावा (ऋ० ५-३१-१२)
ग्रावाणो वदन्ति (ऋ० ५-३७-२)
ग्रावाणो विप्राः (ऋ० ८-४२-४)
ग्रावाणो ऋषयश्च विप्राः (ऋ० १०-१०८-११)

यहाँ इतने प्रमाणों से हमने इतना दिखा दिया कि ग्रावा का अर्थ विद्वान् करने

में हमने कोई खींचातानी नहीं की। उलटा सायणादि ने जहाँ 'वद्' धातु द्वारा ग्रावा के स्पष्ट रूप से व्यक्तवाक् होने का उल्लेख किया था वहाँ भी पत्थर अर्थ करके वेद पर अत्याचार किया है।

इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि यहाँ मूसल तो दृष्टान्त मात्र है वस्तुतः ग्रावा का अर्थ विद्वान् है और बृहद् ग्रावा का अर्थ कुलपति होने योग्य बड़ा विद्वान् है। इसीलिए इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए (यजु० १-१५) ऋषि दयानन्द लिखते हैं कि "यह मूसल आदि पदार्थ (देववीतये) श्रेष्ठ गुणों के प्रकाश और श्रेष्ठ विद्वान् व विविध भोगों की प्राप्ति के लिए ग्रहण किये जाते हैं।"

यदि प्रचलित अर्थ ही लेने हों तो पूर्ववर्णित ऋग्वेद के एक ही मन्त्र में 'अद्रयः' और 'पर्वताः' विशेष्य विशेषण भाव से आये हैं जो कि आजकल के कोष में पर्याय-वाची हैं। इससे स्पष्ट है कि लौकिक कोष वेद में काम नहीं देते।

अथ हविष्कृतमुद्वादयति । "हविष्कृदेहि हविष्कृदेही" (यजुः १-१५) ति । वाग्वै हविष्कृद्वाचमेवैतद्विसृजते वागु वै यज्ञस्तद्यज्ञमेवैतत्पुनरुपह्वयते ॥११॥

"अब बड़े आदरपूर्वक उच्चस्वर से जिसके निमित्त यह यज्ञ होता है उसे पुकारता है—हविष्कृत् आइए, हविष्कृत आइए! वह हविष्कृत् और कौन है, वाणी है। यहाँ वाग्विसर्जन होता है। वाणी अर्थात् वाङ्मय के स्वाध्याय द्वारा बालक के मस्तिष्क को संस्कृत करना यही तो इस यज्ञ का वास्तविक रूप है। यह यज्ञ और है क्या? वाणी का संस्कार ही तो है। इसीलिए उसे फिर बुलाता है।

तात्पर्य यह कि विद्यालय का वायुमण्डल ऐसा होना चाहिए कि इसके स्थान में कि गुरु लोग शिष्यों से कहें, "पढ़ो! पढ़ो!" विद्या इतनी रोचक होनी चाहिए कि विद्यार्थी स्वयं उसे बुलायें "विद्ये! आ! विद्ये! आ!" इसके स्थान में कि विद्यार्थी बलपूर्वक कैदी बनाकर बैठाए जावें, वे स्वयं प्रतीक्षा में बैठे हों कब घण्टा आवे और गुरुजी पढ़ावें। न तो सब विद्यार्थी ही इतने विद्याप्रेमी होते हैं, और न सब शिक्षक ही इतने शिक्षा-निपुण होते हैं। इसलिए ऊखल-मूसल की क्रिया का सहारा भी लेना आवश्यक है। दोष अवश्य दूर होने चाहिएँ और विद्यार्थी सुशिक्षित तो होने ही चाहिएं, परन्तु यदि यह 'एहि एहि' का दृश्य उपस्थित हो तब क्या कहना ॥११॥

तानि वाऽएतानि । चत्वारि वाच एहीति ब्राह्मणस्यागह्याद्रवेति वैश्यस्य च राजन्यबन्धोश्चाधावेति शूद्रस्य स यदेव ब्राह्मणस्य तदाहैतद्धि यज्ञियतममेतदु ह वै वाचः शान्ततमं यदेहीति तस्मादेहीत्येव ब्रूयात् ॥१२॥

"सो यह पुकारने के चार प्रकार हैं"—ब्राह्मण का 'एहि', क्षत्रिय का 'आद्रव', वैश्य का 'आगहि', शूद्र का 'आधाव।' सो जो इनमें से ब्राह्मण का आवाहन-प्रकार है, वही यहाँ बोला जाता है। यही सबसे अधिक यज्ञोपयोगी है। यही वाणी का शान्ततम प्रकार है कि 'एहि' कहना। इसलिए 'एहि' ऐसा ही कहे।"

तात्पर्य यह कि विद्या के लिए विद्यार्थियों को ऐसी श्रद्धा होनी चाहिए जैसी ब्राह्मण के लिए होती है। वह उसे 'अरी, इधर आ!' कहकर न बुलाएं किन्तु 'पधारिए', 'विराजिए' कह कर बुलाएं। अर्थात् उनकी मनोभावना अपने विद्याभ्यास की ओर ऐसी आदरयुक्त हो, यह प्रयत्न अध्यापकों को करना चाहिए।

तद्ध स्मैतत्पुरा । जायैव हविष्कृतदुपोत्तिष्ठति पुरा तदिदमप्येतर्हि य एव कश्चोपोत्तिष्ठति स यत्रैष हविष्कृतमुद्वादयति तदेको दृषदुपले समाहन्ति तद्यदेतामत्र वाचं प्रत्युद्वादयन्ति ॥१३॥

'हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि' ऐसा पुकारने के पीछे एक क्रिया की जाती है जिस का नाम है पात्राहनन। अर्थात् एक ऋत्विक् उठकर सिल-बट्टे को शम्या से टकराकर शब्द उत्पन्न करता है। "सो पुरा अर्थात् याज्ञवल्क्य से पहले जाया ही पुकारने पर उठ कर यह क्रिया करती थी। किन्तु आजकल जो कोई भी (ऋत्विजों में से) उठकर यह क्रिया करने के लिए आ जाता है। सो जब यह पुकारने वाला इधर से 'हविष्कृदेहि' ऐसा कहता है तो एक सिलवट्टे को शम्या से टकराता है। क्योंकि यहाँ वाणी को पुकारा जाता है।"

तात्पर्य यह कि जब कृतयुग में सब स्त्रियाँ सुशिक्षित थीं, जनसंख्या भी थोड़ी थी, उस समय यह विद्यारुचि अपने बालकों में स्वयं माता ही उत्पन्न कर लेती थी। किन्तु अब विद्या का ह्रास तथा विद्यार्थियों की संख्या बढ़ने से यह कार्य दूसरों से भी लिया जाता है ॥१३॥

अब अगली कण्डिकाओं में समाहनन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्रिया का रहस्य खोलते हैं।

मनोर्ह वाऽऋषभ आस। तस्मिन्नसुरघ्नी सपत्नघ्नी वाक्प्रविष्टास तस्य ह स्म श्वसथाद्रवथादसुररक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति ते हासुराः समूदिरे पापं वत नोऽयमृषभः सचते कथं न्विमं दभ्नुयामेति किलाताकुलीऽइति हासुरब्रह्मा वासतुः ॥१४॥ तौ हाचतुः। श्रद्धादेवो वै मनुरावं नु वेदावेति तौ हागत्योचतुर्मनो याजयाव त्वेति केनेत्यनेनर्षभेणेति तथेति तस्यालब्धस्य सावागपचक्राम ॥ १५ ॥ सा मनोरेव जायां मनावीं प्रविवेश। तस्यै ह स्म यत्र वदन्त्यै शृण्वन्ति ततो ह स्मैवासुररक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति ते हासुराः समूदिरऽइतो वै नः पापीयः सचते भूयो हि 'मानुषी' वाग्वदतीति किलाताकुली हैवोचतुः श्रद्धादेवो वै मनुरावं न्वेव वेदावेति तौ हागत्योचतुर्मनो याजयाव त्वेति केनेत्यनयैव जाययेति तथेति तस्याऽआलब्धायै सा वागपचक्राम ॥ १६ ॥ सा यज्ञमेव यज्ञपात्राणि प्रविवेश। ततो हैनां न शेकतुर्निर्हन्तु ꣳ सैषासुरघ्नी वागुद्वदति स यस्य हैवं विदुष एतामत्र वाचं प्रत्युद्वादयन्ति पापीया ꣳ सोहैवास्य सपत्ना भवन्ति ॥ १७ ॥

इन चारों कण्डिकाओं में एक आलङ्कारिक कथा है। अतः हमने इनका इकट्ठा व्याख्यान आरम्भ किया है। किन्तु इस कथा का रहस्योद्घाटन करने के लिए हम सब से पहले दो शब्दों को पकड़ते हैं जिन पर यह कथा खड़ी है। उन दो का अर्थ जान लेने से आगे कथा स्वयं स्पष्ट होती जायेगी। वे दो शब्द 'ऋषभ' और 'मनु' हैं। हम ऋषभ का अर्थ करते हैं 'शब्द' और 'मनु' का अर्थ करते हैं 'मन'। यदि हम इन दो को प्रमाणों से पुष्ट कर दें तो शेष संगति स्वयं लगती जायेगी। सबसे पहले 'ऋषभ' को लीजिए। इसमें हम ऐसा मन्त्र उपस्थित करते हैं जिसके अर्थों में कोई विवाद नहीं। मन्त्र सारे संस्कृत-साहित्य-प्रेमियों का सुपरिचित मन्त्र है—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्या ꣳ आविवेश ॥

इस पर भगवान् पतञ्जलि-कृत अर्थ देखिए—

"चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। त्रयो अस्य पादाः त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्त्तमानाः। द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्य्यश्च। सप्त हस्तासो अस्य सप्त विभक्तयः। त्रिधा बद्धः त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसीति। वृषभो वर्षणात्। रोरवीति शब्दं करोति। कुत एतद्। रौतिः शब्द कर्म्मा। महो देवो

मर्त्या आविवेशेति। महान्देवः शब्दो मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्यास्तानाविवेश ॥

(महाभाष्य पस्पशाह्निक)

अर्थात् एक बैल है जिसके नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात चार सींग हैं। भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान तीन काल तीन पैर हैं। ध्वनिरूप कार्य और स्फोटरूप नित्य यह दो सिर हैं। सात विभक्ति, सात हाथ हैं। छाती, कण्ठ और सिर तीन स्थानों में वह बँधा हुआ आवाज पैदा करता है। ऐसा यह बैल, यह शब्दरूप महान् देव मनुष्यों में प्रविष्ट है। स्पष्ट ही पतंजलि की दृष्टि में 'वृषभ' का अर्थ 'शब्द' है।

स्पष्ट 'ऋषभ' शब्द से वर्णन लीजिए—

साहस्रस्त्वेष ऋषभः पयस्वान् विश्वा रूपाणि वक्षणासु बिभ्रत्। भद्रं दात्रे यजमानाय शिक्षन् बार्हस्पत्यः उस्रियस्तन्तुमातान् ॥ अ० ९।४।१.

अर्थात् (साहस्रः) अनेक ज्ञान-शाखाओं में सहस्र धार होकर फैला (पयस्वान्) ज्ञानरूप जल से भरा हुआ (वक्षणासु) अनेक विद्या प्रवाह करने वाली पाठशालाओं में (विश्वा) अनेक (रूपाणि) रूप (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (दात्रे) दानशील (यजमानाय) यजमान को (भद्रं) उत्तम फल वा उपदेश (शिक्षन्) देता हुआ अथवा सिखाता हुआ (उस्रियः) प्रदीप्त किरण-जाल से जाज्वल्यमान (बार्हस्पत्यः) ज्ञानाधिपति परमेश्वर का (एष) यह (ऋषभः) शब्दरूप ऋषभ (तन्तुम्) ज्ञानमय तन्तु को (आतान्) विस्तार करता है।

यहाँ 'बार्हस्पत्यः' यह विशेषण इसे शब्दरूप ऋषभ बताता है। क्योंकि शतपथ में लिखा है—'ब्रह्मवै बृहस्पतिः'—

बृहस्पति ब्राह्मण देवता है। यज्ञोपवीत तथा विवाह दोनों संस्कारों में—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु। ममवाचमेकमना जुषस्व··· ष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥

यह मन्त्र आया है। केवल जो स्थान रिक्त है वहाँ विवाह में 'प्रजापति' और उपनयन में 'बृहस्पति' आया है, जिससे स्पष्ट है कि 'बृहस्पति' ज्ञान का देवता है। तो बार्हस्पत्य ऋषभ के अर्थ शब्द-रूप ऋषभ है, यह स्पष्ट हो गया।

साथ ही 'मनु' की जाया मनावी के वर्णन में इसी प्रसंग में कहा है कि ऋषभ से निकल कर जब वाणी मनावी मे घुसी तो असुर बोले कि यह कम्बख्त मानुषी वाक् फिर बोलने लगी। यहाँ 'भूयः' (फिर) यह शब्द अत्यन्त ध्यान देने योग्य है। स्पष्ट है कि ऋषभ की वाक् भी मानुषी वाक् थी।

अब 'मनु' शब्द का अर्थ देखिये। वैदिक वाङ्मय में अपत्य-प्रत्यय एक विशेष चमत्कार रखते हैं ब्रह्म का अर्थ है वेद—सो ब्राह्मण का अर्थ है वेद का बच्चा, वेद का अपत्य। प्रत्यय स्पष्ट कहता है ब्राह्मण शरीर से किसी के उत्पन्न हुआ हो, परन्तु ब्राह्मण तब है जब उसने वेद से जन्म लिया हो। इसीलिए आपस्तम्ब धर्मसूत्र में लिखा है—

यस्माद्धर्मानाचिनोति स आचार्य्यः। तस्मै न द्रुह्येत् कदाचन स हि विद्यातस्तं जनयति ॥ (आप. ध. सू., प्रथम प्रश्न, प्रथम पटल, सूत्र १४-१६)

इसी प्रकार मनुष्य का अर्थ है मनु अर्थात् मननशक्ति का बच्चा। मनुष्य, मनुष्य तब तक ही है जब तक उसमें मननशक्ति रूप पिता का लक्षण दीखता है। वह पुरुषाकृति का बच्चा नहीं, मनु का है। यदि मनु का अर्थ राजा मनु लें तो प्रथम तो वेद मनु से भी पूर्ववर्त्ती होने के कारण यह अर्थ स्वयं ही असङ्गत है। ऋग्वेद (१।१००।१६) में

"नाहुषीषु विक्षु" आया है। क्या वहाँ 'राजा नहुष की प्रजा' ऐसा अर्थ करें? अतएव मनु का अर्थ मन करना ही ठीक है। यही अर्थ ऋषि दयानन्द ने यजु० (३७. १२) में किया है। इस प्रकार 'मनुष्य' का अर्थ 'मन वा मननशक्ति का अपत्य' (मनोर्जाता वञ्यतौ षुक्चनु) यह हुआ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (२ काण्ड, ३ प्रपाठक, ८ अनुवाक, ३ कण्डिका) के भाष्य में सायण ने भी 'मनु' का अर्थ मननशक्ति किया है। इस प्रकार 'मनु' का अर्थ 'मन' और 'ऋषभ' का अर्थ 'शब्द' निर्धारित करके हम गाथा की व्याख्या करते हैं—

"मनु अर्थात् मन का एक बैल था, अर्थात् मन का एक शब्दरूपी बैल है। उसमें असुरों को, देवों के शत्रुओं को, मारने वाली वाणी घुसी हुई थी अर्थात् रहती है। उस बैल की फुंकार और नाद से असुर और राक्षस कुचले हुए भागे जाते थे। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि नाद के लिए वही 'रवथ' शब्द यहाँ आया है जिसकी ओर 'रोरवीति' करके वेद निर्देश करता है। जब असुर और राक्षस कुचले जाने लगे तो वे असुर लोग इकट्ठे मिलकर कहने लगे—यह बैल हमें बड़ी व्यथा पहुँचाता है, किसी प्रकार इसे काबू करें। वहाँ किलात और आकुली दो असुरों के पुरोहित थे ॥ १४ ॥ वे बोले—यह मनु जी तो निरे श्रद्धादेव अर्थात् भोले बाबा हैं। हम इन्हें जा पकड़ें। वे आकर मनु से बोले—मनु जी! हम आपको यज्ञ करावेंगे। मनु बोले—किस से? वे बोले—इस बैल से। बस, ज्यों ही उन्होंने बैल को पकड़ा, वाणी उसमें से निकल भागी ॥ १५ ॥

वह मनु की पत्नी मनावी में जा घुसी। बस, जहाँ उसे बोलती सुनते थे वहीं से फिर असुर-राक्षस कुचले भागे जाते थे। तब असुर आपस में मिलकर कहने लगे, यह पहले से अधिक मुसीबत हुई। वह मानुषी वाणी फिर बोल रही है। किलाताकुलि बोले, मनु जी तो भोले बाबा हैं, हम इन्हें फिर जा पकड़ें। वे मनु के पास जाकर बोले, मनु जी! हम आपको यज्ञ करावेंगे। मनु बोले, किससे? वह बोले, यह तेरी पत्नी जो है इसीसे। उसने कहा, बहुत ठीक। ज्योंही उन्होंने मनावी को पकड़ा, वाणी उसमें से भी निकल भागी ॥ १६ ॥

फिर वह यज्ञ में ही यज्ञपात्रों में घुस गई। वहाँ से किलाताकुलि उसे न निकाल सके। यह पात्राहनन विधि के समय वही असुरघ्नी सपत्नघ्नी वाणी बोल रही है। सो इस प्रकार तत्त्व जानने वाले जिस विद्वान् यजमान के लिए यहाँ वाणी का प्रत्युद्वादन होता है अर्थात् 'हविष्कृदेहि' कहने के पश्चात् सिल-बट्टा खड़काते हैं, उसके शत्रुओं की दुर्गति हो जाती है ॥ १७ ॥

कथा का तात्पर्य यह है कि वाणी के तीन क्रम हैं: गद्य, पद्य और नाटक। पहले लोग ज्ञान को गद्य रूप में पढ़ते हैं। फिर जब उसमें किलात अर्थात् विक्षेप (किर् विक्षेपे) और आकुलि अर्थात् गड़बड़ ये दो असुरों के पुरोहित आ जाते हैं तो ज्ञान का स्मरण करना कठिन हो जाता है। तब लोग मनु की जाया मनावी अर्थात् कविता का सहारा लेते हैं, जिससे ज्ञान रोचक हो जाय और सुगमता से याद किया जा सके। जिससे चित्त का विक्षेप भी न हो और स्मरण में सुगमता से गड़बड़ भी न हो। जिस प्रकार पत्नी पति को प्रिय होती है इसी प्रकार छन्दोबद्ध रचना मन को प्यारी होती है। इसीलिए काव्य को 'कान्ता-सम्मित' शब्द से भी कहा गया है। जब इसमें भी गड़बड़ होने लगती है तो फिर वाणी यज्ञपात्रों में प्रवेश करती है—अर्थात् नाटक का सहारा लेती है। जब शिक्षा वाणी द्वारा न देकर पात्रों द्वारा प्रत्यक्ष करके

देते हैं तब वह विक्षेप और गड़बड़ किलात और आकुलि के काबू नहीं आती।

यहाँ यज्ञपात्रों की व्याख्या तो हो गई। किन्तु मूल में 'यज्ञमेव' यह पद भी पड़े हैं। इनकी विशेष व्याख्या अपेक्षित थी, इसलिए ये छोड़ दिये हैं। इन दो पदों की व्याख्या भी सुनिए।

शिक्षा जब तक व्यक्तियों की इच्छा पर छोड़ दी जाती है और उसमें प्रत्यक्ष दर्शन-प्रणाली का सहारा नहीं लिया जाता, तब तक न वह रोचक होती है, न एकरूप (Uniform), उसमें विक्षेप और गड़बड़ दोनों घर कर लेते हैं। किन्तु जब शिक्षा को राष्ट्र अपना लेता है और प्रत्यक्ष दर्शन-प्रणाली का सहारा लिया जाता है तब वह राष्ट्र में अक्षुण्ण होकर निवास करती है। इसलिये वाक् का दो में प्रवेश होना आवश्यक है—

(१) यज्ञ में=राष्ट्र के अधिकार में।
(२) यज्ञपात्रों में=प्रत्यक्ष दर्शन-प्रणाली में।

इस प्रकार गद्य, पद्य और नाटक का तारतम्य बताने और शिक्षा-विभाग को राष्ट्रीय विभाग बनाने का गौरव बताने के लिए यह गाथा अलंकाररूप से घड़ी गई है। सो पात्राहनन का तात्पर्य यह है कि शिक्षा में न केवल गद्य का प्रयोग करो, न केवल स्मरणशक्ति की सहायता के लिए पद्य का प्रयोग करो, अपितु शिक्षा का क्रम ऐसा बनाओ कि अध्येतव्य विषय के अन्तर्गत पदार्थ स्वयं आकर अपनी कथा सुनायें। जहाँ तक हो सके उनका साक्षात्कार कराओ तथा शिक्षा को राष्ट्र के अधीन करो। उसे व्यक्तियों की यादृच्छिक विद्या-रसिकता के भरोसे छोड़ मत दो। 'ऐसा उपाय करने वालों के शत्रुओं की दुर्गति होती है॥ १७॥''

साथ ही यहाँ एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। मनु को बैल और जाया द्वारा यज्ञ कराने के कारण श्रद्धादेव अर्थात् मूर्ख कहा गया है। इससे पता लगता है कि नरबलि और पशुबलि करना मूर्खों का काम है। यही बात वेद ने भी—

मुग्धा देवा उत शुना यजन्त उत गोरङ्गैः पुरुधा यजन्त।

(अथर्व० ७।५।५)

में कही है। अर्थात् पशुबलि करने वाले मूढ लोग हैं। अब आगे समाहनन क्रिया का मन्त्र देकर उसकी व्याख्या करते हैं।

स समाहन्ति "कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व" (यजुः १।१६) इति। मधुजिह्वो वै स देवेभ्य आसीद्विषजिह्वोऽसुरेभ्यः स यो देवेभ्य आसीः स न एधीत्येवैतदा "हेषमूर्जमावद त्वया वयँ संघातँ संघातं जेष्मे" (यजुः १।१६) ति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥१८॥

अब वह "कुक्कुटोऽसि मधुजिह्वः" (यजुः १।१३) इत्यादि मन्त्र बोलकर शम्या से दो बार सिल और एक बार बट्टे को चोट लगाता है। (कात्या० २।९१)

मन्त्र का अर्थ क्या है वह सुनिए—

"हे शम्योपलक्षित विद्वन्! तू मधुजिह्व कुक्कुट है, तू हमें अन्न और बलयुक्त रस देने वाली विद्याओं का उपदेश दे, तेरे द्वारा हम संग्राम-संग्राम में विजयी हों। अर्थात् बाह्याभ्यन्तर, सांसारिक और आध्यात्मिक, हर प्रकार के संग्रामों में विजयी हों।"

यहाँ 'मधुजिह्व' 'कुक्कुट' ये दो शब्द ध्यान देने योग्य हैं। 'कुक्कुट' शब्द 'कुक्' और 'कुट्' से मिल कर बना है। कुक् का अर्थ है आदान। यहाँ प्रकरणवशात् उसका अर्थ हुआ छीनना। कुट् का अर्थ है टेढ़ा होना। सो "कुकं कुटति" का अर्थ हुआ जो

छीनने वाले चोर-डाकू आदि को टेढ़ा कर दे, अर्थात् नष्ट कर दे। सो विद्वान् का काम है कि वह जो कुक् अर्थात् चोर-डाकू आदि हैं उनको अपनी विद्या के बल से टेढ़ा अर्थात् परास्त कर दे। अथवा यदि कुट्ट धातु से कुक्कुट बनाएं तो इसका अर्थ होगा कूटने वाला, तात्पर्य्य दोषों तथा दुष्टों का नाश करने वाला। किन्तु साथ ही 'मधुजिह्व' भी है। सो स्पष्ट है कि दोषों तथा दुष्टों का नाश करे, उनके लिए कठोर हो। परन्तु उत्तम गुण तथा सज्जनों के लिए मधुरभाषी हो। सो इस प्रकार कण्डिका का अर्थ हुआ—

"वह शम्या से सिलबट्टे को टकराता है और उस समय 'कुक्कुटोऽसि मधुजिह्वः" यह वाक्य पढ़ता है। सो वह शब्द रूप, जिसे विद्वान् गद्य-पद्य तथा अभिनय द्वारा बच्चों तक पहुँचाते हैं, और, जिसका अभिनय यहाँ सिलबट्टे में शम्या-रूप जिह्वा लगाकर किया जाता है, वह देवों के लिए मधुजिह्व अर्थात् शहदभरी जिह्वा वाला था और असुरों के लिए विषभरी जिह्वा वाला हो। सो जो तू देवों के लिए था वही हमारे लिए हो जा, यही यहाँ कहा है। शेष "त्वया वयं संघातं जेष्म" इस मन्त्र-भाग में कुछ छिपा नहीं, यह स्पष्ट है॥१८॥

अथ शूर्पमादत्ते "वर्षवृद्धमसी" (यजुः १।१६) ति वर्षवृद्धꣳ ह्येतद्यदि नडानां यदि वेणूनां यदीषीकाणां वर्षमुह्येवैता वर्धयति॥१९॥

बालकों के पाठ्य पुस्तकादि के विवेचन के लिए अनुभवी और वयोवृद्ध मनुष्य लगाने चाहिएँ। क्योंकि नवयुवक कितने भी विद्वान् हों एकदेशी होते हैं और अपनी ही हाँके जाते हैं इसलिए छाज को लेता है और कहता है—"वर्षवृद्धमसि" (यजुः १।१६) अर्थात् हे छाज के समान पाठ्यापाठ्य का विवेक करने हारे विद्वन्! आप वर्षवृद्ध हैं, शस्त्र और शास्त्र सब प्रकार की विद्याओं की वर्षा में बढ़े हुए हैं। जिस प्रकार यह शूर्प भी, चाहे नड का हो, चाहे बाँस का हो, चाहे सींकों का हो, वर्षवृद्ध है क्योंकि वर्षा ही इन सब को बढ़ाती है। तात्पर्य यह कि इस विद्वान् पर भी ज्ञान का बादल अनेक वर्षों तक बरस चुका है इसलिए यह वर्षवृद्ध है॥१९॥"

अथ हविर्निर्वपति। "प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्त्वि" (यजुः १।१६) ति वर्षवृद्धा उह्येवैते यदि व्रीहयो यवा वर्षमुह्येवैतान् वर्धयति तत्संज्ञामेवैतच्छूर्पाय च वदति नेदन्योऽन्यꣳ हिनसातऽइति॥२०॥

फिर उन कूटे हुए धानों को छाज पर रखता है। उस समय मंत्र बोलता है—

"प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु" (यजुः १।१६) यह मंत्र क्यों बोलता है, कहते हैं—चाहे व्रीहि हों चाहे यव हों, जिनका भी पुरोडाश बनता है वे सारे भी तो वर्षवृद्ध हैं। क्योंकि इन दोनों में परस्पर अनुराग की ओर निर्देश करता है।" तात्पर्य यह कि वे लोग वयोवृद्ध तो हों, परन्तु इतने खूँसट भी न हों कि बालकों की भावनाओं को समझ ही न सके। जिस प्रकार वे स्वयं ज्ञान-वर्षा में बढ़े हुए हैं इस प्रकार व्रीहि यव के सदृश ज्ञान-पिपासु पुरोडाशोपलक्षित, बालकों के मस्तिष्क की पिपासा-निवृत्ति के लिए खूब ज्ञान की वर्षा करने के अभिलाषी हों। इसलिए कहा कि 'वर्षवृद्ध' व्रीहि-यवादि हे शूर्प, तुझे पहचानें। अर्थात् हे विद्वन्, बालक तुझे पहचानें॥२॥

अथ निष्पुनाति। "परापूतꣳ रक्षः परापूता अरातय" (यजुः १।१६) इत्यथ तुषान्प्रहन्त्य "पहतꣳ रक्ष"(यजुः १।१) इति तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षाꣳस्यतोऽपहन्ति॥२१॥

फिर "परापूतं रक्षः परापूता अरातयः" (यजुः १।१६) यह वाक्य बोलकर धान पिछोड़ता है। यहाँ 'रक्षः' और 'अरातयः' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। दोष दो प्रकार के हैं: एक विध्यात्मक अथवा 'राक्षस' और दूसरे निषेधात्मक अथवा 'अराति'। मनुष्य

हिंसक है, व्यभिचारी है, ये राक्षस-दोष हैं। क्योंकि ये उन्नति के मार्ग में चलने वाले को 'रक्ष्' (Obstruct) करते हैं। किन्तु केवल इन दोषों को दूर करना पर्याप्त नहीं। 'अराति' अर्थात् अपना दातव्य भाग न देना, ऋण न चुकाना भी घोर अपराध है। एक मनुष्य चोरी आदि दुर्व्यसनों से रहित है किन्तु समाज के हित के लिए कोई राति (Positive contribution) नहीं करता, वह भी दोषभाक् है। सच पूछिये तो यह दोष बड़ा भयंकर है। क्योंकि हिंसा-व्यभिचारादि पाप तो अपनी उग्रता के कारण स्वभाव से ही प्रजा के कोप-भाजन होते हैं। किन्तु इस 'अ + राति' रूप दोष को लोग उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। वेद कहता है कि बालक के मस्तक से दोनों प्रकार के दोष परे फेंको, उड़ा फेंको। उन्हें इतना कर्मशील बनाओ कि कर्म्मशीलता के प्रबल पवन-वेग से ये दोष तुष-कणों के समान उड़ जावें। फिर राक्षस-दोषों के निवारण पर अधिक बल देने के लिए तुषों को दूर फेंकते समय वाक्य पढ़ता है—"अपहतं रक्षः" (यजुः १।१६)—राक्षस मार दिये। सो नाशकारी राक्षस भावों का इस प्रकार नाश करता है ॥ २१ ॥

अथापविनक्ति "वायुर्वो विविनक्ती" (यजुः १।१६) त्ययं वै वायुर्वोऽयं पवतऽएष वाऽइद ँ सर्व्वं विविनक्ति यदिदं किञ्च विविच्यते तदेनानेष एवैतद्विविनक्ति स यदैतऽएतत्प्राप्नुवन्ति यत्रैनानध्यपविनक्ति ॥२२॥

फिर धान पिछोड़कर चावल और धानों को अर्थात् जिनका छिलका उतर चुका है उन्हें बिना छिलके वालों से पृथक् करता है। उस समय वाक्य पढ़ता है—'वायुर्व्वो विविनक्तु' (यजुः १।१६) तात्पर्य्य यह कि आध्यापकों को विद्यार्थियों को ज्ञान देते समय पग-पग पर देखते रहना चाहिए कि कितना उन्होंने समझा है और क्या नहीं समझा। कई अध्यापक लोग इस बात को जाँचने का कष्ट नहीं उठाते कि विद्यार्थियों ने उनकी बात को समझा भी है वा नहीं। एक बार अपना अभिप्राय कहकर आगे चल देते हैं। कई अध्यापक तो विद्यार्थियों के चेहरे को देखने का कष्ट भी नहीं उठाते जहाँ स्पष्ट लिखा होता है कि उन्होंने अध्यापक का अभिप्राय समझा है या नहीं। चावल वह ज्ञान-कण हैं जो बालकों ने समझ लिए हैं, और धान वह हैं जिनका छिलका नहीं उतरा, जिन पर आवरण चढ़ा हुआ है, अर्थात् बालकों के मस्तिष्क के साथ आत्मसात् होने के योग्य नहीं हुए। इसी प्रकार यहाँ अध्यापकों को भी उपदेश है कि वे अपने ज्ञान को परीक्षा द्वारा सुपरिनिष्ठित करते रहें और विद्यार्थियों को वही दें जो सुपरीक्षित (Well-verified) हो। इसलिए वाक्य पढ़ा जाता है कि वायु अर्थात् गतिशीलता अर्थात् अध्यवसाय हे चावलो और धानो ! तुम्हें पृथक्-पृथक् करे। अर्थात् जिस प्रकार यह स्थूल वायु, जो चावल और तुषों को, धान और चावलों को तथा इसी प्रकार संसार के अन्य पदार्थों को जब कि वे वहाँ छाज आदि पर रखे जाते हैं जहाँ इनका विवेचन होता है, पवन करता है, उसी प्रकार विद्वान् गृहीतागृहीत तथा परीक्षितापरीक्षित का विवेक सदा करे ।।२२।।

अथानुमन्त्रयते। "देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना" (यजुः १।१६) सुप्रतिगृहीता असन्नित्यथ त्रिः फलीकरोति त्रिवृद्धि यज्ञः ॥२३॥

अब नम्र होकर प्रभु से आशीर्वाद माँगता है—हे तण्डुलोपलक्षित, पौर्णमास-हविर्भूत, राष्ट्र के आशाकेन्द्र, बालकों के मस्तिष्को ! अर्थात् बालको ! ज्योतिर्मय, ज्ञानमय हाथों वाला देव सविता अपने अच्छिद्र हाथ से तुम्हें मुट्ठी में करले।

सविता का अर्थ परमात्मा और राष्ट्र में शासन विधायक वर्ग (Legislature) है; इसका प्रमाण यह है कि जहाँ कहीं कोई ग्रहण-विधि आई है वहाँ **'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे'**—देवसविता के शासन से मैं तुझे ग्रहण करता हूँ, ऐसी विधि है। सो सब राजनियमों का जो प्रसव-स्थान है वह राष्ट्र में सविता है। इससे पता लगता है कि बालकों की शिक्षा के लिए राजनियम होना चाहिए और उसका अच्छिद्र पाणि (merciless vigour) के साथ पालन होना चाहिए। कोई बालक शिक्षा विना पाये उँगलियों में से निकल न भागे। इस विषय में शासन की मुट्ठी (The grips of law) बड़ी दृढ़ता से भिंची होनी चाहिए।

यज्ञ की तीन तहें हैं, अथवा यज्ञरूप रस्सी में तीन तार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ। इसलिए तीन वार फलीकरण करता है। अर्थात् टूटे कणों और साबुत चावलों को अलग करके टूटे कण निकालता है। तात्पर्य यह कि जहाँ बालक कुछ समझें और कुछ न समझें ऐसा न हो, वहाँ यह भी होना चाहिए कि जो समझें वह अधूरा न हो। टूटे चावल अधूरे ज्ञान के द्योतक हैं ॥२३॥

तद्धैके देवेभ्यः शुन्धध्वं देवेभ्यः शुन्धध्वमिति फलीकुर्वन्ति तदु तथा न कुर्यादादिष्टं वाऽएतद्देवतायै हविर्भवत्यथैतद्वैश्वदेवं करोति यदाह देवेभ्यः शुन्धध्वमिति तत्समदं करोति तस्मादु तूष्णीमेव फलीकुर्यात् ॥२४॥

"इस फलीकरण विधि में कई लोग **"देवेभ्यः शुन्धध्वम्"** ऐसा वाक्य बोलते हैं। सो वैसा नहीं करना चाहिए। यह हवि पहले अग्नि और अग्नीषोम देवताओं के नाम से आदिष्ट हो चुका है। इन पर उनके नाम की मोहर हो चुकी है। और अब 'देवेभ्यः' इस प्रकार बहुवचनान्त प्रयोग करने का तात्पर्य यह होगा कि यह हवि देव विशेष की न होकर देव-सामान्य की, सब देवों की है। क्योंकि **"देवेभ्यः शुन्धध्वम्'** ऐसा जो कहना है सो इससे गड़बड़ पैदा होती है। इसलिए फलीकरण विधि चुपचाप ही करे।"

तात्पर्य यह कि अग्नि अर्थात् यजमान के जीवनोद्देश्य भूत संकल्प का तन्तु अविच्छिन्न रखने के लिए जो सन्तान कुल में निमन्त्रित हो कर उत्पन्न हुए हैं, वे सब पवित्र कार्यमात्र के निमित्त नहीं किन्तु उसी संल्कपाग्नि के हविर्भूत हैं। सब साधने से एक भी सिद्ध न होगा। सो वही वात है, "एकै साधे सब सधै सब साधे सब जाये।" जो मनुष्य अपनी शक्तियों को एक पवित्र कार्य में केन्द्रित न करके जो काम सामने आ पड़े वही करने चल पड़ते हैं, उनका जीवन याज्ञवल्क्य की दृष्टि में पौर्णमास मर्यादा-विरुद्ध है ॥२४॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणं समाप्तम्।

इति प्रथमोऽध्यायः।

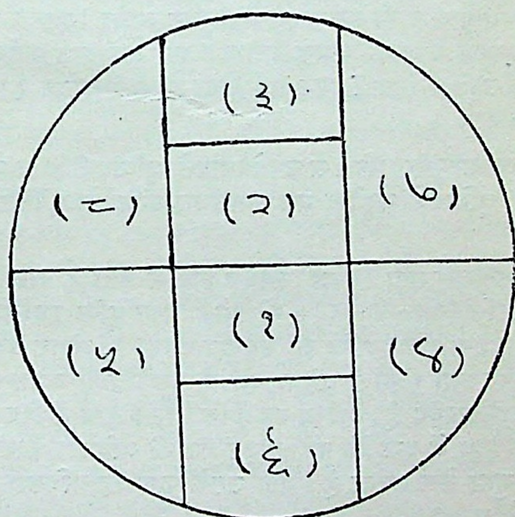
अथ द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

स वै कपालान्येवान्यतर उपदधाति। दृषदुपलेऽअन्यतरस्तद्वाऽएतदुभयं सह क्रियते तद्यदेतदुभयꣳ सह क्रियते ॥१॥

शिरो ह वाऽएतद्यज्ञस्य यत्पुरोडाशः । स यान्येवेमानि शीर्ष्णः कपालान्येतान्येवास्य कपालानि मस्तिष्क एव पिष्टानि तद्वा एतदेकमङ्गमेक ँ सह करवाव समानं करवावेति तस्माद्वाऽएतदुभयं सह क्रियते ॥२॥

अब पुरोडाश पाक की विधि आरम्भ होती है । सो एक (आग्नीध्र अथवा कोई और) कपालों को यथास्थान रखता है । दूसरा (अध्वर्यु) सिलबट्टे को । कपालों के रखने का प्रकार यों है—

छः अंगुल व्यास के गोलाकार में इस प्रकार पूरे आने योग्य किसी ठीकरे के टुकड़े घिसघिसा कर ठीक इस प्रकार पूरे आने वाले बना लिये जावें अथवा ऐसे ही कुम्हार से बनवा लिये जावें । यह चित्र और परिमाण हमने पूना मीमांसा विद्यालय के अध्यक्ष पं० वामन शास्त्री किञ्जवडेकर के दर्शपूर्णमासप्रकाश से लिया है ।



छः अंगुल परिमाण याज्ञवल्क्य ने आवश्यक नहीं माना ; उन्होंने आवश्यकतानुसार यथाभिमत परिमाण ऐसा कहा है । सो यह कपाल रखने तथा सिलबट्टा रखने की क्रिया एक साथ की जाती है ॥१॥

इसका तात्पर्य यह है कि पुरोडाश यज्ञ का सिर है यह कपाल भी वही है जो हमारे इस सिर के यह कपाल हैं और बीच में जो पिट्ठी पीसकर रक्खी जाती है वह मस्तिष्क है। क्योंकि कपाल और मस्तिष्क दोनों मिलकर एक अंग हैं इसलिए हम इन्हें इकट्ठा एक समान तैयार करें। बस, इसीलिए ये दोनों क्रिया इकट्ठी की जाती हैं।

तात्पर्य यह है कि विद्यार्थियों की शिक्षा के दो अंग हैं: एक आचार दूसरा विचार। उत्तम आचार के बिना विचार ऐसे हैं जैसे बिना कपाल का मस्तिष्क। इन दोनों में से एक की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती; जो सदाचार से दृढ़ नहीं उसके विचार अपनी रक्षा नहीं कर सकते; जिसमें विचार नहीं केवल सदाचार है वह खाली खोपड़ी के समान है। जिस प्रकार सिर चोटों को तभी सहार सकता है जब वह इन ८ कपालों से घिरा होता है उसी प्रकार विद्यार्थी के विचार तभी उपयोगी हो सकते हैं जब वह सदाचार की दुर्भेद्य भित्ति से घिरे हों और यह कार्य इकट्ठे ही चलने चाहिएँ, आगे-पीछे नहीं। साथ ही बालक के सिर की हड्डी अति कोमल होती हैं, किन्तु कपाल कठोर। यहाँ यह उपदेश है कि बालक यज्ञोपयोगी तब होता है जब उसके सिर की हड्डी कपाल के सदृश कठोर तथा परिपक्क हो जाय अर्थात् परिपक्व हुए बिना वह असंस्कृत है। यहाँ ब्रह्मचर्य की न्यूनतम अवधि की ओर निर्देश है। पुरुष के आचार-विचार २५ वर्ष में परिपक्व होते हैं कन्या के १६ में, वही ठीक अवधि है। यहाँ आयु का नाम न लेकर परिपाक को आधार माना है, यह और भी अधिक युक्तिसंगत है। यद्यपि सकलायुर्वेद-वित्सम्मत परिपाक की न्यूनतम आयु २५ तथा १६ है। इतने समय से पहले बालक का पूर्णमास नहीं होता।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि किसी कार्य को सम्पन्न करने के लिए जहाँ एक व्यक्ति से कार्य पूरा न हो सकता हो वहाँ आठ व्यक्ति मिलकर मस्तिष्क का कार्य पूरा करें, उस प्रकरण में अष्टा कपाल पुरोडाश का अर्थ आठ कर्मचारियों द्वारा पूरा होने वाला कार्यकर्तृवर्ग (staff) यह अर्थ होगा। इसी प्रकार ११, १२, १७ आदि कपालों में समझना।

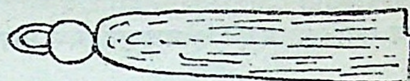
स यः कपालान्युपदधाति। स उपवेषमादत्ते धृष्टिरसीति स यदनेनाग्निं धृष्णिव-वोपचरति तेन धृष्टिरथ यदनेन यज्ञ उपालभत उपेव वाऽएनेनैतद्वेवेष्टि तस्मादुप-वेषो नाम ॥३॥

सो जो कपाल रखता है वह उपवेष हाथ में लेता है और उस समय वाक्य बोलता है, धृष्टिरसि (यजु० १।१६)। सो इसका नाम धृष्टि इसलिए है क्योंकि इससे ढीठ सा अर्थात् निःशंक होकर अग्नि का उपचार करता है, अंगार उलटता, पलटता है। क्योंकि इस यज्ञ को प्राप्त होता है अथवा यज्ञ को इसके द्वारा व्याप्त-सा कर लेता है इसलिए इसका नाम उपवेष है। तात्पर्य यह है कि जिसके हाथ में विद्यार्थियों का आचार-निर्माण है उसके हाथ में दण्ड देने का, ताड़न का भी अधिकार होना चाहिए तभी वह अंगारों के साथ खुला खेल सकता है। यदि उसके पास यह अधिकार न होगा तो वह अंगुलियाँ जला बैठेगा ॥३॥

तेन प्राचोऽङ्गारानुदूहति। अपाग्ने अग्निमामादं जहि निष्क्रव्याद ँ सेधेत्ययं वाऽ-आमाद्येनेदं मनुष्याः पक्त्वाऽश्नन्त्यथ येन पुरुषं दहन्ति स क्रव्यादेतावेवैतदुभावतो-ऽपहन्ति ॥४॥

अब आचार्य का दण्ड किन शत्रुओं से लड़ता है यह अगली कण्डिकाओं में बताते हैं। आचार्य के दो महाशत्रु हैं, एक मृत्यु दूसरा अब्रह्मचर्य अथवा काम। काम उसके विद्यार्थियों को कच्चों को खा जाता है : और मृत्यु, पके-पकाये विद्यार्थियों को खा जाता है।

सो उस उपवेष नामक दण्ड से (जो एक प्रादेश मात्र होता है जिसका आकार 'दर्शपूर्णमासप्रकाश', में इस प्रकार का दिया हुआ है) गार्हपत्य कुण्ड में पड़े अंगारों में



पूर्व दिशा के अंगारों को पश्चिम की ओर हटाकर कपाल रखने के लिए स्थान बनाता है। उस समय वाक्य पढ़ता है—

अपाग्ने अग्निमामादं जहि निष्क्रव्यादं सेध (यजु० १-१७)

यह स्थूल अग्नि जिस पर भोजन पका कर सब मनुष्य खाते हैं आमात् है; और जिससे पुरुष को जलाते हैं वह क्रव्यात् है। उन दोनों को यहाँ से मारकर भगाता है।

तात्पर्य यह कि विधिपूर्वक संकल्पाग्नि को स्थिर रखने के लिए उत्पन्न काम जिस प्रकार यज्ञाग्नि है इसी प्रकार भोग मात्र साधन आपामर साधारण मनुष्यमात्र में पाया जाने वाला ग्राम्य कामाग्नि आमात् है और श्मशानाग्नि क्रव्यात् है। हे आचार्य के दण्ड, तू सकल रोगमूल काम रूपी हमारे बच्चों को परिपक्व होने से पहले ही कच्चा खा जाने वाले और तत् परिणामभूत मृत्यु दोनों को आश्रम से दूर कर। ज्ञान क्षेत्र में आमात् वह है जो प्रमाणों से अपरीक्षित स्थापनाओं को स्वीकार कर लेता है। तथा क्रव्यात् वह है जो प्रमाणों से पूर्णतया खंडित अन्धविश्वासों और रूढ़ियों से चिपटा रहता है। अर्थात् आचार्य का कर्त्तव्य है कि काम और मृत्यु से बच्चों को बचाये जिस से वह पुरोडाशवत् परिपक्व होकर सकल लोकोपकारक हों। यहाँ काम का नाम हमने मुख्य रूपेण दिया है। वस्तुतः ब्रह्मचारियों को विलासी बनाने वाले तपोबाधक जितने भी विकार हैं सभी उनके परिपाक में बाधक होने के कारण आमात् (आम+अत्) कच्चा खाने वाले हैं। सो हे अग्नि आचार्य, तू अपने दण्ड से आमात् अग्नि को मार डाल और इस प्रकार क्रव्यात् अग्नि को दूर से ही निवारण कर दे। जिस प्रकार द्वार पर 'यहाँ आने का निषेध है'' ऐसा लिखा देखकर लोग वहाँ नहीं आते, उसी प्रकार तुम्हारे काम-निवारक दण्ड के प्रहार से मृत्यु को दूर से ही पता लग जाय कि यहाँ आने का निषेध है इसलिए 'आमादं' को 'जहि' कहा गया है और 'क्रव्यादं' को 'निषेध' ॥४॥

अथांगारमास्कौति। आ देवयजं वहेति यो देवयाट्तस्मिन्हवी७ंषि श्रपयाम तस्मिन् यज्ञं तनवामहाइऽति तस्माद्वाऽआस्कौति ॥५॥

फिर रिक्त स्थान में "आदेवयजं वह" (यजुः १-१७) यह वाक्य बोलकर एक अंगार स्थापित करता है। इस क्रिया की सुन्दरता पर वारे जाइये। आचार्य का काम केवल मृत्यु तथा अधर्मयुक्त काम का निवारण ही नहीं, "काम्यो हि वेदाधिगमः कर्म-योगश्च वैदिकः" वाला सकल लोकोपकारमूलक सच्चे काम की स्थापना भी है। आज-

कल प्रायः अध्यापक लोग दुराचार से बच्चों को बचाने मात्र में अपने कर्त्तव्य की इति-श्री समझते हैं। इसलिए प्रायः देखा जाता है कि गृहस्थाश्रम के प्रति उपेक्षा और घृणा का भाव नवयुवकों में पाया जाता है। वे किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए गृहस्थ से बचें सो बात नहीं, किन्तु गृहस्थ के उत्तरदायित्व और सन्तान के उत्पादन, पालन-पोषण के तप से घबराकर गृहस्थ से भागते हैं। वे यदि दुराचारी न हों, तब भी घोर पापी हैं, समाज के चोर हैं।

ये मध्यमेन कपालेनाभ्युपदधाति। देवा ह वै यज्ञं तन्वानास्तेऽसुररक्षसेभ्य आसं-गाद्बिभयाञ्चक्रुर्नेन्नोऽधस्तान्नाष्ट्रा रक्षाᳬस्युपोत्तिष्ठानित्यग्निर्हि रक्षसामपहन्तात स्मा-देवमुपदधाति तद्येदेष एव भवति नान्य एष हि यजुष्कृतो मेध्यस्तस्मान्मध्यमेन कपालेना-भ्युपदधाति॥६॥

उस अंगार को अब मध्यम कपाल से ढक दिया जाता है। इसका कारण है कि देव लोग यज्ञ करने लगे तो वह असुर-राक्षसों के चिपटने से डरने लगे, कहीं हमारे नीचे से असुर-राक्षस निकलकर हमें न दबालें। अग्नि ही राक्षसों का मारने वाला है इसीलिए कपाल के नीचे अग्नि दी जाती है। अब प्रश्न यह है कि इस प्रथम अंगार पर सर्वश्रेष्ठ मध्यम कपाल क्यों ढका जाता है? सो इसका कारण यह है कि मध्यम कपाल सर्वश्रेष्ठ है और इधर यह अग्नि का अंगार जो मन्त्रपूर्वक रक्खा जाता है, सर्वश्रेष्ठ है। इसलिए इसे मध्यम कपाल से ढका जाता है।

तात्पर्य यह है कि विद्यार्थी के मस्तिष्क की उन्नति के लिए उसके पाठ्यक्रम में सबसे ऊंचा स्थान उस विद्या को मिलना चाहिए जो उसके जीवन का संकल्प है। अग्नि संकल्प का प्रतिनिधि है और कपाल तद्रक्षक। पाठ्यक्रम में नियतकाल का सबसे अधिक काल इस अग्नि को मिलना चाहिए। इससे फिर असुर भाव स्वयं भस्म हो जाते हैं॥६॥

स उपदधाति। ध्रुवमसि पृथिवीं दृᳬहेति पृथिव्या एव रूपेणैतदेव दृᳬहेत्येतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधायेति वह्वी वै यजुःष्वाशीस्तद् ब्रह्म च क्षत्रं चाशास्तऽउभे, वीर्यं सजातवनीति भूमा वै सजातास्तद् भूमानमाशास्तऽउपदधामि भ्रातृव्यस्य वधायेति यदि नाभिचरेद्यद्यु अभि-चरेदमुष्य वधायेति ब्रूयादभिनिहितमेव सव्यस्य पाणेरंगुल्या भवति॥७॥

कपाल पर अंगार रखते हुए वाक्य बोलता है, "ध्रुवमसि पृथिवीं दृᳬह"। हे कपाल, तू ध्रुवत्व का, स्थिरता का सूचक है (यजु० १०।१७) तू पृथिवी को पुष्ट कर। इस वाक्य के तात्पर्य को पूर्ण रूप से समझने के लिए हमें मस्तिष्क की रचना को पहले भली प्रकार समझ लेना चाहिए। मस्तिष्क तथा हमारी समग्र ज्ञानकरणभूत शरीर-सामग्री में सबसे पहले मेरुदण्ड तथा मज्जादण्ड मूल (Spinal cord और Medulla ablongata) है, वह सारे शरीर का आधार है और इनका काम भी ध्रुव अर्थात् शरीर में निरन्तर स्वयं होने वाली चेष्टाओं को उत्पन्न करना है। उदाहरण के लिए यह प्राणा-यतन है अर्थात् श्वास-प्रश्वास की सारी चेष्टाओं का उत्पत्ति-केन्द्र है। अब प्राण का ब्रह्मचर्य से कितना गहरा सम्बन्ध है यह लोकविदित ही है। वीर्य-नाश से मनुष्य का सांस जल्दी फूलने लगता है और वीर्य-रक्षा से महाप्राणता आती है। इसके उलटे प्राण की गति को वश में करने से वीर्य-रक्षा और प्राण के चंचल होने से मानसिक चंचलता

द्वारा वीर्य में चंचलता होती है, यह चारों ही बातें लोकविदित हैं। इस भाग को ध्रुव का आधार बुनियाद पृथिवी शब्दों से पुकारना अनुचित नहीं, इसके पीछे लघु मस्तिष्क अथवा (Cereblum) है जो बोधपूर्वक होने वाली शरीर-चेष्टाओं का आधार है। तथा बृहत् मस्तिष्क का पश्चात् भाग भी गृहस्थ सम्बन्धी भावों से सम्बन्ध रखता है इसे मानव मस्तिष्क का अन्तरिक्ष लोक कहना उचित है यह स्वयं विचारा जा सकता है।

सबसे ऊपर बृहन्मस्तिष्क (Cereblum) है जिसका पुरोभाग तथा ऊर्ध्व भाग मनुष्य की उच्चतम शक्तियों का केन्द्र है इसलिए वह मनुष्य रूप सृष्टि का द्युलोक है।

पूर्ण मनुष्य वह है जिसके मस्तिष्क में यह सब ही भाग अपने पूर्ण विकास पर पहुँचे हों इसलिए मध्यम को—

ध्रुवम् और पृथिवीम् पश्चाद्भाग को धरुणम् और अन्तरिक्ष पुरोभाग को धर्त्रम् और द्यौः चतुर्थ भाग को विश्वाभ्यः, आशाभ्यः,

इन शब्दों से पुकारते हुए भिन्न कपालों का सम्बन्ध इनके साथ स्थापन कर भगवान् याज्ञवल्क्य ने यही दिखाया कि मध्यम कपाल के संभालने से ब्रह्मचर्य्याश्रम की रक्षा, पश्चाद्भाग गत भाग की उन्नति से गृहस्थाश्रम की योग्यता, पुरोभाग की उन्नति से वानप्रस्थ के मुख्य कार्य्य विद्यादान की योग्यता प्राप्त होती हैं और यदि सब से दक्षिण अर्थात् शक्तिशाली भाग का विकास हो जाय तो मनुष्य फिर किसी एक देश का नहीं रहता वह विश्वाभ्यः आशाभ्यः सारी दिशाओं के लिए हो जाता है।

परन्तु इन चारों की स्थापना ब्रह्मचर्यावस्था में होती है सो पुरोडाश पाक= मस्तिष्क की परिपक्वावस्था उत्पन्न करने के लिए मस्तिष्क के मुख्य किन अङ्गों का ध्यान रखना चाहिए यह इन कपालों के वर्णन में दिखा दिया है। इसीलिए कहते हैं कि ध्रुवमसि पृथिवीं दृंह यह वाक्य पढ़ के जो मध्यम कपाल की स्थापना होती है सो यह पृथिवी का रूप है अर्थात् जैसे पृथिवी सम्पूर्ण चेष्टाओं की आधार भूत है। सो जैसे पृथिवी दृढ़ होती है ऐसे इस कपाल को दृढ़, विकसित, परिपुष्ट तथा परिपक्व करना चाहिए। यह प्रश्न हो सकता है पृथिवी अन्तरिक्ष तथा द्यौः को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ हमने किस आधार पर लिखा सो इसकी विशेष व्याख्या हमारे लिखे स्वर्ग नामक ग्रन्थ में देखिये। यहाँ तो हम इतना ही लिख सकते हैं कि विवाह-संस्कार में पति को द्यौः और पत्नी को पृथिवी कहा है तो इनके संसर्ग से उत्पन्न आश्रम गृहस्थाश्रम को ही अन्तरिक्ष कहा जा सकता है और प्रश्नोपनिषद् में ऐसा कहा भी है। प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम को एक मात्र ओङ्कार और पृथिवी लोक से वर्णन करके कहते हैं।

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते।

(प्रश्नोपनिषत् पञ्चम प्रश्न)

इस प्रकार गृहस्थाश्रम और अन्तरिक्ष लोक एक हैं, यह स्पष्ट है।

यदि हम कपाल सामुद्रिक (Phrenology) का अध्ययन करें तो इस पर और भी प्रकाश पड़ता है।

उसमें सिर के पीछे के भाग को जो पश्चात् कपाल के साथ लगा है, वात्सल्य तथा काम का केन्द्र बताया है और पुरोभाग को भक्ति, उदारता, सत्यपरायणता, आशा आदि का केन्द्र बताया है। (देखो एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका Phrenology)

आप शतपथ में भी देखेंगे कि पृथिवी को ध्रुवम् अन्तरिक्ष को धरुणम् और द्यौ को धर्त्रम् कहा है।

अन्तरिक्ष का सम्बन्ध पिछले कपाल से बताया है **"धरुणमस्यन्तरिक्षं दृं ह"** इस वाक्य से **"यत् पश्चातदुपदधाति" धर्त्रमसि दिवं दृं ह** इस वाक्य से **"यत् पुरस्तात्तदुपदधाति"** जिस प्रकार पृथिवी से उत्तर अन्तरिक्ष और अन्तरिक्ष से उत्तर द्यौः है इसी प्रकार इस काल-कृत तारतम्य से ब्रह्मचर्य से गृहस्थ उत्तर और वानप्रस्थ उससे उत्तर है।

अब जरा ध्रुवम्, धर्त्रम्, धरुणम्, इन तीन शब्दों को विचारना चाहिए महीधर ने तीनों को धारण करने वाला बताया है, किन्तु ऋषि दयानन्द ने, धर्त्रम् का अर्थ किया है, धरति यत् येन वा इसी में ऋषि की बुद्धि का चमत्कार है। आप कपालों की रचना देखिये, कुछ कपाल नीचे हैं यह मध्यम कपाल से उपलक्षित हैं कुछ छत के कपाल हैं और बीच में अन्तराल के समान कपाल हैं ब्रह्माण्ड में भी पृथिवी मध्यम कपालों के समान है अन्तरिक्ष अन्तराल के समान है और द्यौः छत के समान है। छत धारण नहीं करती किन्तु छत को धारण करते हैं यह बात महीधरादि को नहीं सूझी। अब समाज में जो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ हैं वही कपाल में मध्यम पृष्ठ और पुरोगत हैं और ब्रह्माण्ड में वही पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौः हैं अन्तरिक्ष को बीच के पोल से उपमा न देकर पृष्ठगत कपाल से उपमा देना कितना अभिप्राय गर्भ है यह स्वयं विचारा जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ अन्तरिक्ष से तात्पर्य गृहस्थाश्रम से ही है, क्योंकि उससे सम्बन्ध रखने वाले भाव ही सिर के पश्चाद् भाग में रहते हैं। इसीलिए स्त्रियों का सिर का पीछे का भाग कुछ बड़ा होता है (Havelock Ellis in Man and Woman) लोकोक्ति भी है स्त्रियों की बुद्धि सिर के पीछे होती है।

अब कण्डिका का अर्थ इस प्रकार हुआ वह अध्वर्यु मध्यम कपाल को स्थापन करता है और उस समय **ध्रुवमसि पृथिवीं दृं ह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय** (यजु० १। १६) यह वाक्य पढ़ता है सो यहाँ जो पृथिवीं दृंह यह वाक्य पढ़ता है यह रूपक है और पृथिवी के रूपक से (ब्रह्मचर्याश्रम की) दृढ़ता का निर्देश करता है इससे दृढ़ता आती है। इसी से द्वेष करने वाले शत्रु को दबाता है ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि यह तीनों क्रिया विशेषण हैं इनका अर्थ है कि मैं इस मध्यम कपाल अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम के उपकारक दृढ़तादि गुणों को इस प्रकार स्थापित करता हूँ कि जिससे कपालान्तर्गत पुरोडाशोपलक्षित बालक का मस्तिष्क ब्राह्मण-क्षत्रिय को सुख देने वाला और दुःख दूर करने वाला हो अथवा ब्राह्मणों वा क्षत्रियों में सम्भवत अर्थात् उनकी श्रेणी में गिना जाय और यदि वह इन पदों को न प्राप्त कर सके तो कम से कम मनुष्य मात्र का साधारण रूप से भला चाहने वाले वैश्यों की श्रेणी में तो अवश्य आ जावें, अथवा यों भी अर्थ कर सकते हैं कि चाहे किसी वर्ण में भी हो किन्तु "ब्राह्मण क्षत्रिय किम्बहुना सजातवनि" अर्थात् मनुष्य मात्र का भला चाहने वाला हो, और दुष्टों का वध करे, यजुर्व्वियों में बड़ी असीसें हैं इसीलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय की कामना करता है, दोनों महाशक्तियों की प्रार्थना करता है, प्रजामात्र के कल्याण की कामना द्वारा बाहुल्य माँगता है सजाताः बाहुल्य का द्योतक है क्योंकि सजाताः में सब ही आ गये इसीलिए बहुतायत की प्रार्थना भी हो गई। यदि अभिचार यज्ञ न हो तब तो भ्रातृव्यस्य वधाय ऐसा कहे किन्तु यदि अभिचार यज्ञ करना हो अर्थात् किसी व्यक्ति विशेष से बदला लेने की कामना से यज्ञ करता हो तो उसका षष्ठचन्त नाम लेकर कहे अमुक के वध के लिए।

किन्तु यह अभिचार निन्दित यज्ञ है क्योंकि हो सकता है कि वह व्यक्ति विशेष

धर्मात्मा ही हो इसलिए जहाँ "द्वेष करने वाले के वध के लिए" ऐसा कहा हो वही श्रेष्ठ है।

इस मन्त्र के पढ़ते समय बाएँ हाथ की उङ्गली जब तक अङ्गाराध्यूहन न हो ले तब तक ब्राह्मण कपाल पर रक्खे रहे।

अथाङ्गारमास्कौति । नेदिह पुरा नाष्ट्रारंक्षास्याविशानिति ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता तस्मादभिनिहितमेव सव्यस्य प्राशेरङ्ग ल्या भवति । ८।

फिर उस कपाल पर अङ्गारे को सरकाता है। इसका उद्देश्य यह है कि अङ्गार-स्थापन से पहले इस में राक्षस न घुस जावे इसलिए ब्राह्मण जो राक्षसों का मारने वाला है उसकी उंगली रखी रहती है। ८।

तात्पर्य यह है कि जब ब्रह्मचारी गुरुकुल में प्रविष्ट हों तो आचार्य उनके हृदय में ब्राह्मणत्वादि वर्ण-संकल्प रूप अग्नि की स्थापना करावे, जब वह ब्रह्मचारी अपने जीवन का संकल्प चुन लेंगे उस समय तो वह संकल्पाग्नि ही दुष्ट भाव रूप राक्षसों (सन्मार्ग से "रक्" रोकने वाले) को भस्म कर देगा किन्तु जब तक उन्होंने संकल्प नहीं ढूंढा उस समय तक संकल्प ढूंढने में भी तो आचार्य को सहायता करनी होगी और उतने समय तक तो बालकों को कुचेष्टाओं से बचाना होगा।

बाएँ हाथ की उंगली इसलिए कहा कि आचार्य का काम ज़बरदस्ती विद्यार्थियों की खोपड़ी में संकल्प ठोसना नहीं किन्तु कम से कम हस्ताक्षेप (Interfearance) करते हुए उन्हें अपनी शक्तियों के अनुरूप स्वाभाविक संकल्प को ढूंढने में सहायता करना है भविष्य के अन्धकार में छिपे संकल्प को टटोलने में दाहिना हाथ ब्रह्मचारी का चलेगा और बायाँ आचार्य का।

अथाङ्गारमध्यूहति अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्वेति नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षाꣳस्याविशानित्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तस्मादेनमध्यूहति ॥ ९ ॥

फिर इस कपाल पर अंगार-स्थापना करता है। उस समय वाक्य पढ़ता है **अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व**। यजु० १। १८। कहीं यहाँ पहले से राक्षस न आ घुसें अग्नि राक्षसों को मारने वाला है इसलिए इस पर अंगार रखता है। ९।

तात्पर्य यह कि आचार्य कहता है ब्रह्मचारी के मस्तिष्क में जलने वाले संकल्प रूप अग्नि तुम अपने संकल्पानुरूप ब्रह्म अर्थात वेद को ग्रहण करो, अथवा उस संकल्प-द्वारा ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर को ग्रहण करो, ब्रह्म रस का भोजन करो, ब्रह्म में विचरो। ब्रह्म के दो अर्थ हैं वेद और परमात्मा। चर् के दो अर्थ हैं गति और भक्षण। इनमें से कोई भी अर्थ ले लें बात वही रहती है और तभी वह ब्रह्मचारी कहलाता है।

अथ यत् पश्चात्तदुपदधाति धरुणमस्यन्तरिक्षं दृꣳहेत्यन्तरिक्षस्यैव रूपेणैतदेव दृꣳहत्येतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधायेति ॥१०॥

इसके पीछे जो पिछला कपाल है अर्थात् खोपड़ी में पिछले कपाल का प्रतिनिधि कपाल है उसकी स्थापना करता है उस समय वाक्य पढ़ता है **'धरुणमस्यन्तरिक्षं दृꣳह'** यजु० ११। ८। इसीसे द्वेष करने वाले शत्रु को दबाता है इसके साथ भी बोला जाता है **ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय।** यजु० १। १८।

धरुणम् का अर्थ है जो अपने अन्दर धारण करे। अन्तरिक्ष भी अपने अन्दर

धारण करता है। यह कपाल रूपक से अन्तरिक्ष का प्रतिनिधि है। अन्तरिक्ष का अर्थ हम पहले गृहस्थाश्रम है यह दिखा आए हैं सो तात्पर्य यह हुआ कि ब्रह्मचर्याश्रम की रक्षा में जिसका सबसे मुख्य स्थान है उस संकल्पाग्नि की स्थापना के पश्चात् आचार्य का कर्त्तव्य है कि वह ब्रह्मचारी के अन्तरिक्ष लोक अर्थात् गृहस्थाश्रम के साथ-साथ सम्बन्ध रखने वाले सिर के पश्चाद्भाग की भी रक्षा करे और उसके भी उचित विकास का प्रबन्ध करे। चोट आदि से इस भाग को बचाये जिससे ब्रह्मचारी नपुंसक न हो जावें यदि किसी का यह भाग विकसित न हो तो उसे विकास के साधन बताये और यदि किसी का यह भाग अति बढ़ा हो तो उसकी जाँच करे। यदि—तो केवल हड्डी मात्र उभरी हो तो रहने दे और यदि सचमुच मस्तिष्क का यह भाग बढ़ा हुआ है तो ब्रह्मचारी की ओर विशेष ध्यान दे जिससे वह कामातुर होने से बचे और समय पाकर अन्य भागों के अधिक विकास द्वारा यह भाग स्वयं ही उचित अनुपात ग्रहण कर लें।

ब्रह्मवनि आदि की व्याख्या हो चुकी है ।।१०।।

अथ यत् पुरस्तात्तदुपदधाति धर्त्रमसि दिवं दृ ँ्हेति दिव एव स्वरूपेणैतदेव दृ ँ्हेत्येतेनैव वधायेति ॥११॥

फिर उस कपाल की स्थापना करता है जो सामने के कपाल का प्रतिनिधि है। उस समय वाक्य पढ़ता है। **'धर्त्रमसि दिवं दृ ँ्ह'** धर्त्र का अर्थ है जिसको धारण करे अर्थात् छत। यहाँ अलंकार यह है कि सिर एक सन्दूक है। सन्दूक का एक सिरा पीछे और एक सामने होता है। उन्होंने सिर को भी एक इसी प्रकार का सन्दूक माना है सिर का पिछला और अगला भाग स्थिति में एक तल पर होने पर भी अपनी शक्तियों के कारण ऊँचे और नीचे माने जाते हैं। इसीलिए खोपड़ी के सामने के भाग को पिछले भाग के समान ऊँचाई का होने पर भी द्यौः से रूपक दिया गया है। इनके रूपक होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। तीनों में स्पष्ट कहा गया है—

"पृथिव्या एव रूपेणैतदेवं दृंहति।
अन्तरिक्षस्यैव रूपेणैतदेवं दृंहति।
दिव एव रूपेणैतदेवं दृंहति ॥"

अर्थात् पृथ्वी के रूपक से मध्यम कपाल को अन्तरिक्ष के रूपक से पृष्ठवर्त्ती कपाल को और द्यौः के रूपक से पुरोवर्त्ती कपाल को दृढ़ करता है।

मनोविज्ञान के अथवा कपाल सामुद्रिक के किसी ग्रन्थ को उठा के देख लीजिये आप उसमें यही लिखा पाएंगे कि मनुष्य की खोपड़ी का सामने का भाग उसकी उच्चतम शक्तियों का और पिछला भाग पारिवारिक भावनाओं का केन्द्र है। इससे ये तीनों कितने स्पष्ट हो जाते हैं इसकी विशेष व्याख्या की आवश्यकता नहीं ।।११।।

यहाँ संक्षेप में सारी संगति का सार यों दिया जा सकता है। पृथ्वी, द्यौः और अन्तरिक्ष में जो तारतम्य है वह तीन प्रकार से प्रकाश किया जा सकता है।

सृष्टि में स्थानकृत तारतम्य, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ में कालकृत, मज्जा-दण्डमूल, लघुमस्तिष्क तथा बृहन्मस्तिष्क में गुणकृत। अब पौर्णमास पद्धति में अन्तरिक्ष को पश्चात् और द्यौः को पुरः कहना स्पष्ट करता है कि इस यज्ञ में द्यौः और पृथिवी मुख्यरूपेण शिर के भाग विशेष हैं और उनका अन्तरिक्ष और द्यौः से सम्बन्ध गृहस्थ और वानप्रस्थ के साथ सम्बन्ध माने विना किसी प्रकार स्पष्ट नहीं हो सकता। इसलिए यही अर्थ युक्तिसंगत है ।।११।।

अथ यद् दक्षिणतस्तदुपदधाति । विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामीति स यदिमां-ल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वा तेनैवैतद्द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधतेऽनद्धा वै तद्यदि-मांल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वानद्धो तद्यद्विश्वा आशास्तस्मादाह विश्वाभ्यस्त्वा-शाभ्य उपदधामीति तूष्णीं वै वेतराणि कपालान्युपदधाति चितः स्थोर्ध्वचित इति वा ।१२।

इसके पीछे दाहिने कपाल को स्थापन करते हैं, उस समय वाक्य पढ़ते हैं **विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि** (यजु० १ । १८) । सो वह जो इन तीनों लोकों से परे चौथा लोक है जो है भी वा नहीं भी है उसी से द्वेष करने वाले शत्रु को दबाता है। सो यह जो इन तीनों लोकों से परे चौथा लोक है सो है भी कह सकते हैं और नहीं भी क्योंकि वह अन् अद्धा अप्रत्यक्ष है अथवा यदि इसे नद्ध (णह बन्धने) का उलटा मान लें तो अनद्ध अर्थात् अबद्ध है ऐसा भी अर्थ कर सकते हैं। जैसा यह चतुर्थ लोक अप्रत्यक्ष-सा है इसी प्रकार विश्वाः आशाः" यह शब्द अपरिमित है इसीलिए विश्वाभ्य-स्त्वाशाभ्य उपदधामि यह वाक्य बोलता है। शेष कपालों को विना मन्त्र के अथवा **"चितः स्थोर्ध्वचितः स्थ"** (यजु० १ । १८) यह वाक्य बोलकर दोनों विकल्पों में से जिस प्रकार चाहे स्थापन करते हैं ॥१२॥

यह चौथा कपाल संन्यासाश्रम का सूचक है। प्रथम तीन आश्रमों में जाना उनका पालन, सबके लिए आवश्यक है किन्तु चौथा परम वैराग्यवान् अधिकारी चाहे तो ले अथवा न भी ले इसीलिए कहा कि यह लोक है भी और नहीं भी। संन्यासी का प्रेम देश-काल से अपरिच्छिन्न है वह सारे विश्व का है, इसलिए यहाँ वाक्य भी यह पढ़ा जाता है कि सारे विश्व के लिए तुझे स्थापन करता हूँ, तात्पर्य यह कि मस्तिष्क के विकास की पराकाष्ठा इसमें है कि वह सारे संसार के लिए ही जो देश सामने प्रत्यक्ष दीखता हो उसी के लिए नहीं किन्तु "विश्वाभ्यः आशाभ्यः" सारी दिशाओं के लिए हो।

शेष कपाल ठीक इन चार कपालों का ही दूसरा रूप है इसलिए वे गिना दिये गये हैं, वहाँ कोई विशेष मन्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं हुई ॥१॥ जहां कर्मचारी वर्ग से आठ कपाल पूरे किये जाते हैं।१२।

अथाङ्गारैरभ्यूहति । भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वमित्येतद्वै तेजिष्ठ तेजो यद् भृग्वङ्गिरसाꣳसुतप्तान्यसन्निति तस्मादेनमभ्यूहति ॥१३॥

फिर कपालों पर अङ्गारे छाता है उस समय वाक्य पढ़ता है **"भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्"** (यजु०१ । १८) यह जो भृगु अङ्गिरसों का तेज है यह सब से तीव्र तेज है इसलिए यह वाक्य बोला गया। तात्पर्य यह कि ज्ञानाग्नि में पूर्ण-रूप से अच्छी प्रकार तप्त होने पर ही मस्तिष्क का पूर्ण विकास होता है।

सायण ने यहाँ भृगूणाम् का अर्थ भृगुओं का और अगिरस् का अर्थ अंगिरा वंश के ऋषियों का इस प्रकार किया है सो प्रथम तो यह अर्थ सायण की उस प्रतिज्ञा के विरुद्ध है जो उसने मीमांसा के परन्तु "श्रुतिसामान्यमात्रम्" इस सूत्र का प्रमाण देकर वेद के पौरुषेयत्व का खण्डन करते हुए की है; फिर इसमें च का अध्याहार भी करना पड़ता है इस प्रकार के अध्याहार वेद में होते हैं इसमें सन्देह नहीं किन्तु यदि अध्याहार के विना काम चले तो वया अच्छा। ऋषि दयानन्द ने भृगूणाम् को अङ्गिरसाम् का विशेषण माना है

इस अर्थ में एक तो अध्याहार नहीं करना पड़ता दूसरे वेद के अपौरुषेयत्व पर आघात नहीं होता, साथ ही इसके लिए प्रमाण भी मिलते हैं।

पहले अङ्गिरस शब्द को लीजिये।

अङ्गारेष्वङ्गिरा अङ्गारा अङ्कना अञ्चनाः। निरुक्त ३। १७।

अब विचारना चाहिए कि "तप्यध्वम्" का सम्बन्ध अङ्गारों से अधिक हैं अथवा अङ्गिरा नामक ऋषि से।

परन्तु प्रश्न होता है कि मस्तिष्क को तपाने वाले अङ्गार कौन-से हैं? इसका उत्तर शतपथ से ही लीजिये—'प्राणो वा अङ्गिराः' (६।१।२।२८)

अर्थ स्पष्ट हो गया कि प्राणायामादि तप द्वारा मस्तिष्क को परिष्कृत करो इसीलिए मनु ने लिखा है।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

बस यही अन्तरीय दोषों को भूनने वाले प्राण भृगु अङ्गिरा हैं। अङ्गार नाम कोयलों का भी है इसीलिए प्राण की तपे हुए अङ्गारों से उपमा दी गई, इसीलिए जब सूर्य लाल रंग का होता है तो उसका नाम भी भृगु होता है जैसा कि लिखा है—

"अग्निहोत्रवेलायाम्भृगुः" (आदित्यः)। जै० उ० ४।५।१-३।

भृगु शब्द की व्युत्पत्ति भी ब्राह्मण से ही लीजिये—"यदभृज्यत तस्माद् भृगुः समभवत् तद्भृगोर्भृगुत्वम्"। (गो० पू० १।३)

यहाँ स्पष्ट भृगु की भ्रस्ज से उत्पत्ति बताई गई है।

सो जिस प्रकार अग्निहोत्र-वेला में सूर्य का रंग लाल होता है उस प्रकार के 'भृगु अङ्गिरा' लाल अङ्गारों के सदृश कार्य करने वाले प्राणों के कठोर तप द्वारा इन कपालों को सुतप्त करो जिससे तुम्हारा मस्तिष्क पुरोडाश की भाँति सुपरिपक्व हो जाय, यह मन्त्र का अर्थ हुआ ॥१३॥

अथ यो दृषदुपले उपदधाति। स कृष्णाजिनमादत्ते शर्मासीति तदवधूनोत्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूता अरातय इति सोऽसावेव बन्धुस्तत् प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणात्यदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्त्विति सोऽसावेव बन्धुः ॥१४॥

अब विद्यार्थी ने सङ्कल्पाग्नि का आधान कर लिया वह यही उपनयन का काल है इससे यही पहले जब तक किसी ने संकल्प का निर्णय न किया हो अथवा कुलक्रमागत संकल्प प्राप्त न किया हो तो वह आचार्य के पास अनुपनीत ही रहे। जब संकल्प का निर्णय हो जाय उसी समय जिस वर्ण का संकल्प किया हो उसी की मर्यादानुकूल यज्ञोपवीत ले अर्थात् यदि ब्राह्मण बनना हो तो १६ वर्ष से पूर्व संकल्प स्थिर कर ले। यदि क्षत्रिय बनना हो तो २२ और यदि वैश्य बनना हो तो २४ तक भी अनुपनीत रह सकता है। यह बात शतपथ में इस प्रकार कही गई है।

ब्रह्म गायत्री क्षत्रं त्रिष्टुप्। श० १।३।५।५।

स्वयं यजुर्वेद में कहा है—

प्रतीचीमारोह जगत त्वावतु वैरूपं साम सप्तदशः स्तोमो वर्षाऋतुर्विड् द्रविणम् अर्थात् जगती छन्द का वैश्य द्रव्य है।

ऐतरेय में कहा है—

जगती वै वैश्यः । ऐ० १।२८॥

और भी

जागतीच्छन्दो वै वैश्यः । तै० १ । १ । ९ । ७ ।

गायत्री के ८ अक्षर हैं।

त्रिष्टुप् के ११ अक्षर हैं।

जगती के १२ अक्षर हैं।

यही उपनयन की न्यूनतम आयु है और इसकी द्विगुण व्रात्यावधि है।

सो उपनयन-काल मे आचार्य को आवश्यक है कि बालक के संकल्प-निर्णय में माता-पिता को भी यथासम्भव साथ रक्खें। इसलिए जो सिलबट्टे को (पुरोडाशद्रव्य पीसने के लिए) रखता है वह कृष्णाजिन लेता है। उस समय वाक्य बोलता है '**शर्म्मासि**' (यजु० १।१९) यह मृगचर्म माता और ब्रह्मचारी के बीच में व्यवधान है। मृगचर्म का अर्थ वेद चतुष्टय पहले कह आए हैं सो जब ब्रह्मचारी वेद के अर्पण हो और उसके मस्तिष्क निमित्त पदार्थ सिलबट्टे पर रखकर पीसा जाय अर्थात् उसको गुरु की चक्की में गुजारा जाय उस समय यह कठोर व्यापार उसकी माता से दूर होना चाहिए नहीं तो वह मिथ्या मोहवश बालक को बिगाड़ देगी।

उस समय कहा जाता है **अवधूतं रक्षोऽवधूता अरातयः**। (यजु० १।१९) हमने रक्षों और अरातियों को झाड़ दिया। पहले वह तपाए गए थे अब विद्यार्थी स्वाध्याय में रत है अब तो उसकी कर्मपरायणता में झाड़ देना काफी है। सो इसका वही कारण है जो पहले कह आए हैं।

फिर मृगचर्म को प्रतीचीनग्रीव अर्थात् पश्चिम की ओर ग्रीवा करके बिछाता है। उस समय वाक्य बोलता है **आदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु** (यजु० १।१९)। सो इसका भी वही बन्धु अर्थात् कारण है जो पहले कह आए हैं। अर्थात् माता का काम ब्रह्मचर्याश्रम में पलने वाले बालक से अलग रहना है किन्तु उसका इस विषय में बोलने का अधिकार है कि बालक क्या पढ़े। यह चर्म अदिति अर्थात् माता की त्वचा है वह भी इसे पहिचाने अर्थात् अनुमोदन करे तभी यह वेदरूप चर्म शर्म कल्याणकारी हो सकता है ॥१४॥

अथ दृषदमुपदधाति। धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति धिषणा हि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति तत् संज्ञामेवैतत् कृष्णाजिनाय च वदति नेदन्योन्यं हिनसाव इतीयमेवैषा पृथिवीरूपेण ॥१५॥

फिर अध्वर्यु शिला को स्थापन करता है। उस समय वाक्य बोलता है **धिषणाऽसि पर्वती प्रति त्वाऽदित्यास्त्वग्वेत्तु** (यजु० १।१९)। हे पर्वती सबको तृप्त करने वाली धिषणा अर्थात् विद्या तुझे अदिति की त्वचा ठीक-ठीक जाने।

तात्पर्य यह कि इस समय यह भी निश्चय हो जाना चाहिए कि बालक अपने जीवन में किस विद्या को पढ़ेगा किन्तु वह विद्या अदिति की त्वचा=मृगचर्म=वेद से अनुमोदित हो। वेद-विरोधी मार्ग से न चलें।

धिषणा शब्द की व्युत्पत्ति है **धृषेर्धिष् च संज्ञायाम्** (उण० २।८२)

तात्पर्य यह है विद्यार्थी को इस कठोरता से अपनी विद्या में लगाना चाहिए कि जैसे शिला जमी होती है। विषय-वासना, क्रीड़ा, व्यासंगादि इस शिला पर अपना

सिर पटक कर मर जायें परन्तु इसका धर्षण न कर सकें, उलटा यह उन्हें अभिभूत कर ले।

वाग्वै धिषणा। श० ६। ५। ४। ५।

विद्या वै धिषणा। तै० ३। २। २। २।

यह धिषणा वह पृथिवी है जिस पर बालक के मस्तिष्क की भित्ति खड़ी होती है। इसीलिए कहा **एषा पृथिवीरूपेण**, अर्थात् बालक के मस्तिष्क का विकास इस विद्याभ्यास पर ही अवलम्बित है। इनमें परस्पर अनुराग चाहिए जिससे यह एक दूसरे के लिए घातक न हो ॥१५॥

अथ शम्यामुदीचीनाग्रामुपदधाति "दिवः स्कम्भनीरसि" (यजुः १।१९) इत्यन्तरिक्षमेव रूपेणान्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे तस्मादाह दिवः स्कम्भनीरसि ॥१६॥

यहाँ अलंकार यह बाँधा गया है कि ग्रन्थ तो 'सिल' है और बालक की बुद्धि 'बट्टा' है। बुद्धि जब ग्रन्थों पर रखकर मस्तक को रगड़ती है तो मस्तक परिपाक योग्य होता है। अब वेदवाणी अथवा विद्या और बुद्धि के बीच में 'शम्या' क्या हुई? यह हुई स्मरण-क्रिया। तात्पर्य यह कि बालक को केवल बात समझ ही न लेनी चाहिए, बार-बार जिह्वा से उच्चारण करके स्मरण भी कर लेनी चाहिए। कहा भी है "विद्या कण्ठ, पैसा गण्ठ।" आज-कल बहुत से लोग जो स्मरण-शक्ति को बिल्कुल नपुंसक बनाना चाहते हैं, महर्षि याज्ञवल्क्य उनसे सहमत नहीं हैं। वह उनके आशय को वेद-विरुद्ध मानते हैं। अब कण्डिका का अर्थ सुनिये—

"अब अग्रभाग उत्तर की ओर करके शम्या को सिल पर रखता है। उस समय वाक्य पढ़ता है—**दिवः स्कम्भनीरसि** (यजुः १।१९) हे शम्योपलक्षित स्मरण-शक्ति अथवा स्मर्तव्य ग्रन्थ! तू दिव् अर्थात् द्युलोकोपलक्षित, देदीप्यमान प्रज्ञा की 'स्कम्भनीरसि अर्थात् सहारा देने वाली है। तात्पर्य यह कि जिसको विद्या स्मरण नहीं उसका ज्ञान-भण्डार विना थम्भे का मकान है। वह अपनी बात कह तो देता है परन्तु उद्धरणों से पुष्ट (Support) नहीं कर सकता। बात कह दी परन्तु जब किसी ने प्रमाण मांगा तो सारा भवन बैठ गया। इसलिए कहा कि इस क्षेत्र में शम्या अन्तरिक्ष स्थानीय है। द्यौः और पृथिवी अन्तरिक्ष के सहारे खड़े हैं। इसीलिए कहा 'दिवः स्कम्भनीरसि' ॥१६॥

अथोपलामुपदधाति। "धिषणाऽसि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु" (यजुः १।१९) इति कनीयसी ह्येषा दुहितेव भवति तस्मादाह पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्त्विति प्रति हि स्वः सञ्जानीते तत्संज्ञामेवैतद् दृषदुपलाभ्यां वदति नेदमन्योऽन्यं हिनसातऽइति द्यौरेवैषा रूपेण हनूऽएव दृषदुपले जिह्वैव शम्या तस्माच्छम्यया समाहन्ति जिह्वया हि वदति ॥१७॥

उसके पश्चात् बट्टे को शिला पर रखता है। उस समय वाक्य पढ़ता है—**धिषणाऽसि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु** (१।१९) यदि धिषणा का अर्थ शिला मान लें तो स्थूल अर्थ यों बनता है कि तू पर्वती की बेटी धिषणा है, पर्वती तुझे पहिचान ले। किन्तु हम पहले ही कह आए हैं कि बट्टा यहाँ प्रज्ञा का प्रतिनिधि है। अर्थात् जिस प्रकार बट्टा शिला पर पदार्थ को रगड़ता है इसी प्रकार बुद्धि विद्याओं में मस्तिष्क को रगड़कर संस्कृत बनाती है। इसलिए धिषणा नाम शिला का नहीं किन्तु शिला नाम धिषणा का है। धिषणा का अर्थ बुद्धि साधारण संस्कृत साहित्य में भी प्रसिद्ध है। इस-

लिए उसमें कुछ विशेष लिखना अपेक्षित नहीं। पर्वती नाम विद्या का पहले दिखा ही आए हैं। सो विद्याध्ययन से बुद्धि उत्पन्न होती है इसलिए उसे पर्वती की पुत्री कहना उचित ही है। उधर बटिया शिला के सामने छोटी पुत्री सी लगती ही है। इसलिए विद्या और बुद्धि की सिलबट्टे से उपमा दी। विद्या स्थिर है, बुद्धि उसका अवगाहन करती है। इसीलिए बुद्धि की वटिया से उपमा दी गई। तात्पर्य यह कि बुद्धि और विद्या एक दूसरे के सहायक होने चाहिएँ। बुद्धि के मंथन से विद्या को ऐसी पुष्टि मिले जैसे बेटी से माता को सहायता मिलती है। उधर विद्या का लाभ तभी है जब उससे बुद्धि की वृद्धि हो। शम्या नाम स्मरणशक्ति अथवा साध्य-साधन के अभेद से स्मर्त्तव्य ग्रन्थ (Text Book) का है। वह दोनों के बीच में है। उत्तर और अधर हनु के बीच में जिह्वा बोलती है। विद्या भी शब्दों द्वारा बोलती है। इसलिए जिन शब्दों में विद्या बन्द है उन्हें शम्या कहा। अब कण्डिका का अर्थ इस प्रकार हुआ—"हे उपलोपलक्षित प्रज्ञा! तू लोक तर्पण करने वाली विद्या की पुत्री है। वह तुझे पहिचाने। बटिया शिला के सामने छोटी सी है। बेटी के समान है। इसलिए विद्या की पुत्री बुद्धि को उससे उपमा देने के लिए कहा—पार्वतेयी! तुझे पर्वती पहिचाने। जो अपना होता है सो अपने को पहिचानता है। इसलिए दृषद् उपला के व्याज से विद्या बुद्धि में परस्पर परिचय कराता है। जिससे वे एक-दूसरे की हिंसा न करके सहायक हों। यह प्रज्ञा विद्यारूप पृथिवी के सामने द्यौ है। और शम्या अर्थात् पाठ्य ग्रन्थ अन्तरिक्ष है। अथवा प्रज्ञा ऊपर का जबड़ा है, विद्या नीचे का। और पाठ्य ग्रन्थ जिह्वा। इसलिए समाहनन क्रिया इसके द्वारा की जाती है। जिह्वा से ही बोला जाता है।"

यहाँ पर्वती शब्द की व्युत्पत्ति छूट गई है, इसलिए उसे दिखाकर इस कण्डिका को समाप्त करते हैं। पर्वती की व्युत्पत्ति ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार दिखाई है—**"प्रः प्रशस्तं प्रापणं यस्यां सा अत्र प्रशंसार्थे मतुप्"** 'पृ' धातु से प्रथम 'पर्' शब्द बना (सम्पदादित्वात् क्विप्) और उससे पर्वती बना। यहाँ क्रम उलटा करने से भी अर्थ में कोई क्षति नहीं होती। बुद्धि से विद्या और विद्या से बुद्धि का जन्म होता है। इसलिए दोनों को प्रसंग-वश एक-दूसरे की माता तथा पुत्री कहा जा सकता है।

अथ हविरधिवपति। "धान्यमसि धिनुहि देवानिति" (यजु: १।२०) धान्यꣳहि देवान् धिनवदित्यु हि हविर्गृह्यते ॥१८॥

फिर सिलबट्टे पर व्रीहियों को रखना है। उस समय वाक्य पढ़ता है: **धान्यमसि धिनुहि देवान्** (१।२०) धान्य देवों को तर्पण करे। इसीलिए हवि ग्रहण किया जाता है। इस कण्डिका में दो उपदेश हैं। प्रथम तो मस्तिष्क देवों अर्थात् विद्वानों को तर्पण करे तब ही समझना चाहिए कि वह मस्तिष्क है। किन्तु साथ ही अन्य पदार्थ न लेकर यहाँ चावल एक धान्य का ग्रहण किया है—जिसका अर्थ है कि यह मस्तिष्क की वृद्धि के लिए अत्युत्तम भोजन है किन्तु उसी अवस्था में जब सुपिष्ट हो। शारीरिक देवता अर्थात् इन्द्रियों के लिए भी यह तब ही तर्पण करता है जब दांतों द्वारा सुपिष्ट हो। फिर राष्ट्र के देवों को धान्योत्पन्न मस्तिष्क तब ही तर्पण करना है जब सुपिष्ट हो अर्थात् विद्याध्ययन में खूब रगड़ा गया हो। परन्तु वह रगड़ा सफल तब ही जानो जब 'देवान् धिनवत्' विद्वानों को सन्तुष्ट करे। वह कहें कि यह मस्तिष्क सुपरिपक्व हो गया। यह बात अगली कण्डिका में सुस्पष्ट होती है॥ १८॥

अथ पिनष्टि। "प्राणाय त्वोदानाय त्वा दीर्घामनुप्रसितिमायुषे धाम्" (यजु०

(यजु० १।२०) इति। प्रोहति "देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वेति (यजुः १।२०) ॥१९॥

फिर 'प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा' (यजु० १।२०) यह वाक्य बोलकर उस धान की मुट्ठी को पीसता है। फिर 'देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रति गृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना' (१।२०) यह वाक्य बोलकर उस पीसी हुई पिट्ठी को कृष्णाजिन पर रखता है।'

'तद्यदेवं पिनष्टि जीवं वै देवाना॑ हविरमृतममृतानामथ्यैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्या॑ हविर्यज्ञं घ्नन्ति ॥२०॥

सो यह जो इस प्रकार वाक्य बोलकर पीसता है यह एक गहरे रहस्य को बताने के लिए। देव लोग भी मनुष्य भक्षक हैं और राक्षस भी। किन्तु उन दोनों में भेद है। यह भी मनुष्य का मग़ज खाते हैं वह भी। यह भी मनुष्य की चर्बी खाते हैं और वह भी। फिर दोनों में भेद क्या है? देव लोग सजीव हैं, अमृत हैं। इसलिए वह जीते हुए का मग़ज खाते हैं, जीते हुए की चर्बी खाते हैं। किन्तु राक्षस मारकर उस मरे हुए की चर्बी, मरे हुए का भेजा खाते हैं। आज गुरुकुल से रसायनशास्त्र का योग्य विद्वान् स्नातक समावर्तन कर के आया है। देव लोगों का क्या उत्तम भोजन तैयार हुआ है! एक रसायनशाला के अध्यक्ष को इसका मस्तिष्क बहुत भाया। उन्होंने उसे अपना सहकारी बनाया। अब प्रतिदिन १० बजे से ४ बजे तक रसायनशालाध्यक्ष जी इस सहकारी का मस्तिष्क खाते हैं। सायंकाल को जब वह लौटता है तो कहता है कि आज तो ऐसी कठिन समस्या के सुलझाने में उलझे कि मग़ज खा गई और अभी न जाने कितने वर्ष खाएगी। अब प्रतिदिन इस जीवित मस्तिष्क को जीवित देव खाते हैं। किन्तु यदि किसी राक्षस को इनका मस्तिष्क अच्छा लगे तो वह मारकर खा जायगा। देवों के खाने और राक्षसों के खाने में भेद है। अब यहाँ तो तुमने चावलों को ऊखल मूसल से कूटा, फिर सिलबट्टे से पीसा। अब यह पूरा पदार्थ तो एक प्रकार से मृत हो गया। यह देवों के योग्य तो न रहा। तो कहते हैं घबराओ मत। यह खेत में एक परिपाक की अवस्था तक पहुँचा था। अब हमने इसे तोड़ा है तो पुरोडाश की परिपक्वावस्था ले आयेंगे। तब तुम्हें देंगे। सजीव करके देंगे। तात्पर्य यह कि विद्यार्थी से कभी समाज का काम न लेना चाहिए। विद्यार्थी का मस्तिष्क ऐसा है जैसे पीसी हुई पिट्ठी। धान कूटे न जाते तो बोने के काम आ जाते। अब घी में भूनने आदि की क्रिया के पश्चात् खाने के काम आयेंगे। किन्तु बीच की अवस्था में खाना ठीक नहीं। इसलिए कहते हैं कि इस पिट्ठी को अर्थात् बालक के मस्तिष्क को प्राणोदान-व्यान-युक्त करो, पूर्ण परिपक्व करो। तब ही यह देवों के योग्य होता है। और यदि अध्ययन काल में हम इन्हें विशेष प्रकार के नियमों में पीसते हैं तो वह वहीं तक न्यायानुमोदित (Justified) है जिससे उनके प्राणोदान-व्यान की वृद्धि हो। क्या "जीवम् अमृतं देवानां हविः" जो जीता है मारा नहीं गया है वही देवों का हवि है, इस वाक्य के पढ़ने के पश्चात् भी कोई यज्ञों में पशु-याग का समर्थन कर सकता है। अब कण्डिका का अर्थ यह हुआ कि "धान का कूटना पीसना एक प्रकार का मारना है। किन्तु यह तब तक ठीक है जब तक उसका फल प्राणोदान-व्यान की वृद्धि हो। अर्थात् बालक को पाठशाला में भेजकर बन्धन में डालना, उसकी स्वतन्त्रता छीनना, उसे विशेष प्रकार के नियमों में बाँधकर

रखना एक प्रकार की हत्या है। यह तब ठीक हो सकती है जब उसका फल बालक के मस्तिष्क में प्राणोदान-व्यान तीनों शक्तियों का पूर्ण विकास हो।" अब इन शक्तियों का नाम क्यों लिया है इसका वर्णन अगली कण्डिका में करते हैं।

स यदाह प्राणाय त्वोदानाय त्वेति तत् प्राणोदानौ दधाति व्यानाय त्वेति तद् व्यानं दधाति दीर्घामनुप्रसितिमायुषे धामिति तदायुर्दधाति देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना सुप्रतिगृहीतान्यसन्निति चक्षुषे त्वेति तच्चक्षुर्दधात्येतानि वै जीवतो भवन्त्येवमु हैतज्जीवमेव देवानाᳬ हविर्भवत्यमृतममृतानां तस्मादेवं पिनष्टि पिᳬषन्ति पिष्टान्यभीन्धते कपालानि॥ २१ ॥

सो वह जो कहता है कि "**प्राणाय त्वा उदानाय त्वा**" यह मस्तिष्क में प्राण और उदान स्थापन करता है। यहां तात्पर्य्य यह है कि हम जो धान्य खाते हैं उसकी सफलता इसी में है कि उससे हमारा मस्तिष्क बने। और मस्तिष्क की सफलता इसी में है कि वह प्राणोदान-व्यान युक्त हो। बालक को ब्रह्मचर्य्याश्रम में क्या करना है ? वीर्य-रक्षा द्वारा प्राण-शक्ति बढ़ानी है। वह कैसे होगी ? उदान द्वारा। उदान की व्युत्पत्ति है "**उदानितीत्युदानः**" 'अन्' का अर्थ है प्राणन। उदनन का अर्थ हुआ ऊपर श्वास खींचना, उत्प्राणन। सो वीर्य्य को धारण कैसे करे कि प्राण को ऊपर खींचे। अर्थात् निरन्तर विद्याभ्यास द्वारा वीर्य्य को ऊपर सिर की ओर खींच ले, ऊर्ध्वरेता हो जाये। और वह मस्तिष्क समाज को ऊपर खेंच कर ले जाये। इसलिए कहा "**प्राणाय त्वोदानाय त्वा**"—जी और उन्नति के लिए जी। फिर कहा "**व्यानाय त्वा**" —अर्थात् जिस प्रकार व्यान-वायु रुधिर को शरीर की नस-नस में व्याप्त कर देता है इस प्रकार ज्ञान के व्यान अर्थात् प्रचार के लिए हे मस्तिष्क ! हम तुझे तैयार करते हैं। कैसे तैयार करते हैं ? "**दीर्घाम्प्रसितिम् अनुधाम्**"—मैं तुझे दीर्घकाल के लिए ब्रह्मचर्य्याश्रम के कठोर किन्तु प्रशस्त बन्धनों में, प्र+सिति (षिञ् बन्धने) में डालता हूँ। जिससे तू दीर्घायु हो। इसलिए "**दीर्घामनुप्रसितिमायुषे धाम्**" यह वाक्य 'दीर्घायुष्ट्व मस्तिष्क में डालने के लिये बोलता है। ज्योतिर्म्मय पाणि-व्यवहार शक्ति वाला देव सविता तुझे अपनी अच्छिद्र शक्ति से ग्रहण करे। तू उस ज्योतिर्म्मय के अर्पण है। सविता देवता वेद में राज्य-नियम को (Legislature) निरूपित करता है। अर्थात् आज राज्य-नियम से बंधा हुआ मैं तुझे ज्योतिर्म्मय विभाग के अर्पण करता हूँ। और यह राज्य-नियम का पाणि=हाथ=शक्ति अच्छिद्र है, इससे कोई बचकर नहीं निकल सकता। और यदि इस लौकिक सविता से बच भी जावे तो परम-सविता के हाथ से तो कोई नहीं बच सकता। इसलिए मैं स्वयं ही तुझे विद्यार्पण करता हूँ। आचार्यादि सब तुझे अच्छिद्र हाथ से ज्योतिर्म्मय बनावें। "**चक्षुषे त्वा**"—तू स्वयं देखे और दूसरों को दिखावे। इस विद्या द्वारा तेरी आंखें खुल जावें। और फिर तेरे ज्योतिर्मय आशय को दूसरों पर प्रकाश करें। हवि को सजीव करना है। सजीवता का चिह्न है चक्षु। बालक के मस्तिष्क को पीसा, परन्तु पीसकर वह परिपक्व उसी दिन हुआ जानो जिस दिन स्वयं देखने लग जावे ! बस यही शिक्षा का आदर्श है। इसलिए कहा, देव सजीव हैं, उनका हवि भी सजीव है, वे अमृत हैं, उनका हवि भी अमृत है। इसलिए यह वाक्य बोलकर पीसते हैं। पीसी हुई पिट्ठी कपालों को चमका देती है। यह वाक्य यदि मस्तिष्क में न लगाया जाय तो इस का अर्थ समझ में नहीं आ सकता। २१।

अथैक आज्यं निर्वपति यद्वा आदिष्टं देवतायै हविर्गृह्यते यावद् देवत्यं तद् भवति तदितरेण यजुषा गृह्णाति न वा एतत् कस्यैचन देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशति यदाज्यम् तस्मादनिरुक्तेन यजुषा गृह्णाति "महीनाम् पयोऽसीति" (यजु० १।२०) मह्य इति वा एतासामेकं नाम यद् गवां तासां वा एतत् पयोऽसीत्येव मुहास्यैतत् खलु यजुषैव गृहीतं भवति तस्माद्धेवाह महीनां पयोऽसीति। २२।

इस कण्डिका पर विचार करने से पहले मैं 'मही' शब्द के अर्थ पर विचार करना चाहता हूँ। यों तो शतपथ ने स्पष्ट ही कह दिया है कि "**मह्य इति वा एतासामेकं नाम यद् गवाम्**" अर्थात् मही यह एक इनका अर्थात् गौओं का नाम है। परन्तु प्रश्न यह है कि गौ वैदिक साहित्य में किसकी प्रतिनिधि है। इसके लिए निम्नलिखित प्रमाण सहायक होंगे—

या गौः सा सिनीवाली (ऐ० ३।४८) **योषा वै सिनीवाली** (श० ६।५।१।१०)
फिर—**सरस्वती हि गौः** (श० १४।२।१।७)
फिर लिखा है—**योषा वै सरस्वती।** (श० २।५।१।११)
इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचे—
गौः=सिनीवाली=सरस्वती=योषा अर्थात् स्त्री। अब यजुर्वेद का एक मन्त्र लीजिए—

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिति-सरस्वति महि विश्रुति एवा तेऽघ्न्ये नामानि।

इस से पता लगता है—इडा=रन्ति=हव्या=काम्या=चन्द्रा=ज्योति=अदिति=सरस्वती=मही—विश्रुति=अघ्न्या। ये सब पर्यायवाची हैं। सो ये सब स्त्री के नाम भी हुए। बस अब यह समझ लेना चाहिए कि वेद में जहां गौ का वर्णन हो वहां स्त्री का भी समझ लेना चाहिए। ऋषि दयानन्द ने तो इस मन्त्र में मुख्य अर्थ स्त्री माना है। अब गौ का घृत यदि हम माता का वात्सल्य समझ लें तो कोई क्षति नहीं। अब कण्डिका का अर्थ सुनिये—

"जब अध्वर्य्यु पिट्ठी पीसता है उस समय दूसरा कोई अग्नीध्रादि घृत को आज्य-स्थाली में डालता है। सो जो हवि किसी देवता के नाम पर ली होती है वह जिस देवता के निमित्त होती है वह यजुर्वाक्य पढ़ कर ली जाती है। किन्तु घृत तो किसी देवता विशेष के नाम पर नहीं लिया जाता। इसे लेते समय किसी देवता का नामादेश नहीं किया जाता। इसलिए वह एक अनिरुक्त अर्थात् सामान्य यजुर्वाक्य से ग्रहण किया जाता है। अर्थात् **'महीनां पयोऽसि'** (यजुः १।२०)। मही यह गौओं का एक नाम है। और यह गौओं का दूध तो होता ही है। किन्तु फिर ग्रहण तो इसे भी मन्त्र पूर्वक ही करना है। सो इस वाक्य पढ़ने से वह यजुर्गृहीत हो जाता है। इसलिए वाक्य बोलता है **"महीनां पयोऽसि"**।

तात्पर्य यह कि गुरु के आश्रम में विद्यार्थी के जीवन के दो भाग हैं: एक शिक्षा, दूसरा लाड़चाव और पालन-पोषण। विद्या-ग्रहण के समय हर एक विद्यार्थी को अपनी अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न विद्या मिलती है। इसलिए वहाँ तो देवता का नाम लिया जायगा कि यह मस्तिष्क किस देवता के अर्पण है अर्थात् राष्ट्र के किस विभाग के लिए तय्यार किया जा रहा है। किन्तु लाड़चाव और घी-दूध तो सबको निष्पक्षपात रूप से समान मिलना चाहिए। इसलिए घृत पर यह वाक्य बोला

गया "**महीनां पयोऽसि**" अर्थात् जैसे वात्सल्य से प्रस्नुत-स्तनी गौ माता का घी पुरोडाश को स्निग्ध करता है, ऐसे ही गुरुकुल में मही अर्थात् माता का लाड़ भी मिलना चाहिए। चाहे तो वह गुरु-पत्नी दे अथवा तत्सदृश वात्सल्य परिप्लुत हृदय कोई पुरुष दे। किन्तु वह प्रतिनिधि (Substitute) ही होगा। वास्तव में घी-दूध देना मही अर्थात् माता का ही काम है। परन्तु तात्पर्य यह कि यदि माता न भी हो तो बच्चों को वह लाड़ अवश्य मिलना चाहिए। नहीं तो मस्तिष्क ऐसा अधूरा रहता है जैसे घृत-विहीन पुरोडाश ॥ २२ ॥

इति द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ।

अथ द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ।

पवित्रवति संवपति पात्र्यां पवित्रे अवधाय "देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो-र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां संवपामी" (यजु० १।२१) ति सोऽसावेवैतस्य यजुषो बन्धुः ॥ १ ॥

फिर अध्वर्यु पिट्ठी को गूँधने के लिए पात्रों में रखता है। वहाँ पहले दो पवित्र रख दिये जाते हैं। उस समय वाक्य बोलता है "**देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो-र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां संवपामि** (यजु० १। २१) यहाँ इस पात्री-संवाप किया में विद्यार्थी के मस्तिष्क की वह अवस्था दिखाई गई है जब वह भाषाओं का अध्ययन कर चुका, उसका मस्तिष्क खूब रगड़ा जा चुका। अब उसे भाषा-ज्ञान जो किन्हीं भी विषयों में समानरूपेण आवश्यक है, प्राप्त करने के पश्चात् अपने अभीष्ट विषय की ओर आना है। यहाँ याज्ञवल्क्य की सम्मति में वेदाज्ञा है कि हर एक बालक को कुछ न कुछ किसी ललित कला का अध्ययन भी अवश्य कराना चाहिए। नहीं तो उसमें सहृदयता नहीं आती उसकी Emotional development नहीं होती। किन्तु हर एक विद्यार्थी की ललित कला इस ढङ्ग से चुनी जानी चाहिए कि वह उस के जीवन के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए अपेक्षित गर्मी को बुझाने के स्थान में उलटा उसमें सहायक हो। इसीलिए अभीष्ट विद्या को यहाँ 'ओषधि' के नाम से स्मरण किया गया है। 'ओष' शब्द 'उष् दाहे' धातु से बना है। इसलिए ओष का अर्थ हुआ गर्म्मी, धि का अर्थ हुआ खज़ाना। 'ओष+धि' का अर्थ हुआ गर्म्मी का खज़ाना। सो यही बात यहाँ अगली कण्डिका में दिखाई गई है। परन्तु पात्री में पिष्ट-स्थापन के समय जो 'पवित्र' वहाँ रखे जाते हैं उन्हें भुलाना न चाहिए। अब विद्यार्थी अपना अभीष्ट विषय चुन रहा है। इसलिए उसे कुछ न कुछ स्वतन्त्रता दी जायगी। उस स्व-तन्त्रता की सीमा बताने के लिए तप के प्रतिनिधि दर्भ को वहाँ रखते हैं। अर्थात् स्वतन्त्रता तो दी जाय पर इतनी नहीं कि वह तपोविघातिनी हो, आराम-तलबी की ओर ले जाती हो। विद्यार्थी का जीवन सुखार्थी का जीवन न होना चाहिए। उसे तप में ही आनन्द मनाने का अभ्यास होना चाहिए। साथ ही यहाँ वाक्य पढ़ते हैं कि देव सविता के नाम पर, उस की आदान विसर्गवती शक्तिरूप बाहुओं से, पुष्टिकारक हाथों से, तुझे ग्रहण करता हूँ। सो इसका वही कारण है जो पहले इस प्रकार के वाक्यों का है। अर्थात् यह काम राष्ट्र की अनुमति से होना चाहिए। राष्ट्र को इस बात की देख-रेख रखनी चाहिए कि किसी विद्यार्थी पर कोई विषय ज़बरदस्ती तो नहीं ठूँसा जा रहा, और साथ ही विद्यार्थी उच्छृङ्खल और भोगार्थी तो नहीं हो रहे। जहाँ-जहाँ "**देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे**" यह वाक्य आवे, समझ लेना चाहिए कि यहाँ मस्तिष्क के

विकास में कोई ऐसी भूमिका आ पहुँची है जहाँ राष्ट्र का हस्तक्षेप आवश्यक समझा गया है॥ १॥

अथान्तर्वेद्युपविशति। अथैक उपसर्जनीभिरैति ता आनयति ताः पवित्राभ्यां प्रतिगृह्णाति 'समाप ओषधीभि"(यजुः १।२१) रिति सं ह्येतदाप ओषधीभिरेताभिः पिष्टाभिः सङ्गच्छन्ते समोषधयो रसेने" (यजुः १।२१) ति सं ह्येतदोषधयो रसेनैताः पिष्टा अद्भिः सङ्गच्छन्त आपो ह्येतासाᳬ रसः 'स ᳬ रेवतीर्जगतीभि. पृच्यन्तामि" (यजुः १। २१ ति रेवत्य आपो जगत्य ओषधयस्ता ह्येतदुभय्यः सम्पृच्यन्ते "सम्मधुमतीर्म्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्"(यजुः १।२१) इति स ᳬ रसवत्यो रसवतीभिः पृच्यन्तामित्येवैतदाह॥ २॥

फिर अध्वर्य्यु वेदी के अन्दर बैठता है, उस समय दूसरा कोई अग्नीध्रादि उपसर्जनी लेकर आता है। उपसर्जनी उस जल का नाम है जिस से पुरोडाश का आटा गूँधा जाता है। फिर जब इस जल को आटे में मिलाते हैं उस समय पवित्र द्वारा इस जल का ग्रहण किया जाता है। उस समय वाक्य पढ़ता है **समाप ओषधीभिः समोषधयो रसेन सं रेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्तां सम्मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्** (यजु० १।२१) इन वाक्यों का अक्षरार्थ इस प्रकार है—आपः ओषधियों से मिलें, ओषधि रस से मिलें, रेवती जगती से मिलें, मधुमती मधुमती से मिले।

कण्डिका का अक्षरार्थ यों है—"समाप ओषधीभिः यह कहते हैं। क्योंकि यहाँ जल पीसी हुई ओषधि अर्थात् अनाज से मिलता है। फिर उलटा कर कहते हैं, ओषधि रस से मिल जावें। सो यह ओषधियाँ अर्थात् अनाज पिसने पर इस जल से सङ्गत होता है। क्योंकि इन का रस भी तो जल है। **सं रेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्ताम्** का तात्पर्य्य यह है कि रेवती नाम जल का और जगती ओषधि का है। यह दोनों इकट्ठी की जाती हैं। **सम्मधुमतीर्म्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्** इसका तात्पर्य्य यह है कि रसवती होकर रसवती से मिलें।" तात्पर्य्य यह कि दोनों प्रकार की विद्या जो विद्यार्थी पढ़े वह एक दूसरे में घुल-मिल जावें। यदि विद्यार्थी ललित कला भी पढ़े तो भी उसका दार्शनिक भाग (Theory) शुष्क और क्रिया सरस होकर यह अभिप्राय पूरा हो जाता है। किन्तु जब तक मस्तिष्क के यह दोनों अङ्ग पूरे न हों विद्यार्थी अधूरा रहता है। ललित कला शुष्क से मिले जिससे वह गुँधे आटे के समान सुसंगठित हो जावे शुष्क भाग ललित कला से मिले और उसे सरस बना दे। अर्थात् वह परस्परोपकारक हों। ललित कला का विद्यार्थी को लाभ यह हो कि उसका मस्तिष्क ताज़ा रहे। और विद्यार्थी का लाभ ललित कला को यह हो कि वह उसके द्वारा शुष्क विद्या को भी सरस बना कर ललित कला का यश बढ़ावे। फिर इन दोनों को **'रेवती'** और **'जगती'** का नाम देकर यह कहा कि विद्या की वृद्धि का संसार के व्यवहार और आर्थिक उन्नति पर भी प्रभाव पड़ना चाहिए। यद्यपि यह विद्या का मुख्य उद्देश्य नहीं। परन्तु विद्या की खोज में लगे हुए लोगों को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि विद्या व्यवहारोपयोगी भी हो जाये और ललित कला विद्यार्थी को अपनी जीविकार्थ धन कमाने के योग्य भी बना सके। कहीं **"बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते पिपासितैः काव्यरसो न पीयते"** न हो जाय। जहाँ इस बात का ध्यान नहीं रक्खा जाता वहाँ सिवाय अत्यन्त प्रतिभाशाली विद्यार्थियों के, साधारण विद्यार्थियों का **'बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्'** इस नियमानुसार अधःपतन होता है। और कभी-कभी तो बड़े-बड़े प्रतिभाशाली भी

पतित हो जाते हैं, इसलिए मस्तिष्क की उन्नति में (जगती) विद्या का व्यवहारोपयोगी होना, (रेवती) विद्वान् के लिए धनोत्पादक होना, इन दो बातों का भी ध्यान होना चाहिए। यद्यपि यह भाव मुख्य नहीं गौण है। इसलिए इनका वर्णन पीछे है। अन्त में कहते हैं कि मस्तिष्क के इन सभी प्रकार के विकास के खरे-खोटे का अन्तिम निर्णय इस बात पर अवलम्बित है कि शुष्क, सरस, व्यवहारोपयोगी तथा अर्थोत्पादक यह सब के सब अङ्ग समाज के लिए 'मधुमती' रसधारा बहाते हैं वा नहीं।

साथ ही इस मन्त्र से यह भी बोध होता है कि आदर्श गुरुकुल में यह सब प्रकार की विद्याएँ समीप-समीप रहनी चाहिएँ, जिस से एक-दूसरे का परस्पर सम्पर्क बना रहे, कहीं Specialisation की अति न हो जाय। बस इस क्रिया का सार 'सम्पृच्यन्ताम्' है, सब विद्या एक-दूसरे में घुल-मिलकर रहें।

रेवती का अर्थ धनोत्पादक तो स्पष्ट ही है। जगती का सम्बन्ध वैश्य से हम दिखा चुके हैं। इससे स्पष्ट है कि इन दो शब्दों को यहाँ रखने का तात्पर्य यह है कि विद्या का विद्यार्थी के लिए धनोत्पादकत्व रेवती शब्द से और समाज के लिए व्यापारो पयोगित्व (Commercial aspect) जगती शब्द से दिखाया गया है। परन्तु यह विद्या का उद्देश्य गौण है, यह इतने से स्पष्ट है कि ओषधि और रस को दो-बार दोहराया गया है। **'समापः ओषधीभिः समोषधयो रसेन'** और फिर उपसंहार भी **'मधुमतीभिः'** के साथ किया गया है। इसलिए यद्यपि रेवती और जगती का स्थान गौण है, परन्तु है अवश्य। क्योंकि भगवती वेदवाणी का एक शब्द भी व्यर्थ नहीं।२।

अथ संयौति। "जनयत्यै त्वा संयौमी" (यजुः १।२२) ति यथा श्रियेऽन्नाद्यायेमाः प्रजा यजमानाय यच्छेदेवं वै तत् संयौत्यधिवक्ष्यंन्नु वै संयौति यथा वाऽधिवृक्तोऽग्नेरधिजायेतैवं वैतत् संयौति ॥३॥

'निरा आटा आग पर नहीं चढ़ाया जाता। इसलिए पिष्ट को आग पर चढ़ाने की इच्छा से पहले पानी में मिलाकर संयौति' अर्थात् खूब गूँधता है। उस समय वाक्य पढ़ता है **'जनयत्यै त्वा संयौमि'** (यजु अ०१।२२)। सो वह इस प्रकार संयवन करता है जिससे यजमान को उसकी सन्तान भी और अन्न देने वाली बने। आग पर चढ़ाने के उद्देश्य से संयवन करता है। जिससे आग पर चढ़ाया जाकर वह अग्नि-जात कहला सके सो इस प्रकार संयवन करता है।'

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस संयवन का उद्देश्य यजमान के लिए श्री तथा अन्नाद्य देने वाली प्रजा (सन्तान) सम्पादन करना है। इससे हमारी पौर्णमास के पुरोडाश को बालक का मस्तिष्क कहने सम्बन्धी स्थापना कितनी पुष्ट होती है। अन्यथा संयवन का प्रजा से क्या सम्बन्ध है?

अब मन्त्र वाक्य का अर्थ सुनिये 'जनयत्यै' उत्कृष्ट उत्पत्ति (Ideal Creative activity) के लिए तुम्हें मिलाता हूँ। Sacred Books of the East नामक ग्रन्थ माला में जूलियस एगलिङ् ने इसका अनुवाद किया है, 'for generation I unite thee.' इस को ठीक मान लीजिये। बात स्पष्ट है। यदि विद्यार्थी का मस्तिष्क (Creative faculty) से युक्त बनाना है तो ओषधि आप, रेवती, जगती सभी गुणों का संयवन (Ideal biending) उसमें होना आवश्यक है। इस प्रकार शुष्क ज्ञान और ललित कला के सम्मिश्रण से युक्त विद्यार्थी का मस्तिष्क जब कठोर तप (जिन में सर्वश्रेष्ठ स्वाध्याय है) की भट्टी पर चढ़ाया जावे तब ही वह परिपक्व होकर देवों

का पुरोडाश अर्थात् सबसे पहले खाने योग्य भोजन होता है।

यह हमारी कपोल-कल्पना नहीं। शतपथ ने स्वयं 'परिपाक' शब्द का इस अर्थ में प्रयोग किया है। स्वाध्याय की महिमा वर्णन करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

अथातः स्वाध्यायऽप्रशंसा। प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतो युक्तमना भवत्यपराधीनोऽहरऽहरर्थान् साधयते सुखऽँस्वपिति परमचिकित्सक आत्मनो भवतीन्द्रियसंयमश्चैकारामता च प्रज्ञावृद्धिर्यशो 'लोकपक्तिः'। श० ११।५।७।१।

यदि ह वा अप्यभ्यक्तः। अलङ्कृतः सुहितः सुखे शयने शयानः स्वाध्यायमधीते। आ हैव स नखाग्रेभ्यस्तप्यते य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते। श० ११।५।७।४

अर्थात् अब हम स्वाध्याय की प्रशंसा सुनाते हैं। स्वयं अध्ययन करना और फिर वह पढ़ा दूसरों को सुनाना—यह स्वाध्याय और प्रवचन दो बड़े प्यारे काम हैं। जो इनको करता है वह स्थिर मन वाला होता है, कभी पराधीन नहीं होता। प्रतिदिन अपने प्रयोजन सिद्ध करता है, सुख की नींद सोता है, अपने आत्मा की परम चिकित्सा करता है, इस स्वाध्याय के भी क्या-क्या फल हैं—इन्द्रियसंयम, चित्त का एक उद्देश्य में मस्त रहना, बुद्धि की वृद्धि, यश और **लोक-पक्ति। श० ११।५।७।१।**

यहाँ लोक-पक्ति शब्द की ओर ध्यान दीजिये। लोक का परिपक्व होना। क्या यहाँ पच्-धातु के अर्थ में कोई सन्देह हो सकता है? क्या कोई यहाँ लोक-पक्ति का अर्थ संसार का आलू की तरह पानी में उबालना कर सकता है?

यह परिपाक होता कैसे है? तप से, आंच से। वह तप क्या है? सो भी सुनिये —यदि कोई मनुष्य सुगन्धित तेल मलकर, शृंगार करके, खा-पीकर तृप्त हुआ उत्तम पलंग पर लेटकर भी स्वाध्याय में लीन है तो समझो, वह शिखा से नख तक तप से तप्त होता है यदि वह विद्वान् स्वाध्याय में पूरा है। (श० ११।५।७।४)

यही बात मनु ने भी कही है—

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः। यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् (मनु २।१६७)

इसका तात्पर्य यह नहीं कि मनुष्य तप करे ही नहीं। किन्तु तात्पर्य यह है कि स्वाध्याय अकेला भी बड़ा तप है। शरीर तप के साथ सम्मिलित हो तो फिर क्या कहना।

परन्तु हमारा इन उद्धरणों के देने का आशय यह है कि हम 'पक्ति' शब्द का पूर्णता अथवा Perfection अर्थ दिखा सकें। इस 'लोकपक्ति' शब्द का सायण तथा एगलिंग (Eggling) ने जो अनुवाद किया है उससे हमारी बात और भी पुष्ट हो जाएगी। 'लोक-पक्ति' का अर्थ सायण इस प्रकार करता है—

तद्युक्तो यो लोकस्तस्य पक्तिः परिपाको भवति।

एगलिंग (Eggling) का अनुवाद लीजिये—

Growth of inteligence, fame, and (the task of) perfecting the people.

हमारी सम्मति में अब पुरोडाश पाक के विषय में किसी को सन्देह नहीं रहना चाहिए।३।

अथ द्वेधा करोति । यदि द्वे हविषी भवतः पौर्णमास्यां वै द्वे हविषी भवतः स यत्र पुनर्न स ँ हरिष्यन्स्यात्तदभिमृशती"दमग्नेरिदमग्नीषोमयो" (यजु १।२२)रिति नाना वा एतदग्रे हविर्गृह्णन्ति तत् सहाबध्नन्ति तत्सह पिँषन्ति तत्पुनर्नाना करोति तस्मादेवमभिमृशत्यधिवृणक्त्येवंष पुरोडाशमधिश्रयत्यसावाज्यम् ॥४॥

'फिर उस गूंधे हुए आटे में से दो भाग करता है। ऐसा उस यज्ञ में किया जाता है जिसमें दो हवि हों। पौर्णमास में दो हवि (एक अग्नि और एक अग्नीषोम के नाम से) होती हैं। सो जहाँ उन दोनों का इकट्ठा रखना अभीष्ट नहीं होता वहाँ पृथक्करणपूर्वक निर्देश किया जाता है। यह अग्नि का है। यह अग्नीषोम का। हवि लिया तो जाता है (पौर्णमास में) दो देवताओं के नाम पर। परन्तु उनका कूटना-पीसना इकट्ठा होता है। अब हवि तैयार करते समय उन्हें फिर पृथक् कर दिया जाता है। इसलिए इस प्रकार अभिमर्शन अर्थात् सम्यक् स्पर्शपूर्वक निर्देश करता है। इस समय अध्वर्यु पुरोडाश को अग्नि पर चढ़ाता है। उधर वह अर्थात् आग्नीध्र घी को अग्नि पर चढ़ाता है।'

दो पृथक् अंश करने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य के मस्तिष्क में यद्यपि अग्नि और सोम का उत्तम मेल होना चाहिए किन्तु उत्तम मेल का अर्थ बराबर का मेल नहीं। जब कहें कि दाल में जोड़ का नमक होना चाहिए तो उसका अर्थ 'बराबर तोल का नमक' ऐसा नहीं होता। किन्तु 'जिससे दाल स्वादु हो जाय उतना' ही होता है। अग्नि सोम के सम्बन्ध में भी अग्नि मुख्य है। यह बताने के लिए एक स्वतन्त्र पुरोडाश उसके अर्पण किया गया है। सोमांश तो जीवन को सरस बनाने के लिए है। असली कार्य तो तीव्र संकल्पाग्नि द्वारा होता है। इसीलिए दो पुरोडाश कर दिये गए हैं। ध्यान में रहे कि मस्तिष्क में भी दो भाग हैं। एक लघु मस्तिष्क और एक बृहन्-मस्तिष्क। (एक Cerebrum और एक Cerebellum)। सो मस्तिष्क के प्रकरण में पुरोडाश का दो भागों में बांटा जाना **'मस्तिष्क एव पिष्टानि'** (१. श० १।२।५।१) के साथ कैसा मेल खाता है।।४।।

तद्वा एतत् उभय ँ सह क्रियते तद्यदेतदुभय ँ सह क्रियतेऽर्धो वा ह वा एष आत्मनो यज्ञस्य यदाज्यमर्धो यदिह हविर्भवति स यश्चायमर्धो य उ चायमर्धस्ता उभावग्निं गमयावेति तस्माद्वा एतदुभय ँ सह क्रियते एवमु हैष आत्मा यज्ञस्य सन्धीयते।५।

"सो जो यह दोनों काम इकट्ठे किये जाते हैं, इसका कारण यह है कि यह आज्य-स्वात्मारूप यज्ञ का आधा भाग है। और आधा भाग यह है यह जो हवि होती है। सो यह जो आधा भाग इधर है और आधा भाग जो उधर है इन दोनों को इकट्ठे अग्नि पर पहुँचावें। इसीलिए ये दोनों इकट्ठे किये जाते हैं। इस प्रकार यज्ञ के दो अर्ध भागों का सन्धान करके उसे पूर्ण बना दिया जाता है।"

'हवि' विद्यार्थी जीवन का विद्या सम्बन्धी भाग है और आज्य पालन-पोषण, लाड़-चाव सम्बन्धी स्निग्ध भाग। यदि विद्यार्थी का शरीर पुष्ट न हो, उसे प्रेम न मिले, तब भी उसका मस्तिष्क अधूरा है और यदि उसे लाड़ ही मिलता रहे, ज्ञान न मिले तब भी अधूरा है। यह दोनों उसे मिलने चाहिए। किन्तु मिलने चाहिएँ शिव-संकल्प रूप अग्नि पर तपे हुए। यही इस क्रिया का भाव है।५।

सोऽसावाज्यमधिश्रयति "इषे त्वे" (यजु० १।२२) ति वृष्टचै तदाह यदाहेषे-त्वेति तत्पुनरुद्वासय"त्यूर्जे त्वे" (यजु० १।१) ति यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह ।६।

"सो वह (आग्नीध्र) जब घी अग्नि पर चढ़ाता है तो वाक्य पढ़ता है 'इषे त्वा' (यजुः १।२२) सो वह जो 'इषे त्वा' कहता है वर्षा के लिए कहता है। फिर उसे ऊपर उठाता है 'ऊर्जे त्वा' (यजुः १।१) सो वर्षा से जो रस पैदा होता हैं उसके लिए ऐसा कहता हैं।"

तात्पर्य यह कि विद्यार्थी का जो पालन-पोषण विभाग है वह इस प्रकार है जैसे ऋतुओं में वर्षा ऋतु, जो पानी बरसाकर धरती को हरी-भरी करती है। इसी प्रकार विद्यार्थी का मस्तिष्क भी प्रेम की वृष्टि द्वारा हरा-भरा होना चाहिए जिससे वह फिर संसार को हरा-भरा करे। उसके पश्चात् 'ऊर्जे त्वा" कहा। भाव यह कि जिस प्रकार निरी हरियाली परिपाक बिना व्यर्थ है, हरियाली का फल तभी है जब वह हमारे शरीरों में ओज उत्पन्न करे। इस प्रकार लाड़ चाव भी वीर-रस भरने वाला ओजस्वी होना चाहिए। गुरु पत्नी अथवा अन्य जो कोई विद्यार्थियों की देख-रेख में लगा हो वह उन्हें बड़े कार्यों के लिए उत्तेजित करने वाला, ऊपर उठाने वाला, 'उत् X वासन' करने वाला हो। इसीलिए 'ऊर्ज्जे त्वा कह के आज्य को पिघलाता है।६।

अथ पुरोडाशमधिवृणक्ति। "घर्म्मोऽसी" (यजुः १।२२) ति यज्ञमेवैतत् करोति यथा घर्म्मं प्रवृञ्ज्यादेवं प्रवृणक्ति "विश्वायुरि" (यजुः १।२२) ति तदायुर्दधाति ॥ ७ ॥

"फिर पुरोडाश को अधि अर्थात् अग्नि पर, 'वृणक्ति' पकाने के लिए स्थापन करता है। उस समय वाक्य पढ़ता है, **घर्म्मोऽसि** (यजुः १।२२) सो यह सोमयाग की ही क्रिया करता है। जिस प्रकार सोम-याग पात्रों में घर्म नामक पात्र का प्रवृञ्जन होता है वही बात यहां है। यहां भी उसी प्रकार प्रवृञ्जन अर्थात् अग्नि द्वारा तपाना होता है। और फिर साथ जो बोलता है "**विश्वायुः** (यजुः १।२२) सो यह आयु की स्थापना करता है।"

तात्पर्य यह कि जब संकल्पाग्नि से खोपडी का एक-एक कपाल तपा हो तब ही मस्तिष्क का भी ठीक परिपाक होता है। और तब ही वह ऊर्ध्वरेता होकर पूर्ण आयु भोगता है।

तं प्रथयति उरु प्रथा "उरु प्रथा उरु प्रथस्वे" ति (यजुः १।२२) प्रथयत्येवैनमेतद् "उरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्" (यजुः १।२२) इति यजमानो वै यज्ञपतिस्तद् यजमाना-यैवैतदाशिषमाशास्ते ॥ ८ ॥

"फिर पुरोडाश को कपालों पर फैलाता है। उस समय वाक्य बोलता है "**उरु-प्रथा उरु प्रथस्व**" (यजुः १।२२) तुझ में बहुत फैलने की शक्ति है तू बहुत फैल! तात्पर्य यह कि यद्यपि विद्यार्थी के जीवन का एक निश्चित लक्ष्य होना चाहिए, और उसे मुख्यरूपेण एक विद्या के ही उपार्जन में यत्नवान् होना चाहिए, किन्तु यह एका-ग्रता कहीं अति तक न पहुँच जाय। उसके ज्ञान का विस्तार भी बहुत होना चाहिए। इसीलिए भिन्न-भिन्न विद्या पढ़ने वाले लोगों का एक कुलपति के अधीन एक आश्रम में रहना आवश्यक है। साथ ही कहते हैं "**उरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्**" (यजुः १।२२) यह वाक्य फैलाने में ही काम आता है। यज्ञपति से अभिप्राय यजमान से है। सो यह

यजमान के लिए ही मंगल-कामना करता है।"

तात्पर्य यह कि यजमान कहता है—"हे पुत्र ! तू पृथु मस्तक वाला हो जिस से यज्ञपति का भी विस्तार हो।" यहाँ पुरोडाश के विस्तार पर यजमान के विस्तार का अवलम्बित होना स्पष्ट दिखाता है कि पुरोडाश भावी सन्तति के मस्तिष्क का प्रतिनिधि है।

तं न सत्रा पृथुं कुर्यात्। मानुषꣳ ह कुर्याद्यत् पृथुङ्कुर्यादव्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद्व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्मान्न सत्रा पृथुं कुर्यात्॥ ९॥

"किन्तु उसको 'सत्रा'=अति चौड़ा न कर दे। यह अति पृथु करना तो उसे साधारण मनुष्यों के दर्जे पर ले आना है। साधारण मनुष्यों की श्रेणी पर रखना यह तो यज्ञ में त्रुटि है। यज्ञ में त्रुटियुक्त बात करनी ठीक नहीं, इसलिए अति चौड़ा न करे।"

तात्पर्य यह कि यज्ञ का उद्देश्य तो साधारण को साधारण मनुष्यों की श्रेणी से उठा कर देव बनाना है। किन्तु जो एक विद्या में विशेष यत्न न करके सब शास्त्रों में पल्लव-ग्राहि पाण्डित्य पाना चाहता है वह मानुष अर्थात् साधारण (Shallow) हो जाता है। उसके पाण्डित्य में गाम्भीर्य नहीं रहता। इसलिए अति चौड़ा न करे॥

अश्वशफमात्रं कुर्यादित्यु हैकऽआहुः। कस्तद्वेद यावानश्वशफो यावन्तमेव स्वयं मनसा न सत्रा पृथुं मन्येतैवं कुर्यात्॥ १०॥

'यहाँ कई लोग कहते हैं कि "उसे घोड़े के खुर के बराबर चौड़ा करे।" भला सोचना चाहिए कि कौन जानता है कि घोड़े का खुर कितना बड़ा होता है। घोड़े छोटे-बड़े अनेक हैं किसके खुर का नाप लें। इसलिए जितना अपनी समझ में अति चौड़ा न समझे उतना फैला दे"॥ १०॥

तमद्भिरभिमृशति सकृद्वा त्रिर्वा तद्यदेवास्यात्रावघ्नन्तो वा पिꣳषन्तो वा क्षिण्वन्ति वा वि वृहन्ति वा शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः सन्दधाति तस्मादद्भिरभिमृशति॥ ११॥

विद्यार्थी के पाठ-क्रम में कुछ समय विश्राम और शान्तचित्त होकर निरीक्षण का अवश्य रखना चाहिए। जिसमें यह भली प्रकार जांचा जा सके कि कहां न्यून और कहाँ अधिक हो गया है। फिर जिस प्रकार एक मट्टी की मूर्ति बनाने वाला चतुर शिल्पकार मूर्ति बनाकर पानी के हाथ से उसके दोष दूर कर देता है, इसी प्रकार उस विश्राम के समय में विद्यार्थी के मस्तिष्क में कहाँ हीनयोग और कहाँ अतियोग हो गया है, कौन-सा भाग है जहाँ अतियत्न किया जा रहा है और कौन से आवश्यक भाग की उपेक्षा की जा रही है इस बात का निरीक्षण किया जाना चाहिए। यह क्रिया यहाँ जलाभिमर्शन द्वारा उपलक्षित हुई है। "सो उस कपालों पर प्रथित पुरोडाश को पानी के हाथ से बराबर करता है। सो इसे कूटने-पीसने में कोई क्षीणता आ गई हो, अथवा कहीं उभरा रह गया हो तो जल जो शान्तिरूप हैं सो इस जल रूप शान्ति से उसे शान्त करता है। सो टूटे भाग को जल से सन्धान करता है। इसलिए जल से अभिमर्शन करता है।"

यहाँ 'विबृहन्ति' का अर्थ सायण ने 'विश्लेषयन्ति' किया है। किन्तु इसका धातु है 'वृह उद्यमने।' सो इस अर्थ में उभरना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

और 'क्षिण्वन्ति' का उलटा होने से न्यून और अधिक दोनों दोषों का निवारक होने से भी यह अर्थ ठीक प्रतीत होता है। किन्तु यदि सायण का अर्थ भी मान लें तो अर्थ यों होगा कि जहाँ कहीं गढ़ा अथवा दरार पड़ गया हो, उसे जल से सन्धान करता है। 'क्षिण्वन्ति' का अर्थ गढ़ा और 'विबृहन्ति' का अर्थ दरार करना हुआ। दोनों अर्थों में बात एक ही है। इसीलिए आग्रह नहीं ।११।

सोऽभिमृशति "अग्निष्टे त्वचं मा हिँसी" (यजुः १।२२) दित्यग्निना वा एनमेतदभितप्स्यन् ते त्वचं मा हिँसीदित्येवैतदाह ।१२।

"अभिमर्शन के समय वाक्य बोलता है "अग्निष्टे त्वचं मा हिँसीत्।" (यजुः १।२२) सो इस पुराडाश को अभी अग्नि पर तपाया चाहता है। सो "वह अग्नि तेरी त्वचा को खण्डित न करे यही कहता है।"

विद्यार्थी तप करे, किन्तु इतना नहीं कि सिर फूट जाय। इतना अधिक पढ़ना हानिकारक है। उसमें शान्तिपूर्वक चिन्तन (Meditation) के लिए कोई अवकाश नहीं रहता। इसलिए कहा कि "थोड़ा विश्राम का जल भी लगाते रहो। कहीं विद्याभ्यास की आंच से मस्तिष्क में दरार न पड़ जावें। निम्नोन्नत भाव न आ जाय, समीचीन विकास (Harmonious development) हो" ।१२।

त पर्यग्नि करोति अच्छिद्रमेवैनमेतदग्निना परिगृह्णाति नेदेनं नाष्ट्रा रक्षाँसि प्रमृशानित्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तस्मात् पर्यग्नि करोति। १३।

"उसके पश्चात् पुरोडाश का पर्य्यग्निकरण करता है। अर्थात् पुरोडाश के चारों ओर (गार्हपत्य के) एक अङ्गार को फेरता है। सो यह उसके चारों ओर अग्नि को अच्छिद्ररूप से घेर कर रखता है जिस से नाशकारी राक्षस उसे स्पर्श न कर सकें। अग्नि राक्षसों का नाशक है। इसलिए पुरोडाश का पर्यग्निकरण करता है।"

तात्पर्य यह कि बालक के चारों ओर का वायुमण्डल ज्ञानाग्निमय होना चाहिए जिससे नाशकारी संस्कार उसमें न घुस सकें ।१३।

त ँ श्रपयति "देवस्त्वा सविता श्रपयत्वि" (यजुः १।२२।) ति न वा एतस्य मनुष्यस्य श्रपयिता देवो ह्येष तदेनं देव एव सविता स्रपयति "वर्षिष्ठेऽधिनाक" (यजुः १।२२) इति देवत्रा एतदाह वर्षिष्ठेऽधिनाक इति तमभिमृशति शृतं वेदानीति तस्माद्वा अभिमृशति ।१४।

"फिर (दर्भ तृणों की अग्नि से) उस पुरोडाश को पकाता है। उस समय वाक्य बोलता है—' देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधिनाके।"(यजुः १।२२) "देवस्त्वा सविता श्रपयतु" यह इसलिए कहा कि जो स्वयं मनुष्य अर्थात् साधारण जन है जिसका मस्तिष्क स्वयं उन्नत नहीं, वह बालक के मस्तिष्क का परिपाक क्या करेगा। इसलिए सविता, संसार के सब नियमों का प्रसविता, सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार परमेश्वर, अथवा इस लोक में राजनियम का नियन्ता राजा, तू हमें पकाये। अर्थात् विद्यार्थी ठीक परिपक्व होकर निकलें राजनियम होना चाहिए। यह जो कहा कि "वर्षिष्ठेऽधिनाके' इसमें प्रभु से प्रार्थना है कि वह हमें सर्वश्रेष्ठ सुख के योग्य परिपाक को पहुँचाए। और राजा वर्षिष्ठ नाक अर्थात् उच्चतम स्वर्ग अर्थात् वानप्रस्थाश्रम में विद्यार्थियों के मस्तिष्क को परिपक्व बनाए। अर्थात् वानप्रस्थों के आश्रम में विद्यार्थी खूब परिपक्व बुद्धि हों ऐसा राजप्रबन्ध होना चाहिए। यह केवल व्यक्तियों की इच्छा पर नहीं छोड़ देना चाहिए।

इसीलिए देवत्रा अर्थात् राजा और विद्वानों को और परम देव परमेश्वर को सम्बोधन करके यह कहा है। फिर उसे छूकर देखता है कि जिससे पता लग जाय कि वह पका वा नहीं" ।१४।

सोऽभिमृशति "मा भेर्मा संविक्था" (यजुः १.२३) इति मा त्वं भेषीर्मा संविक्था यत्त्वाहममानुषꣳ सन्तं मानुषोऽभिमृशामी" ति ।१५।

इसका तात्पर्य यह है कि समय-समय पर साधारण प्रजा को भी अवसर मिलना चाहिए कि वह देखे कि विद्यार्थियों का पठन-पाठन ठीक चल रहा है वा नहीं। जिससे अध्यापकादि लोग आलसी और प्रमादी न हो जावें। अधिकार ही नहीं, साधारण प्रजा (Laymen) का यह कर्त्तव्य है कि वह भी विद्यालयों की जांच-पड़ताल करती रहे, जिससे विद्वानों का वर्ग (Aristocracy) नियन्त्रणहीन न हो जावे। किन्तु यह कार्य ऐसे ढंग से होना चाहिए कि जिससे विद्यार्थियों के पठन-पाठन में व्याघात न हो। यह नहीं कि जब किसी के सिर में समाई, परीक्षा लेने जा खड़ा हुआ। इसीलिए वह छूकर देखता है कि पका वा नहीं। उस समय वाक्य पढ़ता है **"मा भेर्मा संविक्था"** (यजुः १।२३) तू डर मत, घबरा मत कि मैं एक साधारण मनुष्य तुझ देवों की सम्पत्ति अमानुष पदार्थ (ब्रह्मचारी के मस्तिष्क) पुरोडाश को छूता हूँ। तात्पर्य यह कि साधारण मनुष्य भी विद्यालयों की देख-रेख रक्खे जिससे साधारण प्रजा से उनका सम्बन्ध बना रहे। किन्तु यह देखरेख पूरे उत्तरदायित्व को समझकर होनी चाहिए, खिलवाड़ नहीं।१५।

यदा शृतोऽथाभिवासयति। नेदेनमुपरिष्टान्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यवपश्यानिति नेद्वेव नग्न-इव मुषित-इव शयाताऽइत्यु चैव तस्माद्वाऽअभिवासयति।१६।

"जब पुरोडाश पक जाय तो उसे अंगार युक्त राख से ढक देता है। जिससे उस पर नाशकारी राक्षसों की आंख न पड़ जावे। यह नंगा-सा लुटा-सा न पड़ा रहे। इसलिए ढकता है।"

यह वह अवस्था है जिसे शास्त्रकारों ने "पुत्रं मित्रवदाचरेत्" कहा है। गुरु के लिए भी हम कह सकते हैं "शिष्यं मित्रवदाचरेत्।" इससे पहले वह अच्छिद्र अग्नि से घिरा था, उसका पर्यग्निकरण और श्रपण हो रहा था। वह अति कठोर तप के नियन्त्रण में था, अंगारों में था। किन्तु जब वह परिपक्व हो जाय तो नियन्त्रण ढीला होना चाहिए। किन्तु ढीला होने का अर्थ नियन्त्रण उठ जाना नहीं। पहले वह अंगारों में था तो भूभल की आग अब भी रहनी ही चाहिए। यह नहीं कि कहाँ तो इतना कड़ा नियन्त्रण था और कहाँ अब एकदम नंगा लावारिसों का अथवा लूट का माल बन जाय।१६।

सोऽभिवासयति। "अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूया" (यजुः १।२३) दिति नेदेतदनु यज्ञो वा यजमानो वा ताम्याद् यदिदमभिवासयामीति तस्मादेवमभिवासयति ॥१७॥

"ढकता है और उस समय वाक्य पढ़ता है, **"अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात्"** (यजुः १।२३) यजमान भी तमोहीन हो, ग्लानि-रहित हो और उसकी प्रजा भी ग्लानि-रहित हो, उनमें आत्मगौरव का भाव हो, कड़े नियन्त्रण की अति कड़ाई से वे 'हम कुछ नहीं' ऐसा अनुभव न करें, किन्तु वे समझें कि हम उत्तरदायित्व-युक्त मनुष्य हैं। दूसरी ओर वे प्रमादी भी न हों। यही 'अतमेरु' शब्द का अर्थ है।

सो यज्ञ और यजमान दोनों इस नियम के पीछे चलकर ग्लान न हों यह जो अभिवासन करता है इसलिए इस मन्त्र को पढ़कर अभिवासन करता है।" ॥१७॥

अथ पात्रीनिर्णेजनम् । अङ्गुलिप्रणेजनमाप्त्येभ्यो निनयति तद्यदाप्त्येभ्यो निनयति ॥१८॥

उसके पश्चात् पात्री धोता है। जो जल अंगुलि धोने से बचता है अर्थात् अंगुलियों का धोवन आप्त्यों के लिए डालता है। सो यह जो आप्त्यों के लिए डालता है इसका तात्पर्य सुनिये—

इति द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ।

अथ द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

चतुर्धा विहितो ह वाऽग्रे अग्निरास स यमग्रेऽग्निहोत्राय प्रावृणत स प्राधन्वद्यं द्वितीयं प्रावृणत स प्रैवाधन्वद्यं तृतीयं प्रावृणत स प्रैवाधन्वदथ योऽयमेतर्ह्यग्निः स भीषा निलिल्ये सोपः प्रविवेश तं देवा अनुविद्य सहसैवाद्भ्य आनिन्युः सोऽपोऽभितिष्ठेवावष्ठ्यूताः स्थ या अप्रपदनᳫ᳭स्थ याभ्यो वो मामकामं नयन्तीति तत् आप्त्या सम्बभूवुस्त्रितो द्वित एकत ॥१॥ त इन्द्रेण सह चेरुः। यथेद ब्राह्मणो राजानमनुचरति स यत्र त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रं विश्वरूपं जघान तस्य हैते वध्यस्य विदाञ्चक्रुः शश्वदेनं त्रित एव जघानात्यह तदिन्द्रोऽमुच्यत देवोहि सः ॥२॥ त उ हैत ऊचुः उपैवेमऽएनो गच्छन्तु येऽस्य वध्यस्यावेदिषुरिति किमिति यज्ञ एवैषु मृष्टामिति तदेतेष्वेतद्यज्ञो मृष्टे यदेभ्यः पात्रीनिर्णेजनमङ्गुलिप्रणेजनं निनयन्ति ॥३॥ त उ हाप्त्या ऊचुः अत्येव वयमिदमस्मत् परो नयामेति कमभीति य एवादक्षिणेन हविषा यजाता इति तस्मान्नादक्षिणेन हविषा यजेताप्त्येषु ह यज्ञो मृष्ट आप्त्या उ ह तस्मिन् मृजते योऽदक्षिणेन हविषा यजते ॥४॥ ततो देवाः एतं दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणामकल्पयन् यदन्वाहार्य्यं नेददक्षिणं हविरसदिति तन्नाना निनयति तथैभ्योऽसमदं करोति तदभितपति तथैषाᳫ᳭ श्रृतं भवति स निनयति "त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वे"(यजुः १।२३)ति। पशुर्हवाऽएष आलभ्यते यत् पुरोडाशः ॥"॥

इस विचित्र कथा की व्याख्या करने से पहले हम इन पाँच कण्डिकाओं का अक्षरार्थ कर देना चाहते हैं। फिर उसी के सहारे व्याख्या करेंगे। अक्षरार्थ इस प्रकार है—

"अग्नि पहले चार प्रकार से विहित था। अर्थात् उसका विधान चार प्रकार से था। सो लोगों ने पहले एक अग्नि को होत्र के लिए वरण किया। वह चला गया (अर्थात् मर गया) दूसरे को वरण किया वह चला गया। तीसरे को वरण किया वह भी चल ही दिया। सो एक चौथा अग्नि जो अब उपलभ्यमान है वह डर कर छिप गया। वह "आपः" में जा छिपा, देव उसका पीछा करके जबदस्ती "आपः" में से निकाल लाये। सो उसने "आपः" पर थूक दिया। वह बोला तुम थूकी हुई अर्थात् निकम्मी हो जो शरण नहीं देती हो जिनमें छिपे हुए मुझे इच्छा पूर्ण होने से पहले पकड़ कर लिये जा रहे हैं। सो उस अग्नि के थूकने से तीन देवता पैदा हुए : त्रित, द्वित एकत ॥१॥ वे तीनों इन्द्र के साथ घूमते थे जैसे ब्राह्मण राजा के साथ दौरा करता है। सो जहाँ इन्द्र ने तीन सिर वाले त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को मारा, सो उस वध्य विश्वरूप का पता इन तीनों को मालूम था। सच पूछो तो त्रित ने ही उसे मारा। सो इसलिए इन्द्र इस अपराध से मुक्त हो गया वह तो देव हुआ ॥२॥ सो लोग बोले, इन सब को अपराध लगना चाहिए जिन्हें उस वध्य का पता था। सो कसा अपराध? यज्ञ अपना अपराध इन पर पोंछ दे। सो यज्ञ अपना अपराध इन पर पोंछ देता है यह जो इन्हें पात्री और

अंगुली का धोवन दिया जाता है ।।३।। सो वह आप्त्य बोले, अब हम भी इस अपराध को अपने सिर से किसी दूसरे पर टालें । सो किस पर ? जो कोई विना दक्षिणा का यज्ञ करे उस पर । इसलिए विना दक्षिणा का यज्ञ न करे । जो विना दक्षिणा का यज्ञ करता है आप्त्य अपना दोष उस पर डालते हैं ।।४।। इस पर देवों ने यह दर्शपूर्णमास की दक्षिणा नियत की यह जो अन्वाहार्य नाम का भात पकाया जाता है । इसका उद्देश्य यही है कि पुरोडाश रूप हवि विना दक्षिणा के न रहे । इस आप्त्य-निमित्त जल को अलग-अलग निकालता है । सो इन देवताओं में गड़बड़ न हो, परस्पर झगड़ा न हो ऐसा करता है । उस जल को तपाता है । इससे उनका अंश भी यज्ञाग्नि से परिपक्व हो जाता है । सो जब वह इन तीनों के लिए अलग-अलग जल निकालता है तो वाक्य पढ़ता है "त्रिताय त्वा, द्विताय त्वा, एकताय त्वा" (यजु: १।२३) । और अब पुरोडाश व्रीहि यव का क्यों बनता है इसका तत्त्व सुनिये । इसमें सब पशुओं का 'आलम्भन' 'उद्दिष्टोद्देश्यसम्पत्त्यनुकूलयोग्यतालम्भन' आ गया अर्थात् पुरुष से लेकर बकरी तक सब पशुओं के शिक्षण, पालन (Training) और उपयोग का वर्णन आ गया । इसलिए यह पुरोडाश का आलम्भन पशुमात्र का आलम्भन उपयोगानुकूलता प्रापण=अपने काम के लायक बनने की हालत को पहुँचाना है । यह पुरोडाश क्या हवन किया जाता है सब पशु उपयोगी बनाये जाते हैं ।।५।।

पुरोडाश और पशु की व्याख्या अगले प्रकरण में होगी । किन्तु पहले एकत, द्वित और त्रित की कथा को समझ लें । किसी अज्ञात वस्तु को समझने का मार्ग यही है कि पहले उसके साथ की ज्ञात वस्तु को देखा जाय । फिर उसके सहचार के आधार पर उस अज्ञात वस्तु के अर्थ का निर्णय किया जाय । एकत, द्वित और त्रित तीनों इन्द्र के सहकारी देवता हैं और इन्होंने त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप के वध में सहायता दी है । सो इन्द्र, त्वष्टा विश्वरूप, एकत, द्वित, त्रित इन छः देवताओं में से इन्द्र ज्ञाततम है । इन्द्र का अर्थ ब्रह्माण्ड में परमेश्वर, जड़ देवताओं में आदित्य, मानव-शरीर में जीवात्मा और राष्ट्र में राजा है । इनके लिए प्रमाण लीजिए—

तस्मादाह इन्द्रो ब्रह्मेति । कौ० ६ । १४ ।
यत्परं भाः प्रजापतिर्वा स इन्द्रो वा । श० २ । ३ । १ । ७ ।
इन्द्र इति हैमतमाचक्षते य एष तपति । श० ४ । ६ । ७ । ११ ।
द्वयेन वा एष इन्द्रो भवति यच्च क्षत्रियो यद्उ च यजमानः । श० ५ । ३ । ५ । २७ ।

इतने प्रमाणों से इन्द्र का अर्थ स्पष्ट है ।

इन्द्र संगठन का अधिपति है । इसका उलटा देवता त्वष्टा है । वह व्यक्ति का देवता है । इसीलिए इनका देव होते हुए भी परस्पर युद्ध रहता है । परमात्मा ने हर-एक मनुष्य को उस का व्यक्तित्व भी दिया है । किन्तु हरएक व्यक्तित्व अच्छे-बुरे दोनों अंशों का मेल है । उसमें जो अच्छा अंश है उसी का नाम त्वष्टा देवता है । किन्तु जब व्यक्ति की अभिलाषाएं मर्यादा को उल्लंघन करने लगती हैं तब भोगवाद और अव्यवस्था के वृत्र और विश्वरूप का जन्म होता है । इन्द्र व्यक्तिवाद से जन्म पाए हुए इन बुरे अंशों को मार देता है और समाज के हित के लिए जो दिव्य अंश व्यक्ति के पास है उस त्वष्टा देवता की रक्षा करता है । क्योंकि इन्द्र देवों का राजा है और त्वष्टा देव है । प्रश्न हो सकता है कि त्वष्टा के व्यक्तित्व का देवता होने में कोई प्रमाण भी है ? इसका उत्तर हां में है । व्यक्तित्व का सबसे स्थूल और विस्मर्तुमशक्य स्वरूप

मनुष्य-रूप अथवा उसकी आकृति है। संसार में कोई भी दो मनुष्य एक से रूप वाले नहीं हैं। युगल भाइयों में भी कोई न कोई भेदक चिह्न रहता है। अब यदि हम त्वष्टा का नाम सदा रूप का सहचारी पाएं तो हमारी बात प्रमाण से पुष्ट हो जायगी पहले स्वयं वेद का प्रमाण लीजिए—

विष्णुर्य्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते। ऋग् १०।१८४।१

अर्थात् हे पत्नी! जब पति सन्तान उत्पन्न करने लगे उससे पहले वह विष्णु =यज्ञ=राष्ट्र बनकर देखे, अर्थात् यह देखे कि राष्ट्र को इस सन्तान की आवश्यकता भी है, यदि है तो किस प्रयोजन के लिए। इस प्रकार वह विष्णु होकर पहले अपनी सन्तान के लिए योनि अर्थात् स्थान (Room) उत्पन्न करे। फिर उसके अनुकूल गुण अपने व्यक्तित्व में लाए और अपना वह रूप सन्तान को दे। फिर प्रजापति होकर वीर्यसेचन करे और सकल ब्रह्माण्ड के धाता प्रभु के धातृ-गुण को अपने में धारण करके उस तेरे गर्भ की रक्षा करे।

यहां स्पष्ट कहा गया है "**त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।**" पिता के व्यक्तित्व (Individuality) का अमिट प्रमाण पुत्र में पिता का रूप होता है, यह सकल लोक-विदित ही है। त्वष्टा स्वयं देव है पर उसकी सन्तान असुर भी है। यह त्वष्टा ही रूपों का देवता और अतएव व्यक्तित्व का देवता है। त्वष्टा के रूपों के साथ सम्बन्ध होने के अनेक प्रमाण ब्राह्मणों में भी हैं—

त्वष्टा पशूनां मिथुनानाꣳ रूपकृद्रूपपतिः। तै० २।५।७४।
त्वष्टा वै पशूनां मिथुनानाꣳ रूपकृत्। तै० ३।८।११।२।
त्वष्टा वै रूपाणां विकर्ता। तां० ६।१०।३।
त्वष्टा हि रूपाणि विकरोति। तै० २।७।२।१।
त्वाष्ट्राणि वै रूपाणि। श० २।२।३।४।
त्वष्टा वै रूपाणामीष्टे। श० ५।४।५।८।
त्वष्टा वै सिक्तꣳ रेतो विकरोति। श० १।६।२।१०।
३।७।२।८॥४।४।२।१६।

अब समाज के प्रतिनिधि इन्द्र और व्यक्तित्व के देवता त्वष्टा जबतक एक-दूसरे के उपकारक रहें तबतक तो आनन्द ही आनन्द रहता है। किन्तु कभी-कभी यह दोनों उचित मर्यादा लांघ बैठते हैं। कभी समाज व्यक्ति के उन अधिकारों में हस्तक्षेप कर बैठता है जिन में हस्तक्षेप करना व्यक्तित्व के उचित विकास में बाधक है जिससे व्यक्तियों के दुर्बल होने से अन्ततोगत्वा व्यक्तियों के बने हुए समाज को ही हानि होती है। इसी प्रकार कभी-कभी (सच पूछो तो प्रायः) व्यक्ति स्वार्थवश अपने अधिकारों की मर्यादा लांघ बैठता है जिससे अपने रक्षक इन्द्र की हानि करके अन्ततोगत्वा व्यक्ति स्वयं दुःख पाता है। बस, इसी युद्ध का नाम इन्द्र और त्वाष्ट्रों (त्वष्टा की सन्तान वृत्र, विश्वरूप आदि) का युद्ध है।

इस युद्ध पर आर्यसमाज के दसवें नियम में प्रकाश डाला गया है। नियम इस प्रकार है—

"सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए। प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।"

इस नियम में व्यक्ति और समाज के विरोधी हितों का आदर्श समन्वय है। किन्तु हमें इस समय उससे कोई प्रयोजन नहीं। हमें तो केवल इतना दिखाना है कि इन दोनों हितों में प्रायः परस्पर विवाद रहता है। इस नियम को मानते हुए भी कहाँ कोई मनुष्य "प्रत्येक हितकारी" की सीमा उल्लंघन करके "सर्वहितकारी" के क्षेत्र पर आक्रमण कर रहा है, और कहाँ "सर्वहितकारी "प्रत्येक हितकारी" के दुर्ग में घुमकर अनुचित हस्तक्षेप कर रहा है, यह निर्णय करना कभी कभी बड़े-बड़े मर्म्मज्ञों के लिए कठिन हो जाता है। यही विवाद वैदिक वाङ्मय में 'इन्द्र' और 'त्वष्टा' के विवाद से दिखाया गया है। त्वष्टा का पुत्र तीन सिर तथा छः आँखों वाला 'विश्वरूप' बताया गया है, जिसका एक मुख सोम पीता था, एक सुरा पीता था और एक अन्य अन्न खाता था। यहाँ अव्यवस्थित प्रजा (Mob) की आपा-पन्थी का क्या सुन्दर दृश्य दिखाया गया है। सो यह त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप वही है जिसे अंग्रेजी भाषा में Mob कहते हैं। जब व्यक्तिवाद की अति होती है, कोई नियन्त्रण नहीं रहता, तो सब अपनी-अपनी हांकने लगते हैं। इसी बहुमुख दानव (Hydra Headed Monster) को शतपथ में त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप कहा है। इन्द्र अर्थात् समाज में मर्यादा के प्रतिनिधि का इस से सदा झगड़ा है। वह हुल्लड़शाही (Mob) का राज्य नहीं होने देता। इस पर व्यक्तिवादी इन्द्र को सोम अर्थात राज्य कर न देने की धमकी देते हैं। तब इन्द्र अपने आप कर वसूल कर लेता है। फिर व्यक्तिवादी यज्ञ का अर्थात् राष्ट्र नियमों का स्वयं विध्वंस करके नृशंस राष्ट्र-विप्लव रूप वृत्रासुर को उत्पन्न करता है। फिर इन्द्र का उससे युद्ध होता है। और अन्त को दोनों का समझौता यह होता है कि सन्तान तथा भोजन व्यक्ति के अधिकार में हों, शेष समाज के। यह सब कथा इसी काण्ड अन्यत्र (१।६।२।१) में आई है। यथाप्रसंग उसकी विस्तृत व्याख्या करेंगे। यहाँ तो हमें दिखाना है कि 'त्वष्टा' देवता व्यक्ति के अधिकारों का देवता है। उस का पुत्र है हुल्लड़ अथवा Mob। आप जब किसी सभा में हुल्लड़शाही मची हो उसकी अवस्था सामने ले आइए। एक कहता है व्याख्यान होना चाहिए, पचास कहते हैं: नहीं होना चाहिए। फिर सब अपनी-अपनी हांकते हैं। जब तक सब शान्ति से व्याख्यान सुन रहे थे वहाँ इन्द्र का राज्य था, एक-रूप था। परन्तु अब विश्वरूप हो गया है। यदि जरा संघर्ष और बढ़ा तो इन्द्र और त्वष्टा की लड़ाई में वृत्रासुर का भी जन्म हो जायगा। इन्द्र अथवा सूर्य मेघाच्छन्न हो जायगा। परन्तु अन्त को कभी तो आकाश स्वच्छ होगा ही और सूर्य की किरणों का एक रूप प्रकाश इस वृत्र को शान्त कर देगा। यहाँ इस कथा के उल्लेख से हमारा तात्पर्य केवल इतना ही दिखाना है कि त्वष्टा व्यक्ति के अधिकारों का प्रतिनिधि है।

जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है यह सर्वसम्मत बात है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का सब से मुख्य स्थान उसका रूप है, जो संसार में किसी से नहीं, मिलता। इसलिए त्वष्टा वह शक्ति है जिसे व्यक्तित्व (Individuality कहा जाता है जो स्वार्थ अथवा हुल्लड़शाही और विप्लव का रूप धारण करने पर सर्वनाश का कारण बनता है। किन्तु वास्तव में वह दिव्य शक्ति है और उसके सच्चे विकास से ही इन्द्र के राज्य की शोभा है। इसीलिए वह स्वयं देव होने पर भी असुरों का जन्मदाता है।

इस प्रकार हमने इन्द्र के सहारे से त्वष्टा और विश्वरूप का पता लगा लिया। अब इनके सहारे से त्रित, द्वित और एकत का भी पता लग जायगा। इस हुल्लड़ और

अव्यवस्था को जब इन्द्र मारना चाहता है तो ये तीन उसकी सहायता करते हैं। ये इन्द्र के सहायक कौन हैं? इसका उत्तर है कि ये तीन विभाग हैं जिनकी स्थापना राष्ट्र में होनी चाहिए। किसी राष्ट्र में हैं वा नहीं इसका हमें ज्ञान नहीं। किन्तु वेदाज्ञा है, इसलिए होने अवश्य चाहिएँ। इन में से त्रित देव तो सब राष्ट्रों में पाया जाता है। शेष दो का पता नहीं। इसलिए पहले त्रित का ही निर्णय होना चाहिए। इस शब्द का अर्थ-निर्णय करने से पहले इसका धात्वर्थ निर्णय करना चाहिए। इसकी व्युत्पत्ति यास्काचार्य ने इस प्रकार दी है—

त्रितः=तीर्णतमः मेधया (निरु० ४। ८) अर्थात् जो अपने बुद्धि बल से उत्तीर्ण-तम हो। यह उत्तीर्ण शब्द अब भी परीक्षा में सफलता द्योतन के लिए प्रयोग होता है। इसलिए त्रित नाम परीक्षा लेने वाले का हुआ। क्योंकि जो स्वयं सफेद को **"तीर्णतम"** होगा वही दूसरों की परीक्षा लेने का अधिकारी है।

तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्र अर्थात् राजा राज्याधिकार में पुरुषों को नियुक्त करते समय जब लोगों की पहले अच्छी प्रकार परीक्षा ले ले तब उन्हें नियुक्त करे। इसलिए अग्नि यहाँ राज्याधिकारी हुए। हम थोड़ी देर के लिए 'होता' का अर्थ न्यायाधीश मान लेते हैं। अब इस प्रकार के राज्याधिकारों पर नियुक्त करने के चार प्रकार संसार में प्रचलित हैं—

(१) जन्मपरम्परया (Hereditary Offices)
(२) राजा की स्वेच्छा से (By nomination)
(३) निर्वाचन से (By election)
(४) निर्धारण (By open competition or examination) से।

अब लोगों ने प्रथम प्रकार से एक मनुष्य को न्यायाधीश के पद पर लगाया। किन्तु वह अन्याय करने लगा। वह न्यायाधीशत्वेन रूपेण मर गया। क्योंकि जब विना एक अक्षर भी जाने किसी दुराचारी मूर्ख को केवल एक कुल-विशेष में जन्म लेने मात्र से यह अधिकार मिल जायगा तो वह मनमानी करने के अतिरिक्त और क्या करेगा। सो वह न्यायाधीश न रहा वह चल दिया।

इस पर लोगों ने दूसरा प्रकार पकड़ा। राजा को अधिकार दे दिया कि तुम जिसे योग्य समझो नियुक्त कर दो। सो भला इससे क्या उपकार हो सकता था? अत्याचार करने की शक्ति राजा के हाथ में केन्द्रित हो गई। न्यायाधीश अपनी मन-मानी न करके राजा की मनमानी करने लगे। जन्माधिकार में तो कदाचित् घुणाक्षर-न्याय से कोई सदाचारी विद्वान् न्यायाधीश राजा का मुकाबला कर भी लेता, किन्तु अब तो वे राजा के हाथ की कठपुतली हो गए। सो न्यायाधीश फिर मर गया।

अब विचार हुआ कि प्रजा स्वयं चुना करे परन्तु यह प्रजा (Mob) ही तो विश्वरूप है। इनके हाथ में नियुक्ति का अधिकार दे दो तब क्या फल होगा सो अमे-रिकन शासन तत्त्वविद् ब्राइस के शब्दों में सुनिए, वे अपनी पुस्तक 'अमेरिकन कॉमन-वेल्थ के ५१३वें पृष्ठ पर लिखते हैं—

Any one of the three phenomena I have described—popular elections, short terms, and small salaries—would be sufficient to lower the character of the judiciary. Popular elections throw the choice into the hands of political parties, that is to say, of knots of

wirepullers inclined to use every office as a means of rewarding political services, and garrisoning with grateful Partisans posts which may conceivably become of political importance. In some few states judges have from time to time become accomplices in election frauds, tools in the hands of unscrupulous bosses.

(American Commonwealth by Bryce P. 513)

अब चौथा उपाय सूझा। सब को परीक्षा में आने का अवसर दो। परीक्षा द्वारा योग्यता का निर्धारण करके पदों पर नियुक्त करो। परन्तु अब एक और ही आपत्ति का सामना करना पड़ा। सच्ची योग्यता रखने वाले प्रायः लज्जाशील जीव होते हैं। वे तो अपने आपको छिपा कर रखते हैं। उन्हें परीक्षागार तक घसीट कर लाए कौन ? माघ कवि कह गए हैं—"**महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः।**" दूसरी ओर तुलसीदासजी कलियुग का वर्णन करते हुए कहते हैं। "पण्डित सोइ जो गाल बजावा।" सो इन गालबजावों के कोलाहल में विलीन विद्वानों की मुरली-तान कैसे अपना स्थान प्राप्त करे। उनकी अवस्था तो "**शीर्य्यंते वन एव वा**" है। उन्हें "**सर्वलोकस्य मूर्ध्नि**" कैसे लाया जाए ?

इसलिए कहते हैं कि राजा का कर्त्तव्य है कि वह एक विभाग इस कार्य के लिए भी रक्खे। वह इन विद्वानों को परीक्षास्थली में घसीट लाए। इसी विभाग के अध्यक्ष का नाम 'द्वित' देवता है।

अब द्वित देवता एक विद्वान् के पास चले कि चलिए परीक्षा देने, राजा आपको पदवी देगा।

विद्वान्—तुम्हें किसने कहा कि मैं विद्वान् हूँ ?

द्वितः—यहाँ की प्रजा ने। सब लोग यहाँ यही कहते हैं।

विद्वान्—बड़े दुष्ट हैं। यह लोग किसी को एकान्त में बैठकर अपनी विद्या की उन्नति नहीं करने देते।

द्वित—राजा के आश्रय से तो आप की विद्या की उन्नति और अधिक होगी। आपका बड़ा गौरव होगा। यह सब प्रजा भी आपकी और अधिक इज्जत करेगी।

विद्वान्—मैं थूकता हूँ इस प्रजा की मूर्खता पर और राजदरबार के गौरव पर।

द्वित—ऐसे थूकने वालों की, जो पद-प्राप्ति अथवा ख्याति के भय से 'भीषा निलिल्ये' हुए रहते हैं, ऐसे ही विद्वानों की खोज में तो हम लोग रहते हैं। जब आप हमारे महाराज की गुणज्ञता का परिचय पाएंगे तो आप स्वयं समझेंगे कि आप एक विद्वान् से मिल रहे हैं, राजा से नहीं।

विद्वान्—देख लिए तुम्हारे राजा। 'करि फुलेल सों आचमन मीठो कहत सराहि।' लोगों की प्रशंसा मिल भी गई तो क्या ?

द्वित—नहीं महाराज, वहाँ राजा स्वयं विद्वान् है। उनके दरबार में एक से एक धुरन्धर विद्वान् बैठे हैं। आपकी ऐसी परीक्षा होगी कि आपको भी आनन्द आ जायगा।

विद्वान्—अच्छा भाई तुम तो पीछा ही नहीं छोड़ते। अब चलना ही पड़ेगा। चलो चलें।

यह दृश्य है जो शतपथ की इस कथा में "मीषा निलिल्ये' और अभितिष्ठेव' में वर्णन किया गया है।

अब 'द्वित' अग्नि को त्रित' के पास ले आया। त्रित ने परीक्षा ली। यह भी उत्तीर्ण हुए। अब त्रित इन्हें राजा के पास लाया। राजा तो खोज में ही बैठे थे। परन्तु राजा प्रतीक्षा में क्यों बैठे थे सो भी सुन लीजिए। यह 'एकत' देवता की कृपा है। उनका काम है राजा को अथवा राष्ट्र को यह बताना कि हमें इतने विद्वान् अमुक प्रकार के आवश्यक हैं। यहाँ से इस इच्छा का आरम्भ होता है इसलिए प्रथम होने के कारण यह एकत हैं। फिर एकत द्वित को कहते हैं कि अमुक प्रकार के विद्वान् खोजो। फिर त्रित मेधया तीर्णतम होने के कारण उनकी परीक्षा ले कर राजा के पास लाते हैं। इसलिए तीर्णतम होने के कारण और संख्या में तीसरे होने के कारण यह त्रित कहलाते हैं। यही बात 'नाना निनयति' और 'असमदं करोति' में कही गई है।

अब 'आप:' कौन हैं यह निर्णय करना और रह गया। उसका निर्णय करने के पीछे कण्डिकाओं का अक्षरार्थ स्पष्ट हो जायगा। 'आप:' नाम प्रजा का है। इसका प्रमाण लीजिए—

मनुष्या वा आपः। श० ७।३।१।२०
आपो वरुणस्य पत्न्यः। तै० १।१।३।८
आप्ताः प्रजाः। (ऋषि दया०, यजु० ६।२७)

वरुण नाम राजा का है। राजा प्रजा का पति है। सो आप: प्रजा है।

सो तात्पर्य यह है कि राजा को तीनों अधिकारी ऐसे लोगों में से चुनने चाहिएं जिनका प्रजा से गहरा सम्बन्ध हो, जो बहुत लोगों में परिचित हों और लोगों से मिलने-जुलने वाले स्वभाव के हों।

अथवा आप: नाम स्त्रियों का है शतपथ में अनेक स्थानों पर लिखा है **"योषा ह वै आप:"** सो ऋषि दयानन्द ने अपने वेद-भाष्य में अनेक स्थानों पर आप: का अर्थ विदुषी स्त्रियें किया है (जैसे यजु० १२। ३५)। सो यदि आप: का अर्थ स्त्रियें ऐसा लिया जावे तो आप्त का तात्पर्य यह होगा कि ये लोग इतने सदाचारी हैं कि स्त्रियें भी उनसे निःशंक मिल सकें। यद्यपि राज्य में सभी अधिकारी सदाचारी होने चाहिएँ किन्तु क्योंकि इन्हें लोगों को ढूंढ़ कर निकालना होगा और राज्याधिकार के योग्य विदुषी स्त्रियों को भी ढूंढ़ना होगा। अत: इनमें यह गुण अति विशेष होना चाहिए इस-लिए इन्हें 'आप्ता:' कहा गया है। अब कण्डिकाओं का अर्थ इस प्रकार हुआ—

"राज्य के अधिकार पदों पर नियुक्त करने योग्य अग्नि लोगों का विधान चार प्रकार से करके देखा गया। जब-जब प्रथम प्रकार के अर्थात् वंश-परम्परा से राज्य के पदों पर अग्रणी स्थापन किए गए वे अग्रणी चल दिए। राज्य के हवन-कुण्ड का अग्नि बुझ गया। जब दूसरे प्रकार से अग्नि को होत्र के लिए वरण किया गया, अर्थात् राजा की स्वेच्छा से, तब भी वह अग्नि बुझ गया। फिर तीसरे प्रकार से जिस अग्नि को चुना गया वह भी बुझ ही गया। फिर अब जो यह चौथा बच रहा वह लोकख्याति (Time light) से डरकर छिप गया। वह साधारण प्रजा-वर्ग में घुस गया, परन्तु खोजने वाले विद्वानों ने प्रजा की सहायता से उसका पता लगाकर बल पूर्वक प्रजा-वर्ग में से ढूँढ़ निकाला। उसने अपने इन हितैषी प्रजा वर्गों पर उलहने के रूप में थूक दिया। थूः तुम पर, जो तुमने मुझे डेरा न दिया। मैं एकान्त में बैठकर अपना काम

करना चाहता था, परन्तु आज तुम्हारी करतूत से यह मुझे खींचकर लिए जाते हैं ॥ वहाँ से तीन आप्त्य उत्पन्न हुए त्रित, द्वित और एकत ॥१॥ वह स-इन्द्र अर्थात् राजा के साथ घूमते थे। जैसे यह विद्वान् ब्राह्मण राजा को सलाह देने के लिए उसके साथ चलता है। सो जहाँ इन्द्र ने तीन सिर वाले त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप अर्थात् प्रजा के हुल्लड़ को मारा, उस वधयोग्य का इन्हें पता था। सच पूछो तो त्रित ने ही उसे मारा क्योंकि जब परीक्षापूर्वक योग्य पदाधिकारी राज्याधिकार पदों पर नियुक्त होते हैं तो हुल्लड़ मर जाता है। इन्द्र तो अपराध से बच गया। उसने सारा अपराध इनके सिर डाल दिया, वह तो देव है। तात्पर्य यह कि जब राजा तीर्णतम (त्रित) विद्वान् को परीक्षा पर नियुक्त करे फिर राज्य की व्यवस्था का दोष उसके सिर होगा ॥२॥ उस समय वे जो ये लोग अर्थात् प्रजावर्ग हैं यह बोले वह अपराध इन्हीं के सिर पर लगना चाहिए; इन्हें ही तो पता था कि वह कहां छिपा है। इसलिए यदि परीक्षा में इन्होंने किसी योग्य को अपने पद पर नहीं पहुँचने दिया तो दोष इन्हीं के सिर पर होगा। भला यह क्यों कर? यज्ञ अर्थात् राष्ट्र अपना दोष इन्हीं पर डालता है। इसी का चिह्न पात्री-निर्णेजन और अंगुली-प्रणेजन अर्थात् पात्र का और उंगलियों का धोवन इन्हें दिया जाता है। राष्ट्र कहता है—तुम पर उत्तरदायित्व देकर हमने तो हाथ धो लिए अब दोष तुम्हारा है ॥३॥ इस पर वह आप्त्य बोले कि प्रजा का धर्म है कि राष्ट्र को उत्तम सन्तानरूप दक्षिणा और इन तीन विभागों को इतना थोड़ा-थोड़ा धन भी दे जितना पात्र और उंगलियों के धोवन में आटा होता है तो यह विभाग भली भांति चल सकते हैं। इसलिए हम भी अपना दोष दूसरों पर डाल देंगे। लोगों ने पूछा "कमभि"? किस पर? वे बोले जो कोई विना दक्षिणा का यज्ञ करेगा। तुम हमारे विभाग को थोड़ी दक्षिणा दो, परन्तु जिन विद्वानों को हम खोज-खोजकर लाएंगे उन्हें आदर गौरव धनादि यथायोग्य दक्षिणा न दोगे तो हमारे सिर भी दोष न होगा। विद्वान् धन के भूखे नहीं, उन्हें आदर ही दो। पर आदर रूप दक्षिणा तो दो नहीं, तो हम उस "भीषा निलिल्ये" को कैसे घसीट कर लाएं। इसलिए विना दक्षिणा का यज्ञ न करे। यज्ञ अपना दोष आप्त्यों पर डालता है। परन्तु आप्त्य अपना दोष उन लोगों पर डाल देते हैं जो विना दक्षिणा का यज्ञ करते हैं ॥४॥ इस पर देवों ने यह दर्श-पूर्णमास की दक्षिणा नियत की, यह जो पीछे अन्वाहार्य नाम का भात पकाया जाता है जिससे हमारी हवि दक्षिणा-हीन न हो।

वह तीनों अलग-अलग रखता है। इससे इन का परस्पर झगड़ा दूर करता है।

तात्पर्य यह कि यदि विद्वानों को खोजकर लाने वाले तथा परीक्षा लेने वाले एक होंगे तो पक्षपात आरम्भ हो जाएगा। इसी प्रकार राज्य की आवश्यकता बताने वाले और परीक्षा लेने वाले एक होंगे तो लोग अपने सम्बन्धियों की योग्यता के अनुकूल पदों की आवश्यकता बताने लगेंगे। इसलिए यह तीनों विभाग पृथक् ही रहने चाहिएँ।

फिर उस पात्री-निर्णेजन तथा अंगुलीप्रणेजन जल को तपाता है जिससे वह परिपक्व हो। तात्पर्य यह कि यह विभाग भी यज्ञाग्नि पर पकाया जाना चाहिए। राज्य के नियमपूर्वक विभाग होने चाहिएँ। इन्हें साधारण समझकर अशृत=अपरि-पक्व न छोड़ देना चाहिए।

फिर उस समय वाक्य पढ़ता है तथा जल डालता है—

त्रिताय त्वा द्वितायत्वा एकताय त्वा ।

अब आगे पुरोडाश की कथा सुनिए । यह वस्तुतः पशु का संस्कार किया जाता है यह जो पुरोडाश पकाया जाना है ॥५॥

अब अगली चार कण्डिकाओं में एक कथा दी है, इसलिए उनकी व्याख्या इकट्ठी करनी पड़ेगी। कण्डिका इस प्रकार हैं—

पुरुषᳫं ह वै देवा अग्रे पशुमालेभिरे। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम सोऽश्वं प्रविवेश तेऽश्वमालभन्त तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम स गां प्रविवेश ते गामालेभिरे तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम तेऽविमालेभिरे तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम सोऽजं प्रविवेश तेऽजमालभन्त तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम ।६। स इमां पृथिवीं प्रविवेश तं खनन्त इवान्वीषुस्तमन्वविन्दंस्ताविमौ व्रीहियवौ तस्मादप्येतावेतर्हि खनन्त इवैवानुविन्दन्ति स यावद्वीर्यबद्ध वाऽअस्यैते सर्व्वे पशव आलब्धाः स्युस्तावद्वीर्यवद्धास्य हविरेव भवति य एवमेतद्वेदात्रो सा सम्पद्यदाहुः पांक्तः पशुरिति ।७। यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति । यदाप आनयत्यथ त्वग्भवति यदा संयौत्यथ माᳫंसं भवति सन्तत इव हि स तर्हि भवति सन्ततमिव हि माᳫंसं यदाभृतोथास्थि भवति दारुण इव हि स तर्हि भवति दारुणमित्यस्थ्यथ यदुद्वासयिष्यन्नभिधारयति तं मज्जानन्दधातीत्येषो सा सम्पद्यदाहुः पांक्तः पशुरिति ।८।

स यम्पुरुषमालभन्त स किम्पुरुषोऽभवद्याऽवश्वञ्च तौ गौरश्च गवयश्चाभवतां यमविमालभन्त स उष्ट्रोऽभवद्यमजमालभन्त स शरभोऽभवत्तस्मादेतेषाम्पशूनान्नाशि-तव्यमपक्रान्तमेधा ह्येते पशवः ॥९॥

अब यहाँ यह दिखाते हैं कि जहां मस्तिष्क का परिपाक पौर्णमास में बताया गया है वहां मनुष्य का पशु-भाग अर्थात् स्थूलशरीर भी परिपक्व होना चाहिए । कहीं पुरोडाश के पाक का अर्थ यह न समझ लेना कि मस्तिष्क तो परिपाक तक पहुँचा हो और शेष शरीर दुर्बल अथवा अपरिपक्व हो । यह पुरोडाश यद्यपि यहां मस्तिष्क का प्रतिनिधि है, परन्तु इसमें सम्पूर्ण शरीर के घटक अवयव उपस्थित हैं । इसलिए हमें संसार में पुरुषादि प्राणियों से तब तक ही काम लेना चाहिए जब तक शरीर भी उनका साथ दे । आलम्भन शब्द का अर्थ है "आ समन्तात् लम्भनम्" चारों तरफ से घेर घार कर ठीक स्थान पर पहुंचाना और उनसे शक्ति भर सदुपयोग लेना । सो यह पुरोडाशपाक यद्यपि मुख्य-रूप से मस्तिष्क का परिपाक बताता है परन्तु मस्तिष्क तो उपलक्षण मात्र है । वस्तुतः सारा का सारा ही पशु अर्थात् मस्तिष्क समेत शरीर अपने कार्य की योग्यता तक चारों ओर से पहुँचाया जाता है—आलम्भन किया जाता है ।

इस पर एक आख्यायिका रूप से पुरोडाश की महिमा कहते हैं—पहले-पहल जब जनसंख्या की न्यूनतादि कारणों से मनुष्यों की आवश्यकताएं बहुत थोड़ी होती हैं तो वे अकृष्टपच्या धरती के स्वयं पके फलों से पूरी हो जाती हैं, **लुनन्तोऽपरे मृणन्त-श्चवद्भ्योऽकृष्टपच्या एवौषधयः पेचिरे** (१।६।१।३) उस समय भगवान् की कृपा से वेद द्वारा कृषि-विद्या पाने पर भी लोग उसका उपयोग नहीं करते । धीरे-धीरे जब आस-पास के फल पर्याप्त नहीं रहते और मनुष्य अपने आप को दूर तक पहुँचने में असमर्थ पाता है, अथवा वृद्धावस्था के कारण अपक्रान्त-मेध हो जाता है, तो फिर उसे घोड़े आदि दूरवाहक पशुओं की आवश्यकता होती है । परन्तु धीरे-धीरे जनसंख्या की वृद्धि तथा वृद्धावस्थादि कारणों से अश्व भी पूरी सहायता नहीं कर सकता । अब लोग

गाय पालते हैं। फिर देखते हैं कि शीतादि कारणों से गाय की तथा अपनी रक्षा के लिए गरम वस्त्रों की आवश्यकता होती है तो वे भेड़ पालते हैं और ऊँचे पहाड़ी आदि स्थानों में पदार्थ ले जाने के लिए बकरी पालते हैं। परन्तु जब ये सब भी चारा न मिलने के कारण अपक्रान्त-मेध अर्थात् सारहीन होने लगते हैं तो लोगों को व्रीहि आदि की कृषि करनी पड़ती है। इस एक के सहारे से बकरी, भेड़, गाय, घोड़े को चारा, मनुष्य को अन्न तथा दूध और इन सब जीवों के मेल से धरती की क्षतिपूर्ति हो जाती है। इसलिए व्रीहि आदि की कृषि इन सबका स्वयं पूर्ण आधार होने के कारण सब की पुष्टिदात्री है।

इसके परिपाक में स्पष्ट ही लोम, त्वक्, मांस, अस्थि, मज्जा सब अवस्थाएं देखने में आती हैं। भोजन के पश्चात् भी यह इन सब पशुओं के इन पांचों अंगों को पूरा करता है इसलिए व्रीहि का इसको पुरोडाश बनाकर आलम्भन अर्थात् परिपूर्णावस्था का उपदेश दे दिया तो मानो सब ही पशुओं की पूर्णता का उपदेश दे दिया।

साथ ही यह भी बता दिया जो अपक्रान्त-मेध हो जावें, कार्य करते-करते क्षीण हो जावें उनसे काम न लेना चाहिए। और जो युवा हों उनसे भी उतना काम लेना चाहिए जितना वह कर सकें। इतना न लो कि वह अपक्रान्त-मेध (शक्तिरहित) हो जावें।

देखो, जब पुरुष वृद्धावस्था अथवा कार्य के अतियोग से थक जाता है तो वह क्या रह जाता है? उसे क्या पुरुष कह सकते हैं? वह काहे का पुरुष है? घोड़ा गौरमृग के समान छोटे दरजे का प्राणी हो जाता है। गाय पहिचानी नहीं जाती कि यह वही है जो किसी दिन बीस सेर दूध देती थी। वह तो अब गोसदृश गवय है। 'निवेशस्त्वङ्गानां सुरभिरिति बुद्धि दृढयति।'' गौ नहीं है, गौ सा कोई प्राणी है। भेड़ अब ऊंट के समान शीत से घबराने लगी है। यह बूढ़ी हो गई है। इसकी ऊन मत काटो। बकरी, यह तो ऊँट का बच्चा हो गई है। वह भी अब शीत न सहार सकेगी। इन सबसे काम मत लो, इनसे काम तब तक ही लो जब तक यह पुरुष, अश्व गौ, अवि और अज रहें।

यह उक्त सन्दर्भ का भावानुवाद है। अक्षरानुवाद आगे करेंगे। किन्तु पहले निम्नलिखित बातों पर विचार करना आवश्यक है—

'आलम्भन' का अर्थ क्या है? मध्यकालीन भाष्यकार और उनके अनुगामी यूरोपियन अनुवादक आलम्भन का अर्थ यहां मारना करते हैं। हम उनसे पूछते हैं कि प्रथम तो आलम्भन का यह धात्वर्थ नहीं, किन्तु यदि यथाकथञ्चित् आलम्भन के अनेक अर्थों में से मारना यह एक अर्थ मान लें तो मारना कैसे संगत होगा? मारने से तो लाश पैदा होनी चाहिए। जीवित जीव कैसे पैदा होंगे? हां, हमारे अर्थ मान लेने से यह संगति जुड़ जाती है। ऊँट एक उष्ण देश का प्राणी है। शीत उसे सताता है। बस भेड़ बूढ़ी हो जाय अथवा उसका ऊन उतार लो तो वह अपक्रान्त-मेध, शक्तिहीन हो जाने के कारण शीत से घबड़ाती है। इन अर्थों में ऊँट ही जाती है।

भला मारने में यह संगति कैसे लगती है? मीमांसा का नियम है **'दृष्टे नादृष्टकल्पना'** जब यह स्पष्ट अर्थ संगत होता है तो हम असम्भव अर्थ क्यों मानें?

अपक्रान्त-मेध का अर्थ तो स्वयं सायण ने भी **'यज्ञियसारांशो मेधः'** यज्ञोपयोगी सारांश मेध है, इस प्रकार किया है। इस अर्थ में मारना कहां से आ गया? जीवित

पशु में यज्ञोपयोगी सारांश अर्थात् व्यवहारोपयोगी शक्ति-सामर्थ्य मृत पशु से कहीं अधिक होता है।

अब यहां एक और बात विचारणीय है। इस प्रकरण के अन्त में वाक्य आता है **'तस्मादेतेषां पशूनां नाशितव्यम्'** 'इसलिए इन पशुओं का न खावे।' यहां सायण ने 'मांसम्' अपनी ओर से जोड़कर कहा है कि इसलिए इन पशुओं का मांस न खावे। हम पूछते हैं कि हम 'मांसम्' का अध्याहार क्यों करें? षष्ठी विभक्ति का अर्थ सम्बन्ध है। तो हम यह अर्थ क्यों न करें कि 'एतत् सम्बन्धी' अर्थात् इनका उत्पन्न किया द्रव्य अन्न-दुग्धादि न खावें। अर्थात् जो पुरुष, जो घोड़ा, जो गाय, जो भेड़, जो बकरी हमारी सेवा करते-करते अपक्रान्त-मेध अर्थात् सारहीन हो जावे उसका न खावे। यहां 'उसको न खावें' सायण ने यह अर्थ कैसे कर डाला? इस प्रकरण में तो गर्भवती, बालक, रोगी, वृद्ध तथा परिश्रान्त इन अपक्रान्त-मेध जीवों के उत्पन्न किये यावत् पदार्थों का उपभोग निषिद्ध किया है। इसीलिए किसी पदार्थ-विशेष का नाम न लेकर सामान्य षष्ठी विभक्ति लिख दी है कि इन का न खाये। सो यहां तो बच्चों से काम लेना, बुरी तरह थकाकर पसीने-पसीने करके काम लेना (Child labour, sweating) आदि जघन्य पाप कर्मों से उत्पन्न पदार्थों के उपभोग में लाने का निषेध किया है। हां इतनी विशेषता और है कि वैदिक धर्म ने इस उदारता का विस्तार घोड़ा, गाय, भेड़, बकरी आदि पशुओं तक भी करके सभ्यता को शिखर पर पहुँचा दिया है। ऐसे उच्च-आदर्श पूर्ण वाक्यों का अर्थ विना व्याकरण और विना 'मांसम्' शब्द के, निराधार-रूपेण करना कितना घोर अत्याचार है, यह सहृदय लोग स्वयं विचार सकते हैं।

अब कण्डिका का अर्थ करने से पहले हम 'गौर' और 'शरभ' शब्दों पर विचार करना चाहते हैं।

शब्दकल्पद्रुम में 'शरभ' के इतने अर्थ दिये हैं—

(१) चार पैर ऊपर और चार पैर नीचे इस प्रकार का एक जन्तु।
(२) 'करभ'।
(३) वानर विशेष।
(४) उष्ट्र।
(५) दनुपुत्र-विशेष।
(६) नाग विशेष।

अब देखना चाहिए 'करभ' किसका नाम है। शब्दकल्पद्रुम इसके इतने अर्थ देता है—

(१) मणिबन्धादिकनिष्ठापर्यन्तं करस्य बहिर्भागः।
(२) उष्ट्रशिशुः।
(३) करिशावकः।
(४) उष्ट्रः।
(५) नखनाम गन्धद्रव्यम्।
(६) कटिः।

मोनियर विलियम ने 'शरभ' के अर्थ इस प्रकार दिए हैं—

(१) अष्टपाद जन्तु।

(२) करि-शावक ।
(३) राम-सेना का वानर ।
(४) उष्ट्र ।
(५) घास का कीट विशेष (Grass hopper) ।
(६) टिड्डी (Locust) ।

हमने 'करभ' शब्द का अर्थ उष्ट्र-शिशु मानकर शरभ का अर्थ भी उष्ट्र-शिशु कर दिया है । इस प्रकार वह उष्ट्र से भिन्न भी हो गया और तत्सदृश भी बना रहा । 'करभ' नाम ऊँट और हाथी दोनों के बच्चों का है । 'शरभ' का पर्याय करभ दिया गया है किन्तु 'शरभ' का पर्याय ऊँट भी दिया गया है । इसलिए एकजातीय होने से शरभ का अर्थ ऊंट का बच्चा करना अधिक युक्ति-संगत होगा । क्योंकि ऊँट का बच्चा अन्त को ऊँट ही तो है । 'करभ' के दो अर्थ ऊँट का बच्चा तथा हाथी का बच्चा में में से उष्ट्र के बल पर हमने ऊँट का बच्चा करना ही उचित समझा । यही अर्थ यहां प्रकरण में संगत भी हो जाता है । इस प्रकार सायण का किया अर्थ अष्टपाद जन्तु असंगत है । जब किम्पुरुष, गौर, गवय, उष्ट्र इनमें से कोई भी हिंसक पशु नहीं है तो 'शरभ' के दो अर्थों में से हिंसक अर्थ चुनना किस प्रकार युक्ति-संगत हो सकता है ?

गौर का अर्थ श्रीमद्भागवत् का प्रमाण देकर शब्द-कल्पद्रुम में मृग-विशेष किया है । यही कथा लगभग इसी प्रकार ऐतरेय में आई है। वहीं इसको गौरमृग कहा है। इसलिए इस पर विशेष विचार करने की आवश्यकता नहीं । हां हम यह ठीक नहीं बता सके कि शक्तिहीन अश्व का गौरमृग से क्या साम्य है किन्तु श्रीमद्भागवत के प्रमाण से इतना तो स्पष्ट है कि वह घोड़े के सदृश एक शफ (बिना खुर फटा) प्राणी है । प्रमाण यों है—

खरोऽश्वोऽश्वतरो गौरः शरभश्चमरी तथा एते चैकशफाः क्षत्तः ।

(भागवत ३।१०।२२।)

किन्तु जब हमने किम्पुरुष, गवय, उष्ट्र, शरभ सबकी संगति ठीक लगा दी है तो गौर की भी कोई इस प्रकार की विशेषता का अवश्य पता लगेगा । आशा है कि कोई विद्वान् इस पर और अधिक प्रकाश डालेंगे । सम्भव है गौरमृग श्वेत रंग का हो और घोड़े के बाल बुढ़ापे में श्वेत हो जाते हैं। इस विषय पर अधिक प्रकाश गौर-मृग और बूढ़ा घोड़ा दोनों के साम्य के अध्ययन से पड़ेगा । किन्तु इसके एक शफ होने से हमारी बात की पुष्टि तो हो ही गई ।

अब कण्डिकाओं का अक्षरार्थ लिखते हैं। किन्तु उसमें भी हम इतना और बता देना चाहते हैं कि हम 'अग्रे' और 'आलेभिरे' का अनुवाद भूत में न करके वर्त्तमान में करेंगे । इसी ब्राह्मण के इसी काण्ड में मन-वाणी का झगड़ा आता है "कि एक समय मन-वाणी झगड़ पड़े, हम में से कौन बड़ा है ।" (श० १ । ४ । ५ । ८) इसका अर्थ यह कभी नहीं लिया जा सकता कि यह झगड़ा कभी समय विशेष में हुआ था । मन-वाणी का तारतम्य निरूपण करने के लिए यह झगड़ा घड़ लिया गया है । सो वही बात यहां पुरुष, अश्वादि का परस्पर सहयोग और कृषि की महिमा द्वारा अन्नमय पुरोडाश की महिमा वर्णन करने के लिए की गई है । अक्षरार्थ यों है—

देव लोग पहले-पहल पुरुष को पशु बनाकर उससे पूरा काम लेते हैं । जब उसकी शक्ति समाप्त हो जाती है तो फिर वह अश्व में प्रवेश कर जाती है, अर्थात्

तब वह अश्व से काम लेते हैं। जब उसकी शक्ति समाप्त हो जाती है तो वे गौ से काम लेते हैं। जब वह अपनी कार्य-शक्ति के अन्त पर पहुँच जाती है तो वे भेड़ से काम लेते हैं। जब उसकी कार्य-शक्ति समाप्त हो जाती है तो वे बकरी से काम लेते हैं ॥ ६ ॥

'फिर वह कार्य-शक्ति धरती में घुस जाती है। तब उसे खोदते से ढूंढ़ते फिरते हैं। तब जौ और धान मिलता है। अब भी हम इसे धरती खोदने से (हल चलाकर) प्राप्त करते हैं। सो जिसने इस प्रकार इस तत्त्व को जान लिया उसके हवि में सब जीवों का वीर्य आ जाता है। उसी की हवि हवि है और यह जो कहा कि पशु के पांच अंग हैं—लोम, त्वचा, मांस, अस्थि, मज्जा ॥ ७ ॥

(सो यह पांचों इसी में देख लो) जब पुरोडाश पीसा जाता है तो वह लोम के समान छीदा-छीदा होता है। जब उस में पानी मिल जाता है तो त्वचा के समान तह हो जाती है। जब गूंध लिया जाता है तो मांस हो जाता है। तब यह संगठित-सा हो जाता है। मांस भी संगठित-सा पदार्थ है। जब पक जाता है तो हड्डी हो जाता है। तब वह कठोर-सा होता है। हड्डी भी कठोर-सी होती है। फिर जब उद्वासन के पूर्व उसमें घृत का अभिघारण करता है तो उस में मज्जा का स्थापन करता है। सो वह सब गुण इसमें आ गए यह जो कहा था कि पशु पांच का बना है ॥ ८ ॥

'अब काम लेते समय जिस पुरुष में से सार निकल गया वह किम्पुरुष हो गया, वह जो घोड़ा और गौ हैं सो गौर और गवय हो गए। जिस भेड़ से काम लिया था वह सारहीन होकर ऊंट हो गई (अर्थात् तद्वत् शीत भीरु हो गई।) जिस बकरी से काम लिया था वह शरभ अर्थात् ऊंट का बच्चा हो गई। सो इन पशुओं का (उत्पन्न किया शिल्प, द्रव्य, अन्न, दुग्ध, ऊर्णादि) उपभोग न करे, क्योंकि यह सब सार-हीन है ॥ ९ ॥

कोई कह सकता है कि यह षष्ठी कर्म के स्थान में हुई है इसलिए इन पशुओं को न खाये ऐसा अर्थ कर सकते हैं। किन्तु यह वही कह सकता है जिसने शतपथ का प्रथम पृष्ठ भी न पढ़ा हो। प्रथम पृष्ठ पर ही 'तदेव नाश्नीयात्', 'आरण्यमेवाश्नीयात्' आदि वाक्यों में अश् धातु के साथ कर्म में स्पष्ट द्वितीया पड़ी है।

एकत, द्वित और त्रित की कथा में यह कहा कि किस प्रकार के विद्वानों को खोज-खोज कर लाना चाहिए। और उनको लाना चाहिए जो ऐश्वर्य पर थूकते हों। अब यह कहा कि उनसे कब तक काम लेना चाहिए और कब न लेना चाहिए। इस कथा का मर्म यह है कि—

(१) पुरुषादि पशुओं से तभी तक काम लेना चाहिए जब तक पुरोडाश द्वारा उनका शरीर पुष्ट होता रहे।
(२) जब तक उनका पुरोडाश अर्थात् मस्तिष्क अपक्रान्तमेध न हो।
(३) जब तक उनका पशु, अर्थात् शरीर, कार्य करने में समर्थ हो।
(४) यह व्यवहार मनुष्यों के साथ ही नहीं, पशुओं के साथ भी हो।
(५) अपक्रान्त-मेध यथा वृद्ध, आतुर, बाल, गर्भवती, परिश्रान्त।
सार यह कि जब भी व्याधि, जरा, खेदादि के कारण वह अपक्रान्त-मेध हों काम लेना बन्द कर दो।
(६) पुरोडाश को मेध अथवा सार इसलिए कहा कि शरीर क्षीण होने पर

भी यदि मस्तिष्क काम देता हो तब तक वह हलका काम कर सकते हैं।

(७) यदि पुरोडाश और पशु, मस्तिष्क और शरीर दोनों ठीक हों तब वह पूरा काम दें। किन्तु मस्तिष्क मुख्य है इसीलिए वह यहाँ सम्पूर्ण मेघ का शान्ति का उपलक्षण है।

(८) मेध को स्थिर रखने के लिए जौ और चावल में खूब घी डालकर खाओ और खिलाओ। यह उत्तम भोजन है।

इस प्रकार गर्भाधान के पूर्व की तैयारी से बालक के स्नातक होकर त्रित देवता के अर्पण होने अर्थात् राष्ट्रसेवा में विनियुक्त होने तक के सम्पूर्ण मुख्य नियमों का उपदेश करके और साथ यह भी बताकर कि कब काम नहीं लेना चाहिए, अब स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी विशेष नियमों का वर्णन करते हैं। इस कार्य के लिए श्रीमती 'वेदि-देवी' जी, अत्र रंगशाला में प्रवेश करती हैं। उनका अभिनय देखने के लिए तैयार हो जाइए।

॥ इति द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्

पुरोडाश के वर्णन द्वारा बालक के मस्तिष्क का वर्णन हो चुका। अब वेदी के निर्माण के मिष से स्त्री-शिक्षा-विषयक उपदेशमाला आरम्भ होती है। अथवा यों कहिये कि एक अंक समाप्त हुआ। अब इस नाटक की नायिका श्रीमती वेदी-देवी जी स्त्री जाति की प्रतिनिधि होकर रङ्गमञ्च पर आती हैं। उनके आगमन की धूमधाम सुनिए।

वेदी-निर्माण में सबसे पहली क्रिया स्तम्बयजुर्निर्हरण है। अर्थात् गार्हपत्य वेदी के निमित्त चुने हुए स्थान से तीन मट्टी के टुकड़े, तृण ऊपर रखकर उसके नीचे से स्फ्य द्वारा उखाड़ कर उत्कर में रक्खे जाते हैं।

उत्कर आदि की व्याख्या यथास्थान करेंगे। सबसे पहले हमें स्फ्य का वर्णन करना होगा क्योंकि इसी से स्तम्बयजुर्निर्हरण होता है। इस प्रकरण की प्रथम कण्डिका स्फ्य के सम्बन्ध की एक आख्यायिका से आरम्भ होती है। आख्यायिका इस प्रकार है—

इन्द्रो यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार। स प्रहृतश्चतुर्धाऽभवत्तस्य स्फ्यस्तृतीयं वा यावद्वा यूपस्तृतीयं वा यावद्वा रथस्तृतीयं वा यावद्वाऽथ यत्र प्राहरत्तच्छकलोऽशीर्यत स पतित्वा शरोऽभवत्तस्माच्छरो नाम यदशीर्यतैवमु स चतुर्धा वज्रोऽभवत्॥ १॥

'इन्द्र ने जब वृत्र पर वज्र का प्रहार किया तो उस प्रहार से वह चार टुकड़ हो गया। उसमें तीसरा अथवा उसके लगभग भाग स्फ्य हो गया। तीसरा अथवा उसके लगभग भाग यूप हो गया। तीसरा अथवा उसके लगभग भाग रथ हो गया। फिर जिस भाग से वृत्र पर वज्र प्रहार किया अर्थात् जो वृत्र से टकराया वह टुकड़ा शीर्ण हो गया। इसीलिए वह शर नाम वाला है। क्योंकि वह शीर्ण हो गया था। इसलिए सो वह वज्र इस प्रकार चार भागों में बंट गया॥ १॥

ततो द्वाभ्यां ब्राह्मणा यज्ञे चरन्ति द्वाभ्याᳪ राजन्यबन्धवः संव्याधे यूपेन च स्फ्येन च ब्राह्मणा रथेन च शरेण च राजन्यबन्धवः॥ २॥

यहाँ स्त्री-शिक्षा की विशेषरूपेण देख-रेख रखना और उसे बिगड़ने न देना, उस पर निरन्तर पहरा देना ब्राह्मणों का और उनमें भी विशेषकर संन्यासियों का कर्त्तव्य है यह बताने के लिए स्फ्य का वर्णन है। वृत्र अर्थात् अराजकता, आलस्य, अप्रबन्ध (Indiscipline), उच्छृङ्खलता कुछ कह लीजिए, उस पर इन्द्र अर्थात् राजा ने चार प्रकार प्रहार किया—(१) स्फ्य, (२) यूप, (३) रथ और (४) शर द्वारा। इनमें से दो ब्राह्मणों के शस्त्र हैं, दो क्षत्रियों के। इनमें से स्फ्य पुरोहितों के अधिकार का द्योतक है। यूप अध्यापकों के। पुरोहित परिवार में शासन करते हैं। अध्यापक पाठशाला में। उसके पश्चात् विद्यार्थी स्नातक होकर क्षत्रियों के शासन में आ जाता है।

क्षत्रियों का भी शासन दो प्रकार का है। एक शान्ति-समय में। एक युद्ध समय में। शान्ति-समय में क्षत्रिय का काम सड़कों और रथों द्वारा सिद्ध हो जाता है। जहाँ राजा का रथ पहुँचा अर्थात् आज्ञा पहुँची, लोगों ने कहना मान लिया। जब लोग नहीं मानते तो शर से काम लेना पड़ता है। वास्तविक अर्थों में प्रहार करने वाला वह चतुर्थ भाग ही है। इसलिए वह सबसे अलग रहता है। इस प्रकार शासन (Authority) के चार भाग हो गए—

(१) पुरोहित (Priest) का शासन।
(२) आचार्य (Teacher) का शासन।
(३) वैवस्वत शासन (Civil administration)।
(४) रुद्र शासन (Military Administration)

इन्हीं चार को स्फ्य, यूप, रथ और शर के नाम से कहा गया है। इसमें स्फ्य, रथ और शर तो स्पष्ट है। यूप का अर्थ हमने अध्यापक का शासन किस प्रकार किया, इसकी व्याख्या अपेक्षित है।

यह तो सकल याज्ञिक-सम्प्रदाय-सम्मत बात ही है कि यूप से संज्ञपन के लिए पशु बांधे जाते हैं। सो यदि हम संज्ञपन और पशु शब्दों का अर्थ निश्चय कर लें तो यूप शब्द का अर्थ इस वाक्य में स्वयं निश्चय हो जायगा। सबसे पहले 'पशु' शब्द को लीजिए। वेद इस वाक्य की व्याख्या स्वयं करता है। '**देवा यद् यज्ञं तन्वानाः अबनघ्नन् पुरुषं पशुम्**। (यजु० ३१। १५) अर्थात् विद्वान् जब यज्ञ करने लगे तो उन्होंने पुरुष पशु को बांधा। अब यह पुरुष-पशु क्यों कहलाता है, इस पर वेद क्या कहता है सो देखें—

वितिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमाना सुमङ्गल्युपसीदेममग्निं संपत्नी प्रतिभूषेह देवान्। अथ० १४। २। २५। इस पर Griffith का अनुवाद लीजिए—

Let Many babes of varied from and nature spring in succession from this fruitful mother

Wait on this fire, thou bringer of good fortune here with thy husband serve gods with worship.

यहाँ ग्रिफिथ तक को "पशवः' का अर्थ Babes अर्थात् बच्चे करना पड़ा है। मन्त्र के शब्द ही अति स्पष्ट हैं। 'इस नव-वधू की गोद से जब यह माता बने तो नाना-रूप पैदा होने वाले पशु प्रतिष्ठा-लाभ करें।

भला यहां पशु का अर्थ बालक के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है।

अब यहाँ प्रसंगवश यह भी बता देने की इच्छा है कि बालक को पशु कहते क्यों हैं। इसका तत्त्व जानने के लिए पहले पशु शब्द की व्युत्पत्ति देखिए। यह शब्द दृश् धातु से कुप्रत्यय होकर बना है (उणा० १। २८। शब्दकल्पद्रुम) इसलिए इसका अर्थ हुआ '**पश्यतीति पशुः**'। कहा जा सकता है कि तो क्या ऋषि और पशु दोनों का अर्थ एक है? इसके उत्तर में हम कहते हैं कि दर्शनांश में दोनों एक हैं। देखिए मनुष्य को तैरना सीखना पड़ता है। किन्तु गाय, भैंस, घोड़े का बच्चा सद्योजात भी तैरने लगता है। क्योंकि उसे इस विद्या का दर्शन है, Instinctive ज्ञान है। हाँ, ऋषि और पशु में भेद इतना है कि पशु का दर्शन-शास्त्र परिमित है। जिन विषयों का ईश्वरदत्त

स्वाभाविक ज्ञान उन्हें प्राप्त है वह अनायास प्राप्त है। जिन विषयों का ज्ञान उन्हें प्राप्त नहीं, वह अप्राप्त ही रहता है। किन्तु ऋषि अज्ञात विषय का भी साक्षात्कार कर सकते हैं। यही पशु तथा ऋषि के दर्शन में भेद है। पशु निसर्ग-द्रष्टा है और ऋषि मन्त्र-द्रष्टा है।

इस प्रकार हमने देख लिया पशु नाम बालक का है क्योंकि वह निसर्ग (Instinct) के बल पर काम करता है। युवा पुरुष भी जितने अंशों में निसर्ग के बल पर काम करता है इतने अंशों में पशु है। शेष में मनन-पूर्वक काम करने के कारण मनु। सो यह मनन-शक्ति बालक में कैसे आती है? इसका उत्तर है, 'संज्ञपन' द्वारा अच्छी प्रकार ज्ञान द्वारा। प्रश्न उठता है कि क्या बालक स्वयं ज्ञान-प्राप्ति की उत्कट इच्छा रखता है? इसका उत्तर स्पष्ट है। आरम्भ में उसे गुरु के खूंटे से बांधना पड़ता है। इस पर प्रतिवादी कहते हैं कि संज्ञपन का अर्थ तो मारना है। आपने अच्छी प्रकार विद्या पढ़ना कहाँ से ले लिया? इसलिए आवश्यक है कि इसके अर्थ पर भली प्रकार विचार कर लिया जाय।

यह शब्द सं पूर्वक णिजन्त ज्ञा धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर बनता है। '**देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते**'। आदि शतशः प्रमाणों से संपूर्वक ज्ञा धातु का अर्थ परिचय, प्रेम, सम्भूयज्ञान आदि हैं, कहीं भी हिंसा नहीं। फिर पता नहीं चलता कि णिच् तथा ल्युट् प्रत्ययों ने इसमें क्या वैचित्र्य उत्पन्न कर दिया जो इसका अर्थ एकदम हिंसा हो गया? अस्तु, अब देखना चाहिए वेद तथा वैदिक साहित्य में णिच् तथा ल्युट् प्रत्ययान्त प्रयोग भी किस अर्थ में आया है।

विचित्र बात है कि प्रयोग भी मांस-लोलुप, मांसलप्रज्ञ मीमांसकापसदों के पक्ष का समर्थन नहीं करता। लीजिये, चारों वेदों में संज्ञपन शब्द णिजन्त तथा ल्युट् प्रत्ययान्त रूप में केवल एक स्थान पर अथर्ववेद में आया है। मन्त्र यों हैं—

सं वः पृच्यन्तां तन्वः मनांसि समु व्रता। सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत् ॥१॥

संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः। अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः॥२॥

यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भिरुग्रा अहृणीयमानाः। एवा त्रिणामन्नहृणीयमान इमाञ्जनान् संमनसस्कृधीह॥३॥ अथर्व० काण्ड ६। सू० ७४। मन्त्र १-३।

इस प्रकरण में 'सम्पृच्यन्ताम्' 'समजीगमत्' 'संबभूवुः 'समनसस्कृधि' यह संगठन की मुखारनी प्रबल साहचर्य के बल से संज्ञपन के अर्थ पर क्या प्रकाश डाल रही है, इसे सहृदय लोग अनुभव करें। संस्कृतानभिज्ञ पाठकों के लिए हम केवल तीन मन्त्रों का अनुवाद और देते हैं।

विद्वान् उपदेश करता है—

'तुम्हारे शरीर सम्पृक्त (आपस में खूब मिले हुए) हों। मन सम्पृक्त हों। उस ब्रह्मणस्पति कल्याण स्वरूप प्रभु ने तुम्हें इकट्ठा किया है। तुम्हारे मनों में मिलकर ज्ञान उत्पन्न हो। हृदयों में प्रेम हो। प्रभु के नाम पर किये श्रम से मैं तुम्हें उत्तम ज्ञान प्राप्त कराता हूँ' फिर वही विद्वान् प्रभु से प्रार्थना करता है—

'जिस प्रकार आदित्य (ब्रह्मचारी) वसुओं से, जिस प्रकार क्षत्रिय वैश्यों से निस्संकोच मिलते हैं उसी प्रकार हे 'भूर्भवः स्वः' अथवा 'अ उ म्' तीन नाम वाले प्रभो!

आप इन सब मनुष्यों को एकमन कर दीजिए।' यह हुआ एक संज्ञपन। अब शतपथ का भी उदाहरण लीजिए—

'अथातो मनसश्चैव वाचश्च। अहम्भद्र उदितं मनश्च ह वै वाक् चाहम्भद्र ऊदाते तद्ध मन उवाच अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि न वै मया त्वं किंचनानभिगतं वदसि। सा यन्मम त्वं कृतानुकरानुवर्त्माऽस्यहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मीति। अथ ह वा वागुवाच अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि यद्वै त्वं वेत्थाहं तद्विज्ञपयाम्यहं संज्ञपयामीति॥'

शतपथ का० १। अ० ४।

अब मन-वाणी के झगड़े का हाल सुनो। एक बार मन और वाणी में मैं बड़ा, मैं बड़ी' हो पड़ी। सो मन बोला—मैं बड़ा। भला तू कौनसी बात बोलती है जो मैं नहीं जानता? बस तू मेरा काम करने वाली मेरी अनुचरी है, मैं तुझ से बड़ा हूँ। वाणी बोली—बड़ी तो मैं ही हूँ। तुझे तो केवल ज्ञान ही ज्ञान है पर वह ज्ञान किस काम का? 'आप को कुछ ज्ञान है' यह ज्ञान लोगों को तो मेरे द्वारा ही होता है। जो आप को ज्ञान है वह मैं ही प्रकाशित करती हूँ और हृदयङ्गम कराती हूँ।

क्या यहाँ भी संज्ञपयामि के अर्थ के विषय में किसी दिवान्ध को सन्देह हो सकता है?

अब जरा उन प्रकरणों को लीजिए जहाँ संज्ञपन का अर्थ काटना लिया जाता है। उदाहरणार्थ अग्नीषोम के प्रकरण में संज्ञपन का अर्थ बकरे को काटना किया जाता है। प्रथम तो संज्ञान का अर्थ हिंसा है ही नहीं; और यदि कथंचित् दुर्जनतोष-न्याय से यह अर्थ स्वीकार भी कर लें तो भी कम से कम इतना तो हम ऊपर व्याकरण तथा प्रकरण के बल से निर्विवादरूपेण सिद्ध कर ही चुके हैं कि संज्ञपन का अर्थ सम्यग्ज्ञान कराना भी है। ऐसी अवस्था में यदि यह भी मान लें कि इस शब्द के हिंसा तथा सम्यग् ज्ञान कराना दोनों अर्थ हैं तो भी 'सैन्धवमानय' की तरह जो अर्थ प्रकरण-सङ्गत होगा वही मानना पड़ेगा। अग्नीषोम में पशु संज्ञपन के पश्चात् **'वाचं ते शुन्धामि ··············चरित्राँस्ते शुन्धामि'** (यजुः···) **'वाक्त आप्यायताम्'** आदि जितने शब्द पड़े हैं सब सम्यग्ज्ञान के अधिक अनुकूल हैं और हिंसार्थ के सर्वथा प्रतिकूल हैं। 'चरित्राँस्ते शुन्धामि' (तेरे चरित्र सुधारता हूँ) की संगति पशु (प्रकृति मूढ़) बालकादि को सम्यग्ज्ञान कराने में ही हो सकती है न कि छागवध में।

इसी प्रकार अश्वमेध प्रकरण में वाक्य आता है—

'एष वा स्वर्गो लोको यत्र पशुं संज्ञपयन्ति'। इसका अर्थ पौराणिक लोग करते हैं कि अश्वमेध में जिस स्थान पर अश्व का वध करते हैं उस स्थान का नाम स्वर्ग-लोक है। क्यों न हो! वहीं उसी स्वर्ग-लोक में कपड़ा तान कर फिर घोड़े और राजमहिषी का समागम कराया जाता है। इन निर्लज्जों को इस प्रकार वेद की हत्या करने में तनिक भी संकोच नहीं होता।

अब इस शब्द का दूसरा (हमारी सम्मति में एकमात्र) अर्थ लीजिए तो कितना सुसंगत है। वही स्थान स्वर्ग लोक है जहाँ मूढ़ पशु भाव के लोगों को सुशिक्षित किया जाता है। अश्वमेध के लिए स्पष्ट ही कहा है 'राष्ट्रं वा अश्वमेधः'। यही वाक्य उद्धृत करके यही अर्थ ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में ऋषि दयानन्द ने किया है। धन्य है उस वेदोद्धारक ऋषि को जिसने इन पामरों के अविद्या-जाल को इस प्रकार छिन्न-भिन्न कर दिया।

अब कहा जा सकता है कि विधि-वाक्य के बलवान् होने के कारण 'शुन्धामि' यह मन्त्रलिंग कुछ काम नहीं दे सकता। सो यह बात भी उपहसनीय है। क्योंकि यहाँ विधि-वाक्य तथा मन्त्र-लिंग का कुछ काम नहीं, किन्तु विधि-वाक्य के अर्थ-निर्णय में विवाद है। ऐसे समय में मन्त्र-लिंग के प्राबल्य कोई पण्डितपुंगव दुर्बल कहने का अधिकार नहीं रखता। हाँ, यदि विधि-वाक्य का अर्थ अन्यथा निर्णीत हो जाता तो मन्त्र-लिंग अवश्य कुछ दुर्बल हो जाता। किन्तु इस समय तो वह वज्र की भाँति वादियों के दुर्ग को भूमिसात् कर रहा है।

अब जब हमने सिद्ध कर दिया कि पशु का अर्थ बालक वा मूर्ख मनुष्य है और संज्ञपन का अर्थ विद्या पढ़ना है तो यूप का अर्थ खूँटा अर्थात् वह विषय हुआ जिसको कोई गुरु पढ़ाता है। अर्थात् जिस प्रकार आजकल कहते हैं यह Chemistry के chair के Professor हैं, तो इसे याज्ञिक भाषा में यों कहेंगे कि यह द्रव्य-यज्ञ (कैमिस्ट्री) विद्या के यूप से पशु बाँधकर उनका संज्ञपन करते हैं। यही बात वेद ने **'देवा: यद् यज्ञं तन्वाना: अबध्नन् पुरुषं पशुम्'** में कही है।

इस प्रकार स्फ्य, यूप, रथ, शर का निर्णय करके हम अगली कण्डिका की ओर आते हैं। यहाँ पाठक प्रश्न पूछ सकते हैं कि आपने वेदि का अर्थ स्त्री किस प्रकार किया। इसका उत्तर शतपथ स्वयं देगा—

योषा वै वेदिः (श० १ । ३ । ३ । ८)
योषा वै वेदिर्वृषा वेदः । (श० १ । ९ । २ । २१ । २४)
योषा वै वेदिर्वृषाग्निः । (श० १ । ६ । २५ । २५)

सा (वेदिः) वै पश्चाद्वरीयसी स्यात् । मध्ये स ऽ७ ह्वारिता पुनः पुरस्तादुर्वी एवमेवा हि योषां प्रशंसन्ति । (श० १ । २ । ५ । १६)

अब वेदि-निर्माण, वेदि-परिग्रहादि कर्मों का आरम्भ स्फ्य द्वारा होना इस बात का सूचक है कि स्त्री-शिक्षा से पुरोहितों का विशेष सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध की व्याख्या अब अगली कण्डिकाओं में यथास्थान होगी। सबसे पहले स्तम्बयजुर्निर्हरण के लिए स्फ्य ग्रहण करता है सो उसका तत्त्व सुनिए—

स यत् स्फ्यमादत्ते यथैव तदिन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छदेवमेवैष एतं पाप्मने द्विषते भ्रातृव्याय वज्रमुद्यच्छति तस्माद्वै स्फ्यमादत्ते ॥ ३ ॥

'सो वह जो स्तम्बयजुर्हरण के लिए स्फ्य को हाथ में लेता है सो यह उसी प्रकार है जैसे इन्द्र वृत्र के लिए वज्र पकड़ता है। इसी प्रकार यह पापी द्वेष-पूर्ण शत्रु के लिए वज्र उठाता है। इसीलिए स्फ्य को हाथ में लेता है।

जिस प्रकार इन्द्र राजनीतिक संसार का राजा है इसी प्रकार ब्राह्मण पारिवारिक संसार का राजा है। सो स्त्री-जाति की रक्षा का प्रण करते समय यह स्फ्य हाथ में लेता है। अर्थात् जिस प्रकार क्षत्रिय का प्रण है कि राज्य के अन्दर अन्याय को नाश करने के लिए मेरा शस्त्र है इसी प्रकार ब्राह्मण प्रण करता है कि स्त्री-जाति की पवित्रता के लिए मेरा शस्त्र है। वह दुराचार, आलस्यादि शत्रु जो हमारे परिवारों में घुस जाते हैं उनसे अनवरत युद्ध करना मेरा धर्म है, यह सूचना करने के लिए स्फ्य

को हाथ में लेता है। ब्राह्मण की तलवार काठ की है, क्योंकि वह पाप को मारती है पापी को नहीं। इसलिए वह तो शक्ति का चिह्नमात्र है।

तमादत्ते 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददेऽध्वरकृतं देवेभ्य' (यजुः १। २४) इति सविता वै देवानां प्रसविता तत्सवितृप्रसूत एवैनमादत्तेऽश्विनोर्बाहुभ्यामित्यश्विनावध्वर्यू तत्तयोरेव बाहुभ्यामादत्ते न स्वाभ्यां वज्रो वा एष तस्य न मनुष्यो भर्ता तमेताभिर्देवताभिरादत्ते ॥ ४ ॥

स्फ्य को हाथ में लेते समय मन्त्र पढ़ता है—**'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददेऽध्वरकृतं देवेभ्यः।** (यजुः १। २४) परमेश्वर अपनी प्रेरणा-शक्ति के कारण सविता कहलाता है। अपनी आदान-विसर्गरूप दो सकल चेष्टा-व्यापिनी शक्तियों के कारण अश्विनौ कहलाता है। और सब पदार्थों के पुष्टिकारक अंश को इकट्ठा करने की शक्ति के कारण पूषा कहलाता है। इन्हीं तीन गुणों के कारण सूर्य भी इन तीन नामों से पुकारा जाता है। और इसी प्रकार राजनियम बनाने वाले की हैसियत से राजा का पद सविता कहलाता है। सड़कों और समाचारों के यात+आयात दोनों का प्रबन्ध करने के कारण अश्विनौ कहलाता है। और कर इकट्ठा करने के विभाग का अधिपति होने के कारण पूषा कहलाता है। सो इन्हीं शक्तियों की ओर निर्देश करके कहता है कि मैं देव सविता की प्रेरणा से, अश्वियों की भुजाओं से, पूषा के हाथों से, इस हिंसा-निवारक स्फ्य को देवों के लिए ग्रहण करता हूँ। सविता देवों का प्रेरक है उससे प्रेरित हुआ ही इसका ग्रहण करना है। अर्थात् ब्राह्मण देव-सविता को साक्षी करके कहता है कि मैं यह स्त्री-जाति की सेवा स्त्री-जाति पर कुछ एहसान करने के लिए नहीं कर रहा हूँ। उस सविता की प्रेरणा से कर रहा हूँ। अश्विनौ देवों के अध्वर्यु हैं। सो उनके बाहुओं से ग्रहण करता है। अपने बाहुओं से नहीं। यह ब्राह्मण का अधिकार भी एक वज्र है। साधारण मनुष्य उसको धारण करने योग्य नहीं। इसलिए इन (सविता, अश्विनौ, पूषा दिव्य-भाव-रूप देवताओं को अपने अन्दर स्थापन करके उनकी शक्ति से सुसज्जित होकर स्फ्य को ग्रहण करता है।

'आददेऽध्वरकृतं देवेभ्यः' (यजुः १।२४) इति। अध्वरो वै यज्ञो यज्ञकृतं देवेभ्य इत्येवैतदाह त ꣳ ह सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणेनाभिमृश्य जपति स ꣳ श्यत्येवैनमेतद् यज्जपति ॥ ५ ॥

'यह जो कहता है कि 'आददेऽध्वरकृतं देवेभ्यः (यजुः १। २४) सो अध्वर नाम यज्ञ का है, इसलिए इसका अर्थ यही है कि यह मेरा स्फ्य देवों के संगठन को बाएं हाथ में लेकर दाहिने हाथ से स्पर्श करके जपता है। सो यह जो जपता है सो अपने वज्र को पैना करता है। अर्थात् अगले मन्त्र में जो भाव हैं उनके हृदय में धारण करने से ब्राह्मण की कार्य-शक्ति बढ़ती है। वह मन्त्र क्या है सो आगे सुनिए—

स जपति। 'इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण' (यजुः १। २४) इत्येष वै वीर्यवत्तमो य इन्द्रस्य बाहुर्दक्षिणस्तस्मादाहेन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण इति 'सहस्रभृष्टिः शततेजा' (यजुः १। २४) इति सहस्रभृष्टिर्वै स वज्र आसीच्छततेजा यं तं वृत्राय प्राहरन्तमेवैतत् करोति ॥ ६ ॥

'उस जप में वह यह वाक्य बोलता है' **इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण** (यजुः १।१४) इन्द्र का दक्षिण बाहु, क्योंकि सबसे अधिक शक्तिशाली है इसलिए उसे इन्द्र का दक्षिण बाहु कहा गया है। **'सहभृष्टिः शततेजाः** (यजुः १। २४) यह भी इसलिए कहता है

क्योंकि इन्द्र के वज्र में सहस्रों ज्वालाएँ और सैंकड़ों प्रकार का पनापन है। बस इसे भी वही बनाता है।'

तात्पर्य यह कि जो परम तेजस्वी और अद्भुत तीव्र बुद्धि रखने वाले विद्वान् हों उन्हें ही परिवार में स्त्रियों की उन्नति तथा स्त्री-शिक्षा का काम देना चाहिए। और जो विद्वान् स्त्री-जाति जैसे राष्ट्र की परम निधि की रक्षा करते हैं, वे राजा के दाहिने हाथ हैं। राष्ट्र को परम योग्य विद्वानों को ही इस पद पर नियुक्त करना चाहिए और उन्हें सहस्रांशु सूर्य के समान तेजस्वी समझकर उनका पूरा आदर करना चाहिए। और वे ही वज्र की भाँति पाप के विध्वंस और स्त्री-जाति रूप निधि की रक्षा में समर्थ हैं॥ ६।

'वायुरसि तिग्मतेजा' (यजुः १।२४) इति। एतद्वै ते तेजिष्ठं तेजो यदयं योऽयम्पवत एष हीमांल्लोकांस्तिर्यङ्ङनुपवते सᳩ श्यत्येवैनमेतद् 'द्विषतो वध' (यजुः १। १४) इति यदि नाभिचरेद्यद्यु अभिचरेदमुष्य वध इति ब्रूयात्तेन सᳩ शितेन नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीम् ॥ ७ ॥

उसी जप में वाक्य पढ़ता है, 'वायुरसि तिग्मतेजा' (यजुः १। २०) सो इसका तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण को वायु के समान सदा गतिशील कर्मशील होना चाहिए। वायु भी वा+यु (वा गतिगन्धनयोः) है उसे भी वायु होना चाहिए। इसीलिए वह तीव्र तेज वाला होता है। यह जो वायु है यह जो पवन पवित्र करता है यह सब तेजों में तेजिष्ठ तेज है। यह इन लोकों में तिर्यङ् अर्थात् एक छोर से दूसरे छोर तक पवित्रता का विस्तार करता है। फिर जो 'द्विषतो वधः' (यजुः १। २४) कहना है यह भी ब्राह्मण के स्वरूप को, ब्राह्मण के अधिकार को पैना करता है। क्योंकि वही सच्चा शत्रुघाती है। क्योंकि वह शत्रु को न मारकर शत्रुता को मारता है। जो अभिचारार्थ अर्थात् किसी व्यक्ति विशेष के प्रति द्वेष से पौर्णमास न कर रहा हो वह 'द्विषतो वधः' ऐसा वाक्य बोले, किन्तु जो अभिचार करता हो तो वह शत्रु का नाम उच्चारण करे। किन्तु उस पैने वज्र से अपने आप को तथा पृथ्वी को स्पर्श न करे। अर्थात् व्यक्तिगत द्वेष में ब्राह्मणों तथा स्त्रियों को न पड़ना चाहिए, न डालना चाहिए। यदि किसी का किसी से द्वेष हो तो भी उसके वध करने पर भी उस कुल के ब्राह्मणों तथा स्त्रियों को आदर से ही देखे। (हां यदि वह शस्त्र ग्रहण करके लड़े तो दूसरी बात है) तथा उन्हें अपने पूज्य तथा पुत्री, माता आदि ही समझें। अपना आप ब्राह्मणों का उपलक्षण है, और पृथ्वी स्त्री जाति का॥ ७॥

अब यह दिखाते हैं कि स्त्री जाति की रक्षा तब तक अच्छी प्रकार नहीं हो सकती जब तक संन्यासी लोग यह बीड़ा न उठावें कि वे साधारण प्रजा में बड़े बल से इसका प्रचार करेंगे। क्योंकि केवल राजनियम अथवा राजाज्ञा से परिवार-सम्बन्धी सुधार कभी सफल नहीं हो सकते। यों तो अकेली राजाज्ञा कोई भी सुधार नहीं कर सकती। किन्तु पारिवारिक सुधार तो अकेली राजाज्ञा द्वारा असम्भव है। क्योंकि कोई मनुष्य परिवार में बाह्य-शक्ति का प्रवेश नहीं चाहता। यह बात यहाँ फिर ब्राह्मणकार ने अपनी शैली के अनुसार एक आख्यायिका द्वारा कही है। इसलिए यहाँ कई कण्डिकाओं की व्याख्या इकट्ठी करेंगे—

देवाश्च वाऽअसुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ते ह स्म यद्देवा असुरान् जयन्ति ततो ह स्मैवैनान् पुनरुपोत्तिष्ठन्ति॥ ८ ॥ ते ह देवा ऊचुः। जयामो वाऽअसु-

रांस्ततस्त्वेव नः पुनरुपोत्तिष्ठन्ति कथं न्वेनाननपजय्यं जयेमेति ॥ ९ ॥ स हाग्निरुवाच। उदञ्चो वै नः पलाय्यमुच्यन्तऽइत्युदञ्चो ह स्मैवैषां पलाय्यमुच्यन्ते ॥ १० ॥ स हाग्निरुवाच। अहमुत्तरतः पर्येष्याम्यथ यूयमित उपसꣳरोत्स्यथ तान्त्सꣳरुध्यैभिश्च लोकैरभिनिधास्यामो यदु चेमाँल्लोकानति चतुर्थं ततः पुनर्न सꣳहास्यन्तऽइति ॥ ११ ॥ सोऽग्निरुत्तरतः पर्यैत्। अथेमऽइत उपसमरुन्धंस्तान्त्सꣳरुध्यैभिश्च लोकैरभिन्यदधुर्यदु चेमाँल्लोकानति चतुर्थं ततः पुनर्न समजिहत तदेतन्निदानेन यत् स्तम्बयजुः ॥ १२ ॥ स य्ओऽसावग्नीरुत्तरतः पर्येति। अग्निरेवैष निदानेन तानध्वर्युरेवेत उपसꣳरुणद्धि तान्त्सꣳरुध्यैभिश्च लोकैरभिनिदधाति यदु चेमाँल्लोकानति चतुर्थं ततः पुनर्न सञ्जिहते तस्माद्प्येतर्ह्यसुरा न सञ्जिहते येन ह्येवैनान्देवा अत्राबाधन्त तेनैवैनानप्येतर्हि ब्राह्मणा यज्ञेऽवबाधन्ते ॥ १३ ॥

पहले कण्डिकाओं का अक्षरार्थ करके फिर उसकी व्याख्या लिखेंगे। कण्डिकाओं का अक्षरार्थ इस प्रकार है—

'प्रजापति की दोनों प्रकार की सन्तान अर्थात् देव और असुर परस्पर (विजय के लिए) होड़ लगाते थे। इस संघर्ष में ज्यों ही देव इन असुरों को जीतते थे वे फिर उनके सामने उठ खड़े होते थे ॥८॥ अन्त को वे देव बोले, 'देखो! हम इन असुरों को जीतते हैं, परन्तु यह किसी प्रकार वहीं से फिर हमारा सामना करने उठ खड़े होते हैं। अब हम कौन-सा उपाय करें कि इन्हें ऐसा जीतें कि यह हमें जीतने के लिए सिर न उठा सकें ॥९॥ तब वह अग्नि उनसे बोला, 'यह उत्तर की ओर भाग कर हम से बच जाते हैं।' बात भी यही थी कि वे उत्तर की ओर भागकर बच जाते थे ॥ १० ॥ तब वह अग्नि बोला, 'मैं उत्तर की ओर से घेरूँगा और तुम इधर से घेरा डालो, इस प्रकार उन्हें (असुरों को) घेर कर इन (तीन) लोकों की ओर से भी काबू कर लेंगे और इनसे परे जो चौथा है उधर से भी। फिर यह हमारे से किसी प्रकार न छूट पायेंगे' ॥ ११ ॥ सो वह अग्नि उत्तर की ओर से आया और यह (देवलोग) इधर से घेर बैठे। फिर उन्हें घेरकर इन लोकों से भी परे कर दिया और जो इनसे परे चौथा है उससे भी। उसके बाद फिर वह न छूट पाए। वही वास्तव में यह स्तम्बयजुः है ॥ १२ । सो यह जो अग्नीत् यज्ञशाला में स्तम्बयजुर्निर्हरण के लिए उत्तर की ओर से आता है वह मौलिकरूप में अग्नि ही है और अध्वर्यु ही (देवों का प्रतिनिधि हो कर) इन्हें इन लोकों की ओर से घेरा डालता है। उन्हें घेरा डाल कर इन लोकों से भी खदेड़ता है और जो इनसे परे चौथा है उससे भी। फिर (वे असुर) वहाँ से नहीं बच पाते हैं। बस इसी विधि से अब भी असुर नहीं बच पाते। जिस उपाय से देवों ने इन्हें अभिभूत किया, उसी से अब ब्राह्मण इन्हें यज्ञ में अभिभूत करते हैं॥१३॥

अब यदि हम यहाँ **'अग्नि'**, **'उत्तर दिशा'** तथा **'चतुर्थ लोक'** शब्द का अर्थ निश्चय कर पावें तो इस आख्यायिका का अर्थ निश्चय करना कुछ कठिन न होगा। अज्ञात शब्द के अर्थों का निर्णय करने के लिए हमें सदा ज्ञात शब्दार्थों का सहारा लेना पड़ता है। इसलिए हम यहाँ पहले 'मनुष्य' शब्द का अर्थ लेंगे। 'मनुष्य' शब्द शतपथ ब्राह्मण में सदा साधारण प्रजा (Masses) के अर्थ में प्रयोग होता है। **'सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्या'** आदि इस विषय के अनेक प्रमाण हैं, और इस वाक्य का अर्थ करते समय हम पहले इसका निर्णय भी कर आए हैं। अब यदि हम 'मनुष्याः' का अर्थ 'साधारण मनुष्य' मान लें तो **'उदञ्चः'** का अर्थ साधारण मनुष्यों के विचार हुआ। क्योंकि शतपथ

के इसी काण्ड में थोड़ी दूर आगे चल कर लिखा है **'उदीची हि मनुष्याणां दिक्'** (शत० १।२।३।१७) सो **'उदीची** का अर्थ हुआ कि साधारण मनुष्यों के विचारों के बहने की दिशा। तात्पर्य यह कि असुर लोग अथवा आसुर-भाव संसार में साधारण मनुष्यों पर अधिकार कर लेते हैं। फिर वह तब तक नहीं निकाले जा सकते जब तक उनके विरुद्ध साधारण प्रजा में आन्दोलन न किया जाय; परन्तु यह कार्य अन्य-देव अर्थात् राज्याधिकारी नहीं कर सकते, किन्तु अग्नि अर्थात् ब्राह्मण कर सकता है। क्योंकि वह देव होते हुए भी प्रजा में से एक है। इन्द्र, यम वरुणादि राज्याधिकारी यह कार्य नहीं कर सकते। अब यदि हम अग्नि का अर्थ ब्राह्मण सिद्ध कर दें तो फिर हमारे पास अग्नि, उदीची और मनुष्य तीन निश्चितार्थ शब्द हो जावेगे, और उनके सहारे शेष सारे प्रकरण की भी व्याख्या हो जायेगी। सो यह प्रमाण भी लीजिए—

अग्निर्ब्रह्म। श० ३। २। २। ७।

अग्निरेव ब्रह्म। श० १०।४।१। ५॥

ब्रह्म वा अग्निः। कौ० १। १। ५॥ १२। ८॥ श० २।५। ४८॥ ५। ३। ५। ३२॥ तै० ३। ९।१६। ३॥

ब्रह्म वा अग्नि: क्षत्रं सोमः। कौ० ९। ५।

शतपथ के इसी काण्ड में थोड़ी दूर आगे स्पष्ट कहा है—

अग्ने महाँ २॥ असि ब्राह्मण भारतेति। ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मणेति।
शत० १४।४।२॥

इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण अग्नि का अर्थ ब्राह्मण सिद्ध करने के लिए और क्या दिया जा सकता है?

चतुर्थ लोक की व्याख्या हम पहले कर आए हैं कि यह संन्यासाश्रम का नाम है। इसलिए अग्नि का उत्तर दिशा से चतुर्थ लोक-विजय का तात्पर्य इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि वह साधारण मनुष्यों की विचारधारा को पलट कर संन्यासाश्रम की ओर से असुरों को खदेड़ता है। अर्थात् ब्राह्मणों का और उनमें भी विशेष कर संन्यासी का धर्म है कि स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में साधारण प्रजा के विचारों में आसुर-भाव न आने दे। शेष तीन लोकों अर्थात् तीन आश्रमों में तो और भी रोकते रहेंगे, किन्तु साधारण-प्रजा के विचारों की ओर से तो ब्राह्मण ही निर्भय कर सकता है क्योंकि वहाँ उस की पहुँच है। और चतुर्थ लोक में भी उसी का काम है। क्योंकि संन्यासी होना ब्राह्मण का ही काम है। सो यज्ञ में जो अग्नीत् उत्तर दिशा की ओर से आता है इसमें ब्राह्मणकार इसी दृश्य को इस नाटक द्वारा दिखाते हैं। सो अब कण्डिकाओं का अर्थ इस प्रकार हुआ—

"संसार में भले-बुरे लोगों का संग्राम सदा चलता रहता है। परन्तु हैं दोनों प्रजापति प्रभु के पुत्र। परन्तु यदि देवलोग अपने देवपन के घमण्ड में, अपनी राज्य-शक्ति के भरोसे, साधारण प्रजा में प्रचार बन्द कर देते हैं तो असुर जो सदा इस अवसर की ताक में रहते हैं, साधारण प्रजा को जा घेरते हैं। परन्तु जब देव सोचते हैं कि इन्हें ऐसा वश में करो कि फिर सिर न उठावें॥ ९॥ तब उन्हें अग्नि अर्थात् ब्रह्मशक्ति की शरण लेनी पड़ती है जो उन असुरों को चौथे अर्थात् संन्यास आश्रम की ओर से भी घेरता है॥१०॥ और वह अग्नि अपना कार्य उत्तर दिशा में करता है। अर्थात् लोक-मत की धारा को पलट कर वश में लाता है जिससे फिर यह इन तीन लोक और चौथे

उस संन्यासाश्रम से खदेड़े हुए असुर फिर सिर नहीं उठा सकते। यही बात स्तम्बयजुः द्वारा उपदे . दी गई है। यही स्तम्बयजुः का निदान अर्थात् मूल है ॥१२॥ स्तम्बयजुः में जो उत्तर की ओर से अग्नीत् आता है वह वस्तुतः अग्नि है और शेष देवों का प्रतिनिधि अध्वर्यु है। वह इन असुरों को इधर से रोकता है जिससे वह इन तीनों लोक अर्थात् तीन आश्रमों और चौथे अग्नि अर्थात् ब्राह्मण के लोक संन्यासाश्रम से खदेड़े हुए असुर घिर कर कहीं बच कर नहीं भाग सकते। इसीलिए आज भी यज्ञ में ब्राह्मण लोग असुरों को बाँधते रहते हैं और उसी प्रकार बांधते हैं जैसे पहले देव-लोग बांधते थे ॥१३॥"

य उ एष यजमानायारातीयति। यश्चैनं द्वेष्टि तमेवैतदेभिश्च लोकैरभिनिदधाति यदु चेमांल्लोकानतिचतुर्थमस्या एव सर्वꣳ हरत्यस्याꣳ हीमे सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः किꣳ हि हरेद्यदन्तरिक्षꣳ हरामि दिवꣳ हरामीति हरेत्तदस्या एव सर्वꣳहरति ॥१४॥

"अब प्रश्न उठता है कि यह जो स्तम्बयजुर्हरण में वेदि-भूमि में से स्फ्य-प्रहार द्वारा मिट्टी लेकर फिर पृथ्वी पर ही उत्कर प्रदेश में रख देता है यह क्या बात है? तो उत्तर में कहता है कि द्यौः और अन्तरिक्ष का भी आधार तो यह पृथ्वी ही है। द्यौ से द्यौः लेकर द्यौः में कहाँ धरे अन्तरिक्ष से अन्तरिक्ष लेकर अन्तरिक्ष में कहाँ धरे?"

वास्तव में इस प्रश्न का अर्थ यह है कि पृथ्वी अर्थात् स्त्री-जाति की इतनी महिमा क्यों है? अग्नि को उसके दोष दूर करने की चिन्ता क्यों पड़ी है? इस का उत्तर यों है—

"जो कोई यजमान को अधिकार से वञ्चित करना चाहता है, जो इस से द्वेष करता है, अर्थात् जो दुष्ट-स्वभाव और दुष्ट लोग उसकी उन्नति में बाधक हुआ करते हैं, उनके आक्रमण को इन तीन आश्रमों की ओर से और इनसे परे जो चौथा है उस की ओर से परे हटाता है। इस स्त्री-जाति को विशेष-रूप से सारे दुष्ट आक्रमणों से बचाता है, क्योंकि इसका सारा आधार इस पर अर्थात् स्त्री-जाति पर है, सारे लोक अर्थात् आश्रम इसी के सहारे खड़े हैं। यदि यह न रहे तो द्यौः की रक्षा करता हूँ, अन्तरिक्ष की रक्षा करता हूँ ये सब बातें क्या अर्थ रख सकती हैं ॥१४॥"

अथ तृणमन्तर्धाय प्रहरति। नेदनेन वज्रेण सꣳशितेन पृथ्वीꣳ हिनसानीति तस्मात्तृणमन्तर्धाय प्रहरति ॥१५॥

पुरुषों को आवश्यक है कि उत्तम विद्वानों का घरों में अबाधित प्रवेश रक्खें जिससे राष्ट्र की सन्तानोत्पत्ति, सन्तान-पालनरूपसेवा में लगी हुई स्त्री-जाति ब्रह्मचर्यावस्था में उपलब्ध विद्या के आनन्द से गृहस्थाश्रम में आकर भी वंचित न रहे। जब राष्ट्र उन्हें सन्तान-पालन में लगाता है तो उसका धर्म है कि उनकी ज्ञानोन्नति की सामग्री उन के पास घर में पहुँचावे। सो प्रथम तो पति भी योग्यतर ही चुना जावेगा। किन्तु अपने कार्य में लगे रहने के कारण वह जो अपना पूरा समय पत्नी को नहीं दे सकता तो यह न्यूनता अग्नि अर्थात् विद्वान् पुरोहित द्वारा पूरी होनी चाहिए। वह यजमान-पत्नियों को पुत्रीवत् समझकर अपने सत्संग से उनकी ज्ञानवृद्धि करता रहे, किन्तु ब्राह्मण का कर्त्तव्य है कि वह अपने अधिकार के प्रयोग में अपने और यजमान-पत्नी के बीच एक तिनके के बराबर अर्थात् थोड़ा-सा नाम मात्र अन्तर भी

रक्खे। इस अधिकार की अति न होने दे। क्योंकि कभी-कभी पुरोहित लोग तथा विद्वान् लोग दूसरे के सिर में जल्दी ज्ञान ठूंसने के लालच से शिष्य के शरीरादि की भी हानि कर बैठते हैं। और कभी-कभी अतिपरिचय से पुरुषों के पतित होने का भी भय रहता है। किन्तु यह बात साधारण सी सार्कता से बच जाती है। क्योंकि वह जान-बूझकर क्रूरता या उच्छृङ्खलता तो करते नहीं। यही बात यहाँ स्फ्य के प्रहार के समय बीच में तृण का व्यवधान देकर बताई गई है। अब कण्डिका का अर्थ यह हुआ—

"फिर अध्वर्यु वेदि-भूमि में से दोषोपलक्षणभूत थोड़ी सी मिट्टी निकालते समय स्फ्य और पृथ्वी के, अर्थात् अपने अधिकार और यजमान-पत्नी के, बीच तिनके की ओट कर के प्रहार करता है। इस पैने वज्र से पृथ्वी अर्थात् यजमान-पत्नी की हिंसा न कर डालूं, इसलिए तिनके की ओट करके प्रहार करता है।"

इससे यह भी सूचित होता है कि विद्वान् पुरुषों को भी ऐसे अवसरों में पूर्ण एकान्त का सेवन न करना चाहिए, तृणमात्र भी अन्तर इस विषय में काफी है ॥१५॥

स प्रहरति। "पृथ्वी देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिᳬसिषम्।" (यजुः १।२५) इत्युत्तरमूलामिव वाऽएनामेतत्करोत्याददानस्तामेतदाहौषधीनां ते मूलानि मा हिᳬसिषमिति "व्रजं गच्छ गोष्ठानम्।" (यजुः १।२५) इत्यभिनिधास्यन्नेवैतदनपक्रमि कुरुते तद्वचनपक्रमि यद्व्रजेऽन्तऽस्तस्मादाह व्रजं गच्छ गोष्ठानमिति "वर्षतु ते द्यौरि" (यजुः १।२५) ति यत्र वाऽस्यै खनन्तः क्रूरीकुर्वन्त्यपघ्नन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः सन्दधाति तस्मादाह वर्षतु ते द्यौरिति "बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्या" (यजुः १।२५) मिति देवमेवैतत्सवितारमाहान्धे तमसि बधानेति यदाह परमस्यां पृथिव्यामिति "शतेन पाशै" (यजुः १।२५) रित्यमुचे तदाह 'योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौ" (यजुः १।२५) गिति यदि नाभिचरेद्य-द्युऽअभिचरेदमुतो मा मौगिति ब्रूयात् ॥१६॥

"वह प्रहार करता है उस समय वाक्य बोलता है "पृथ्वी देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिᳬसिषम्" (यजुः १।२५)। सो यह प्रहार द्वारा मट्टी उखाड़ते समय पृथ्वी को 'उत्तरमूलाम्" ऊपर की ओर आई हुई हैं अर्थात् बाहर निकल आई हैं, छिन्न हो गई हैं जड़ जिसकी ऐसा करता है। अर्थात् ब्राह्मण जब स्त्रियों के लिए व्रत नियमादि की मर्यादा बाँधते हैं तो उनकी ओष + धि (गर्मी का खजाना, उष दाहे) के, ओजस्विता के नष्ट होने का भय रह जाता है। भय है कि कहीं वह मर्यादा में बंधती दब्बू और उत्साहहीन न हो जावें। तो यही बात ब्राह्मण इस समय कहता है कि 'हे पृथिव्युपलक्षित यजमान-पत्नी! मैं तेरा सुधार ऐसे सुकुमार उपायों से करूँगा जिससे तेरी ओषधि अर्थात् उत्साह-शक्ति नियमित तो हो जाय परन्तु मूलोच्छेद न हो जाय।"

आगे कहता है, "व्रजङ्गच्छ गोष्ठानम्" (यजुः १।२५)। ब्राह्मण का कर्त्तव्य बड़ा कठिन है। क्षत्रिय तो डण्डे से शासन करता है। यहाँ शासन भी करना है और करना भी है स्त्री जाति पर, जहाँ डण्डा तो दूर कठोर भाषण भी दुःशक्य है। उन्हें उच्चकार्यों में लगाना है परन्तु लगाना भी है स्वेच्छापूर्वक सुकुमार और रोचक उपायों से। इसलिए कहता है—'**व्रजङ्गच्छ गोष्ठानम्**' हे पृथ्वी! तू जब दोष-युक्त हो तो **व्रजङ्गच्छ गोष्ठानम्**, गो शाला में, गो-समूह में, जा। गो शाला चारों ओर से घिरी होती है जहाँ से अपक्रमण नहीं हो सकता। इधर स्त्री को भी घेरना है। किन्तु उस बन्धन में बाँधकर जिसमें मनुष्य स्वयं बंधता है अर्थात् प्रेम के बन्धन में। इसलिए कहा कि तू

व्रज में जा अर्थात् वहां जहां तेरी स्वच्छन्दता में बाधा न हो, किन्तु वह गो अर्थात् वाणी का स्थान हो। तात्पर्य यह कि स्त्रियों के मनोविनोद के लिए ऐसे स्थान बनाना जहाँ वह सुकुमार उपायों से अपनी अन्य बहिनों के साथ बैठ कर गोष्ठी कर सकें, किन्तु हो वह गोस्थान अर्थात् यौगिक अर्थों में गो+ष्ठी=ज्ञान-चर्चा का स्थान। जिस प्रकार गौओं का बाड़ा खुलासा रखा जाता है और वहां अन्य गौएँ भी होती हैं। इसी प्रकार स्त्रियों को अपनी सखियों में खेलना और विनोदार्थ घर से बाहिर जाना अवश्य मिलना चाहिए, किन्तु जिस प्रकार गौवों के बाड़े के चारों ओर जंगला लगा रहता है इसी प्रकार उनके गोष्ठी भवनों के चारों ओर भी विद्वानों की ज्ञानचर्चा रूप जंगला अवश्य चाहिए।

आगे कहता है "**वर्षतु ते द्यौः**" (यजुः १।२५) इसका तात्पर्य यह कि जहाँ उसे स्फ्य द्वारा खोदते हैं वह एक प्रकार की हत्या है, एक प्रकार की क्रूरता है, सो जल शान्ति-रूप है, इस शान्ति-रूप जल से शान्त करता है। तात्पर्य यह है कि द्यौः अर्थात् पति (द्यौरहं पृथ्वी त्वम्) पत्नी पर ज्ञान और सुख की वर्षा करे और यदि उसका कोई व्यवहार स्फ्य प्रहार के योग्य हो अर्थात् कहीं उनका ज्ञान सम्बन्ध में कठोर मतभेद हो तो निर्णय का कार्य विद्वान् पुरोहितों को दे, किन्तु ज्ञान का काम डण्डे से कभी न ले। आगे कहता है—

"**बधान देव सवितः परमस्याᳪ पृथिव्यां शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्**"। (यजुः १।२५)

सो अध्वर्यु वहां प्रार्थना करता है कि "हे देव सवितः! जो हम से द्वेष करते हैं वा जिन्हें हम द्वेष करते हैं उन दुष्ट भाव वाले मनुष्यों का अर्थात् हमारे (मेरे नहीं) शत्रु दुष्ट मनुष्यों को आप सैकड़ों प्रकार के पाशों में बाँधकर अँधेरी कोठरी में डालें। अर्थात् बुराई हमसे दूर रहे, वह छूट कर हमारा नाश न करती फिरे। यदि अभिचार-यज्ञ न करे तो यह वाक्य बोले और यदि अभिचार-यज्ञ करना हो तो शत्रु का नाम लेकर कहे—

"**अमुमतो मा मौक्**" इस को यहाँ से छूटने न दे॥१६॥"

अब प्रथम प्रहरण में मूलोच्छेद की अर्थात् ब्राह्मणों के अधिकार के अतियोग की निन्दा करके अगली कण्डिका में अररु के नाम से उस शत्रु का वध बताते हैं जो स्त्री-जाति का ज्ञान-क्षेत्र में (Intellectualfied) में सबसे बड़ा शत्रु है। उसका नाम है चंचलता (Taciturnity)। स्त्रियाँ जहां आयेंगी (Emotions) के क्षेत्र में बड़ी दृढ़ संकल्पा होती हैं, जिसे एक बार अपना कह लें उसके प्रति परायणता की मूर्ति होती हैं, वहां ज्ञान-क्षेत्र में उनका स्वभाव सुकुमार तथा चंचल होता है। इसलिए कहा कि उनकी शिक्षा इस प्रकार होनी चाहिए कि गृहस्थाश्रम में जा कर वह प्रमाद तथा आलस्य-वश ज्ञान-सेवा न छोड़ दें। यह भय यद्यपि पुरुष स्नातकों में भी है परन्तु गृहस्थ प्रविष्ट स्त्रियों में इसकी सम्भावना अत्यधिक है। अतः उनकी शिक्षा के विशेष वर्णन में इसको स्थान मिला। कण्डिका इस प्रकार है—

अथ द्वितीयं प्रहरति। "अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यास" (यजुः १।२६) मित्यररुर्ह वै नामासुररक्षसमास तं देवा अस्या अपाघ्नत तथोऽएवैनमेतदेषोऽस्या अपहते 'व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याᳪ शतेन पाशैर्यो-ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तमतो मा मौगि" (यजुः १।२३) ति॥१७॥

कण्डिका में सब से मुख्य शब्द अररु है। इसका अर्थ हमने ज्ञान सम्बन्धी चंचलता (Intellectual Taciturnity) किया है। इसलिए पहले इसे उत्पन्न करके तब ही आगे चलेंगे। इस बात के निर्णय के लिए सब से पहले व्याकरण से सहायता लेनी उचित है। यह शब्द 'ऋ गतौ' धातु से अरु प्रत्यय करके बना है (अर्तेररुः उ० ४। ८०) वैदिक वाङ्मय का ज्ञान-पर्ययिभूत सब से मुख्य "ऋत" शब्द इसी धातु से बना है। दूसरा शब्द जो इस धातु से बना है वह ऋतु है (उ० १। ७२ अर्तेश्च तुः)। जो बात जानी गई, जो निश्चित हो चुकी, जो अटल नियम है, वही ऋ+त इस शब्द से बोला जाता है। इसी प्रकार इस संसार में जो घटना-योग बार-बार नियत समय पर नियत-रूप से, आता है वह ऋतु कहलाता है। स्त्रियों का मासिक स्राव भी इसीलिए ऋतु-स्राव कहलाता है। किन्तु जो ऋ+त अर्थात् निश्चित नहीं है किन्तु चंचल है; बार-बार हिलता है "अतिशयेन पुनः पुनर्वा चलति" वही 'अररु' है। क्योंकि इस कडिण्का में इसे असुर कहा गया है, क्योंकि मूल मन्त्र में इसके वध की कामना है अतः हमने इसे चंचलता रूप दोष कहा है। इस प्रकार हमने अररु का अर्थ ज्ञान क्षेत्र की चंचलता सिद्ध कर दिया। अब कण्डिका का अर्थ सुगम है कण्डिका का अर्थ इस प्रकार है—

"फिर द्वितीय वार स्फ्य का प्रहार करता है। उस समय वाक्य पढ़ता है **"अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासम्"** (यजुः १।२६) अर्थात् इस पृथ्वी में जहाँ-जहाँ देवों का यज्ञ-स्थान है, अथवा इस पृथ्वी अर्थात् स्त्री का जहाँ-जहाँ विद्वज्जन-समुदाय में बैठकर ज्ञान-संगम का स्थान है, वहाँ से अररु को मार भगाऊँ। सो यह अररु इस नाम वाला असुर राक्षस था उसे देवों ने इस पृथ्वी से (स्त्री जाति से) मार भगाया। बस, वही बात यहाँ यज्ञशाला की स्त्री जात्युपलक्षण-भूत पृथ्वी में स्फ्य का दूसरी वार प्रहार करते समय उसी प्रकार अभिनय द्वारा दिखाई जाती है। शेष **"व्रजङ्गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्"** (यजुः १।२६) इस वाक्य का भाव वही है जो सोलहवीं कण्डिका में कह आए हैं ॥१०॥

अब उत्कर-देश में रखे हुए पुरीष को (स्फ्य से निकली हुई मट्टी को) दोनों हाथों से ढांपता है। उस क्रिया का वर्णन अगली कण्डिका में है—

तमग्नीदभिनिदधाति। "अररो दिवं मा पप्त" (यजुः १।२६) इति यत्र वै देवा अररुमसुररक्षसमपाघ्नत स दिवमपिपतिषत्तमग्निरभि न्यदधादररो दिवं मा पप्त इति स न दिवमपप्तत्तथोऽएवैनमेतदध्वर्युरेवास्माल्लोकादन्तरेति दिवोऽध्यग्नीत्तस्मादेवं करोति ॥१८॥

फिर उस उत्करस्थ मृत्पिण्ड पर अग्नीत् अपने दोनों हाथ रखता है। उस समय वाक्य बोलता है **"अररो दिवं मा पप्तः"** (यजुः १।२६) अर्थात् हे अररो! तू द्योः तक मत पहुँचे। सो जब देवों ने अररु नाम के असुर राक्षस को घेरा तो उसने चाहा कि मैं द्यौः की ओर जा उड़ूं, परन्तु अग्नि ने उसे दबोच लिया। उसने कहा अररो! द्यौः की ओर मत जा। तब वह द्यौः की ओर न उड़ा। सो उसी प्रकार यहाँ यह अध्वर्यु ही उस अररु को इस लोक से दूर हटाता है, और अग्नीत् द्यौः लोक से दूर हटता है।"

तात्पर्य यह कि बहुत से मनुष्य गृहस्थाश्रम में कार्याधिक्यादि के वश अपनी चंचलता को दबाए रहते हैं, और मन में यह संकल्प करते रहते हैं कि अच्छा वृद्धा-

वस्था में जब पुत्र-पौत्र कमाएंगे तो हम मौज उड़ाएँगे। ऐसे लोगों को उपदेश किया कि मनुष्य को अपने-अपने आश्रम का धर्म पालना चाहिए। यह नहीं कि यौवन में अप्राप्त भोगों की कसर वृद्धावस्था में निकालें। वानप्रस्थ तो और भी अधिक ज्ञान-सेवा का आश्रम है।

इसलिए कहा "अररो दिवं मा पप्तः" अध्वर्यु गृहस्थाश्रम के पुरोहित का प्रतिनिधि है और अग्नीत् वानप्रस्थ काल के गुरु का, जिसके सत्संग में वानप्रस्थ-काल बिताना है। इसलिए उसका यहाँ वर्णन किया। सो स्त्रियों को चाहिए कि वानप्रस्थ-काल में पुत्र-पौत्रादि के मोह में न पड़कर ज्ञान-सेवा में लगें। यद्यपि यह उपदेश स्त्री पुरुष सबके लिए समान है, परन्तु स्त्री-शिक्षा का प्रसंग होने और मोह-मूलक चंचलता स्त्रियों में विशेष होने से उन्हें विशेष उपदेश दिया गया है ॥१८॥

अथ तृतीयं प्रहरति। "द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन्नि" (यजु: १।२६) त्ययं वाऽअस्यै द्रप्सो यमस्या इमꣳ रसं प्रजा उपजीवन्त्येष ते दिवं मा पप्तदित्येवैतदाह, "व्रजं गच्छ गो०—मौगि" (यजु० १।२६) इति ॥१९॥

"फिर तृतीय बार स्फ्य का प्रहार करता है। उस समय वाक्य पढ़ता है "द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन्" (यजु: १।२६) सो इसका द्रप्सः यही है जिस रस का उपयोग करके प्रजा जीती हैं। यह तेरा रस द्यौः तक न पहुँचे, यही यहाँ कहा है। शेष "व्रजङ्गच्छ" आदि की व्याख्या पूर्व्ववत्।"

तात्पर्य यह है कि स्त्री जाति को चाहिए कि गृहस्थाश्रम में आवश्यक कामोपासना को वानप्रस्थ में पहुंचने से पूर्व ही बन्द कर दे। क्योंकि यदि स्त्रियें सहायता न दें तो अकेले पुरुष वानप्रस्थ में पूर्ण जितेन्द्रियता नहीं प्राप्त कर सकते। काम बुरी वस्तु नहीं, वह तो देवता है। किन्तु गृहस्थाश्रम का, अन्तरिक्ष का देवता है, वानप्रस्थ का; द्यौः का, देवता वह नहीं। वहाँ पहुँचकर वह असमय की रागिणी है। स्त्रियों को जानना चाहिए कि वानप्रस्थ में प्रवेश और ज्ञान-वृद्धि का अधिकार उनका भी उतना ही है जितना पुरुषों का। इसलिए वह वानप्रस्थ काल में पुरुषों को सन्तानोत्पत्ति से निषेध करने का अधिकार रखती हैं। वही रस जो गृहस्थ में उपजीव्य था अब घातक है यही यहाँ वर्णन है।।१९।।

अब यह प्रहरण तीन वार क्यों इसका वर्णन करते हैं—

स वै त्रिर्यजुषा हरति। त्रयो वाऽइमे लोका एभिरेवैनमेतल्लोकैरभिनिदधात्यद्धा वै तद्यदि मे लोका अद्धो तद्यजुस्तस्मात्त्रिर्यजुषा हरति ॥२०॥

"सो यह स्तम्ब यजुर्हरण तीन वार यजुर्वाक्य बोल कर करता है। सो इसका कारण यह है कि यह लोक तीन हैं। सो तीन मन्त्रों से ही इस पुरीष का अभिनिधान करता है। जैसे पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौः तीन लोक स्पष्ट हैं, ऐसे ही यजुः भी स्पष्ट बोला जाता है।"

तात्पर्य यह कि प्रथम तीन आश्रम प्रथम तीन लोकों की भाँति स्पष्ट दीखते हैं। उनके नियम, उनके ऋतु-परिवर्तनादि भी स्पष्ट हैं। चतुर्थ लोक अस्पष्ट है इसीलिए तदुपलक्षित संन्यास आश्रम भी अस्पष्ट है। एक तो वह सबके लिए आवश्यक नहीं, दूसरे उसमें अग्निहोत्रादि बन्धन भी नहीं। वह व्योम के समान अबाधित, अगम्य और ऊंचा है। इसीलिए तीन वार मन्त्र बोलकर हरण करता है।।२०।।

किन्तु चौथी वार—

तूष्णीं चतुर्थम्। स यदिमांल्लोकानतिचतुर्थमस्ति वा न वा तेनैवैतद्द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधतेऽनद्धा वै तद्यदिमांल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वानद्धो तद्यत्तूष्णीं तस्मात् तूष्णीं चतुर्थम्॥२१॥

"चौथी बार चुपचाप हरण करता है। सो यह इन तीनों लोकों से परे जो चौथा लोक है वह ऐसा अस्पष्ट है कि इसे है भी कह सकते हैं और नहीं है भी कह सकते हैं। किन्तु यह बड़ा प्रबल लोक है। सो इसी के द्वारा सकल लोक के शत्रु हमारे भ्रातृपुत्रों का यथार्थ बाधन अर्थात् सुधार हो सकता है। परन्तु है यह अनद्धा (अस्पष्ट) यह जो इन तीनों लोकों से परे चौथा लोक है। चुप रहना भी अस्पष्ट है इसलिए चौथा लोक है। चुप रहना भी अस्पष्ट है इसलिए चौथा हरण चुपचाप किया जाता है।"

तात्पर्य यह कि चतुर्थाश्रम मौन की भांति गम्भीर, सत्यपूर्ण उन्नत करने वाला तथा बन्धन रहित है। वाणी पर बन्धन लगें मौन पर क्या बन्धन ? इससे स्त्रियों का संन्यास का अधिकार स्पष्ट होता है।

॥ इति द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

अथ द्वितीयाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम् ।

अब स्त्री जाति आलस्य-वश सन्तानोत्पत्ति से न भागे इसलिए उनके गर्भाशय की महिमा वामनावतार की कथा द्वारा बताते हैं। उसे कहते हैं कि "हे माता ! यदि तुम भोग में आसक्त होकर गर्भस्थापन न होने दो तो कुछ दिन आनन्द लेकर वृद्धावस्था में पुत्रसेवा से भी वञ्चित रहोगी और उत्तम पुत्र द्वारा राष्ट्र-सेवा के गौरव से भी वंचित रहोगी। तुम्हारी अवस्था ठीक उन्हीं अदूरदर्शी लोगों के समान होगी जो अपने स्वार्थवश राष्ट्रहित न देखकर अपना-अपना राग अलापते हैं. परन्तु पीछे से राष्ट्र के परास्त होने पर उनका अपना हित भी नष्ट हो जाता है। दूसरी ओर, यदि तुम धैर्यपूर्वक पति के दिये हुए राष्ट्र-हितकारी वीर्यबिन्दु की रक्षा करोगी तो वह पहले वामन होकर भी धीरे-धीरे बढ़ता हुआ कालान्तर में पुत्र वा पुत्री होकर तुम्हारे लिए ऐसे ही हितकारी होगा जैसे स्वार्थ-रहित अपने संगठन के हितार्थ सर्वस्व वारने वाले मुट्ठीभर लोगों का वामनसंगठन स्वार्थपरायण बड़े-बड़े विशालकाय असुरों को परास्त कर देता है।"

इस प्रकार गर्भाशय में वामन वीर्यबिन्दु से पुरुष रूप तक पहुँचने वाले वामनावतार की राष्ट्र में धैर्यपूर्वक धीरे-धीरे बढ़ने वाले संगठन से उपमा दी है। इसमें जहाँ स्त्री-जाति को राष्ट्र-हितार्थ माता बनने की ओर प्रेरणा की गई है, वहाँ राष्ट्र-संगठन करने वालों को भी इस व्याज से धैर्य का उपदेश दिया गया है कि उतावले होकर प्रथम दिन ही सफलता की आशा मत करो। धैर्यपूर्वक संगठन को ऐसे बढ़ाओ जैसे माता गर्भ को। उतावले होकर फल की आशा करना ऐसा ही है जैसे माता का १० मास से पूर्व प्रसूति प्रथम तो होगी ही नहीं और यदि होगी भी तो दुर्बल और अल्पायु।

इस प्रकार निःस्वार्थ भाव तथा धैर्य से छोटे से सगठन को चाहे वह राष्ट्र में हो वा गर्भाशय में शनैः-शनैः वामन से विराट् बनाने का उपदेश करने के लिए एक आलङ्कारिक गाथा लिखते हैं—

देवाश्च वाऽअसुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे, ततो देवा अनुव्यमिवासुरथ हासुरा मेनिरेऽस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति ॥१॥ ते होचुः हन्तेमां पृथिवीं विभजामहै तां विभज्योपजीवामेति तामौक्षणैश्चर्मभिः पश्चात्प्राञ्चो विभजमाना अभीयुः ॥२॥ तद्वै देवाः शुश्रुवुः। विभजन्ते ह वाऽइमामसुराः पृथिवीं प्रेत तदेष्यामो यत्रेमामसुरा विभजन्ते के ततः स्याम यदस्यै न भजेमहीति ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः ॥३॥ ते होचुः। अनु नोऽस्यां पृथिव्यामा भजतास्त्वेव नोऽप्यस्यां भाग इति ते हासुरा असूयन्त इवोचुर्यावदेवैष विष्णुरभिशेते तावद्वो दद्म इति ॥४॥ वामनो ह विष्णुरास। तद्देवा न जिहीडिरे महद्वै नोऽदुर्ये नो यज्ञसम्मितमदुरिति ॥५॥ ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य। छन्दोभिर-

भितः पर्यगृह्णन् "गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामी" (यजुः १।२७) ति दक्षिणत "स्त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामी" (यजु० १।२७) ति पश्चा "ज्जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामी (यजु० १ । २७) त्युत्तरतः ॥६॥ तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य। अग्निं पुरस्तात् समाधाय तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तेनेमाꣳ सर्वाꣳ पृथिवीꣳ समविन्दन्त तद्यदेनेनेमाꣳ सर्वाꣳ पृथिवीꣳ समविन्दन्त तस्माद्वेदिर्नाम तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवीत्येतया हीमाꣳ सर्वाꣳ समविन्दन्तैवꣳ ह वाऽइमाꣳ सर्वाꣳ सपत्नानाꣳ संवृक्ते निर्भजत्यस्यै सपत्नान्य एवमेतद्वेद ॥७॥

"देव और असुर ये दोनों प्रजापति की सन्तानें आपस में स्पर्द्धा करने लगीं। उधर देव हारे हुए से बैठे थे। इधर असुरों ने समझा चलो सब दुनिया अपनी ही है ॥१॥ वे बोले आओ सब धरती बांट डालें और बाँट के मौज उड़ाएं। (नापने के लिए) बैल के चमड़े लेकर उसको पूर्व पश्चिम बाँटना आरम्भ कर दिया ॥२॥ यह बात देवताओं ने भी सुनी। असुर लोग सब धरती बाँट डाल रहे हैं। चलो वहीं पहुँचेंगे जहां असुर बाँट रहे हैं। भला हम किस गिनती में होंगे यदि हम कोई हिस्सा न लेंगे। वह यज्ञ-रूप विष्णु को आगे रखकर जा पहुँचे ॥३॥ वहाँ पहुँचकर बोले कुछ इस पृथ्वी में हमारा भी हिस्सा निकाल दो। आखिर कुछ हमारा भी तो हिस्सा होना चाहिए। इस पर असुर कुछ जलते हुए से बोले जितने में विष्णु लेट जाय उतनी तुमको दे देंगे ॥४। विष्णु तो बिलकुल बौना था। पर देवता बिलकुल न घबराए, बोले, यज्ञ के नाप की धरती दे दी बस बहुत दे दी ॥५॥ उन्होंने विष्णु को आगे रखकर चारों ओर से छन्दों से घेर लिया। "गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि" (यजुः १।२७) यह कह कर दक्षिण की ओर से, "त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि" (यजुः १।२७) यह कह कर पीछे की ओर से, "जागतेन त्वा छन्दसा परि गृह्णामि" (यजुः १।२७) यह कह कर उत्तर की ओर से ॥६॥ इस प्रकार उसे छन्दों से घेर कर सामने की ओर से अग्न्याधान कर के अर्चन करते हुए तथा श्रम करते हुए विश्व में विचरने लगे। इससे इस सारी पृथ्वी को पा गए। सो क्योंकि इस अग्नि से उन्होंने सारी पृथ्वी पा ली इसलिए अग्नि-कुण्ड का नाम वेदि है। इसीलिए कहते हैं कि जितनी वेदि है उतनी पृथ्वी है। इस वेदि से ही इस सारी धरती को प्राप्त किया। इसी प्रकार वह सम्पूर्ण गिराने वालों की धरती को पा लेता है और यह वेदि उसके गिराने वालों को भागहीन कर देती है ॥७॥

यही वह कथा है जिसको आधार मानकर पौराणिक वामनावतार की कथा की कल्पना की गई है। किन्तु इस कथा में तथा पौराणिक कथा में भेद भी अतिस्पष्ट हैं।

परन्तु इस कथा का अर्थ समझने के लिए दोनों कथाओं के भेद से पहले समानता को लेना चाहिए। ब्राह्मण की तथा पुराण की कथा में ४ समानताएं हैं—

(१) विष्णु का देवों के आगे चलना।
(२) वामनरूप।
(३) वामनरूप का विष्णु से सम्बन्ध।
(४) वामन के द्वारा देवों का पृथ्वी-लाभ।

दोनों कथाओं में जहां यह चार समानताएँ हैं वहीं निम्नलिखित मौलिक भेद भी हैं—

ब्राह्मण	पुराण
(१) विष्णु नाम यज्ञ अर्थात् संगठन का है।	(१) एक क्षीर-सागर में सोने वाले चतुर्भुज कल्पित व्यक्ति-विशेष का नाम विष्णु है।
(२) बलिराजा का तथा उसके यज्ञ का कोई वर्णन नहीं।	(२) बलि को छलने के निमित्त विष्णु का वामनपना वर्णित है।
(३) ब्राह्मण का विष्णु कुछ नहीं करता केवल देवता उसे पुरस्कृत्य (आगे धर के अर्थात् उद्देश्य बना कर) खूब ईश्वराराधन और पुरुषार्थ करते हैं—"अर्चन्तः श्रम्यन्ताश्चेरुः।"	(३) पुराण के देवता कुछ नहीं करते। वह तो केवल विष्णु की स्तुति करते हैं। कार्य सारा विष्णु करता है। पुराण के देवता केवल "अर्चन्तः" हैं। 'श्राम्यन्तः' नहीं, यह काम विष्णु का है।
(४) विष्णु का छन्दों द्वारा घिरा होना वर्णित है।	(४) छन्दों का कोई वर्णन नहीं।
(५) ब्राह्मण के देवों ने अग्न्याधान किया है (अग्निम् पुरस्तात् समाधाय)।	(५) पुराण में अग्नि समाधान का कोई वर्णन नहीं।

इस प्रकार दोनों कथाओं की समानता तथा भेद दिखाकर अब देव और असुर का निर्णय करना चाहते हैं। दोनों का भेद स्पष्ट है। असुर वे लोग हैं जो अपने स्वार्थ को सामने रखकर चलते हैं। वे "हमारी" की भावना से नहीं चलते किन्तु "मेरी' की भावना से प्रेरित होकर कार्य करते हैं, इतने चमड़े धरती मेरी, इतने चमड़े धरती मेरी। इस आसुरी भावना का वर्णन भगवद्गीता में किया गया है—

> इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
> इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ गीता १६।१३

इसका फल होता है कि बड़े-बड़े विराट् साम्राज्य वामन हो जाते हैं। बस, इससे उलटी भावना का नाम दैवी भावना, वैष्णवी भावना, अथवा यज्ञ-भावना है। जो अपने स्वार्थ को नहीं, किन्तु संगठन को सामने रखकर चलते हैं (यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः) उनके वामन संगठन विराट् साम्राज्य का रूप धारण कर लेते हैं।

इस समय भारत के इतिहास के कुछ पृष्ठ आँखों के आगे घूम रहे हैं। चारों ओर सिक्ख, मुसलमान, राजपूत, मरहठे अपने स्वार्थ की डफली बजा रहे हैं। ऐसे समय बादशाह फर्रुखसियर की लड़की बीमार होती है। देवों (अंग्रेजों) का एक वैद्य उसकी चिकित्सा करता है। लड़की नीरोग हो जाती है। वह कहता है कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। मेरी जाति को व्यापार करने के निमित्त सूरत में एक छोटी-सी कोठी बना लेने दीजिये। यह है **'यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः'** का वास्तविक भाष्य। बस फिर वह वामन विष्णु अपने पैर फैलाने आरम्भ करता है और भारत के इस विराट् साम्राज्य का रूप धारण कर लेता है। बस असुर वे हैं जो धरती बाँटते हैं। देव वे हैं जो अपना बांटा हुआ भाग संगठन के अर्पण करके इकट्ठा करते हैं। असुर लोग "विभ-

ज्योपजीवाम" हैं। देव "विष्णुं पुरस्कृत्य अग्नि समाधाय अर्चन्तः श्राम्यन्तः" विचरने वाले हैं।

हर एक देव के हृदय में संगठन के लिए सब-कुछ स्वाहा करके उसे उन्नत करने की जो प्रबल आग जल रही है उसी का वर्णन यहाँ "अग्नि पुरस्तात् समाधाय" इन शब्दों में किया गया है।

अब देखना चाहिए कि, छन्द क्या हैं। गद्य और पद्य में भेद देख लीजिये और आप स्वयं समझ जावेंगे। गद्य में कोई नियम, कोई मर्यादा नहीं। इनके विपरीत पद्य की एक-एक मात्रा नपी-तुली है। बस यह मर्यादा (Discipline) ही गद्य और पद्य में, साधारण भाषा में और छन्द में भेद है। संगठन की उन्नति के लिए एक समान उद्देश्य (विष्णु) का सामने होना तथा उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हृदयों में प्रबल अग्नि का होना यह दो बातें ही पर्याप्त नहीं। विजय की प्रबल अभिलाषा ही नैपोलियन को विजय नहीं दिला सकती। उसके लिए अपेक्षित हैं छन्द (Discipline) तीव्र नाप में नपे हुए छन्द।

आजकल संसार में केवल योद्धा लोग ही छन्दोबद्ध हैं। छन्दोबन्ध अर्थात् Dicsipline केवल सैनिक विभाग तक ही सीमित कर दिया गया है। किन्तु वैदिक मर्यादानुसार ब्राह्मण तथा वैश्यों को भी ऐसा ही छन्दोबन्ध होना चाहिए। उनकी Regiment (संघ) होना चाहिये और उनका भी वैसा ही कड़ा Code of honour (आचरण-पद्धति) होना चाहिए। इसीलिए कहा गया कि विष्णु द्वारा धरती का वेदन (लाभ) करने के लिए देवों ने विष्णु को "छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन्" चारों ओर से छन्दों से घेर लिया। बस इसी से उन्हें धरती का वेदन अर्थात् लाभ हुआ। अतएव यज्ञ-कुण्ड को वेदि कहते हैं। उसकी रचना भी ऐसी है। नीचे से वामन (स्वाल्पाकार) ऊपर को विराट् (वृहदाकार)।

अब जिन छन्दों से देवों ने विष्णु को घेरा, वे क्या हैं, सो स्वयं शतपथ के ही शब्दों में सुनिये—

ब्रह्म गायत्री। श० १।३।५।४।

ब्रह्म गायत्री क्षत्रं त्रिष्टुप्। श० १। ३। ५। ५।

अब जगती का प्रमाण लीजिये—

जागतो वै वैश्यः। ऐ० १ २८।

जगतीछन्दो वै वैश्यः। तै० १।१।६।७

इस प्रकार कण्डिकाओं में आये हुए देव, असुर, विष्णु, तथा गायत्री, त्रिष्टुप, जगती छन्द इन शब्दों के अर्थ का निर्णय करते हुए कण्डिकाओं का अर्थ करते हैं—

"देव और असुर ये दोनों प्रजापति की सन्तान हैं। इनकी स्पर्धा सदा बनी रहती है। देव सदा नम्र रहते हैं और असुर समझते हैं कि यह सब धरती हमारी ही है ॥१॥ जब-जब असुर बढ़े, उन्होंने धरती को बैल के चमड़े बिछाकर (अथवा अन्य नाप से) आगे-पीछे नापना आरम्भ कर दिया कि आओ, इसे बाँट कर खूब मौज करें ॥२॥ देवों ने भी इसका समाचार पाया कि असुर सारी धरती बाँट रहे हैं। हम न पहुँचेंगे तो हम किस गिनती में रह जायेंगे। उन्होंने (जिस प्रकार असुरों ने स्वार्थ को सामने रक्खा था उससे उलट) संगठन को अपने सामने रखा और वे भी पहुँचे ॥३॥ वे बोले हमें भी इस धरती में थोड़ा भाग दे दो। हमारा भी तो इसमें कोई भाग होना

चाहिए। इस पर असुर जलते हुए से बोले, विष्णु लेट जाय, जितने में यह लेट जाय उतने नाप की धरती दे देंगे ॥४॥ विष्णु तो बौने थे। परन्तु देव इससे बिलकुल न घबराये। वे बोले, संगठन के नाप की धरती मिल गई तो बड़ी मिल गई ॥५॥ उन्होंने विष्णु को सामने रखकर चारों ओर से छन्द अर्थात् मर्यादा से घेर लिया। गायत्री छन्द अर्थात् ब्राह्मण मर्यादा से तुझे घेरता हूँ **"गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि"** (यजु० १।२७) यह कहकर दाहिनी ओर से, त्रैष्टुप् छन्द अर्थात् क्षात्र मर्यादा से घेरता हूँ **"त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि"** (यजु० १। २७) यह कहकर पीछे की ओर से, और जगती छन्द अर्थात् वैश्य-मर्यादा से घेरता हूँ **"जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि"** (यजु० १। २७) यह कहकर बाईं ओर से ॥६॥ इस प्रकार संगठन को चारों ओर से मर्यादा से घेरकर सामने अग्नि अर्थात् राष्ट्र के संकल्प को स्थापित करके प्रभु-भजन और पुरुषार्थ के समन्वय से युक्त जीवन व्यतीत करते हुए विचरने लगे। इससे उन्हें सारी पृथ्वी का लाभ हुआ। क्योंकि इससे सारी पृथ्वी का वेदन अर्थात् लाभ हुआ इसीलिये इसका नाम वेदि है। इसीलिए तो कहते हैं जितनी वेदि उतनी धरती। इसी से यह सारी धरती पाई गई। और जो अब भी इसके मर्म को जान लेता है वह अपने गिराने वालों की सारी धरती पा जाता है और उन्हें भागरहित कर देता है ॥७॥"

इसीलिए वेदि अर्थात् कुण्ड नीचे से वामन और ऊपर की ओर चौड़ा होता है।

विष्णु का अर्थ यज्ञ अर्थात् संगठन मान लेने से केवल पौराणिक वामनावतार पर ही प्रकाश नहीं पड़ता, पुराण के शंख-चक्र गदा-पद्मधारी रूप पर भी प्रकाश पड़ता है। इस की व्याख्या स्वलिखित ब्रह्म-यज्ञ नामक ग्रन्थ से यहाँ उद्धृत करते हैं—

"पुराण का विष्णु शंख, चक्र, गदा और पद्मधारी है। मर्म की बात यह है कि यहाँ अलंकार से संगठन का स्वरूप दिखाया गया है। वह संगठन संसार में सफल होता है जिसके पास 'शंख' अर्थात् अपनी आवाज को संसार में अधिक से अधिक मनुष्यों तक पहुँचाने के साधन समाचार-पत्र, व्याख्यानदाता, उपदेशक आदि अधिक हों। दूसरे जिसके पास 'चक्र' अर्थात् बैलगाड़ी, घोड़ा-गाड़ी, रेलगाड़ी, मोटर, व्योमयानादि चक्र अधिक हों। तीसरे 'गदा' अर्थात् शत्रुओं के ताड़न का दण्ड अर्थात् युद्ध सामग्री अधिक हों। चौथे 'पद्म' अर्थात् लक्ष्मी का निवासस्थान, फलतः कोष अधिक हो। इन चार के बल पर संगठन चलता है। साथ ही वह संगठन 'लक्ष्मीपति' हो अर्थात् धनवानों को दबाकर रखता हो। लक्ष्मी निवास क्षीरसागर में करती है। आज तो क्षीर-सागर के स्थान पर रुधिर-सागर, सुरा-सागर चाय-सागर, काफी-सागर का राज्य है, लक्ष्मी कहां रहे? विष्णु शेषशायी हैं। किसी भी संगठन के आय और व्यय की तुलना कर लो, जिसमें कुछ शेष रहे वही संगठन जीता रहता है। हमारा शरीर एक छोटा-सा विष्णु हैं। मुख इसका शंख है, भुजाएँ गदा हैं, रुधिर का चक्र इसमें चक्र है और उदर में कोष का संचय होता है अतः वह पद्म है। किन्तु जब इसमें शक्ति की आय से व्यय अधिक हो जाय उसी क्षण मृत्यु हो जाती है।

"विजिगीषा (Ambition) गरुड है। उसी पर चढ़कर संगठन विजय-यात्रा के लिए निकलता है। किन्तु विजय-यात्रा के लिए निकलते ही शेष (Surplus) खाली होने लगता है। इसलिए त्रैलोक्यनाथ वही है जिस के राज्य में वह दोनों वैरी सर्प

और गरुड, शेष और विजिगीषा, Surplus और Ambition, वैर छोड़कर प्रेमपूर्वक रहें। शेष को सर्प इसलिए कहा क्योंकि वह रेंग-रेंगकर बड़े यन्त्र से संचित होता है।

"इस प्रकार इन आलंकारिक बातों को देवता-विशेष बनाकर पौराणिकों ने न जाने कितने गपोड़े पुराणों में भर दिये हैं। परन्तु वस्तुतः 'विष्णु-शक्ति' नाम परमात्मा की 'संगठन-शक्ति' का है।"

यही मर्म अन्य वैष्णव अवतारों का भी है। परशुराम भी वैष्णव अवतार इसी लिए कहलाते हैं कि उन्होंने स्वार्थ के लिए युद्ध नहीं किया। क्षत्रियों से राज्य लेकर फिर उन्हें ही दे दिया। महाराज रामचन्द्र भी इसीलिए वैष्णव अवतार कहलाए। उन्होंने रावण की लंका छीनकर विभीषण को दे दी। और पिता का राज्य भी १४ वर्ष तक छोड रखा। महाराज कृष्णचन्द्र ने भी कभी राज्य की आकांक्षा नहीं की। नहीं तो वे जैसे राजनीतिज्ञ थे चाहते तो स्वयं राजा बन जाते। किन्तु ऐसा न करके कंस का राज्य नाना को देकर सान्दीपनि आचार्य के घर विद्या पढ़ने गए। और युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में विद्वानों के चरण-धुलाने का कार्य करते रहे। महात्मा बुद्ध का जीवन भी निःस्वार्थता का नमूना है। इससे स्पष्ट है कि वैष्णव का अर्थ है स्वार्थ को छोड़कर संगठन के लिए अपने आप को बलिदान कर देने वाला। जब से इस वैदिक तत्त्व को भुलाकर, माथे पर विशेष प्रकार का तिलक लगाकर, छुआ-छूत के वशीभूत होकर, संगठन का सर्वनाश करने वाले विष्णु द्रोही वैष्णव कहलाने लगे तभी से यह देश रसातल को गया। भगवान् अब भी इन वैष्णवाभासों को सुबुद्धि दें और यह सच्चे वैदिक वैष्णव धर्म का मर्म समझें।

अब अगली कण्डिका में एक प्रसंग का वर्णन है जिसका पूर्व प्रसंग से विरोध प्रतीत होता है। पहले कह आए हैं कि **"पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्"** (ब्रा० २, क० १६) अर्थात् "हे देवयजनि पृथिवी! तेरा मूल उच्छिन्न न करूँ।" अब यहाँ विष्णु द्वारा वेदि में मूलोच्छेद का वर्णन है। सो इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम मूलोच्छेद-निषेध-प्रकरण में यह वर्णन किया गया है कि स्त्रियों की शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे उनकी प्रजनन-शक्ति नष्ट न हो। अब यह वामन विष्णु स्त्री-जाति के प्रकरण में गर्भ है जो एक विन्दु-द्वय संयोग से धीरे-धीरे बढ़कर विराट् हो जाता है। यह हम पहले दिखा आए हैं। सो पति ही यहां विष्णु अर्थात् यज्ञ अथवा राष्ट्र का प्रतिनिधि है। उसका सर्वांग-सार होने के कारण गर्भ भी विष्णु है। सो अब जब यहां विष्णु का वपन हो गया तो अब यहां और किसी की जड़ न जमनी चाहिए। तात्पर्य यह कि अपने आदर्शों का मूर्त्तिमान् पुञ्ज समझकर, पति की अनुव्रता होकर, स्वर में स्वर मिलाकर, पत्नी ने इस वामन (गर्भ) विष्णु को अपनी योनि-रूप यज्ञवेदि में स्थान दिया है। अतः जहाँ पत्नी को सन्तान अवश्य उत्पन्न करनी चाहिए, वहाँ साथ ही विष्णु के अतिरिक्त अब और किसी का राज्य न होना चाहिए। तात्पर्य यह कि गर्भवती अथवा गर्भाभिलाषिणी पति के अतिरिक्त और किसी का ध्यान न करे। जिससे एक रूप, एक रस, एकाग्र सन्तान उत्पन्न हो। तात्पर्य यह कि विष्णु के प्रवेश से पूर्व मूल उच्छिन्न न हो, विष्णु के प्रवेश के पश्चात् अन्य किसी की जड़ जम न सके।

यहाँ विष्णु अर्थात् राष्ट्र का अधिकार होने से स्पष्ट है कि राष्ट्र को अधिकार है कि पति के अभाव में राष्ट्र-रक्षार्थ उसके किसी प्रतिनिधि से भी सन्तान प्राप्त कर ले। इससे नियोग की सिद्धि होती है। कण्डिका को पढ़िये और उसका अर्थ भी देखिए। कण्डिकाएँ इस प्रकार हैं—

सोऽयं विष्णुर्ग्लानः छन्दोभिरभितः परिगृहीतोऽग्निः पुरस्तान्नापक्रमणमास स तत एवौषधीनां मूलान्युपमुम्लोच ॥ ८ ॥ ते ह देवा ऊचुः। क्व नु विष्णुरभूत् क्व नु यज्ञोऽभूदिति ते होचुश्छन्दोभिरभितः परिगृहीतोऽग्निः पुरस्तान्नापक्रमणमस्त्यत्रैवान्विच्छतेति तं खनन्त इवान्वीषुस्तं त्र्यङ्गुलेऽन्वविन्दंस्तस्मात्त्र्यङ्गुला वेदिः स्यात्तदु हापि पाञ्चिस्त्र्यङ्गुलामेव सौम्यस्याध्वरस्य वेदिं चक्रे॥ ९ ॥ तदु तथा न कुर्यात्। ओषधीनां वै स मूलान्युपाम्लोचत्तस्मादोषधीनामेव मूलान्युच्छेत्तवै ब्रूयाद्यन्वेत्रात्र विष्णुमन्वविन्दंस्तस्माद्वेदिर्नाम ॥ १० ॥

"सो यह विष्णु झुंझला उठा क्योंकि तीन ओर से छन्दों से घिरा था। सामने अग्नि था। बच निकलने की राह कोई नहीं थी। अन्त को चारों ओर से घिर कर उसने ओषधियों की जड़ें नोच ड़ालीं ॥ ८ ॥ इस पर वे देव बोले—विष्णु कहाँ गया, हमारा यज्ञ कहाँ गया? अन्त को वे बोले—तीन ओर से छन्दों से घिरा है, सामने अग्नि है, जाने की राह कोई है नहीं, यहीं ढूंढो। बस उसे खोदते हुए से ढूंढने लगे। वह तीन अंगुल पर निकल आया। इसीलिए वेदि तीन अंगुल की होनी चाहिए। इसीलिए आचार्य पाञ्चि ने सौम्य यज्ञ की वेदि तीन अंगुल की बनाई थी ॥ ९ ॥ परन्तु (आचार्य याज्ञवल्क्य कहते हैं कि) वह बात इस प्रकार न करे। विष्णु ने ओषधियों की जड़ें उखाड़ डाली थीं इसलिए ओषधियों की जड़ें उखाड़ने को कहे। क्योंकि यहीं ढूंढने से विष्णु पाया गया, इसलिए इसका नाम वेदि है ॥ १० ॥

राष्ट्र प्रकरण में वेदि का अर्थ गर्भाशय है यह तो शतपथ के प्रमाण से ही स्पष्ट है। शतपथ, चतुर्दश काण्ड, नवमाध्याय, ब्राह्मण ५, कण्डिका ३ में लिखा है—

तस्या वेदिरुपस्थो लोमानि बर्हिश्चर्माधिषवणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ स यावान् ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति य एवं विद्वानधोपहासं चरति !

'स्त्री की उपस्थेन्द्रिय वेदि है, लोम कुशा हैं, पुरुष की उपस्थेन्द्रिय सोमाभिषव का चर्म है, और पुरुष के अण्डकोष अधिषवण-फलक हैं। जो मनुष्य मैथुन को इस प्रकार एक पवित्र यज्ञ समझ कर स्वपत्नी में गर्भाधान करता है, उसको उतना ही लोक प्राप्त होता है जितना कि वाजपेय-यज्ञ करने वाले को।"

अब कण्डिकाओं का भावार्थ इस प्रकार हुआ—

'जो लोग सन्तान की महिमा जानते हैं और उसे राष्ट्र-महायज्ञ के लिए सबसे बड़ी सेवा समझते हैं वे एक भी गर्भ गिरने नहीं देते। गर्भ को मर्यादा से घेरते हैं और गर्भाशय के द्वार पर कुल-संकल्प रूप अग्नि पहरा देता है। फिर वह अन्दर बैठा विष्णु अर्थात् राष्ट्र का प्रतिनिधि गर्भ माता की सब भावनाओं का केन्द्र हो जाता है। माता की अन्य सब ओषधियों (खेती=ओषध्यः फल-पाकान्ताः Growth) की जड़ें नोच डालता है। अर्थात् उतने समय के लिए माता के शरीर में गर्भ के अतिरिक्त और कोई खेती बढ़ती को प्राप्त नहीं होती। उत्तम माता की सब शक्तियों का केन्द्र वही हो जाता है कुछ दिन के लिए वह अन्दर छिपा हुआ बढ़ता है। लोग ढूंढते हैं वह कहाँ

गया परन्तु वह तो वहीं माता के पास बढ़ रहा है। फिर समय के पश्चात् वह इस प्रकार बाहर आता है जैसे धरती से कन्द। और कहीं-कहीं तो खोदकर ही निकालना पड़ता है। इसलिए 'खनन्तइव' कहा। जब वह बाहर आता है सब कहते हैं कि हे विष्णु! हे राष्ट्ररूर बालक! हमने तुझको पा लिया, मानो सब कुछ पा लिया। राष्ट्र के भविष्य को उज्ज्वल करने वाले बालक क्योंकि स्त्री के गर्भाशय में पाए जाते हैं इसलिए उसका नाम वेदि है। वेदि का अर्थ है जहाँ पाया जाय। यह पौर्णमास की वेदि उन उत्तम रहस्यों का वर्णन करता है इसलिए इसका नाम भी वेदि है।"

इस सारे प्रकरण का तात्पर्य यह है कि गर्भवती अवस्था में स्त्री को गर्भ की रक्षा, शिक्षा, पालन, पोषणादि के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य को करने के लिए बाधित न होना चाहिए। पढ़ना-पढ़ाना, सेवा-टहल व लोकोपकार के कार्य जो कुछ भी करे गर्भ के विकास के लिए करे। जीविकोपार्जनादि से बाधित होकर न करे। जहाँ-जहाँ ऐसा होता है वहाँ एक-एक बालक वामन से विराट् होकर विष्णु शक्ति का परिचय देता है।

सायण ने यहाँ "उपाम्लोचत्" का अर्थ छिप गया ऐसा किया है। किन्तु यह युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता। क्योंकि आगे स्पष्ट लिखा है कि विष्णु ने ओषधियों को उपम्लोचन किया था इसलिए यहाँ भी औषधियों के मूल का उच्छेदन करे। यदि विष्णु औषधियों में लीन हो गया था तो क्या वेदि से विष्णु को बाहर करना चाहते हैं? यदि विष्णु औषधि मूल में लीन था तब तो औषधिमूलोच्छेदन से विष्णु का उच्छेदन हो जायेगा। यज्ञ-वेदि में से यज्ञ को (विष्णु को) बाहर किया जाय यह युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। इसलिए "उपम्लोचन" का अर्थ जड़ से उखाड़ना ऐसा ही करना चाहिए। यही अर्थ ठीक है।

अब आगे वेदि के पूर्वोत्तर-परिग्रह का वर्णन है। इसलिए यहाँ वेदि मान, उत्कर तथा पूर्वोत्तर-परिग्रह, गार्हपत्यादिस्थान तथा आकृति का संक्षेप में वर्णन कर देना आवश्यक है। इसके विना अगला प्रकरण समझ नहीं आ सकता।

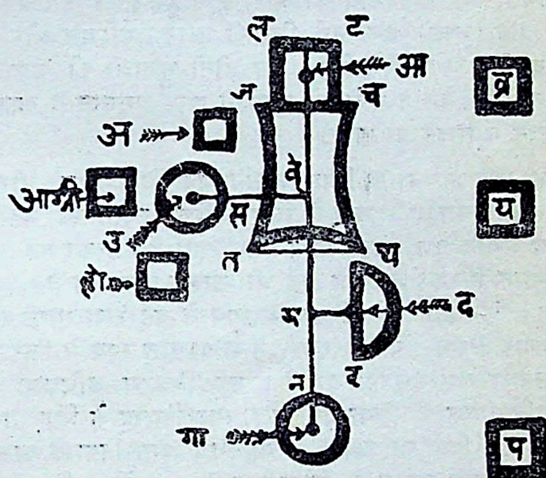
दर्श-पूर्णमास विहार

दर्श-पूर्णमास विहार अथवा यज्ञशाला पूर्व-पश्चिम में ४०' फुट लम्बी और उत्तर-दक्षिण में ३०' फुट चौड़ी होती है। इस प्रकार यह एक आयताकार स्थान होता है। इस आयत की पूर्व-पश्चिम मध्य रेखा क ख आहवनीयखर और गार्हपत्यखर की मध्य-रेखा होगी। क ख रेखा में क विन्दु से १४' फुट की दूरी पर आ विन्दु ले लीजिए। आ बिन्दु को केन्द्र मानकर ल ट आधार पर एक वर्ग बना दीजिए। इस वर्ग की प्रत्येक भुजा २' फुट की होगी और आ विन्दु से प्रत्येक भुजा १' फुट के अन्तर पर होगी। यह ल ट आधार पर बना हुआ वर्ग आहवनीयखर या आहवनीय अग्नि का स्थान होगा। इसी प्रकार क ख रेखा पर ख विन्दु से १४' फुट की दूरी पर एक गा बिन्दु ले लीजिए। गा को केन्द्र मानकर १३॥" इंच की गा न त्रिज्या का एक वृत्त खैंच लीजिए, यह वृत्त गार्हपत्याग्निखर होगा। अब क गा रेखा में से चार ४' फुट की गा म रेखा काट लीजिए। म पर दक्षिण की ओर १६॥" इंच का म द लम्ब खड़ा कर दीजिए। द को केन्द्र मानकर १६॥" इंच की दर त्रिज्या का एक अर्द्धवृत्त बनाइए,

क | पूर्व

दर्श पूर्णमास विहार

उत्तर



दक्षिण

हज | पश्चिम

इसका व्यास गा म के समानान्तर रहे। यह अर्द्धवृत्त दक्षिणाग्निखर होगा। आ गा रेखा पर आ बिन्दु से ४' फुट की दूरी पर एक वे बिन्दु ले लीजिए। वे बिन्दु पर उत्तर की ओर ४'फुट २'' इंच का एक उ वे लम्ब खड़ा कर दीजिए। उ को केन्द्र मानकर १३।।'' इंच की उ स त्रिज्या का एक वृत्त खेंच लीजिए। यह वृत्त उत्कर का स्थान होगा। आहवनीयखर की पश्चिम की ओर की भुजा को दोनों ओर ६'', ६'' इंच बढ़ा दीजिए। इस प्रकार ३' फुट लम्बाई की ज च रेखा बन गई। आ गा रेखा को ज च रेखा के समानान्तर ज च से ६' फुट की दूरी पर एक ४' फुट ६'' इंच लम्बी त थ रेखा से काट दीजिए। त थ का प्रत्येक आधा हिस्सा आ गा पर दोनों ओर लम्ब बनाता हो। ज त और च थ को मिला दीजिए। ज त और च थ रेखाएँ बिलकुल सीधी न हों प्रत्युत वे आ गा रेखा की ओर कुछ झुकी हुई हों। इसी प्रकार त थ को मिलाने वाली भी एक ऐसी रेखा खेंचिए जो ज च रेखा की ओर झुकी हुई हो। इस प्रकार ज च थ त दर्श-पूर्णमास की वेदि (कुण्ड) बन गई जिसकी उत्तर, पश्चिम और दक्षिण की भुजाएँ वेदि के केन्द्र की ओर झुकी हुई हैं। इन तीनों भुजाओं की वक्रता का कोई निश्चित परिमाण नहीं है। बनाने वाले को स्वयं ही इस अनुमान से वक्रता दे लेनी चाहिए कि वेदि देखने में सुन्दर प्रतीत हो।

यह वेदि का नाप आप्त्यों के लिए जलनिनयन के पश्चात् और स्तम्बयजु-निर्हरण से पूर्व हो जाना चाहिए। वेदि के लिए निश्चित स्थान को यहाँ वेदि कहा है। उत्कर में पुरीष अर्थात् तृण, मिट्टी आदि रखा जाता है। उत्कर का अर्थ है कूड़ा-कर्कट। वह जिस स्थान में रखा जाता है वह भी उत्कर कहलाता है। पहले केवल नाप लिया जाता है। फिर आगे पूर्व परिग्रह में स्फ्य से वह रेखा स्पष्ट की जाती है जिससे वेदि का आकार दीखने लगे। फिर खोदने के पश्चात् स्फ्य से फिर तीन रेखायें खेंची जाती है। उनका नाम उत्तरपरिग्रह है। यह विवरण अधिकांश नित्यानन्द पर्वतीय कृत कातीयेष्टिदीपक से लिया गया है। स्पष्टीकरण के लिए साथ में दर्श-पूर्णमास विहार का चित्र दिया जा रहा है। यह चित्र पूना निवासी वामन शास्त्री किंजवड़ेकर कृत दर्श-पूर्णमास-प्रकाश से लिया गया है। इसमें कहीं-कहीं कातीयेष्टि-दीपक के सहारे कुछ परिवर्धन कर दिया गया है।

संस्कृत ग्रन्थों में परिमाण अंगुलि और हस्तों में दिया गया है। हमने अंगुलि को इंच मान लिया है और हस्त को फुट। बारह अंगुल का एक हस्त होता है।

ब्र=ब्रह्मा का आसन।
य=यजमान का आसन।
प=यजमानपत्नी का आसन
अ=अध्वर्यु का आसन।
आग्नी=आग्नीध्र का आसन
हो=होता का आसन
उ=उत्कर।
आ=आहवनीयखर।
वे=वेदि।
द=दक्षिणाग्निखर।
गा=गार्हपत्याग्निखर।

पूर्व-परिग्रह का वर्णन "गायत्रेण त्वा च्छन्दसा परिगृह्णामि" इत्यादि तीन मन्त्रों में हो चुका। अब उत्तर-परिग्रह का आरम्भ होता है—

"तमनुविद्योत्तरेण परिग्रहेण पर्यगृह्णन्।" "सुक्ष्मा चासि शिवा चासी" (यजुः १।२७) ति दक्षिणत इमामेवैतत्पृथिवीᳪ संविद्य सुक्ष्माᳪ शिवामकुर्वत "स्योना चासि सुषदा चासी" (यजुः १।२७) ति पश्चादिमामेवैतत् पृथिवीᳪ संविद्य स्योनाᳪ सुषदामकुर्वतो "र्जस्वती चासि पयस्वती चे" (यजुः १।२७) त्युत्तरत इमामेवैतत्पृथिवीᳪ संविद्य रसवतीमुपजीवनीयामकुर्वत ॥

पूर्व-परिग्रह में पत्नी के राष्ट्र के पति जो कर्त्तव्य हैं वे दिखाए गए। उसका गर्भाशय गायत्री, त्रिष्टुभ्, जगती इन तीन मर्यादाओं से घिरा है। अर्थात् उसे इन तीन में से (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य में) एक अवश्य उत्पन्न करना है। यह राष्ट्र उससे आशा करता है। अब उत्तर-परिग्रह में उसमें स्त्रीजनोचित वैयक्तिक गुण क्या होने चाहिएँ यह दिखाते हैं। सब से पहला गुण उसमें होना चाहिए "क्षमा"। थका-हारा पुरुष पत्नी की गोद में विश्राम पाता है। उस समय पत्नी माता का रूप धारण करके उसे कृतार्थ करती है। परन्तु यदि पत्नी भी कठोर हो जाय तो पुरुष विश्राम कहाँ पाये? जैसे पति का धर्म है कि कमाई द्वारा पत्नी की सेवा करना। यदि पति न कमाए तो पत्नी कहाँ जाय? उत्तर मिलेगा, स्वयं कमाए। किन्तु यह ठीक नहीं। पत्नी बनकर जो वह राष्ट्र की और पति की सेवा करती है वह ही इतनी बड़ी है कि कोई वेतन उसका मूल्य नहीं। यदि उसे कमाना भी साथ पड़े अर्थात् निर्वाह के लिए कुछ और करना पड़े तो पुरुष-जाति को धिक्कार है। इसी प्रकार यदि पत्नी अपना स्वभाव क्षमा छोड़े दे तो पति को क्षमा धारण करनी चाहिए। किन्तु यह ऐसा ही अस्वाभाविक होगा जैसे स्त्री का कमाई करना। वह स्वेच्छा से कुछ भी करे किन्तु उसे अपने निर्वाहार्थ कुछ करने के लिए वाधित न होना चाहिए। यही मनु के **"न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति"** का अर्थ है जिसे न समझकर लोग व्यर्थ मनु को गाली देने लगते हैं। सो पत्नी का सबसे पहला गुण है क्षमा। किन्तु याद रहे क्षमा के साथ एक 'सु' भी लगा हुआ है। क्षमा का अर्थ यह नहीं कि वह पति को अन्धाधुन्ध अत्याचार और दुराचार में प्रवृत्त होने दे। उस का अधिकार है पति को रोके। हाँ, उसका प्रबोधन का प्रकार मधुर तथा क्षमायुक्त होना चाहिए। यदि वह अत्याचार और दुराचार का विरोध नहीं करती तो वह 'सुक्ष्मा' नहीं, 'दुःक्ष्मा' हो जाती है। इसीलिए इस 'सु' को और स्पष्ट करने के लिए कहा "शिवा चासि।" हे पत्नी! तू क्षमा तो करती है परन्तु इतनी जिससे शिव अर्थात् कल्याण हो।

दूसरा गुण उसमें होना चाहिए "स्योना" सुख देने वाली। भोजन, घर की स्वच्छता, शरीर की स्वच्छता, वस्त्रों का सौन्दर्य, यह सब 'स्योना' में सन्निविष्ट है। किन्तु इसके लिए उसे आवश्यक है कि वह घर में बैठे। जहाँ पति घर में बैठे तो वह 'घर घुसना' हो जाता है, वहाँ पत्नी यदि न बैठे तो वह 'इत्वरी', 'स्वैरिणी आदि पदों की वाच्य हो जाती है। वह बैठे घर में डटकर बैठे। परन्तु इस बैठने के सिर पर भी 'सु' का अंकुश लगा हुआ है। पत्नी का धर्म है कि घर में बैठे उसका वही राष्ट्रीय कार्यालय है। किन्तु इतनी न बैठे कि स्वास्थ्य नष्ट हो जाय। व्यायामार्थ चलना, फिरना, सैर के सिए जाना भी उसका वैसा ही धर्म है जैसे बैठना। इसलिए कहा

'सुषदा।' इस "सु" को और अधिक स्पष्ट करने के लिए कहा "ऊर्जस्वती" हो अर्थात् बल वाली हो। बैठे किन्तु इतना न बैठे कि 'उर्ज्' ही पैदा होना बन्द हो जाय। अब ऊर्ज् का नाप कैसे हो। इसलिए कहा "पयस्वती" अर्थात् उसके सन्तान हो और सन्तान को दूध भी पिला सके। यह नहीं कि स्तनों में दूध ही न उतरे। साथ ही दूध का नाम लेने से सन्तान का नाम स्वयं ही आ गया अर्थात् वन्ध्या न हो। सन्तान का नाम लेने से दूध का आना आवश्यक नहीं था। किन्तु दूध के नाम में सन्तान का नाम स्वयं ही आ गया। इसलिए कहा "पयस्वती च।" साथ ही पयस्वती में क्योंकि स्तन का ही वर्णन नहीं, दूध का भी है, अतः मुख्य रूप से स्तन्य की ओर निर्देश होते हुए भी इसका यह भी अर्थ है कि वही सब अतिथि आदि को भोजन देती है। अब कण्डिका का अर्थ इस प्रकार हुआ—

"उस विष्णु को पाकर उन्होंने पूर्वपरिग्रह (घेरा) के अनन्तर और अच्छी प्रकार वश में करने के लिए वेदि का एक घेरा और लगाया। उत्तर-परिग्रह अर्थात् दूसरे घेरे से घेर लिया। दक्षिण की ओर के घेरों में वाक्य पढ़ता है "**सुक्ष्मा चासि शिवा-चासि**" (यजु० १। २७) सो यह इस वेदि की पृथ्वी को ही (अर्थात् स्त्री की उपलक्षणभूत पृथ्वी को) प्राप्त करके, सुक्ष्मा' और 'शिवा' बनाया। "**स्योना चासि सुषदा चासि**" (यजुः १।२७) यह वाक्य पढ़ के पीछे की ओर से इस यज्ञवेदि की आधार-भूत पृथ्वी को (योषा वै वेदिः) स्योना' और 'सुखदा' कर दिया। "**ऊर्जस्वती चासि पयस्वती च**" (यजुः १।२७) कहकर उत्तर की ओर से घेर लिया। सो यह भी इस पृथ्वी को (पत्नी को) ही प्राप्त करके 'रसवती' और 'उपजीवनीया' कर दिया। अर्थात् वही सब का प्रतिपालन करने वाली है, जैसे यह पृथ्वी क्षमाशीला, मंगलमयी, स्योना, सुखदा; ऊर्जस्वती और पयस्वती है। ११।"

अब पूर्व तथा उत्तर व्याहृतियों की संख्या में, जो कि सब मिला कर ६ होती हैं, क्या उपदेश विहित है यह बताते हैं—

स वै त्रिः पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति। त्रिरुत्तरं तत्षट्कृत्वः षड् वा ऽ ऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावान्वा यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतत्परिगृह्णाति॥ १२॥ षड्भिर्व्याहृतिभिः। पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति षड्भिरुत्तरं तद् द्वादशकृत्वो द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतत्परिगृह्णाति॥ १३॥

पत्नी का जीवन भी संवत्सर की तरह ६ ऋतुओं में बंटा हुआ है। जिस प्रकार ६ ऋतु मिल कर वर्ष का सौन्दर्य बनाती हैं उसी प्रकार इस गर्भाधान-यज्ञ में भी ६ ऋतु हैं। प्रथम जब पति-पत्नी गम्भीर विचार-पूर्वक किस प्रकार की सन्तान उत्पन्न करनी है यह विचारते हैं वह शिशिर ऋतु है। फिर जब विचार जो कि ठण्डे होकर करने का कार्य है समाप्त होता है और अनुराग की उष्णता बढ़ने लगती है तो वसन्त का उदय होता है। फिर गर्भाधान की क्रिया ग्रीष्म है क्योंकि उसमें सूर्य तथा पृथ्वी एक दूसरे के अत्यन्त समीप होते हैं। उस ग्रीष्म का परिणाम पति की वीर्य-वर्षा है। बस इसके पश्चात् सूर्य-पृथ्वी दूर हटने लगते हैं। गर्भस्थिति का काल शरद् ऋतु का काल है। जिस प्रकार इस ऋतु में पृथ्वी फल-पाक-पिंगला होती है इसी प्रकार पत्नी भी सत्त्वापत्ति-पिंगला होती है। इस काल में सूर्य को पृथ्वी से दूर रहना चाहिए। प्रसूतिकाल पत्नी का हेमन्तकाल है। इसके पश्चात् अगली सन्तान पर विचार आरम्भ

होता है तो नया शिशिर आरम्भ होता है। विचार, अनुराग, सन्धुक्षण, रतिक्रिया, वीर्य-सेवन, गर्भधारण, प्रसूति, इनमें से जो कोई एक अंग को भी कम करता है वह इस संवत्सर की एक ऋतु कम करता है। अब कण्डिका का अर्थ सुनिये—

"तीन मन्त्रों से पूर्वपरिग्रह का घेरा बनाता है, तीन से उत्तर परिग्रह का। सो यह ६ वार हुआ। यह ६ इसलिए हुआ कि वेद्युपलक्षित पत्नी के जीवन-संवत्सर में इस संवत्सर की भाँति ६ ऋतु होते हैं। यह संवत्वर परस्परोपकारक ऋतु-समुदाय होने के कारण एक यज्ञ हैं। अतएव प्रजापति अर्थात् प्रजा का पालक है। सो जितना यह यज्ञ है जितनी इस संवत्सर-यज्ञ की मात्रा हैं, उतनी रेखाओं का घेरा बनाता है॥ १२॥ छः व्याहृतियों से पूर्व परिग्रह बनाता है, ६ से उत्तर। सो १२ वार हुआ। संवत्सर के मास भी १२ हैं। यह संवत्सर भी एक यज्ञ-रूप प्रजापति है। सो जितना इस यज्ञ का विस्तार है, जितनी इसकी मात्रा है, उतना ही घेरा बनाता है॥ १३॥

छः कहने से ही कार्य चलता था, किन्तु इस १२ में एक अति सूक्ष्म तत्त्व है। इस यज्ञ के कार्यकर्त्ता स्त्री-पुरुष दो हैं और दोनों एक से साझीदार हैं। सो हर ऋतु के दो मास अर्थात् दोनों की सहमति एक-एक मास के समान है। यदि सन्तान के उत्पन्न करने में दोनों में से एक का विचार हुआ और दूसरा विरोधी अथवा मूक-सहयोगी हुआ तो यज्ञ अधूरा हुआ। अतः जब दोनों का विचार मिल जाय तो शिशिर के दो मास। जब दोनों का अनुराग परस्पर हो तो वसन्त के दो मास। दोनों का शरीर का सम्बन्ध एक दूसरे के अनुकूल हो तो ग्रीष्म के दो मास। वीर्य के ग्रहण करने में दोनों का एक-सा उद्योग वर्षा के दो मास। धारण और पालन में दोनों चाव से लगे हों तो शरद् के दो मास पूरे हुए ऐसा समझना चाहिए। एक की ओर से भी कमी हुई तो मानो वर्ष का एक मास कम हो गया॥ १३॥

अब वेदि के आकार परिणाम का रहस्य कहते हैं—

व्याममात्री पश्चात्स्यादित्याहुः। एतावान्वै पुरुषः पुरुषसम्मिता हि त्र्यरत्नीः प्राची त्रिवृद्धि यज्ञो नात्र मात्राऽस्ति यावतीमेव स्वयं मनसा मन्येत तावतीं कुर्यात्॥१४॥ अभितोऽग्निमँऽसाऽउन्नयति। योषा वै वेदिर्वृषाग्निः परिगृह्य वै योषा वृषाणँऽशेते मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्मादभितोऽग्निमँऽसाऽउन्नयति॥१५॥ सा वै पश्चाद्वरीयसी स्यात्। मध्ये सँह्वारिता पुनः पुरस्तादुर्व्येवमिव हि योषां प्रशँसन्ति पृथुश्रोणि विमृष्टान्तराँऽसा मध्ये सङ्ग्राह्येति जुष्टामेवैनामेतद्देवेभ्यः करोति॥१६॥ सा वै प्राक्प्रवणा स्यात्। प्राची हि देवानां दिगथोऽउदक्प्रवणोदीची हि मनुष्याणां दिग्दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहत्येषा वै दिक् पितॄणाँ सा यद्दक्षिणा स्यात् क्षिप्रे ह यजमानोऽमुं लोक-मियात्तथो ह यजमानो ज्योग्जीवति तस्माद्दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहति पुरीषवतीं कुर्वीत पशवो वै पुरीषं पशुमतीमेवैनामेतत्कुरुते॥१७॥

"वह वेदि व्याम अर्थात् दिगन्तसम दोनों भुजा पसारनेपर एक हाथ की मध्यमा से दूसरे की मध्यमा तक लम्बी, पीछे की ओर आहवनीय के पीछे हो, ऐसा कई लोग कहते हैं। क्योंकि पुरुष इतना ही बड़ा होता है और वह पुरुष के नाप की होती है। सामने प्राची की ओर वह तीन बालिश्त हो क्योंकि यज्ञ तीन बल वाला होता है। परन्तु याज्ञ-वल्क्य कहते हैं कि यह कुछ नियम नहीं। जितनी अपने आपको उचित जान पड़े, मन से जितनी स्वयं ठीक समझे उतनी बना दे (सम्प्रदायविद् कहते हैं कि यजमान के नाप की हो)॥१४॥ अग्नि के दोनों ओर वेदि के कन्धे ऊँचे उसारे जाते हैं। उसका कारण

यह है कि वेदि पत्नी है और अग्नि वृषा। पत्नी पति को आलिंगन करके शयन करती है। यह जो यज्ञ है यह प्रजनन अर्थात् उत्तम सन्तान को मिथुन अर्थात् पति-पत्नि का जोड़ा, कैसे उत्पन्न करे यही बताता है। इसलिए अग्नि के दोनों ओर कन्धे ऊँचे करता है ॥१५॥ वह वेदि पीछे की ओर से चौड़ी, मध्य में लची हुई और फिर कन्धों के पास पुरोभाग में कुछ चौड़ी होनी चाहिए। क्योंकि जो स्त्रियाँ व्यायाम आदि का ठीक सेवन करती हैं उनका नितम्ब भारी, मध्य छोटा और छाती विशाल और उभरी हुई होती है। ऐसी ही स्त्री की प्रशंसा करते हैं, पृथुश्रोणी, सुडौल कन्धे वाली, और मुष्टिग्राह्य कमर वाली। इस प्रकार की स्त्री देवजुष्ट देवों की प्रीति योग्य होती है। वैसा ही इस वेदि को बनाता है। पृथुश्रोणी आदि विशेषण इसलिए दिये कि कहीं कृत्रिम उपायों से कमर पतली न की जाय ॥१६॥ वेदि पूर्व की ओर झुकी हुई होनी चाहिए। क्योंकि प्राची (आगे बढ़ने वाली) देवों की दिशा है। उदक् प्रवण भी हो सकती है। क्योंकि उदीची साधारण मनुष्यों की दिशा है। पुरीष को अर्थात् वेदि की मिट्टी को दक्षिण की ओर समेटता है, जिससे वह भाग ऊँचा हो जाय। यह दक्षिणादिक् पितरों की अर्थात् क्षीण लोगों की है। वही इन्द्र, यमादि के सहारे अर्थात् राजा, न्यायालय, पेन्शन आदि के सहारे जीते हैं। यदि उधर को झुकी होगी तो इसका उपलक्ष्यार्थ यह होगा कि वह भी क्षीणता की ओर जाय। बस फिर यजमान को भी शीघ्र ही अगले लोक की तैयारी करनी पड़ेगी। और यदि पत्नी प्राक्प्रवणा, उन्नतिशीला हो तो यजमान चिरकाल तक जीता है। इसलिए मिट्टी को दक्षिण की ओर समेटता है। मिट्टी ही इकट्ठी करनी चाहिए। क्योंकि वह उसका अंश है। पशु अर्थात् सन्तान का चिह्न है। इस प्रकार उसे पशुमती अर्थात् प्रजावती करता है ॥१७॥

अब प्रतिमार्जन-विधि का वर्णन करते हैं। मार्जन का अर्थ है खोद-खाद कर ठीक करना। जिसे माली लोग दरेसी करना कहते हैं सो यह प्रतिमार्जन स्त्री-जाति की महिमा का द्योतक है वह एक गाथा द्वारा दिखाते हैं—

तां प्रतिमार्ष्टि। देवा ह वै सङ्ग्रामꣳ सन्निधास्यन्तस्ते होचुर्हन्त यदस्यै पृथिव्याऽअनामृतं देवजयनं तच्चन्द्रमसी निदधामहे स यदि नऽइतोऽसुरा जयेयुस्तत एवार्चन्तः श्राम्यन्तः पुनरभिभवेमेति स यदस्यै पृथिव्याऽअनामृतं देवयजनमासीत्तच्चन्द्रमसि न्यदधत तदेतच्चन्द्रमसि कृष्णं तस्मादाहुश्चन्द्रमस्यस्यै पृथिव्यै देवयजनमित्यपि ह वाऽअस्यैतस्मिन्देवयजनऽइष्टं भवति तस्माद्वै प्रतिमार्ष्टि ॥१८॥ स प्रतिमार्ष्टि। "पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शि" (यजु० १।२८) न्निति संग्रामो वै क्रूरꣳ संग्रामे हि क्रूरं क्रियते हतः पुरुषो हतोऽश्वः शेते पुरा ह्येतत्संग्रामान्न्यदधत तस्मादाह पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नि-"त्युदादाय पृथिवीं जीवदानु" (यजु० १।२८) मित्युदादाय हि यदस्यै पृथिव्यै जीवमासीत्तच्चन्द्रमसि न्यदधत तस्मादाहोदादाय पृथिवीं जीवदानुमिति "यामैरयꣳश्चद्रमसि स्वधाभि" (यजु० १।२८) रिति यां चन्द्रमसि ब्राह्मणा दधुरित्येवैतदाह "तामु धीरासोऽअनुदिश्य यजन्त" (यजु० १।२८) ऽइत्येतेनो ह तामनुदिश्य यजन्तेऽपि ह वाऽअस्यैतस्मिन्देवयजनऽइष्टं भवति य एवमेतद्वेद ॥१६॥

"फिर उस वेदि को प्रतिमार्जन करता है। देव लोग लड़ाई पर जाने को तैयार खड़े हैं। वे बोले कि इस पृथिवी में जो न मरने वाला सार भूत देवयजन है उसे चन्द्रमा में रख दें। जिससे यदि हमें युद्ध में असुर जीत भी लें तो फिर प्रभु आराधना और परिश्रम के बल से पृथिवी और चन्द्रमा के सहारे हम उन्हें परास्त कर लेंगे। इसलिए

उन्होंने जो इस पृथिवी का न मरनेवाला देवयज्ञिय भाग था उसे चन्द्रमा में रख दिया। इसीलिए तो यह चन्द्र में काला-काला दीखता है। इसीलिए कहते हैं चन्द्रमा में इस पृथिवी की यज्ञशाला है। बस, जिसने इस वेदि में हवन किया उसने मानो चन्द्रलोक में हवन किया। इसलिए प्रतिमार्जन करता ॥१८॥"

द्यौः पति है, पृथिवी पत्नी है। अतः चन्द्रमा पृथिवी के हृदय-समुद्र में ज्वार-भाटे लाने वाली सन्तान का नाम है। यहाँ यह कहा गया है कि यदि कोई मनुष्य बिगड़ा भी हो परन्तु उसकी आँखों में पत्नी और बच्चों का लिहाज है, जो दोष उसमें दुःसंग दौर्भाग्यादि से आ गए हैं उनसे अपने बच्चों और अतएव अपनी पत्नी को बचाना चाहता है, उसके लिए आशा है। जिसे स्त्री बच्चों की लाज नहीं रही वह नष्ट हुआ। उसका भविष्य नष्ट हुआ। इसीलिए वीर लोग युद्ध पर जाने से पहले (अथवा अन्य किसी विपत्ति के आने पर) पहली चिन्ता इसी बात की करते हैं कि पत्नी का सारभूत जो कुछ संकल्प है उसे चन्द्रमा अर्थात् सन्तान में निधान कर देते हैं। अर्थात् ऐसी विपत्ति के समय स्त्री-बच्चों और दोनों का समुदाय होने के कारण गर्भवतियों का ध्यान सबसे पहले करते हैं। यह उनका सबसे बड़ा निधान (Treasure) है। यदि आप युद्ध में मारे भी गए तो उनके आदर्शों को स्थिर रखने वाला कुलतन्तु जीता है। अपने प्रभु की आराधना और पुरुषार्थ के बल से वह एक दिन शत्रुओं को अवश्य जीत लेगा। इसीलिए आर्यों को चन्द्रमा में भी यज्ञशाला दीखती है। वाह रे आर्यजाति! किसी को चन्द्रमा में कलंक मिला, किसी को हरिण, किसी को शशक, किसी को चरखा, तुम्हें वहाँ भी यज्ञशाला मिली ॥१८॥

"सो वह प्रतिमार्जन करते समय मन्त्र पढ़ता है, **"पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्"** (यजु० १।२८) क्रूर है संग्राम, क्योंकि संग्राम में क्रूर-कर्म किया जाता है। इधर पुरुष मरा पड़ा है, इधर घोड़ा मरा पड़ा है। क्योंकि संग्राम से पहले यह निधान किया गया, इसलिए कहा **"पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्"** अर्थात् हे महाशब्दकारिन्! हे महादंशक! क्रूर हलचल अर्थात् युद्ध से पहले **"उदादाय पृथिवीं जीवदानुम्"** (यजु० १।२८) इस जीवनदायिनी पृथिवी में जो जीव था सो चन्द्रमा (सन्तान) में रख दिया, इसलिए कहा जीवनदायिनी पृथिवी का सार खेंच कर। **"यामैरयंश्चन्द्रमसि स्वधाभिः"** (यजु० १।२८) जिसको ब्रह्म द्वारा चन्द्रमा में रक्खा अर्थात् अनेक प्रकार की स्वधा (Pension) अन्नदानादि द्वारा जिसे सन्तान-रक्षा में प्रेरणा की; **"तामु धीरासो अनुदिश्य यजन्ते"** (यजु० १।२८) उसी पृथिव्युपलक्षित माता को अथवा स्त्री जाति को लक्ष्य करके धीर सारे यज्ञ करते हैं। इसीलिए उसके निमित्त यज्ञ करते हैं। बस, जिसने इस सार को जान लिया उसने उस देवयजन में हवन कर लिया ॥१९॥"

तात्पर्य यह कि जब गर्भवती होकर पत्नी भोग-शुश्रूषादि का साधन नहीं रहती, वही वास्तव में पति के सच्चे प्रेम, पत्नीव्रत-धर्म के प्रकाशन का काल है। और सच्चे वीर-पुरुष तो इसी दिन को तरसते हैं। स्त्री निमित्त युद्ध करते हैं। यदि गर्भवती पत्नी उपस्थित है, तो वह निश्चिन्त होकर युद्ध पर जा सकते हैं। क्योंकि यदि वह मारे भी जावें तो उनका कुलतन्तु अविच्छिन्न है। इस समय में स्त्री स्वधा की अधिकारिणी है। उसका वही अधिकार है जो पितरों का। जिस प्रकार कोई अपने बूढ़े दादा का पालन करता है तो अपना कर्त्तव्य पालन करता है, ऋण चुकाता है, कोई एहसान नहीं करता, इसी प्रकार गर्भवती का भी गर्भ की रक्षा कर्त्तव्य है, एहसान नहीं है ।.१९॥

इस प्रकार पुरोडाश में सामान्येन मस्तक का और विशेषरूपेण पुंलिंग पुरुष का वर्णन करके, फिर वेदि द्वारा आदर्श स्त्री का वर्णन किया। आगे युवावस्था से पूर्व सभी पुरुषों को अपने विद्यालयों में पृथक् रहना चाहिए, यह वर्णन किया गया है। उसके पश्चात् वर-वधू के चुनाव की विधि, पति-पत्नी का परस्पर का कर्त्तव्य, तथा माता-पिता का अपने पुत्र तथा पुत्रवधू के प्रति कर्त्तव्य वर्णन किया जायगा। किन्तु अब इस प्रकार के कार्यों अर्थात् वर-वधू के चुनाव में पुरोहितों के साथ-साथ विदुषी स्त्रियों का भी अधिकार होना चाहिए, और वह दोनों से पहले ही परिचित हों, यह बताने के लिए प्रोक्षण्यासादन की विधि आरम्भ होती है। उसका वर्णन अगली कण्डिका में सुनिए—

अथाह 'प्रोक्षणीरासादये" (यजु० १।२८) ति। वज्रो वै स्फ्यो ब्राह्मणश्चेमं पुरा यज्ञमभ्यजूगुपतां वज्रो वा आपस्तद्वज्रमेवैतदभिगुप्त्याऽआसादयति स वाऽउपर्य्युपर्येव प्रोक्षणीषु धार्यमाणास्वथ स्फ्यमुद्यच्छत्यवथ यन्निहितऽएव स्फ्ये प्रोक्षणीरासादयेद्वज्रौ ह समृच्छेयातां तथो ह वज्रौ न समृच्छेते तस्मादुपर्युपर्येव प्रोक्षणीषु धार्यमाणास्वथ स्फ्यमुद्यच्छति ॥२०॥

"फिर (अध्वर्यु आग्नीध्र से) कहता है—"प्रोक्षणीरासादय" (यजु: १।२८) पूर्वकाल से स्फ्यरूप वज्र और ब्राह्मण इस यज्ञ की रक्षा करते रहे हैं। आप: (जल) भी वज्र हैं। सो इस वज्र को रक्षा के लिए स्थापन करता है। सो अभी प्रोक्षणी धरती पर रक्खी नहीं जाती हाथ में ही होती हैं कि आग्नीध्र स्फ्य को उठाता है। यदि स्फ्य नीचे पड़ा हो और वहीं प्रोक्षणी भी रख दी जावें तो वज्रों में टक्कर हो जायगी। इस प्रकार प्रोक्षणी के ऊपर उठाए हुए होने की दशा में ही स्फ्य उठाने से वज्रों की टक्कर नहीं होती। इसलिए जब प्रोक्षणी अभी ऊपर ही होती हैं कि स्फ्य को उठाता है।"

प्रोक्षणी नाम उस जल का है जो ध्रुवा जुहू, उपभृत् आदि पात्रों के धोने के लिए रखा जाता है।

पहले वर्णन किया जा चुका है कि स्फ्य पुरोहितों के शासन का चिह्न है। किंतु इसके चुनाव के कार्य में स्त्रियों की सम्मति सहायक ही नहीं किन्तु लेनी आवश्यक है। आप: का अर्थ स्त्रियें हैं यह पहले अनेक बार दिखाया जा चुका है। इसके फिर दोहराने की आवश्यकता नहीं। प्रोक्षणी का अर्थ हुआ वह विदुषी स्त्रियें जो अपने ज्ञान-जल से इस यज्ञ के कार्यकर्ताओं को सींचती हैं। स्फ्य का अर्थ पुरोहितों का शासन पहले स्पष्ट किया जा चुका है। अब प्रश्न यह है कि यदि किसी विषय में पुरोहित तथा स्त्रियों में मतभेद हो तो निर्णायक सम्मति किसकी हो, तो इसका उत्तर है पुरोहित की। यज्ञ के रक्षक इन दोनों वज्रों की टक्कर से यही तात्पर्य है। जहां पहले से बड़े-छोटे का निर्णय न हो वहां टक्कर होती है। जहाँ सबको अपना स्थान पहले से पता हो वहां झगड़ा नहीं होता। इसीलिए प्रोक्षणी के धरती पर आने से पहले ही स्फ्य खड़ा हो जाता है। उसके शासन के नीचे ही प्रोक्षणी रूप वज्र का शासन है ॥२०॥

आगे प्रैष-विधि के विकल्प का वर्णन करते हैं। प्रैष का अर्थ है आज्ञावचन—"पानी लाओ, घड़ा रक्खो" इत्यादि।

अथैतां वाचं वदति। प्रोक्षणीरासादयेध्मं बर्हिरुपसादय स्रुचः सम्मृड्ढि पत्नीᳬ सन्नह्याज्येनोदेहीति सम्प्रैष एवैष स यदि कामयेत ब्रूयादेतद्यद्यु कामयेताऽपि नाद्रि-

येत स्वयमु ह्येवैतद्वेदेदमतः कर्म कर्त्तव्यमिति ॥२१॥

"अब (अध्वर्यु आग्नीध्र के प्रति) इस वाक्य-माला को बोलता है—"प्रोक्षणीरासादय"—"प्रोक्षणी रख", "इध्मं बर्हिरुपसादय"—"समिधाओं की गठरी तथा कुशाओं का मुट्ठा यथास्थान रख"; "स्रुचः सम्मृड्ढि"—"आहुति डालने के पात्र ध्रुवा, जुहू, उपभृत आदि साफ कर"; 'पत्नीं सन्नह्य'—"पत्नी को रस्सी से बांध"; "आज्येनोदेहि"—'घृत लेकर उपस्थित हो"; यह सब सम्प्रैष (Words of command) हैं। सो चाहे तो बोले चाहे तो न बोले। वह स्वयं जानता है कि अब इसके पश्चात् यह कर्म करना है।"

यह वाक्य-माला पूर्व कण्डिका में कहे "प्रोक्षणीरासादय" के साथ ही बोली जाती है अर्थात् पूर्व कण्डिका-प्रोक्त "प्रोक्षणीरासादय" यह वाक्य प्रतीक मात्र है।।२१।।

अथोदञ्च्ँ स्फ्यं प्रहरति। अमुष्मै त्वा वज्रं प्रहरामीति यद्यभिचरेद्वज्रो वै स्फ्यस्तृणुते हैवैनेन ।।२२॥

"फिर ("द्विषतो वधः" (यजुः १।८) इस मन्त्र को बोलकर— कात्या० स्फ्य को वेदि से बाहर उत्तर की ओर प्रहार करता है।" इसका तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण का धर्म है कि यहां काम-क्रोधादि शत्रुओं के वध में विशेष सावधान हो और दुष्ट भाव के मनुष्यों को कन्या की शिक्षा रूप पवित्र कर्म में न आने दे। 'यदि अभिचार अर्थात् किसी व्यक्ति विशेष के प्रति शत्रु-भावना से सन्तान उत्पन्न करनी हो तो इस मन्त्र के साथ शत्रु का चतुर्थ्यन्त नाम लेकर कहे "त्वा वज्रं प्रहरामि" स्फ्य वज्र है, इससे उसकी हत्या करता है।" (किन्तु यह यज्ञ निन्दित है) अर्थात् अपने कुल में द्वेष तथा बदले का भाव भरना बुरा है। द्वेष बुराई से होना चाहिए, बुरे से नहीं) ।।२२।।

अब अगली कण्डिका में हस्त-प्रक्षालन विधि का वर्णन करते हैं—

अथ पाणीऽअवनेनिक्ते। यद्वचस्यै क्रूरमभूतद्वचस्याऽएतदहार्षीत्तस्मात्पाणीऽअवनेनिक्ते ॥२३॥

अब वेदि-स्तरण का अर्थात् कन्या के यौवन का काल आ गया है, सो इस समय "पाणी अवनेनिक्ते"···हाथ धोता है। अर्थात बाल्यावस्था में यदि उसे किसी प्रकार का ताडनादि भी करना पड़ा हो तो अब से वैसा नहीं करना चाहिए। वेदि-खननादि अर्थात् बालकपन की शिक्षादि में जो कुछ क्रूर अर्थात् कठोर व्यवहार किया गया, उसने इस स्त्री में से क्रूरतादि को बाहिर कर दिया। किन्तु अब वह आयु आ गई, जब कन्या के साथ बिलकुल भी कठोर व्यवहार न होना चाहिए। अर्थात् वह सयानी हो गई है। उसकी वही आयु आ गई है जिसके लिए बालक के विषय में कह आये हैं "पुत्रं मित्रवदाचरेत्।" इस आयु के पश्चात् हाथ धो लेने चाहिए अर्थात् कठोर व्यवहार कदापि न होना चाहिए।।२३।।

अब युवावस्था में पहुंचने तक लड़के लड़कियों को पृथक् ही रहना चाहिए, उनकी शिक्षा पृथक् होनी चाहिए, इस बात की सूचना के लिए अगली कण्डिका में एक गाथा लिखते हैं। युवावस्था का सूचक शब्द इस प्रकरण में "बर्हिस्तरण" है। इसकी सप्रमाण व्याख्या आगे सुनें—

स ये हाग्रऽईजिरे। ते ह स्मावमर्शं यजन्ते पापीयाꣳसन्न आसुरथ ये नेजिरे ते श्रेयाꣳस आसुस्ततोऽश्रद्धा मनुष्यान्विवेद ये यजन्ते पापीयाꣳसस्ते भवन्ति यऽउ न यजन्ते श्रेयाꣳसस्ते भवन्तीति तत इतो देवान्हविर्न जगामेतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति ॥ २४॥ ते ह देवा ऊचुः। बृहस्पतिमाङ्गिरसमश्रद्धा वै मनुष्यानविदत्तेभ्यो

विधेहि यज्ञमिति स हेत्योवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः कथा न यजध्व ऽ इति ते होचुः किङ्-काम्या यजेमहि ये यजन्ते पापीयाᳪसस्ते भवन्ति यऽ उ न यजन्ते श्रेयाᳪसस्ते भवन्तीति ॥ २५ ॥ स होवाच । बृहस्पतिराङ्गिरसो यद्वै शुश्रुम देवानां परिषूतं तदेष यज्ञो भवति यच्छृतानि हवीᳪषि क्लृप्ता वेदिस्तेनावमर्शमचारिष्ट तस्मात्पापीयाᳪसोऽभूत तेनानवमर्शं यजध्वं तथा श्रेयाᳪसो भविष्यथेत्या कियत इत्या बर्हिषस्तरणादिति बर्हिषा ह वै खल्वेषा शाम्यति स यदि पुरा बर्हिषस्तरणात् किञ्चिदापद्येत बहिरेव तत्तृणन्नपास्येदथ यदा बर्हिस्तृणन्त्यपि पदाभितिष्ठन्ति स यो हैवं विद्वाननवमर्शं यजते श्रेयान्हैव भवति तस्मादनवमर्शमेव यजेत ॥ २६ ॥

पहले कण्डिका का अक्षरार्थ देकर पीछे उसकी सोपपत्तिक व्याख्या करेंगे ।

"पहले एक समय ऐसा हुआ कि जो लोग यज्ञ करते थे वे अवमर्श अर्थात् वेदि-स्पर्श करते थे । वे बुरी हालत में थे । और जो बिलकुल यज्ञ न करते थे वे अच्छी हालत में थे । तब मनुष्यों में अश्रद्धा उत्पन्न हो गई कि जो यज्ञ करते हैं उनकी अवस्था बुरी होती है और जो यज्ञ नहीं करते वे अच्छे रहते हैं । तब यहां से देवों को हवि जाना बन्द हो गया और देव लोग तो यहाँ से दी हुई हवि के सहारे ही जीते हैं ।।२४।। तब वे देव आङ्गिरस बृहस्पति से बोले "देखो, मनुष्यों में अश्रद्धा फैल गई है । उन्हें यज्ञ का ठीक विधान बताओ ।" इस पर बृहस्पति आङ्गिरस मनुष्यों से बोला, 'क्यों भाई ! यज्ञ क्यों नहीं करते हो ।' वे बोले, "किस कामना से यज्ञ करें ? हम तो देखते हैं जो यज्ञ करते हैं उनकी हालत बुरी होती है और जो यज्ञ नहीं करते वे अच्छे रहते हैं"।।२५।। तब इस पर वह आङ्गिरस बृहस्पति बोला, "हमने जो सुन रक्खा है कि वह देवों के लिए सारभूत (परिषूत) अन्न है वह यज्ञ ही तो है, यहाँ हविष्यान्न पका है, यहाँ वेदि तैयार हुई है । किन्तु तुमने स्पर्श-दोष किया है, यही तुम्हारी अवस्था बिगड़ने का कारण है । अब स्पर्श-दोष से बच कर यज्ञ करो, तब तुम्हारी अवस्था यज्ञ न करने वालों से अच्छी होगी ।" लोगों ने कहा 'कबतक स्पर्श न करें ।' बृहस्पति ने कहा, 'बर्हिःस्तरण से पहले वेदि का स्पर्श न करो । बर्हि से वह शान्त हो जाती है ।" सो इसलिए यदि बर्हि-स्तरण से पहले कुछ वेदि में आ पड़े उसे बर्हिःस्तरण के समय ही फेंके । जब बर्हिः-स्तरण करते हैं तब तो पैर रखकर खड़े भी हो जाते हैं । सो जो इस रहस्य को जानने वाला स्पर्शदोष से बच कर यज्ञ करता है वह कल्याण को प्राप्त होता है । इसलिए अवमर्श न करता हुआ यज्ञ करे ।।२६।।

अब हम यह जानते ही हैं कि वेदि योषा अर्थात् स्त्री है । यदि बर्हि का अर्थ क्या है यह जान लें तो बात बिलकुल स्पष्ट हो जायगी । बर्हि क्या है यह शतपथ के शब्दों में ही सुनिये । शतपथ १४।९।४।३ में स्पष्ट कहा है—

तस्या वेदिरुपस्था लोमानि बर्हिः ।

अर्थात् यौवन-काल में स्त्री के जो रोम उदय होते हैं वही बर्हि होते हैं । अतः बर्हि लोम का अर्थात् यौवन का चिह्न है । इससे स्पष्ट है कि वेदि बर्हिःस्तरण से अर्थात् कन्या युवती होने से पूर्व स्पर्श योग्य नहीं है । अब यहाँ यज्ञ कौनसा है यह स्पष्ट ही है । यहाँ वेदि-सम्पादन अर्थात् स्त्री को विद्यादि द्वारा संस्कृत करने का वर्णन हो रहा है । सो स्पष्ट है कि बर्हिःस्तरण अर्थात् लोमोद्गम, फलतः यौवनोद्गम के पूर्व लड़कियों को पृथक् रहना चाहिए । जहाँ इससे पहले अर्थात् ब्रह्मचर्य-काल में लड़के-लड़की इकट्ठे रहते हैं वहाँ पढ़ने वालों से अनपढ़ों की दशा अच्छी होती है । इसीलिए बर्हिःस्तरण

से पूर्व वेदि-स्पर्श का निषेध है। अब कण्डिका का अर्थ इस प्रकार हुआ—

"एक समय की बात है कि जो लोग यज्ञ करते थे, अर्थात् बच्चों को शिक्षा देना रूप यज्ञ करते थे, वे स्पर्श दोष-युक्त यज्ञ करते थे। उनकी अवस्था बुरी थी। और जो यज्ञ नहीं करते थे उनकी अवस्था अच्छी थी। तब मनुष्यों में शिक्षा-यज्ञ के प्रति अश्रद्धा होने लगी। वे कहने लगे जो शिक्षा देते हैं वे बुरी अवस्था में होते हैं। इस अश्रद्धा के कारण लोगों ने राष्ट्र को धन और कार्यकर्त्तारूप हवि देना बन्द कर दिया। इसी के आधार पर देवों का अर्थात् राष्ट्र-सेवकों का जीवन है ॥२०॥ इस पर राष्ट्र के संचालक ब्राह्मण देवता से बोले कि लोगों में अश्रद्धा फैल रही है कोई ऐसा विधान कीजिए कि यह अश्रद्धा दूर हो। विद्वानों ने लोगों से पूछा कि "तुम बच्चों को शिक्षा क्यों नहीं देते ?" लोग बोले कि "शिक्षितों से अशिक्षित अच्छे रहते हैं, सो हम शिक्षा किस काम के लिए दें ?" ॥२५॥ इस पर विद्वन्-मण्डल बोला, "देवों का आधार यह शिक्षा है यही हम आज-तक सुनते आए हैं, बालक परिपक्व-मस्तिष्क हों, स्त्रियें सुशिक्षिता हों कि तुमने परिपाक से पहले ही उन्हें स्पर्श करना आरम्भ कर दिया है। अब यह स्पर्श-दोष छोड़कर शिक्षा दो। फिर शिक्षित अशिक्षितों से अच्छे रहेंगे।" लोगों ने पूछा, "कब तक स्पर्श-दोष है ?" विद्वन्-मण्डल ने कहा "यौवनोद्गम से वह शान्त हो जाता है। इसलिए यौवनोद्गम तक स्त्री अध्यापिकाओं में कोई दोष भी हो तो भी पुरुष कन्या-गुरुकुलों में न जावें अर्थात् स्त्रियें ही अध्यापिका हों। जब वह युवती हो जावें, परिपक्व-बुद्धि हो जावें, तब तो वहाँ निःशंक चरणसंचार हो सकता है। इसलिए स्त्री-पुरुषों का शिक्षा-काल में अवमर्श ठीक नहीं" ॥२६॥

इति द्वितीयाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम्।

अथ तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ।

अब युवा-पुत्र पुरोडाश अथवा परिपक्व-बुद्धि सोम(स्नातक)हो गया, उधर कन्या सुसंस्कृता वेदि हो गई। चाहे वह अपनी कन्या है अथवा अपने पितृ-कुल में पलने वाली पुत्र-वधू है, दोनों के विषय में उपदेश वेदिकल्पना द्वारा दे दिया गया। अब माता-पिता को यह न समझना चाहिए कि उनका कर्त्तव्य समाप्त हो गया। पुत्र और पुत्री को समावर्त्तन से विवाह तक जो शिक्षा देनी है वह अत्यावश्यक है। समावर्त्तन के पश्चात् लोगों में प्रायः एकदम विलास और आलस्य की प्रवृत्ति उमड़ती है। उस समय आवश्यक है कि पिता स्रुक्सम्मार्जन करे अर्थात् अपने पुत्र वा पुत्री के निवास का स्थान, उनकी मित्र-मण्डली, कार्यविभाग तथा उसके अनुसार कालविभाग, इन चार की आदत बड़े प्रेम से स्नातक वा स्नातिका में चाहे वह पुत्र-पुत्री हों, चाहे पुत्र-पुत्रवधू हों, अवश्य उत्पन्न करे। इनमें से निवास स्थान 'पुरोडाश' से सम्बन्ध रखता है, मित्र-मण्डली 'परिधि' हैं कार्यविभाग 'प्रयाज' हैं और तदनुकूल तदुपयोगी कालविभाग-मर्यादा 'अनुयाज' हैं। सब ही अग्नि तथा जल दोनों से स्वच्छ किये जाते हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि इससे पहले केवल प्रतपन था अब सम्मार्जन भी आ गया। अब तक अग्नि ही अग्नि का काम था। अब आपः भी आ पहुँची। अब-तक तपोमय ब्रह्मचर्यकाल था। किन्तु गृहस्थ में प्रवेश करने वाले दम्पती के घर में सौन्दर्य की कला की, विश्राम की भी आवश्यकता है, अतः इस में प्रोक्षणीरूप में संमार्जन के लिए स्त्रियें भी आ गई हैं। याद रहे तप छूट नहीं गया। अब प्रतपन और सम्मार्जन, अग्नि और जल, दोनों द्वारा शुद्धि होगी अब तप होगा किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम का कठोर तप नहीं। उसे मीठा बनाने के लिए प्रोक्षणी माता ने प्रवेश किया है। यह बात अगली कण्डिकाओं में कही गई है—

स वै स्रुचः सम्मार्ष्टि। तद्यत्स्रुचः सम्मार्ष्टि यथा वै देवानां चरणं तद्वाऽअनु मनुष्याणां तस्माद्यदा मनुष्याणां परिवेषणमुपक्लृप्तं भवति ॥१॥ अथ पात्राणि निर्णेजति। तैर्निर्णिज्य परिवेविषत्येवं वाऽएष देवानां यज्ञो भवति यच्छृतानि हवीꣳषि क्लृप्ता वेदिस्तेषामेतान्येव पात्राणि यत्स्रुचः ॥ २ ॥ स यत्सम्मार्ष्टि। निर्णेनेक्त्येवैना एतन्निर्णिक्ताभिः प्रचराणीति तद्वै द्वयेनैव देवेभ्यो निर्णेनिजत्येकेन मनुष्येभ्योऽद्भिश्च ब्रह्मणा च देवेभ्यऽआपो हि कुशा ब्रह्मयजुरेकेनैव मनुष्येभ्योऽद्भिरेवैवमेतन्नाना भवति ॥३॥ अथ स्रुवमादत्ते। तं प्रतपति "प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳ-रक्षो निष्टप्ता अरातय" (यजु० १।२९) इति वा ॥४॥ देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः। तेऽसुर-रक्षसेभ्य आसङ्गाद्बि भयाञ्चक्रुस्तद्यज्ञमुखादेवैतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यतोऽपहन्ति ॥५॥ स वाऽइत्यग्रैरन्तरतः सम्मार्ष्टि। "अनिशितोऽसि सपत्नक्षि" (यजुः १।२९) दिति यथानु-परतो यजमानस्य सपत्नान्क्षिणुयादेवमेतदाह "वाजिन त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मी"(यजुः १।२) ति यज्ञियं त्वा यज्ञाय सम्मार्ज्मीत्येवैतदाहैतेनैव सर्वाः स्रुचः सम्मार्ष्टि "वाजिनीं

त्वे" (यजुः १।२९) ति स्रुचं तूष्णीं प्राशित्रहरणं ॥६॥ स वाऽइत्यग्रैरन्तरतः सम्मा-र्ष्टीति । मूलैर्बाह्यतऽइतीव वाऽअयं प्राण इतीवोदानः प्राणोदानावेवैतद्दधाति तस्मादिती-वेमानि लोमानीतीवेमानि ॥७॥ स वै सम्मृज्य सम्मृज्य तप्य प्रतप्य प्रयच्छति यथाव-मर्शं निर्णिज्यानवमर्शमुत्तमं परिक्षालयेदेवं तत्तस्मात्प्रतप्य-प्रतप्य प्रयच्छति ॥८॥ स वै स्रुवमेवाग्रे सम्मार्ष्टि । अथेतराः स्रुचो योषा वै स्रुग्वृषा स्रुवस्तस्माद्यद्यपि बह्व्य इव स्त्रियः सार्धं यन्ति य एव तास्वपि कुमारक-इव पुमान् भवति स एव तत्र प्रथम एत्यनूच्य इतरास्तस्मात्स्रुवमेवाग्रे सम्मार्ष्टचथेतराः स्रुचः ॥९॥ स वै तथैव सम्मृज्यात् । यथाग्निं नाभिव्युक्षेद्यथा यस्माऽअशनमाहरिष्यन्त्स्यात्तं पात्रनिर्णेजनेनाभिव्युक्षेदेवं तत्तस्माद् तथैव सम्मृज्याद्यथाग्निं नाभिव्युक्षेत् प्राङ्विवैवोत्क्रम्य ॥१०॥ तद्धैके । स्रुक्सम्मार्जनान्यग्नाव-भ्यादधति वेदस्याहाभूवन्त्स्रुच एभिः समभार्जिषुरिदं वै किञ्चिद्यज्ञस्य नेदिदं बर्हिर्धा यज्ञाद्भुवदिति तदु तथा न कुर्याद्यथा यस्माऽअशनमाहरेत्तं पात्रनिर्णेजनं पाययेदेवं तत्त-स्मादु परास्येदेवैतानि ॥११॥

"सो वह स्रुक् सम्मार्जन करता है। सो यह जो स्रुक् सम्मार्जन करता है, सो जैसे देवों का व्यवहार है उस के पीछे ही मनुष्यों का व्यवहार है इसलिए जब मनुष्यों के लिए परोसने का सामान तैयार हो जाता है।१। तब पात्रों को धोता है, फिर उन्हें धोकर उनमें परोसता है। इसी प्रकार यह देवों का अन्न तैयार हुआ, उधर हविःपाक हुआ, उधर वेदि तैयार हुई। यह स्रुक् उन्हीं के लिए पात्र हैं।२। सो जो सम्मार्जन करता है यह इन्हें धोता ही है जिससे कि इन धुले हुए पात्रों को व्यवहार में लाऊँ। सो देवों के लिए दो से धोता है (क्योंकि देवों का विशेष आदर होना चाहिए) मनुष्यों लिए पात्र धोने का एक साधन जल ही पर्याप्त है। किन्तु देवों के लिए जल और ब्रह्म दो पदार्थों से धोता है। कुशा अम्मय हैं (अर्थात् कुश तपोयुक्त स्त्रियों का नाम है यह पहले बता आए हैं। पृष्ठ ३८) यजुर्वेद का जो मन्त्र पढ़ा जाता है वही यहां ब्रह्म अर्थात् वेद है। किन्तु मनुष्यों के लिए केवल जल से ही धोता है। इस प्रकार (देवों को मनुष्यों से) नाना अर्थात् भिन्न करता है। ३। सबसे पहले स्रुव को लेता है। उसे तपाता है। उस समय मन्त्र पढ़ता है "प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः" (यजुः० १।२९)। ४। देव लोग जब-जब यज्ञ करने लगे तब-तब असुर तथा राक्षसों के आक्रमण से डरने लगे। सो यज्ञ के मुख्य भाग में से अथवा यज्ञ-मुख अग्नि-द्वारा इन नाशकारी असुर राक्षसों को मार भगाता है। ५। सो वह इस प्रकार कुशा के अग्रभाग से स्रुव के अन्तर्भाग को सम्मार्जन करता है। उस समय मन्त्र पढ़ता है "अनिशितोऽसि सपत्नक्षिद्" (यजुः १।२९) जिससे अनुपरत होकर यजमान के शत्रुओं को नाश करे इस प्रकार यह कहा। आगे वाक्य पढ़ता है, "वाजिनन्त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि" (यजुः १।२९) इसका अभिप्राय यह है कि तू यज्ञ हितकारी है तुझे यज्ञ के लिए सम्मार्जन करता हूँ। स्रुक् को छोड़कर शेष आहुति-साधनों का मार्जन इसीसे होता है। स्रुच् का मार्जन "वाजिनीन्त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि" (यजुः १।२९) इस मन्त्र से होता है। और प्राशित्रहरणपात्र अर्थात् जिसमें पुरोडाश का भोज-नार्थ भाग रक्खा जाता है उसका चुपचाप मार्जन करता है।६। वह सम्मार्जन करता जाता है और तपा-तपाकर रखने को देता जाता है। इसका तात्पर्य यह कि पात्र को साफ करने के समय हाथ से खूब रगड़ा जाता है। किन्तु फिर जब अन्तिम वार धो लें तो फिर हाथ नहीं लगाते कि कहीं मैला न हो जाय। इसी प्रकार मांजने के पश्चात्

धोने के स्थान में तपाता है। इसीलिए तपा-तपाकर देता जाता जाता है।७। फिर इस प्रकार से स्रुव को बाहर से मांजता है, बाहर के भाग को मूल की ओर से साफ करता है। अग्र से साफ करना प्राण का चिह्न है मूल की ओर से साफ करना उदान का चिह्न है। इसलिए यज्ञ में प्राणोदान दोनों का समावेश करता है। शरीर में रोम भी इसी प्रकार हैं (सामने ऊपर की ओर पीछे नीचे की ओर) ।८। वह पहले स्रुव का सम्मार्जन करता है पीछे और स्रुचों का। स्रुक् योषा है, स्रुव-पुरुष है। संसार में भी देखते हैं कि जहाँ बहुत-सी स्त्रियें इकट्ठी हो जाती हैं और उनके साथ एक भी पुरुष होता है तो वह चाहे आयु में उनकी अपेक्षा छोटा भी हो तो भी वह आगे चलना अपना कर्त्तव्य जानकर आगे-आगे चलता है, और स्त्रियों को रक्षणीय समझकर पीछे रखकर चलता है। इसलिए पहले स्रुव का मार्जन करते हैं फिर अन्य स्रुचों का।९। सो वह इस प्रकार साफ करे जिससे अग्नि में छींटा न पड़े। क्योंकि अग्नि में छींटा पड़ना ऐसा ही है जैसे जिसे थाली परोसनी हो उसे बरतनों के धोवन का छींटा दे दें। इस लिए पूर्व की ओर आगे से बढ़कर इस प्रकार साफ करे जिससे छींटा न पड़े।१०। इस यज्ञ में कोई-कोई लोग स्रुक् सम्मार्जनों (पात्र माँजने की कुशा) को आग में ही डाल देते हैं। वे कहते हैं यह भी तो वेदि की हो गई, इनसे स्रुचा मांज ली गई। जो पदार्थ एक बार यज्ञ के काम आ गया उसे यज्ञ से बाहर न करना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। यह तो ऐसा ही हुआ कि जिसके लिए थाली परोस कर लाए उसे बर-तनों का धोवन पिला दें। इसलिए इन्हें फेंक ही देना चाहिए ॥११॥

कुशा के अग्र भाग से साफ करने का तात्पर्य सूक्ष्म आभ्यन्तर तप द्वारा आभ्यन्तर शुद्धि करना है। मूल भाग की ओर से बाह्य शुद्धि करना शारीरिक तप का प्रतीक है, सूक्ष्म तप स्वाध्याय आदि जो कि उन्नति ओर ले जाते हैं अतः उनका नाम उदान है परन्तु जिसके शरीर में ही बल नहीं वह प्राणहीन मनुष्य स्वाध्याय क्या करेगा इसलिए शारीरिक तप स्नान व्यायामादि को प्राण कहा गया है।

स्रुक् संमार्जन से अभिप्राय उन नियमों से है जो दण्ड रूप से किसी बुरी आदत को दूर करने के लिए बनाए हों, "सम्मार्जन होने के पश्चात् अर्थात् बुरी आदत दूर होने पर उन नैमित्तिक नियमों को भी दूर कर देना चाहिए। उन्हें नित्य नियमों का अंग नहीं बनाना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि आचार्य ने प्रातःकाल देर तक सोने वाले किसी पोसी विद्यार्थी के निद्रालु स्वभाव को दूर करने के लिए प्रातःकाल पानी के छींटे डालने का नियम बनाया हो तो निद्रालु स्वभाव दूर होने पर उस नैमित्तिक नियम को भी दूर करना चाहिए।

इन कण्डिकाओं में यह बताया गया है कि मन, शरीर, घर, वस्त्र इन सबकी शुद्धि के दो साधन हैं, अग्नि और जल। इनका क्रम यह है। पहले अग्नि फिर जल फिर अग्नि। मानसिक क्षेत्र में पहले ब्रह्मचर्याश्रम आग्नेय आश्रम है। फिर गृहस्था-श्रम सोम्य है। फिर वानप्रस्थ आग्नेय है। शरीर में पहले व्यायाम से पसीना दे, फिर स्नान अवश्य करे, फिर शरीर को गीला न छोड़े। वस्त्रों को पहले गरम जल दे, फिर धोए, फिर धूप अवश्य दे। घर को भी जब धोए तो फिर धूप अग्नि आदि द्वारा पूर्ण-तया शुष्क अवश्य कर दे। अभिष्यन्दि (Damp) स्थान में सब रोग बढ़ते हैं। प्राणा-याम से गन्दे वायु को बाहर करे, फिर शुद्ध अन्दर ले, फिर गन्दे वायु को निकाल दे। यह अग्नि जल, और अग्नि का क्रम सर्वत्र रखना उचित है। स्नातक जो गुरुकुल से

आग्नेय अवस्था में तप से लौटता है उसे कुछ दिन विश्राम दे। स्नेह जल से खूब सींचे। फिर गृहस्थ के पुरुषार्थ में जोत दे। यही क्रम यहाँ है। इससे अधिक विस्तार से व्याख्या स्वयं ग्रन्थकार ने आगे चलकर की है इसलिए इसे यहीं छोड़ते हैं।

अगले प्रकरण में यह बताया गया है कि यजमान यदि पुत्र का पिता हो तो उसे पुरोडाश की अवस्था तक पहुंचाकर, और यदि कन्या हो तो वेदि की अवस्था तक पहुँचाकर अगले आश्रम में प्रविष्ट होने की तैयारी करें। पुत्र का पिता यजमान अपने पुत्र के लिए पुत्र-वधू किस प्रकार चुने, उसका किस प्रकार स्वागत करे, उन्हें गृहस्थ-कार्य में किस प्रकार जोते, यह उपदेश यहाँ दिया गया है। उसी से यदि वह कन्या का पिता हो तो क्या करे यह भी पता लग गया। क्योंकि वह अपनी पुत्र-वधू से जो आशा करता है वही कुछ अपनी पुत्री को सिखाए। किन्तु इन सब कामों में उसे कभी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती जब तक उसकी पत्नी इस यज्ञ में पूर्ण सजीव-सहयोग (Active Cooperation) न दे। इस बात के प्रदर्शन के लिए योक्त्रसन्नहन-विधि की जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि जो माता-पिता चाहें कि उनके पुत्र तथा पुत्र-वधू विलास प्रिय न हों उन्हें स्वयं राष्ट्र के किसी महान् कार्य में इस प्रकार जुता होना चाहिए जैसे बैल गाड़ी में जुता होता है। तभी वह अगली सन्तति को उद्योगी बना सकते हैं।

अथ पत्नीꣳ सन्नह्यति। जघनार्धो वाऽएष यज्ञस्य यत्पत्नी प्राङ् मे यज्ञस्तायमानो या यादिति युनक्त्येवैनामेतद्युक्ता मे यज्ञमन्वासाताऽइति ॥१२॥ योक्त्रेण सन्नह्यति। योक्त्रेण हि योग्यं युञ्जन्त्यस्ति वै पत्न्या अमेध्यं यदवाचीनं नाभेरथैतदाज्यमवेक्षिष्यमाणा भवति तदेवास्या एतद्योक्त्रेणान्तर्दधात्यथ मेध्येनैवोत्तरार्धेनाज्यमवेक्षते तस्मात्पत्नीꣳ-सन्नह्यति ॥१३॥ स वाऽअभिवासः सन्नह्यति। ओषधयो वै वासो वरुण्या रज्जुस्तदोषधीरेवैतदन्तर्दधाति तथो हैनामेषा वरुण्या रज्जुर्न हिनस्ति तस्मादभिवासः सन्नह्यति ॥१४॥ स सन्नह्यति। "अदित्यै रास्नासी" (यजुः १।३०) तीयं वै पृथिव्यदितिः सेयं देवानां पत्न्येषा वा ऽएतस्य पत्नी भवति तदस्या एतद्रास्नामेव करोति न रज्जुꣳहिरो वै रास्ना तामेवास्या एतत्करोति ॥१५॥ स वै न ग्रन्थि कुर्यात्। वरुण्यो वै ग्रन्थिर्वरुणो ह पत्नीं गृह्णीयाद्यद्ग्रन्थि कुर्यात्तस्मान्न ग्रन्थि करोति ॥१६॥ ऊर्ध्वमेवोद्गूहति। "विष्णोर्वेष्पोऽसी" (यजुः १।३०) ति सा वै न पश्चात्प्राची देवानां यज्ञमन्वासीतेयं वै पृथिव्यदितिः सेयं देवानां पत्नी सा पश्चात्प्राची देवानां यज्ञमन्वास्ते तद्धेमामभ्यारोहेत् सा पत्नी क्षिप्रेऽमुं लोकमियात्तथो ह पत्नी ज्योग्जीवति तदस्याऽएवैतन्निह्नुते तथो हैनामियं न हिनस्ति तस्मादु दक्षिणत इवैवान्वासीत ॥१७॥

"इसके पश्चात् पत्नी को रस्सी से बांधता है। यज्ञ का पिछला आधा भाग पत्नी है। मेरा यह विस्तार को प्राप्त होता हुआ यज्ञ प्राक् अर्थात् आगे ही आगे बढ़े इसलिए पत्नी को यज्ञ में जोतता है। जिससे जुती हुई यज्ञ में मेरा अनुगमन करे।१२। योक्त्र अर्थात् बैल को गाड़ी में जोतने की रस्सी से (जिसे पंजाब में जोता कहते हैं) बांधता है। जिसे जोतना हो उसे जोतने का चिह्न यही है इसलिए इससे जोतता है। पत्नी का एक भाग (इस यज्ञ की दृष्टि से) अपवित्र है, वह जो नाभि से नीचे का भाग है उसके सामने अभी आज्य-दर्शन की विधि आने वाली है (जो पति की वीर्यरक्षा का भार उस पर सौंपती है) उसी को इस योक्त्र से अन्तर्धान करता है। जिससे पत्नी उसका जो पवित्र उत्तर भाग है उससे घृत की ओर देखती है इसलिए पत्नी

को बांधता है।१३। किन्तु यह योक्त्र का बन्धन कपड़ों के ऊपर बांधा जाता है कपड़ा ओषधि (उत्साह का कोष, ओष + धि) का चिह्न है। रस्सी और वरुण्या अर्थात् पोलिस महकमे की वस्तु है। इसलिए रस्सी और पत्नी के बीच ओषधियों की ओट करता है। इसलिए वस्त्रों के ऊपर बांधता है। उस समय यह मन्त्र पढ़ता है, "अदित्यै रास्नासि" (यजु० १.३०) इस पृथिवी का नाम अदिति है। सो यह पृथिवी देव-पत्नी है। इस समय यजमान-पत्नी भी यह पृथिवी बनी खड़ी है। इसलिए उसके लिए यह मेखला बनाता है। यह रस्सी नहीं है रशना है। रास्ना का अर्थ हिर अर्थात् मेखला है वही बनाई जाती है।१५। इस सन्नहन-विधि में गांठ न दनाये। गांठ तो पुलिस के महकमे की वस्तु है। यदि गांठ बांधे तब तो यह हो कि मानो कोतवाल किसी अपराधी को बांध रहा है। इसलिए गांठ नही बांधता।१६ ग्रन्थि न बांधकर, दोनों सिर ऊपर की ओर करके, दाहिना पाश दूसरे सिरे में फंसाकर, लटकाता है। उस समय वाक्य बोलता है, "विष्णो-र्व्वेष्पोऽसि" (यजु० १.३०) वह यज्ञ पत्नी प्राची अर्थात् प्राङ्मुखी होकर पश्चात् अर्थात् गार्हपत्य के पश्चिम में न बैठे (किन्तु नैर्ऋत्य कोण में बैठे। कात्या०)। यह पृथिवी जो है यही अदिति है, सो यह देवों की पत्नी है। वह देवयज्ञ में प्राङ्मुखी होकर गार्हपत्य के पीछे बैठती है। सो यदि यहां बैठ जाय तो इसके ऊपर चढ़ बैठे। वह यजमान-पत्नी ऐसा करे तो शीघ्र उस लोक को प्राप्त हो जाय। सो उसके सामने अपना निहोरा करती है। इससे वह उसे दुःख नहीं देती। इसलिए दक्षिण की ओर से हो के (अर्थात् नैर्ऋत्य कोण में) बैठे।।१७।।

अब इन कण्डिकाओं का निगूढार्थ प्रकट करते हैं। पति का धर्म है कि गृहस्थ के पवित्र आदर्शों में पत्नी को खेंच कर ले चले। उसका निष्क्रिय रूप से घिसटते जाना पर्याप्त नहीं। उसका सजीव सहयोग आने वाली सन्तान के गृहस्थ-निर्माण में लेना है। यही भाव रस्सी से बांधने का है। किन्तु यह कार्य उसे डरा धमकाकर अथवा बल-प्रयोग से नहीं लेना। इसीलिए कहा कि इस रस्सी में गांठ न बांधे। क्योंकि गांठ तो वरुण के शासन की वस्तु है। वरुण का अर्थ पोलिस विभाग का अध्यक्ष है। ऐसा हम अपने "शतपथ में एक पथ" नामक ग्रन्थ में दिखा चुके हैं। इसलिए यह विषय वहीं देखना चाहिए। पत्नी को बांधकर तो ले चलना है परन्तु कैदियों वाले बन्धन में नहीं, उस मधुर बन्धन में जिसमें बंधने वाला अपने आप को धन्य मानता है। इसका तात्पर्य तो यह है कि जिस मार्ग पर पति पत्नी को चलाना चाहता है उसके बन्धनों में उसे स्वयं बंधना होगा। उसके आदर्शों का पालन करके स्वयं आदर्श बनना होगा और इस प्रकार पत्नी को साथ लेना होगा। उपेक्षा नहीं करनी होगी, साथ लेना होगा। इसीलिए बन्धन के लिए योक्त्र चुना गया है। वे दोनों एक गाड़ी में जुते हुए बैल हैं। पति जुता हुआ पत्नी को जोतता है। जोतने का आशय क्या है वह भी ग्रन्थकार ने पाठकों की इच्छा पर नहीं छोड़ा। मनुष्य पत्नी को जोतता है। सैकड़ों प्रकार से पुचकार फुसला-कर कभी-कभी उसकी इच्छा के विरुद्ध घसीटकर भी, उसे अपने साथ लाता है। परन्तु उसके कौन-से भाग को ? वह जो नाभि से नीचे का अमेध्य भाग है। किन्तु जो पुरुष स्वयं राष्ट्र की उन्नति के निमित्त किसी जुए में जुता है, वह पत्नी के ऊपर के भाग को, उसकी ऊँची भावनाओं को, जाग्रत् करने में तत्पर होता है। प्रश्न उठता है कि एक ओर तो शतपथकार 'वेदिरुपस्थः" कह रहे हैं, दूसरी ओर नाभि से नीचे के भाग को अपवित्र बता रहे हैं। यह परस्पर विरोध कैसा ? इसका उत्तर है कि अधिकारी-भेद

से एक ही पदार्थ अमृत और विष बन जाता है। घृत अमृत है। अजीर्ण के रोगी के लिए विष है। इसी प्रकार उपस्थ यज्ञवेदि के तुल्य पवित्र है। परन्तु उसी के लिए जो अपनी और पत्नी की उच्च भावनाओं को जाग्रत् कर चुका है। जाग्रत् ही नहीं कर चुका अपने-आप को तथा उसे किसी उच्च उद्देश्य रूप गाड़ी में जोत चुका है। जागना तो तरंगमात्र भी हो सकता है, उमङ्ग उठी और विलीन हो गई। परन्तु यहाँ तो जोतना है। जीवन-भर गाड़ी खेंचनी है। परन्तु यह जोतना इतना सुकुमार हो कि इसमें कठोरता का लेश भी न हो। उसे गाड़ी खेंचने में आनन्द आए। रस्सी हो पर अखरे नहीं। इसीलिए कपड़ों के ऊपर बांधना है। उसे ऐसी मीठी बनाताहै कि पत्नी उसे अपने श्रृंगार की रास्ना (करधनी) समझे। और इसीलिए गांठ नहीं बांधता। बन्धन है पर विना गांठ का कितना मधुर बन्धन है। गांठ वाले बन्धन में तो कैदी बाँधे जाते हैं। पत्नी रानी है। कैदिन नहीं। परन्तु रानी का काम विलासमय जीवन नहीं, किन्तु "जुतना" है। और पति का काम है जोतने योग्य बनना। अर्थात् पहले अपने आपको जोतना। उसके सामने आदर्श है भगवती सर्वंसहा धरित्री। इसीलिए वह पृथिवी के आसन पर नहीं बैठती। जो इस पर चढ़ बैठती है, अर्थात् माता पृथिवी सहनशीलता, उर्व्वरता आदि जिन आदर्शों को सामने रखती है उन आदर्शों पर चढ़ बैठती है, उन्हें कुचल डालती है, वह थोड़े दिन विलास का आनन्द लेकर नष्ट हो जाती है ॥१७॥"

अथाज्यमवेक्षते। योषा वै पत्नी रेत आज्यं मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्मादाज्यमवेक्षते ॥१८॥ सावेक्षते। "अदब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामी" (यजुः १।३०) त्यनार्त्तेन त्वा 'चक्षुषावपश्यामीत्येवैतदाहाग्नेर्जिह्वासी" (यजुः १।३०) ति यदा वाऽएतदग्नौ जुह्वत्यथाग्नेर्जिह्वा इवोत्तिष्ठन्ति तस्मादाहाग्नेर्जिह्वासीति 'सुहूर्देवेभ्य" (यजुः १।३०) इति साधु देवेभ्य इत्येवैतदाह "धाम्ने-धाम्ने मे भव यजुषे यजुष"(यजुः १।३०) इति सर्वस्मै मे यज्ञायैधीत्येवैतदाह ॥१९॥

"इसके पश्चात् पत्नी घृत को देखती है। पत्नी स्त्री है और घृत वीर्य है। यह दो मिलकर ही उत्पत्ति करते हैं इसलिए।१८। घृत दर्शन के समय वाक्य पढ़ती है "अदब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामि" (यजुः १।३०) इसका तात्पर्य यह कि तुझे अनझपकी अर्थात् निर्भय तथा सावधान नेत्र से देखती हूँ। आगे वाक्य पढ़ता है "अग्नेर्जिह्वाऽसि" (यजुः १।३०) जब अग्नि में हवन करते हैं तो उसमें लपटें-सी उठती हैं इसलिए कहता है "अग्नेर्जिह्वाऽसि।" आगे कहता है "सुहूर्देवेभ्यः"(यजुः १।३०) सो इसका भाव यह है कि तू देवों के लिए उत्तम हो। आगे वाक्य पढ़ता है "धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे" (यजुः १।३०) इसका अर्थ है, मेरे धाम-धाम और यजु-यजु के लिए तू हो अर्थात् संपूर्ण यज्ञ के लिए हो।१९।"

इस प्रकार पूरा वाक्य यों हुआ "अदब्धेन त्वा चक्षुषाऽवपश्याम्यग्नेर्जिह्वाऽसि सुहूर्देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुषे" (यजुः १।३०) इसका भाव यह है कि पत्नी, पति तथा पुत्र दोनों के वीर्य-रूप निधि की पहरेदार है। उसके सामने पुरोडाश के रूप में एक पुत्र अथवा जामाता है और वेदि रूप में कन्या अथवा पुत्र-वधू है। इस जोड़े की वीर्य-सम्पत्ति उत्तम तब हो सकती है जब वह स्वयं सन्तान उत्पन्न करने में इस बात का ध्यान रक्खे और कन्या के विवाह होने पर भी इस विषय में सावधान आँख रक्खे। पत्नी कहती है "हे वीर्य! मैं अनझपकी आंख से तुझे देखती हूँ। तू ही

हमारे कुल-संकल्प-रूप अग्नि की जिह्वा है। सब देवों को उत्तम आहुति दे, अर्थात् जिस दिन शरीर वा मानस गुणों के योग से उत्तम सन्तान बनती है उन सब को ही तेरी आहुति पहुँचे। हमारे कुल की ठौर-ठौर और समारम्भ समारम्भ में तेरा राज्य हो" ।१६।

इसके पश्चात् आज्याधिश्रयण-विधि आती है। इस में यह दिखाया गया है कि पुरुष को चाहिए कि अपने जीवन के उद्देश्य में पत्नी को भी सम्मिलित कर ले तब विवाह करे। विवाह के पीछे पत्नी का हृदय जीतने का यत्न करना ठीक नहीं। यह बात यहां इन शब्दों में वर्णन की गई है—

अथाज्यमादाय प्राङुदाहरति। तदाहवनीयेऽधिश्रयति यस्याहवनीये हवीꣳषि श्रपयन्ति सर्वो मे यज्ञ आहवनीये शृतोऽसदित्यथ यदमुत्राग्रेऽधिश्रयति पत्नीꣳह्यवकाशयिष्यन्भवति न हि तदवकल्पते यत् सामि प्रत्यग्धरेत्पत्नीमवकाशयिष्यामीत्यथ यत्पत्नीं नावकाशयेदन्तरियाद्ध यज्ञात्पत्नीं तथो ह यज्ञात्पत्नीं नान्तरेति तस्माद् सार्धमेव विलाप्य प्रागुदाहरत्यवकाश्य पत्नीं यस्यो पत्नी न भवत्यग्रऽएव तस्याहवनीयेऽधिश्रयति ततत आदत्ते तदन्तर्वेद्यासादयति ॥२०॥

"पहले गार्हपत्य में पत्नी सहित घृत को पिघला कर पीछे उस घृत को लेकर पूर्व की ओर आता है और आहवनीय पर रखता है। जिनके कुल में आहवनीय में पुरोडाशपाक की प्रथा है वह यही चाहता है कि मेरा सारा यज्ञ आहवनीय में ही सम्पन्न हो। फिर प्रश्न यह होता है कि अमुत्र अर्थात् वहाँ पर अर्थात् गार्हपत्य में पहले क्यों रखता है? इसका उत्तर यह जो पहले वहां अर्थात् गार्हपत्य में अधिश्रयण करता है (आग पर चढ़ाता है) इसका भाव यह है कि पत्नी को यज्ञ में उसका अधिकार-प्राप्त भाग दिलाया चाहता है। यह कुछ अच्छा नहीं लगता कि पहले आहवनीय पर चढ़ाकर फिर पत्नी को अधिकार-प्राप्ति के लिए बीच में से लौटाकर पीछे ले जाए कि जिससे पत्नी को अधिकार दिला सके। और यदि पत्नी को साथ न ले तो उसे यज्ञ-भाग से वञ्चित रक्खे। किन्तु इस प्रकार करने से अर्थात् पहले गार्हपत्य में पत्नी के साथ पिघलाकर पीछे आहवनीय पर रखने से पत्नी को वंचित नहीं करता। इसलिए पत्नी को साथ लेकर दोनों इकट्ठे मिलकर गार्हपत्य पर पिघला कर फिर पूर्व की ओर लाता है। हां जिसकी पत्नी उपस्थित न हो वह पहले से ही आहवनीय पर चढ़ाए। फिर उसे अर्थात् घृत को वहां से लेता है और वेदि के अन्दर रखता है ।।२०।।"

आहवनीय का अर्थ पुरुष का संकल्प है ऐसा पहले दिखाया जा चुका है (देखो पृष्ठ ३० प्रथमाध्याय ब्राह्मण २ कण्डिका २३) और आज्य के लिए १८ वीं कण्डिका में ऊपर कह आए हैं—"रेत आज्यम्।" सो इसका अर्थ है कि पुरुष का वीर्य उसके संकल्प में आहुति होता रहे। पिघलाने का तात्पर्य यह है कि वह अपने संकल्प को घसीटने का कार्य समझकर जैसे-तैसे निभाता न रहे किन्तु उसमें उसे आनन्द आता हो। पहले गार्हपत्य में पत्नी के साथ मिलकर घृत पिघलाने का तात्पर्य यह है कि पत्नी भी उसके हृदय में इस प्रकार की उच्च भावनाओं की तरंग पैदा करने वाली हो। उसकी सारी आयु घृत विलापन की आयु हो। जिस प्रकार एक पुरुष युवती के हृदय को जीतने के लिए अनेक ऊर्जित कर्म करता है इसी प्रकार पत्नी बनने पर भी वह भावना बनी रहे पत्नी बनने के पश्चात् भी वह उसकी नायिका बनी रहे। और उसको देखकर उसका हृदय पिघल जाये। बस पति के आज्य के दो अधिकारी हैं, पत्नी अथवा आहवनीय।

पत्नी का भी कर्त्तव्य यही है कि उसे पिघला कर आहवनीय के योग्य कर दे। इस प्रकार यहाँ यह कहा गया है कि पति पत्नी के हृदयों का मेल इस प्रकार होना चाहिए कि जो अवस्था लोगों की पत्नी को प्राप्त करने से पहले होती है वह यावज्जीवन बनी रहे। और यह तभी हो सकता है जब उनका अनुराग उद्देश्यों की एकता पर अवलम्बित हो। साथ ही 'रेत: आज्यं" कहकर यहां यह भी बताया है कि घृतादि पुष्टिकारक पदार्थों का सेवन कराना और फिर पति को ब्रह्मचर्य-रक्षा में सहायता देना आदि पत्नी का कर्तव्य है। वह इस आज्य की अवेक्षिका, पहरेदार है ॥२०॥

तदाहुः। नान्तर्वेद्यासादयेदतो वै देवानां पत्नीः संयाजयन्त्यवसभा अह देवानां पत्नीः करोति परः पुंसो हास्य पत्नी भवतीति तदुहोवाच याज्ञवल्क्यो यथादिष्टं पत्न्या अस्तु कस्तदाद्रियेत यत्परः पुंसा वा पत्नी स्याद्यथा वा यज्ञो वेदिर्यज्ञ आज्यं यज्ञाद्यज्ञं निर्मिमाऽइति तस्मादन्तर्वेद्येवासादयेत् ॥२१॥

'कोई लोग कहते हैं कि घृत को वेदि के अन्दर न रक्खे। इस घृत से देव-पत्नियों को आहुतियां दी जानी हैं। इस प्रकार वह देवपत्नियों को सभा में अपमानित करता है। देवपत्नियों का भाग यज्ञ-वेदि को अर्थात् अपनी पुत्र-वधू को देता है। फिर परिणाम यह होगा कि उसकी पत्नी का भाग दूसरों को मिल जायेगा। इस पर याज्ञ-वल्क्य बोले कि जिस प्रकार यहां आज्ञा दी गई है उसी प्रकार पत्नी का व्यवहार होना चाहिए। पराये पुरुषों के साथ उठना-बैठना यदि वह यज्ञ के निमित्त अर्थात् लोकोप-कार के निमित्त शास्त्र के आदेश से हो तो फिर उसकी परवाह कौन करे? वेदि भी यज्ञाङ्ग है। घृत भी यज्ञाङ्ग है। यज्ञ से यज्ञ का निर्माण हो इसलिए वेदि को अन्दर ही रक्खे ॥२१॥"

हम पहले दिखा आए हैं कि देव का अर्थ दिव्य भाव अथवा तद्गुण-विशिष्ट विद्वान् है। इसलिए देवपत्नी का अर्थ उन-उन भावों के सहचारी भाव अथवा तद्गुण-विशिष्ट स्त्रियें इस प्रकार हुआ। पुरोडाश पुत्र के परिपक्व मस्तिष्क का प्रतिनिधि है। चाहे वह अपने पुत्र का मस्तिष्क हो अथवा जामाता का। इसी प्रकार वेदि आदर्श कन्या है। चाहे वह अपनी पुत्री है अथवा पुत्र-वधू है तात्पर्य यह कि यदि किसी के पुत्र हों तो उसका अपनी पुत्र-वधू कैसी होनी चाहिए इसलिए स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी सब बातों का ज्ञान होना चाहिए। और यदि पुत्री हो तब भी जामाता किस प्रकार का होना चाहिए यह जानने के लिए पुत्र की शिक्षा का पूरा ज्ञान होना चाहिए। और यदि दोनों हों तब तो दोनों का ज्ञान आवश्यक ही है। इस निमित्त यहाँ एक बालक के आदर्श मस्तिष्क का क्रम विकास पुरोडाशपाक में और स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी विशेष गुणों के विकास का वर्णन वेदि रूप में किया है। पुत्र के पिता को अपने पुत्र का विकास कैसे करना चाहिए? आदर्श-पुत्री किस प्रकार की होती है? फिर उसके घर में आने पर समय-विभाग, दिनचर्या आदि क्या होनी चाहिए? सास-ससुर का उनके साथ क्या व्यवहार होना चाहिए? यह सब उपदेश प्रयाजानुयाजादि भागों में बताया गया है। साथ ही इन उपदेशों को बार-बार हर १५ दिन में दोहराने से माता-पिता को पति-पत्नी के रूप में परस्पर क्या व्यवहार रखना चाहिए इसका उपदेश भी भली प्रकार मिलता रहता है। अब देवपत्नी वह दिव्य-भाव वा तद्गुण-विशिष्ट स्त्रियें हुईं जो अग्नि, सोम, वरुणादि शब्दों से बताए गए दिव्यगुणों के सहचारी रूप से माने गये हैं। यदि पुरुष आदर्श पुरुष बनना चाहें तो उन्हें अपना घृत अर्थात् वीर्य फलतः मस्तिष्क, इन दिव्य भावों के भी अर्पण करना पड़ेगा और उन कोमल गुणों को प्राप्त करने के

लिए तद्गुण-विशिष्ट विदुषी स्त्रियों में भी आना-जाना होगा।

अब यदि पुरुष मे पत्नी के लिए अनुराग पहले ही प्रबल हो उठा तो फिर वह इन दिव्य-भावों के पास क्या फटकेगा ? और उसे तो फिर दूसरे विद्वानों की संगति तो एक ओर रही, विदुषियों तक की संगति अच्छी न लगेगी। कोई विदुषी स्त्री उसकी पत्नी के पास आ बैठे तो ईर्ष्या से जला करेगा। और पत्नी उससे तंग आकर परः अर्थात् उससे दूर होने लगेगी। इस समय याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'नहीं, जो पत्नी भोग-पत्नी हो तो ऐसा हो सकता है किन्तु जो यज्ञपत्नी है, यज्ञ के निमित्त पत्नी बनती है, वह तो स्वयं विदुषियों की उपासक है। इसलिए वह स्वयं पति को उच्च भावनाओं के लिए प्रेरित करेगी। इसलिए यज्ञनिमित्त स्त्री पुरुषों के परस्पर मिलने-जुलने में कोई दोष नहीं। और जब वे यज्ञ-भावनाओं से प्रेरित होकर एक-दूसरे को वरण करें तो देव-पत्नियों का भाग भी नहीं मारा जाता। क्योंकि स्वयं पत्नी उनकी सबसे बड़ी सहायिका होती है ॥२१॥

अब आगे आज्योत्पवन-विधि का वर्णन करते हैं—

प्रोक्षणीषु पवित्रे भवतः। ते तत आदत्ते ताभ्यामाज्मुत्पुनात्येको वाऽउत्पवनस्य बन्धुर्मेध्यमेवैतत्करोति ॥२२॥ स उत्पुनाति। "सवितुस्त्वा प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभि" (यजुः १।३१) रिति सोऽसावेव बन्धुः ॥२३॥ शतम् २०० ॥

"प्रोक्षणी-पात्र में पवित्र पड़े होते हैं। उन्हें वहां से लेकर उनके द्वारा घृत को पवित्र करता है। इस विधि का एक ही बन्धु अर्थात् कारण है कि घृत को पवित्र करता है ॥२२॥ फिर वह उत्पवन करता है, पवित्र करता है उस समय मन्त्र पढ़ता है— **"सवितुस्त्वा प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। (यजुः १।३१)॥२३॥"**

पवित्र कुशा का बना होता है। कुश तप का चिह्न है—यह यह हम पहले दिखा आए हैं। सो तप द्वारा आज्य अर्थात् वीर्य पवित्र होता है। यहां मन्त्र पढ़ा जाता है—"नियम बनाने वाले देव सविता की आज्ञा से छिद्र रहित और पवित्र द्वारा सूर्य की रश्मियों से हे घृत ? तुझे पवित्र करता हूँ।"

सूर्य का अर्थ स्थूल शरीर में वीर्य तथा सूक्ष्म शरीर में ज्ञान है। किन्तु यहां क्योकि वीर्य को ही पवित्र करना है इसलिए सूर्य का अर्थ ज्ञान हुआ क्योंकि सात्त्विक ज्ञान के विना वीर्य की पवित्रता नहीं रह सकती। तात्पर्य यह हुआ कि विवाह से पूर्व तपस्वी मनुष्य (कुशोपलक्षित) राज्य-नियम से पुरुषों के वीर्यवान् होने की परीक्षा करें। जिससे कोई वीर्यहीन मनुष्य गृहस्थाश्रम को गंदा न करे। और इसमें जांच करने वाले कड़े, छिद्र रहित हों। जिनसे कोई बच नं निकले। और साथ ही वीर्यरक्षा-विषयक ज्ञान भी सूर्य की रश्मियों की तरह विस्तार किया जाय यह कार्य राज्य की ओर से हो ॥२३॥

अथाज्यलिप्ताभ्यां पवित्राभ्याम्। प्रोक्षणीरुत्पुनाति "सवितुर्वः प्रसवऽउत्पु०" (यजु०१।३१)... ...बन्धुः ॥ २४ ॥ तद्यदाज्यलिप्ताभ्यां पवित्राभ्यां प्रोक्षणीरुत्पुनाति तदप्सु पयो दधाति तदिदमप्सु पयो हितमिदᳬ हि यदा वर्षत्यथौषधयो जायन्त ओषधीर्जग्ध्वापः पीत्वा तत एष रसः सम्भवति तस्माद्रु रसस्यो चैव सर्वत्वाय ॥२५॥

"फिर आज्य लिप्त पवित्रों से प्रोक्षणी को पवित्र करता है, उस समय मन्त्र पढ़ता है **"सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः।"** (यजु० १।३१)

इसका भी वही कारण है ।२४। सो यह जो आज्यलिप्त अर्थात् घी से लिपे हुए पवित्रों से प्रोक्षणी जल को पवित्र करता है सो आप: में दूध स्थापन करता है । सो है भी यही। दूध जल के आधार है । जब खूब वर्षा होती है तब ओषधियाँ पैदा होती हैं उन्हें खाकर यह रस बढ़ता है । सो यह आज्यलेप रस की परिपूर्णता के लिए है ॥२५॥"

वे ही तपस्वी पुरुष वीर्यरक्षा के उपदेश द्वारा स्त्रियों की मार्ग-दर्शिका स्त्रियों को भी वीर्यरक्षा के उपदेश से पवित्र करते रहें, जिससे वह वीर्यरक्षा की भावना जननी-स्तन्य द्वारा ही बच्चों में प्रवेश करने लगे और उनका दूध ही ज्ञानमय हो । क्योंकि यह आज्योपलक्षित (आप:) शिर ही जब दिव्य आप: अर्थात् विदुषी स्त्रियों के ज्ञानवर्षा को प्राप्त करती है, तो इनमें औषधि अर्थात् उत्साहवर्धक गुण पैदा होते और फिर उन औषधियों के सेवन द्वारा उत्पन्न दूध ही राष्ट्र के भावी बालकों का स्तन्य बनता है । वह ही यह दूध रूप-रस है ।

फिर अध्वर्यु द्वारा घृतावेक्षण-विधि लिखते हैं—

अथाज्यमवेक्षते । तद्धैके यजमानमवख्यापयन्ति तदु होवाच याज्ञवल्क्यः कथं नु न स्वयमध्वर्यवो भवन्ति कथꣳ स्वयं नान्वाहुर्यत्र भूयस्य इवाशिषः क्रियन्ते कथं न्वेषामत्रैव श्रद्धा भवतीति यां वै कां च यज्ञऽऋत्विज आशिषमाशासते यजमानस्यैव सा तस्मादध्वर्युरेवावेक्षेत ॥२६॥ सोऽवेक्षते । सत्य वै चक्षुः सत्यꣳ हि वै चक्षुस्तस्मा-द्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहमश्रौषमिति य एव ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम तत् सत्येनैवैतत् समर्द्धयति ।२७॥ सोऽवेक्षते "तेजोऽसि शुक्रमस्यमृत-मसी" (यजु: १।३१) ति स एष सत्य एव मन्त्रस्तेजो ह्येतच्छुक्रं ह्येतदमृतꣳ ह्येतत्त-त्सत्येनैवैतत् समर्द्धयति ॥२८॥

"फिर अध्वर्यु घृत को देखता है । कई लोग यह कार्य अर्थात् घृत-दर्शन यजमान से करवाते हैं । इस पर याज्ञवल्क्य बोले कि फिर वह स्वयं ही अध्वर्यु क्यों नहीं बन जाते । जितने बड़े-बड़े आशीर्वचन हैं स्वयं ही क्यों नहीं बोल लेते । उनकी यही श्रद्धा क्यों है कि अध्वर्यु से ही यह कार्य करवाना है। ऋत्विज् लोग यज्ञ में जो-जो मंगल-कार्य करते हैं वे अन्त को यजमान के निमित्त ही हैं। इसीलिए अध्वर्यु ही घृत-दर्शन करे ॥२९॥ सो अध्वर्यु घृत का निरीक्षण करता है। क्योंकि प्रत्यक्ष सत्यता का सबसे बड़ा प्रमाण है। इसीलिए जब दो मनुष्य विवाद करते हुए न्यायालय में आवें उनमें से एक कहे कि मैंने देखा और दूसरा कहे कि मैंने सुना तो जो यह कहता है कि मैंने देखा उसी की बात मानी जाती है क्योंकि वह आँख से देखा ऐसा कहकर अपनी बात को सत्य से समृद्ध करता है ॥२७॥ घृत-दर्शन के समय वह वाक्य पढ़ता है "तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि" (यजु० १।३१) सो यह वाक्य सत्य ही है । यह वीर्य तेज है, शुक्र है, अमृत है । इसको सत्य के प्रकाश से समृद्ध करता है ॥२८॥"

तात्पर्य यह कि जहाँ पत्नी का कर्तव्य है कि गृहस्थाश्रम में पति के वीर्य की रक्षा करे वहाँ पुरोहित का भी यह कर्तव्य है कि यजमान को सदा स्मरण दिलाता रहे कि तेरा वीर्य ही तेरा तेज है । यही शुक्र अर्थात् कान्ति पैदा करता है, यही अमृत है । और इस विषय में पुरोहित अपने कर्तव्य को किसी दूसरे पर न डाले । परन्तु स्वयं अपनी आँख से निरीक्षण करे । जहाँ इस प्रकार लोग पुरोहित के निरीक्षण में रहने को तैयार हैं वहाँ ही सच्ची वीर्य-रक्षा हो सकती है । परन्तु इस विषय-लम्पट युग में प्रथम तो ऐसे पुरोहित ही कहाँ मिलें, फिर यदि मिलें भी तो कौन अपने आपको उनके निरीक्षण में रखता है ।

इति तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

अथ तृतीयाऽध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

अब यदि मनुष्य अपने गृहस्थाश्रम को सुखी बनाना चाहे तो उसे अपने जीवन का एक-एक क्षण सुविभक्त करके रखना चाहिए। वह विभाग किस प्रकार होना चाहिए यह आगे बताते हैं। विभाग के तीन अंग हैं। (१) उद्देश्य, (२) काल (३) सामग्री। सबसे पहले उसे अपने उद्दिष्ट कार्यों की सूची बनानी चाहिए। वे कार्य उसके जीवन के देवता हैं और वास्तव में तो उन कार्यों में भी एक मुख्य और शेष उसके सहायक हों। मुख्य कार्य अग्नि है और शेष उसके सहायक हैं। फिर उन में से प्रत्येक कार्य को जितना समय देना है वह उस कार्य का 'प्रयाज' है। और उसके अनुकूल जितनी सामग्री बांटनी है वह 'अनुयाज' है। बस इस प्रकार अपने जीवन के छोटे से छोटे अंग को इन विभागों में बांटने की आदत पड़ने पर ही मनुष्य का जीवन यज्ञरूप हो सकता है। इस प्रकार पुरोडाश में आदर्श पुरुष, यज्ञवेदि में आदर्श स्त्री का वर्णन करके, फिर सन्नहन आज्यावेक्षणादि द्वारा उनके परस्पर अनुराग का वर्णन करके, अब हर एक कार्य का समय-विभाग ठीक-ठीक बनाने की आदत की ओर निर्देश करते हैं। जीवन का जो अंश भी निर्धारित कार्यों से परे चला गया वह देवार्पण नहीं हुआ इसलिए जीवन की यज्ञरूपता के इस अंग की ओर निर्देश करते हैं। जो आलसी लोग अपने जीवन का नियमित विभाग नहीं करते वे परस्पर एक-दूसरे से तंग आ जाते हैं। गृहस्थ में वही स्त्री-पुरुष वास्तविक सुख पाते हैं जो परस्पर वार्तालाप की फुरसत पाने के लिए तरसते रहते हैं। यदि वह फुरसत मर्यादा से अधिक मिलने लगे तो वह सुख के स्थान में एक-दूसरे से ऊबने का कारण बन जाती है। कण्डिकाएँ देखिए —

पुरुषो वै यज्ञः। पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुतऽएष वै तायमानो यावानेव पुरुषस्तावान् विधीयते तस्मात्पुरुषो यज्ञः ॥१॥ तस्येयमेव जुहूः। इयमुपभृदात्मैव ध्रुवा। तद्वाऽआत्मन एवेमानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्ति तस्मादु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति ॥२॥ प्राण एव स्रुवः। सोऽयं प्राणः सर्वाण्यङ्गान्यनुसञ्चरति ॥३॥ तस्मादु स्रुवः सर्वा अनु स्रुचः सञ्चरति तस्यासावेव द्यौर्जुहूः। अथेदमन्तरिक्षमुपभृदियमेव ध्रुवा। तद्वाऽअस्या एवेमे सर्वे लोकाः प्रभवन्ति तस्मादु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति ॥४॥ अयमेव स्रुवो योऽयम्पवते। सोऽयमिमान्त्सर्वाँल्लोकाननुपवते तस्मादु स्रुवः सर्वा अनु स्रुचः सञ्चरति ॥५॥ स एष यज्ञस्तायमानः देवेभ्यस्तायतऽऋतुभ्यश्छन्दोभ्यो यद्धविस्तद्देवानां यत्सोमो राजा यत्पुरोडाशस्तत्तदादिश्य गृह्णात्यमुष्मै त्वा जुष्टं गृह्णामीत्येवमु हैतेषाम् ॥६॥ अथ यान्याज्यानि गृह्यन्ते। ऋतुभ्य चैव तानि छन्दोभ्यश्च गृह्यन्ते तत्तदनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति स वै चतुर्जुह्वां गृह्णात्यष्टौकृत्व उपभृति ॥७॥ स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति। ऋतुभ्यस्तद् गृह्णाति प्रयाजेभ्यो हि तद् गृह्णात्यृतवो हि प्रयाजास्तत्तदनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णात्यजामितायै जामि ह कुर्याद्यद्दसन्ताय त्वा

ग्रीष्माय त्वेति गृह्णीयात्तस्मादनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥८॥ अथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति छन्दोभ्यस्तद्गृह्णात्यनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति छन्दाᳬसि ह्यनुयाजास्तत्तदनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णात्यजामितायै जामि ह कुर्याद्यद्गायत्र्यै त्वा त्रिष्टुभे त्वेति गृह्णीयात्तस्मादनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥९॥ अथ यच्चतुर्ध्रुवाया गृह्णाति, सर्वस्मै तद्यज्ञाय गृह्णाति तत्तदनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति कस्माऽउ ह्यादिशेद्यतः सर्वाभ्य एव देवताभ्योऽवद्यति तस्मादनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥१०॥ यजमान एव जुहूमनु योऽस्माऽअरातीयती स उपभृतमन्वत्तेव जुहूराद्य उपभृत्स वै चतुर्जुह्वां गृह्णात्यष्टौकृत्व उपभृति ॥११॥ स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति । अत्तारमेवैतत्परिमिततरं कनीयाᳬसं करोत्यथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णात्याद्यमेवैतदपरिमिततरं भूयाᳬसं करोति तद्धि समृद्धं यत्रात्ता कनीयानाद्यो भूयान् ॥१२॥ स वै चतुर्जुह्वां गृह्णन् । भूय आज्यं गृह्णात्यष्टौकृत्व उपभृति गृह्णन् कनीय आज्यं गृह्णाति ॥१३॥ स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णन् । भूय आज्यं गृह्णात्यत्तारमेवैतत्परिमिततरं कनीयाᳬसं कुर्वंस्तस्मिन्वीर्यं बलं दधात्यथ यदष्टौकृत्व उपभृति गृह्णन् कनीय आज्यं गृह्णात्याद्यमेवैतदपरिमिततरं भूयाᳬसं कुर्वंस्तमवीर्यमबलीयाᳬसं करोति तस्मादुत राजापारां विशं प्रावसायाप्येकवेश्मनैव जिनाति त्वद्यथा त्वत्कामयते तथा सचतऽएतेनो ह तद्वीर्येण यज्जुह्वां भूय आज्यं गृह्णाति स यज्जुह्वां गृह्णाति जुह्वेव तज्जुहोति यदुपभृति गृह्णाति जुह्वेव तज्जुहोति ॥१४॥ तदाहुः । कस्माऽउ तर्ह्युपभृति गृह्णीयाद्यदुपभृता न जुहोतीति स यद्धोपभृता जुहुयात्पृथग्घैवेमाः प्रजाः स्युर्नैवात्ता स्यान्नाद्यः स्यादथ यत्तज्जुह्वेव समानीय जुहोति तस्मादिमा विशः क्षत्रियाय बलिᳬ हरन्त्यथ यदुपभृति गृह्णाति तस्मादु क्षत्रियस्यैव वशे सति वैश्यं पशव उपतिष्ठन्तेऽथ यत्तज्जुह्वेव समानीय जुहोति तस्माद्यदोत क्षत्रियः कामयतेऽथाह वैश्यं मयि यत्ते परो निहितं तदाहरेति तं जिनाति त्वद्यथा त्वत्कामयते तथा सचतऽएतेनो ह तद्वीर्येण ॥१५॥ तानि वाऽएतानि। छन्दोभ्य आज्यानि गृह्यन्ते स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति गायत्र्यै तद् गृह्णात्यथ यदष्टौकृत्व उपभृति गृह्णाति त्रिष्टुब्जगतीभ्यां तद्गृह्णात्यथ यच्चतुर्ध्रुवायां गृह्णात्यनुष्टुभे तद् गृह्णाति वाग्वाऽअनुष्टुब्वाचो वाऽइदᳬ सर्वं प्रभवति तस्मादु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवतीयं वा अनुष्टुवस्यै वाऽइदᳬ सर्वं प्रभवति तस्मादु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति ॥१६॥ स गृह्णाति । "धाम नामासि प्रियं देवानामि" (यजुः १।३१) त्येतद्वै देवानां प्रियतमं धाम यदाज्यं तस्मादाह धाम नामासि प्रियं देवानामि "त्यनाधृष्टं देवयजनमसी" (यजु० १।३१) ति वज्रो ह्याज्यं तस्मादाहानाधृष्टं देवयजनमसीति ॥१७॥ स एतेन यजुषा सकृज्जुह्वां गृह्णाति त्रिस्तूष्णीमेतेनैव यजुषा सकृदुपभृति गृह्णाति सप्तकृत्वस्तूष्णीमेतेनैव यजुषा सकृद् ध्रुवायां गृह्णाति त्रिस्तूष्णीं तदाहुस्त्रिस्त्रिरेव यजुषा गृह्णीयात्त्रिवृद्धि यज्ञ इति तदु नु सकृत्सकृदेवात्रो ह्येव त्रिर्गृहीतᳬ सम्पद्यते ॥१८॥

"यज्ञ एक पुरुष है। यज्ञ तेन अर्थात् इस कारण से पुरुष है क्योंकि पुरुष ही इसका विस्तार करता है। इसलिए अपने विस्तार में यह उतना ही रूप धारण करता है उतना ही बनाया जाता है, जितना इसका विस्तार करने वाला पुरुष, इसलिए यज्ञ पुरुष है ॥१॥ इस यज्ञ-रूप पुरुष की "यह" अर्थात् दाहिनी भुजा ही जुहू है। "यह" बाईं भुजा उपभृत् है। और आत्मा अर्थात् धड़ ही ध्रुवा है। जिस प्रकार आत्मा की उपस्थिति से ही वीर्य में से सारे अंग प्रादुर्भूत होते हैं। इसी प्रकार ध्रुवा से ही सब यज्ञ चलता है ॥२॥ स्रुव यज्ञ-पुरुष का प्राण है। प्राण ही सब अंगों को अपना-अपना

अभीष्ट पदार्थ पहुँचाता है। इसीलिए स्रुव सब दूसरी स्रुचों तक घृत-संचार द्वारा उन का अनुसंचरण (प्रतिपालन) करता है ॥३॥ ब्रह्माण्डयज्ञ में भी यही बात देखने में आ रही है। देखो, इस यज्ञ की द्यौः जुहू है। और यह अन्तरिक्ष उपभृत् हैं। यह पृथ्वी ही ध्रुवा है। इसी से सम्पूर्ण लोकों की सामग्री प्रादुर्भूत होती है। इसी प्रकार ध्रुवा से ही सारा यज्ञ चलता है ॥४॥ यह पवन जो सारे अन्तरिक्ष को पवित्र करता है यही स्रुव है, यह जो इन सब लोकों को अन्दर घुस घुसकर साफ करता है। इसीलिए स्रुव सब स्रुचों में अनुसंचार करता है ॥५॥ सो इस यज्ञ के विस्तार में तीन विस्तार के अधिगम्य हैं, जिनके निमित्त विस्तार होता है। देवों के लिए, ऋतुओं के लिए, छन्दों के लिए। जो हवि है अर्थात् कार्यकर्त्ता है वह देवों के लिए। जैसे सोम राजा और जैसे पुरोडाश। उसका स्पष्ट नाम लिया जाता है, इस देवता के नाम पर समर्पित करके तुझे लेता हूँ। इस प्रकार यह हवि इन देवताओं का होता है ॥६॥ अब जो घृत लिया जाता है अर्थात् एक मनुष्य की शक्ति का उपयोग लिया जाता है वह ऋतु और छन्दों के निमित्त लिया जाता है। उसमें नाम-निर्देश के बिना ही घृत लेता है। सो वह चार बार जुहू में लेता है आठ बार उपभृत् में ॥७॥ सो वह जो चार बार जुहू में घृत लेता है वह ऋतुओं के लिए लेता है और अतएव प्रयाज के लिए लेता है। क्योंकि प्रयाज वस्तुतः ऋतु हैं। सो उन में नाम नहीं लिया जाता कि अमुक के लिए लेता हूँ। सबके लिए इकट्ठा घृत लेता है। उसी में सबका भाग आ जाता है। इकट्ठा इसलिए लेता है कि विशेषता रहे देवताओं की तुल्यता न रहे क्योंकि नाम निर्देश तो देवताओं का होता है। यदि "वसन्ताय त्वा" 'ग्रीष्माय त्वा" ऐसा कहे तो फिर तो विशेष ऋतु से सम्बन्ध हो जाय। इसलिए विशेष नाम न लेकर घृत रूप में ही सबका भाग लेता है। तात्पर्य यह कि देवता नहीं बदलता, ऋतु तो आवश्यकतानुसार बदलते रहते हैं, उद्देश्य नहीं बदलता, समय-विभाग बदलता रहता है। किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कितने ग्रीष्म, कितने वसन्त की आवश्यकता है यह नियम से नहीं कहा जा सकता। इसलिए यहां ऋतुविशेष का नाम नहीं लिया जा सकता। किन्तु हाँ इतना तो आवश्यक है कि कोई न कोई समय-विभाग अवश्य चाहिए ॥८। फिर जो आठ बार उपभृत् में घृत लेता है यह छन्दों के निमित्त लेता है। अर्थात् यह दर्शाने के लिए लेता है कि ऋतु-अनुसार छन्द=
=मर्यादा=सामग्री-विभाग भी अवश्य होना चाहिए। सो प्रयाज के पीछे अनु हैं। ऋतु के पीछे छन्द हैं। सो अनुयाज छन्द याज के समान हैं। जैसे ऋतु, ऋतु का अपना छन्द, अपना राग है इसी प्रकार अनुयाज हैं सो बिना किसी छन्दो-विशेष का नाम-निर्देश किये घृत रूप में सबका भाग इकट्ठा ले लेता है। यह विशेषता से बचने के लिए यदि 'गायत्र्यै त्वा" 'त्रिष्टुभे त्वा' कहे तब तो छन्दो-विशेष से सम्बन्ध हो जायगा। इसलिए नाम विशेष का निर्देश न करके घृत-रूप में इकट्ठा सब का भाग ग्रहण करता है ॥९। फिर जो चार बार ध्रुवा में लेता है वह सम्पूर्ण यज्ञ के निमित्त लेता है। वह भी नाम विशेष न लेकर लिया जाता है। क्योंकि वह सब देवताओं के निमित्त इकट्ठा तोड़ता है अर्थात् स्थाली में से लेता है तो फिर किस एक देवता का नाम ले। इसलिए किसी एक देवता का नाम न लेकर घृतरूप में इकट्ठा सब के लिए लेता है तात्पर्य यह कि कुछ शक्ति, द्रव्य, समय सदा स्थिर बचाकर अलग रखना चाहिए जो यथा-प्रयोजन किसी भी देवता के निमित्त काम आ सके ॥१०॥ इस स्थूल-यज्ञ से मूल-यज्ञ को जानना हो तो यजमान को जुहू समझो जो उससे विरोध (जो देय का प्रतिदान नहीं करता) रक्खे वह उपभृत् समझो। अथवा भोक्ता को, स्वामी को,

सेव्य को जुहू समझो। भोग्य को, अधीन को, सेवक को उपभृत् समझो। सो चार वार जुहू में लेता है। आठ वार उपभृत् में लेता है ।।११।। सो जो चार वार जुहू में लेता है वह भोक्ता को परिमिततर, छोटे परिमाण वाला, बनाता है। आठ वार जो उपभृत् में लेता है सो भाग्य को अपरिमिततर, अर्थात् बड़े परिमाण वाला बनाता है। सो जहाँ भोक्ता थोडी मात्रा में हो, भोग्य बड़ी मात्रा में हो, वहीं समृद्धि है ।।१२।। सो वह चार वार जुहू में लेता हुआ मात्रा में अधिक घृत लेता है। इसके उलट उपभृत् में आठ वार तो लेता है किन्तु मात्रा में जुहू की अपेक्षा कम लेता है ।।१३।। सो वह चार वार जुहू में घृत लेता हुआ जो मात्रा में अधिक घृत लेता है सो इसके द्वारा यह सूचित करता है कि भोक्ता परिमाण में परिमिततर छोटा, होने पर भी वीर्य में बल में अधिक होना चाहिए। और उपभृत् में आठ वार लेता हुआ जो मात्रा में थोड़ा लेता है सो यह सूचित करता है कि भोज्य वही होना चाहिए जो मात्रा में अपरिमिततर, अर्थात् बड़ा होने पर भी वीर्य में, बल में कम हो। इसीलिए राजा इतनी अपार प्रजा को अपनी शक्ति से नीचे रखकर एक घर में बैठा-बैठा शासन करता है, जिस प्रकार चाहता है उस प्रकार चलाता है। सो यह सब इसी वीर्य की सामर्थ्य से। यही तो बात प्रकाशित होती है यह जो जुहू में अधिक घृत लेता है। अब जो जुहू में लेता है वह भी जुहू द्वारा हवन किया जाता है। जो उपभृत् में लिया जाता है वह जुहू द्वारा ही हवन किया जाता है ।।१४।। सो इस पर यह पूछते हैं कि जब उपभृत् से हवन नहीं करते तब उसमें घृत लेते क्यों हैं? सो इसका उत्तर यह है कि यदि उपभृत् से पृथक् हवन होने लगे तो शासनीय शासक का कोई सम्बन्ध ही न रहे। इसका तात्पर्य यह हो कि सब प्रजा अपनी-अपनी अलग डफली बजा रही हैं, न कोई अत्ता है न आद्य है। सो उपभृत् का घृत भी जो जुहू में लाकर हवन किया जाता है। इसीलिए तो यह सारी विश: अर्थात् प्रजाएँ क्षत्रिय को कर देती हैं। अब यदि उपभृत् में घृत ले ही नहीं तो वैश्य की कोई सत्ता ही न रहे। किन्तु यह जो उपभृत् में लेते हैं इससे सूचित होता है कि प्रजा वश में तो क्षत्रिय के ही रहती हैं किन्तु पशु वैश्य के पास आते हैं (अर्थात् पशु-पालनादि वही करता है)। और क्योंकि वह घृत जुहू में लाकर ही हवन किया जाता है इससे सूचित होता है कि जब राष्ट्र की रक्षा के निमित्त क्षत्रिय को आवश्यकता तो पड़े तो वह कहता है कि हे वैश्य! जो तेरे पास संभालकर रक्खा हुआ कोष है वह अब ले आ। उस समय उसको शासन करता है जैसा चाहता है उस समय उससे कार्य लेता है। यह इसी वीर्य के सहारे से ।।१५।।"

अब छन्दों में तारतम्य दिखलाने के लिए उसी आज्य-ग्रहण का छन्दों से सम्बन्ध दिखाते हैं।

"सो यह घृत छन्दों के निमित्त लिया जाता है अर्थात् छन्दों की मर्यादा बताने के लिए लिया जाता है जो सो चार वार जुहू में लेता है वह गायत्री के लिए लेता है। जो आठ वार उपभृत् में लेता है वह त्रिष्टुप और जगती के लिए लेता है। जो चार वार ध्रुवा में लेता है वह अनुष्टुभ् के लिए लेता है। अनुष्टुभ् वाणी का प्रतिनिधि है। यह जो सारा सामाजिक व्यवहार चलता है सो सारा वाणी द्वारा चलता है। उधर स्थूल-यज्ञ में सारा यज्ञ ध्रुवा से चलता है। यह वाणी अनुष्टुप् है। अथवा यह अनुष्टुप् इस पृथ्वी के समान है। इस पृथ्वी से सब कुछ उपजता है इसी प्रकार ध्रुवा से सारा यज्ञ प्रादुर्भूत होता है ।।१६।।"

इस कण्डिका का तात्पर्य जानने के लिए पहले गायत्री आदि छन्दों का अर्थ जानना चाहिए। इस विषय में निम्नलिखित प्रमाण स्वयं अपना आशय खोलते हैं—

'ब्रह्म' गायत्री 'क्षत्रं' त्रिष्टुप्। श० १।३।५।५
जगती त्वावतु 'विड्' द्रविणम्। श० "।४।१०।५।
जगतीच्छन्दा वै वैश्यः। तै० १।१।६।७।

अनुष्टुप् का अर्थ वाग्व्यवहार बता ही दिया गया है। तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्यों को अपने पारिवारिक कृत्यों में सब से मुख्य स्थान प्रभु-भजन तथा स्वाध्याय को देना चाहिए। वह समय परिमाण में चाहे थोड़ा भी हो परन्तु एसा हो जो सबसे मुख्य हो। उसके पश्चात् क्षत्रिय-वैश्य दि के सांसारिक व्यवहार को। और फिर सबसे पीछे स धारण वार्तालाप को। किन्तु साधारण वार्तालाप को भी समय देना अवश्य चाहिए नहीं तो मनुष्य एकदेशी हो जाता है। इसी प्रकार धनादि स मग्री का भी विभाग करना सबसे मुख्य भाग धर्म कार्य का, फिर क्षत्रिय वैश्य व्यवहार का, और फिर साधारण व्यवहार का ॥१६॥ वह घृत ग्रहण करना है। उस समय वाक्य बोलता है **"धाम नामासि प्रियं देवानाम्"** (यजुः १।३१) यह वीर्य का प्रतिनिधि घृत ही देवों का प्रियतम धाम है। इसलिए कहा **"धाम नामासि प्रियं देवानाम्"**। आगे कहते हैं **"अनाधृष्टं देवयजनमसि"** (यजुः १।३१) सो यह नियम पूर्वक मर्यादा से प्रयोग की हुई घृतोपलक्षित शक्ति वज्र के समान ओजस्वी किसी की धर्षणा न सहने वाला प्रभाव उत्पन्न करती है। इसलिए कहा **"अनाधृष्टं देवयजनमसि"**। मनुष्यों को यत्न करना चाहिए कि यह अनुपात जो स्वाध्यायादि कर्मों का तथा देश, काल, सामग्री का नियत किया गया है इसे धृष्ट न होने दें। तब ही उनका घर देवयजन बनेगा ॥१७॥ इस प्रकार इस वाक्य को बोलकर एक वार जुहू में घृत ग्रहण करता है। फिर तीन वार चुपचाप। फिर इसी वाक्य से एक वार उपभृत् में घृत लेता है। सात वार चुपचाप। फिर इसी वाक्य से एक वार ध्रुवा में लेता है। तीन वार चुपचाप। कोई कोई कहते हैं कि तीन-तीन वार मन्त्र बोलकर ग्रहण करे। क्योंकि यज्ञ तीन-लड़ा होता है। किन्तु यह बात ठीक नहीं। एक-एक वार ही मन्त्र बोले। तीन क्रिया हैं। तीन में एक-एक वार होने से तीन लड़ अपने-आप ही पूरे हो जावेंगे। १८॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

अथ तृतीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

इतनी दूर तक गृहस्थ से पूर्व तथा गृहस्थ में भी तप का ही वर्णन होता रहा। अब शृंगार का क्या स्थान है सो कहते हैं। इससे पूर्व अनुराग का वर्णन हो चुका है। इससे पता लगता है कि पति-पत्नी का अनुराग शृंगार-जन्य नहीं होना चाहिए। किन्तु अनुराग तपो-जन्य और शृंगार अनुराग-जन्य होना चाहिए। सो यहाँ शृगार की सूचना प्रोक्षणी के जल द्वारा होती है।

प्रोक्षणीरध्वर्युमादत्ते। स इध्ममेवाग्रे प्रोक्षति "कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामी(यजुः २।१) ति तन्मेध्यमेवैतदग्नये करोति ॥१॥ अथ वेदिं प्रोक्षति। "वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामि" (यजुः २।१) तन्मेध्यामेवैतद् बर्हिषे करोति ॥२॥

"अब अध्वर्यु प्रोक्षणी-जल लेता है। पहले इध्म अर्थात् २० इन्धनों की गठरी को जो पुरुष के गुणों की सूचक है प्रोक्षण करता है। उस समय वाक्य बोलता है "**कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि**" (यजुः २।१) अर्थात् 'हे इध्म ! तू आखरेष्ठ है। आखर का अर्थ है खान। यह शब्द आङ् पूर्वक खन् धातु से डर प्रत्यय करने से बनता है (अष्टा० ३।३।१२५। खनो घ च)। इसका अर्थ हुआ आकर अर्थात् खान। हे इध्म ! तू अग्नि के आखर मे बैठा हुआ है और आकर्षण किया हुआ है। तात्पर्य यह कि इध्मोपलक्षित गुण-समुदाय, जिसका आगे सामिधेनियों में वर्णन करेंगे, बड़े यत्न से आकर्षण करके निकाला जाता है, जैसे खान में से हीरा। परन्तु गृहस्थाश्रम में सौम्य वेषादि यथोचित शृंगार से वह और शान्त हो जाता है। मैं अग्नि के निमित्त समर्पित तुझको प्रोक्षण करता हूँ।' तात्पर्य यह कि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते समय तप की उग्रता किंचित् शान्त हो जानी चाहिए और मनुष्य को बहुत अंशों तक अपने आप को दूसरों के लिए आकर्षक बनाना भी सीखना चाहिए ॥१॥ फिर वेदि का प्रोक्षण करता है अर्थात् छींटे देता है। उस समय वाक्य बोलता है "**बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामि**" (यजुः २।१) बर्हि का अर्थ यौवनोद्भेद सूचक रोमावली हम पहले बता चुके हैं। अतः इसका अभिप्राय यह हुआ कि हे वेद्युपलक्षित स्त्री ! तू अब युवती है, अब बर्हि के लिए, यौवनोचित वेष-विन्यास के लिए जुष्ट अर्थात् योग्य तुझको मैं प्रोक्षण करता हूँ। तू सौम्य वेषवती बन। इस प्रकार उसे भी मेध्य करता है ॥२॥"

अथास्मै बर्हिः प्रयच्छति। तत्पुरस्ताद् ग्रन्थ्यासादयति तत्प्रोक्षति "बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" (यजुः २।१) तन्मेध्यमेवैतत्स्रुग्भ्यः करोति ॥३॥

"फिर आग्नीध्र उस अध्वर्यु को बर्हि अर्थात् वेदि पर चारों ओर बिछाने के कुशाओं का गुच्छा देता है! उसे पूर्व की ओर ग्रन्थि करके रखता है। उसे प्रोक्षण करता है। उस समय वाक्य पढ़ता है "**स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि**"(यजुः २।१) स्रुचों

के साथ प्राण-संचार का सम्बन्ध इसी अध्याय में द्वितीय ब्राह्मण की तीसरी कण्डिका में "प्राण एव स्त्रुव" कहकर दिखा चुके हैं। इसलिए इस प्रोक्षण का भाव यह हुआ कि बर्हि अर्थात् स्त्री का वेष-विन्यास इस प्रकार का होना चाहिए कि जिसमें प्राण-संचार की अनुकूलता हो अर्थात् उसके वस्त्र ढीले होने चाहियें तब उसका शृंगार-मेध्य है ॥३॥"

अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते । ताभिरोषधीनां मूलान्युपनिनये "त्यदित्यै व्युन्दनमसी" (यजुः २।२) तीयं वै पृथिव्यदितिस्तदस्या एवैतदोषधीनां मूलान्युपोनत्ति ता इमा आर्द्रमूला ओषधयस्तस्माद्यद्यपि शुष्काग्राणि भवन्त्यार्द्राण्येव मूलानि भवन्ति ॥४॥

"अब जो प्रोक्षणी बच जाती हैं अर्थात् प्रोक्षणार्थ जल में से जो जल शेष रह जाता है वह बर्हि की जड़ में डाल दिया जाता है। उस समय वाक्य बोलता है **"अदित्यै व्युन्दनमसि"** (यजुः २।२) सो अदिति नाम इस पृथिवी का है। सो इसके वृक्षादि की जड़ों को गीला करता है। इसलिए ओषधि आर्दमूला होती हैं। यदि उनका अग्रभाग सूख भी जाय तो जड़ें हरी रहती हैं ॥४॥"

बर्हि के अर्थ दो हैं। एक रोम दूसरे वस्त्र। सो यहाँ रोम लेना। मर्म यह कि स्त्री के शृंगार में अभ्यङ्ग मुख्य है। जिससे उसके हर एक रोमकूप की जड़ स्निग्ध रहे। इसलिए उसे तैल घृतादि किसी न किसी स्निग्ध पदार्थ की मालिश अवश्य करनी चाहिए ॥४॥

अथ विस्र७ँस्य ग्रन्थिम् । पुरस्तात्प्रस्तरं गृह्णाति 'विष्णो स्तुपोऽसी' (यजुः २।२) ति यज्ञो वै विष्णुस्तस्येयमेव शिखा स्तुप एतग्मेवास्मिन्नेतद्दधाति पुरस्ताद् गृह्णाति पुरस्ताद्ध्यय७ँ स्तुपस्तस्मात्पुरस्ताद् गृह्णाति ॥५॥

'फिर दर्भ-समूह के बन्धन की ग्रन्थि ढीली करके उसमें से पहले प्रस्तर नामक तृण-समूह को अलग करके लेता है। उस समय वाक्य पढ़ता है **"विष्णोः स्तुपोऽसी"** (यजुः २।२) विष्णु नाम संगठन का है। यह स्तुप ही उसकी शिखा है। सो इस स्तुप को लेते हुए यज्ञ पर शिखा-स्थापन करता है। यह अग्रभाग से लिया जाता है। क्योंकि स्तुप भी मनुष्य के अग्रभाग में अर्थात् शिखर पर है ॥५॥"

अग्रभाग का अर्थ यहाँ पैरों से उलटा है पैर मनुष्य का अन्त हैं शिखा आदि।

यौवन का राज्य हुआ। ग्रन्थि ढीली हुई। गृहस्थाश्रम के प्रवेश के समय शृंगार की अनुज्ञा हुई। ऐसे समय एक बाधा उसमें लगा दी गई है। हर एक मनुष्य को किसी न किसी संगठन का अंग अवश्य होना चाहिए। जहाँ भी उसके विचार मिलते हों उस संगठन को मनुष्य अपना ले। हर एक संगठन को अपना कोई न कोई चिह्न अवश्य धारण करना चाहिए। और संगठन के सभासदों पर यह शृंगार की मर्यादा लगा दी गई है कि उस चिह्न को न बिगड़ने दें। जिस समाज के लोग शृंगार-भावना के आवेश में उस संगठन को बिगाड़ देते हैं, समझ लो वहाँ काम प्रबल हो गया और उस संगठन के बुरे दिन आ गये। याज्ञवल्क्य महाराज की सम्मति में आर्यों का यह चिह्न शिखा है। यह शरीर का अंग है। शिखर पर है। और इसके उत्पन्न करने में कुछ व्यय नहीं होता। यही इसमें गुण है। यदि आर्य जाति स्वयं मिलकर इस चिह्न को बदल दे तब दूसरी बात है। परन्तु जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक जो शिखाच्छेदन कराते हैं, वे संगठन के नियम तोड़ते हैं। अतः वह यज्ञ-भावना के विरुद्ध आचरण करते हैं ॥ ५ ॥

अब इसी शृंगार-प्रकरण में एक और आवश्यक बात बताते हैं—

अथ सन्नहनं विस्र७ँसयति । प्रक्लृप्त७ँहैवास्य स्त्री विजायतऽइति तस्मात्सन्नहनं विस्र७ँसयति तद्दक्षिणाया७ँ श्रोणौ निदधाति नीविर्हैवास्यैषा दक्षिणत इव हीयं नीविस्तस्माद्दक्षिणाया७ँ श्रोणौ निदधाति तत्पुनरभिछादयत्यभिछन्नेव हीयं नीविस्तस्मात्पुनरभिछादयति ॥६॥

"अब उस आवरणार्थ दर्भ-पुंज के बन्धन को खोलता है। इस प्रकार यजमान की पत्नी उत्तम सन्तान उत्पन्न करती है। फिर उस बन्धन को वेदि की दक्षिण-श्रोणी पर रखता है। यह उसकी नीवि है। क्योंकि स्त्री भी अधोवस्त्र की नीवि दहनी ओर को बांधती है इसीलिए दहनी श्रोणी पर रखता है। फिर उसे ढकता है। क्योंकि नीवि ढकी होती है इसीलिए उसे ढकता है ॥६॥"

नीवि ढकने का तात्पर्य यह है कि जब कन्या युवती हुई तो उसे अपने ब्रह्मचर्य की महिमा खूब समझा देनी चाहिए। क्योंकि उसकी नीवि की रक्षा इसी में है कि वह स्वयं उसे ढके रक्खे। साथ ही लड़कियों को अति कस कर वस्त्र नहीं पहिनने चाहियें, तथा अन्य कोर्सेट (Corset) आदि ऐसी वस्तुओं का प्रयोग नहीं करना चाहिए जिनसे गर्भाशय में विकार होकर सन्तान-प्रसव में कष्ट हो। इसीलिए कहा, **"सन्नहनं विस्रंसयति"**। बिलकुल बालकपन में इतनी हानि नहीं। किन्तु ज्यों-ज्यों यौवनागम के साथ गर्भाशय का विकास होता है गर्भाशय को कसकर बांधनेवाली पेटी आदि अनेक उपद्रव का कारण बनती हैं ॥६॥

अब मुख्य शृंगार-सूचक बर्हिस्तरणविधि का वर्णन करते हैं—

अथ बर्हिः स्तृणाति । अयं वै स्तुपः प्रस्तरोऽथ यान्यवाञ्चि लोमानि तान्येवास्य यदितरं बर्हिस्तान्येवास्मिन्नेतद्दधाति तस्माद् बर्हिः स्तृणाति ॥७॥ योषा वै वेदिः । तामेतद्देवाश्च पर्यासते ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रुवा७ँसोऽनूचानास्तेष्वेवैनामेतत्पर्यासीनेष्वनग्नां करोत्यनग्नतायाऽएव तस्माद् बर्हिः स्तृणाति ॥८॥ यावती वै वेदिः । तावती पृथिव्योषधयो बर्हिस्तदस्यामेवैतत्पृथिव्यामोषधीर्दधाति ता इमा अस्यां पृथिव्यामोषधयः प्रतिष्ठितास्तस्माद् बर्हिः स्तृणाति ॥९॥ तद्वै बहुल७ँ स्तृणीयादित्याहुः । यत्र वाऽअस्यै बहुलतमा ओषधयस्तदस्या उपजीवनीयतमं तस्माद् बहुल७ँ स्तृणीयादिति तद्वै तदाहर्तयेवाधि त्रिवृत्स्तृणाति त्रिवृद्धि यज्ञोऽथोऽअपि प्रवर्ह७ँ स्तृणीयात्स्तृणन्ति बर्हिरानुषगिति त्वृषिणाभ्यनूक्तमधरमूल७ँस्तृणात्यधरमूला इव हीमा अस्यां पृथिव्यामोषधयः प्रतिष्ठितास्तस्मादधरमूल७ँ स्तृणाति ॥१०॥ स स्तृणाति । "ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्य" (यजुः २।२) इति साध्वीं देवेभ्य इत्येवैतदाह यदाहोर्णम्रदसं त्वेति स्वासस्थां देवेभ्य इति स्वासदां देवेभ्य इत्येवैतदाह ॥११॥

"फिर कुशा बिछाता है यह जो प्रस्तर नामक तृण-समूह पृथक् किया जाता है यह तो यज्ञ की शिखा है क्योंकि यह स्त्री-पुरुष दोनों में सम्मिलित है। इसलिए इसे **"विष्णोः स्तुपोऽसि"** इस प्रकार पुँल्लिग विष्णु द्वारा सूचित किया है। क्योंकि **"पुमान् स्त्रिया"** इस नियमानुसार पुँल्लिग में स्त्रीलिंग सम्मिलित होता है। जो स्त्रीलिंग के विशेष धर्म हैं वे वेदि द्वारा कहे गए। सो प्रस्तर तो स्तुप अर्थात् शिखा हैं। अब जो अन्य नीचे के लोम हैं वही यह शेष कुशा हैं। सो उन लोगों को इस यज्ञ में इस बर्हिःस्तरण-क्रिया द्वारा स्थापन करता है। अतएव बर्हिस्तरण करता है। ७। वेदि योषा है। यह पहले कह आए हैं। उसके चारों ओर लोक-सेवक देव लोग अर्थात् राज्या-

धिकारी और यह ब्राह्मण लोग जो बहुश्रुत और बहुत अनुवचन अर्थात् अध्यापन करने वाले हैं यह सब बैठे होते हैं। उनके चारों ओर बैठने पर उसे नग्न न आना चाहिए। उनके सामने अच्छी प्रकार आच्छादित वेष से आना चाहिए। सो इस अनग्नता के लिए बर्हिस्तरण करता है। तात्पर्य यह कि श्रृंगार में एक बात यह होनी चाहिए कि स्त्री के अंग अच्छी प्रकार ढके हों वह अर्धनग्न न हो।८। अब बर्हिस्तरण द्वारा स्त्री का जो दूसरा गुण सूचित होता है उसका वर्णन करते हैं—जितनी वेदि है उतनी पृथिवी है। अर्थात् पृथिवी के गुण वेदि में हैं। सो वह भी स्त्री में होने चाहिएँ। यह बर्हि ओषधि अर्थात् हरियावल का चिह्न हैं। सो यह पृथिवी में ओषधियों की स्थापना करता है। यह पृथिवी में ओषधियां अर्थात् अनेक प्रकार के अन्न प्रतिष्ठित हैं उनकी सूचना के लिए बर्हिस्तरण करता है। अर्थात् स्त्री को हरी-भरी पृथिवी की तरह अन्नपूर्णा लोकाश्रयदायिनी नेत्रोत्सवकारिणी होना चाहिए।९। सो खूब घनी-घनी (कुशा) बिछानी चाहिए ऐसा कहा है। क्योंकि धरती पर जिस स्थान में अन्न खूब होता है वह इस धरती का उपजीवनीयतम प्रदेश कहलाता है। क्योंकि स्त्री भी उपजीवनीयतम होनी चाहिए इसलिए घनी-घनी कुशा बिछाए सो। यह बिछानेवाले को ही लाभ होता है। अर्थात् जिस की पत्नी अन्नपूर्णा है वह धन्य है। तीन बार करके बिछाता है। क्योंकि यज्ञ के तीन लड़ हैं। चाहे तो प्रवर्हणपूर्वक भी बिछा सकता है। किन्तु बिछाए घना-घना और एक मुष्टि के मूल में दूसरे का शिखर अनुषक्त अर्थात् सटा होना चाहिए। क्योंकि "स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्" (ऋग्० ८।४५।१) इस ईश्वरोक्त ऋग्वेदवाक्य का अनुवचन अर्थात् व्याख्यान ऋषि ने इसी प्रकार किया है।" यहाँ बर्हिस्तरण की दो वैकल्पिक विधि हैं। सो कहते हैं। एक पक्ष तो यह है कि प्रथम एक मुष्टि वेदि के पूर्व-भाग में बिछाकर उसके पश्चात् दूसरी मुष्टि वेदि-स्कन्ध के दोनों भागों के दोनों ओर इस प्रकार बिछाए कि पूर्व मुष्टि के कुशा के मूल पर द्वितीय के अग्रभाग पड़ें। फिर तीसरी मुष्टि वेदि के पश्चाद्भाग में उसी प्रकार बिछावे। दूसरा प्रकार यह है कि पश्चाद्भाग में पहले बिछाकर, फिर पश्चाद्भाग में नोक पूर्व की ओर करके बिछाए हुए कुशों की नोक किसी काष्ठादि से ऊँचे उठाकर द्वितीय मुष्टि के कुशाओं का मूल उस नोक के नीचे रखकर बिछाए। हर अवस्था में नोक पूर्व की ओर हो और ऊपर के भाग का मूल निचले के अग्र में छिपा हो। "मूल नीचे की ओर करके बिछाता है। यह अन्न सब नीचे की ओर जड़ करके इस पृथिवी में प्रतिष्ठित हैं इसलिए मूल नीचे की ओर करके बिछाता है।१०। बिछाते समय वाक्य पढ़ना "ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्यः" (यजुः २।२) सो इसका अर्थ यही है कि देवों के लिए शोभा-पूर्वक बैठने योग्य बनाता हूँ।" यहाँ "ऊर्णम्रदसं" के अर्थ में सायण तथा ऋषि दयानन्द के अर्थों में कुछ भेद है। ऋषि ने "ऊर्णम्रदसं" को "स्तुपः" के साथ लगाया है। सायण ने वेदि के साथ। ऋषि ने "ऊर्णम्रदसं" का अर्थ किया है धान्य के आच्छादनकारक तुषादि को मृदु करने वाले उलूखलादि। सायण ने "ऊर्णम्रदसं" का अर्थ किया है ऊन के समान मृदु बर्हिरूप वस्त्र धारण करनेवाली वेदि। सो सायण के अर्थ में उपमित समास है अतः क्लिष्ट कल्पना है। ऋषि के अर्थ में सीधा समास है जिसमें ऊर्णावत् मृदु यह वत् अपने पास से नहीं डालना पड़ता। दूसरी ओर सायण का अर्थ शतपथ के साथ अधिक मिलता प्रतीत होता है। हमारी समझ में दोनों अर्थों में कुछ दोष नहीं"। ऋषि दयानन्द के अर्थ में यह भाव निकलेगा कि मनुष्यों को अपने सिर में जो गुण धारण करने चाहियें उनमें सबसे श्रेष्ठ विवेक है। क्योंकि उन्होंने मन्त्र का विनियोग धान को तुष से अलग करने

वाले उलूखल में किया है। सायण का अर्थ यह होगा कि मृदुता ही स्त्री का सच्चा शृंगार है। दोनों ही उत्तम उपदेश हैं। अतः दोनों अर्थों में कोई क्षति नहीं ।११।"

अब आगे अग्नि-कल्पन विधि लिखते हैं।

अथाग्निं कल्पयति। शिरो वै यज्ञस्याहवनीयः पूर्वोऽर्धो वै शिरः पूर्वार्धमेवैतद्यज्ञस्य कल्पयत्युपर्युपरि प्रस्तरं धारयन्कल्पयत्ययं वै स्तुपः प्रस्तर एतमेवास्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादुपर्युपरि प्रस्तरं धारयन्कल्पयति ॥१२॥

"अब आहवनीय में अग्नि प्रदीप्त करता है। आहवनीय यज्ञ का सिर है। मुख्य आधे भाग को शिर कहते हैं सो आहवनीय के कल्पन अर्थात् प्रदीपन द्वारा यज्ञ के पूर्वार्ध को कार्य-सम्पादन-समर्थ करता है (क्लृप् सामर्थ्ये)। जिस समय आहवनीय में अग्नि प्रदीप्त करता है उस समय प्रस्तर नामक तृण-भाग को उसके ऊपर धारण किये हुए रहता है। यह शिखा ही तो प्रस्तर है। इसको ही इस यज्ञ में स्थापन करता है इसलिए प्रस्तर अर्थात् शिखा-सूचक तृणसमूह को ऊपर ऊपर धारण किये हुए प्रदीप्त करता है ।।१२।। "

तात्पर्य यह कि विष्णु अर्थात् संगठन की भक्ति ही यजमान के संकल्प की शिखारूप है। अतः आहवनीयाग्न्युपलक्षित ब्राह्मण क्षत्रियादि संकल्प तभी ही सार्थक हैं जब वह अन्ततोगत्वा संगठन के सहायक हों। वैसे तो ब्राह्मण क्षत्रियादि संकल्प ही समुदाय के कल्याण के लिए हैं, फिर भी विद्या, बल धन, के सम्पादनादि में मनुष्य व्यसन रूप से भी आसक्त हो जाता है। अतः इन संकल्पों का सम्बन्ध समाज से है इस बात पर अत्यन्त बल देने के लिए अग्निसमिन्धन के समय प्रस्तर को अग्नि के समीप धारण करता है ।।१२।।

पुनः परिधि नाम के तीन काष्ठ आहवनीयाग्नि के चारों ओर स्थापन करता है। अब इसका क्या मर्म है सो कहेंगे—

अथ परिधीन् परिदधाति। तद्यत्परिधीन्परिदधाति यत्र वै देवा अग्रेऽग्निꣳ होत्राय प्रावृणत तद्धोवाच न वाऽअहमिदमुत्सहे यद्वो होता स्यां यद्वो हव्यं वहेयं त्रीन्पूर्वान्प्रावृढ्वं ते प्राधन्विषुस्तान्नु मेऽवकल्पयताथ वाऽअहमेतदुत्साक्ष्ये यद्वो होता स्यां यद्वो हव्यं वहेयमिति तथेति तानस्माऽएतानवाकल्पयंस्तऽएते परिधयः ॥१३॥ सहोवाच वज्रो वै तान्वषट्कारः प्रावृणग्वज्राद्वै वषट्काराद् बिभेति यन्मा वज्रो वषट्कारो न प्रवृञ्ज्यादेतैरेव मा परिधत्त तथा मा वज्रो वषट्कारो न प्रवक्ष्यतीति तथेति तमेतैः पर्यदधुस्तं न वज्रो वषट्कारः प्रावृणक्तद्वमैवैतदग्नये नह्यति यदेतैः परिदधाति ॥१४॥ तऽउ हैतऽऊचुः। इदमु चेदस्मान्यज्ञे युङ्क्थास्त्वेवास्माकमपि यज्ञे भागऽइति ॥१५॥ तथेति देवा अब्रुवन्। यद्बहिष्परिधि स्कन्त्स्यति तद्युष्मासु हुतमथ यद्वा उपर्युपरि होष्यन्ति तद्वोऽविष्यतीति स यदग्नौ जुहोति तदेनानवत्यथ यदेनानुपर्युपरि जुहोति तदेनानवत्यथ यद्बहिष्परिधि स्कन्दति तदेतेषु हुतं तस्मादु ह नाग इव स्कन्नꣳ स्यादिमां वै ते प्राविशन्यद्वा ऽइदं किञ्च स्कन्दत्यस्यामेव तत्सर्वं प्रतितिष्ठति ॥१६॥ स स्कन्नमभिमृशति। "भुवपतये स्वाहा भुवनपतये स्वाहा भूतानां पतये स्वाहे" (यजुः २.२) त्येतानि वै तेषामग्नीनां नामानि यद्भुवपतिर्भुवनपतिर्भूतानांपतिस्तद्यथा वषट्कृतꣳ हुतमेवमस्यैतेष्वग्निषु भवति ॥१७॥ तद्धैके। इध्मस्यैवैतान् परिधीन् परिदधति तदु तथा न कुर्यादनवक्लृप्ता ह तस्यैते भवन्ति यानिध्मस्य परिदधात्यस्याधानाय ह्येवेध्मः

क्रियते तस्यो हैवैतेऽवक्लृप्ता भवन्ति यस्यैतानन्यानाहरन्ति परिधय ऽइति तस्मादन्या-नेवाहरेयुः ॥१८॥ ते वै पालाशाः स्युः । ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्माग्निरग्नयो हि तस्मात् पालाशाः स्युः ॥१९॥ यदि पालाशान्न विन्देत् । अथोऽअपि वैकङ्कताः स्युर्यदि वैकङ्कतान्न विन्देदथोऽअपि काश्मर्यमयाः स्युर्यदि काश्मर्यमयान्न विन्देदथो ऽअपि बैल्वाः स्युरथो खादिरा अथोऽ औदुम्बरा एते हि वृक्षा यज्ञियास्तस्मादेतेषां वृक्षाणां भवन्ति ॥२०॥

पहले होतृ-कर्म के लिए अर्थात् न्यायाधीशादि राज्य कर्मचारी नियुक्त करने के लिए जो मनुष्य नियत किए जायें वे निर्वाचन राजाज्ञा, वंशपरम्परा तथा तुलनात्मक परीक्षा इन चार प्रकारों में से किस प्रकार से नियत किए जाने चाहिए इस विषय को उठाकर परीक्षा द्वारा निर्णय का वर्णन आप्त्योपाख्यान में द्वितीयाध्याय के तृतीय ब्राह्मण में आरम्भ में ही दे आए हैं । अब प्रश्न यह है कि क्या राजानुमति, वंश-परम्परादि का संसार में कोई भी स्थान न होना चाहिए ? इसके उत्तर में कहते हैं कि अवश्य होना चाहिए, किन्तु मुख्यता उसी की होनी चाहिए जो परीक्षा द्वारा योग्यता का प्रकाश करके वहां पहुंचे । यदि वही मनुष्य राजानुमोदित, लोकप्रिय तथा वंश-परम्परया उस विद्या का जानने वाला होगा तो और भी उत्कृष्ट होगा । और यदि एक मनुष्य ऐसा न मिले तो मुख्य पुरुष के साथ तीन सहकारी एक राजानुमोदित, एक प्रजानुमोदित और एक वंशपरम्परया उस कार्य को करने वाला लगाया जाय जिससे कार्य की और छान-बीन हो जाय । किन्तु मुख्यता उसी को मिलनी चाहिए जिसने परीक्षा द्वारा अधिकार प्राप्त किया हो । इस बात को यहां परिधि द्वारा कहते हैं । पहले कण्डिकाओं का अक्षरार्थ देते हैं । फिर भावार्थ प्रमाण सहित देंगे ।

"अब (अध्वर्यु) परिधियों (इस नाम वाले तीन काष्ठों को । जिन का परिमाण बाहुमात्र हो । उनमें से स्थूलतम को मध्यम परिधि मानकर आहवनीय के पीछे अग्रभाग उत्तर की ओर रखते हुए रख दे । फिर जो उससे पतला हो उसे द्वितीय परिधि मानकर दक्षिण ओर अग्रभाग पूर्व की ओर करके रख दे । फिर तीसरा जो सबसे पतला हो उसे उत्तर की ओर अग्रभाग पूर्व की ओर करके रख दे । (का० २ । ८ । १ । शतपथभाष्ये सामश्रमि टिप्पणी पृ० २४३) को आहवनीय के तीन ओर रखता है । सो यह जो परिधियों को परिधान करता है उसका कारण यह है कि जब देवों ने अग्नि को होतृ-कर्म के लिए वरण किया तो वह बोला, मुझे साहस नहीं होता कि मैं तुम्हारा होता बनूं, तुम्हारे हव्य को देवों तक पहुँचाऊँ । पहले तुम तीन का वरण कर चुके हो वे सब चलते हुए । पहले उन्हें मुझे लाकर दो, तब मुझे भी साहस होगा कि मैं तुम्हारा होता बनूँ । तुम्हारा हव्य ढोकर ले जाऊँ । तब ऐसा ही होगा कहकर उन्हें उसके पास लाकर उपस्थित किया वही ये परिधि हैं ।१३। वह बोला उन (तीन पहले अग्नि) को वषटकार-रूपी वज्र ने खदेड़ दिया । सो मैं भी वषट्कार-रूपी वज्र से डरता हूँ । मुझे भी कहीं वषट्कार-रूप वज्र न खदेड़ डाले । सो मुझे इन तीनों से ढक दो । फिर मुझे वषट्कार-रूप वज्र न खदेड़ेगा । तब ऐसा ही करने का निश्चय करके यज्ञकर्त्ताओं ने उस अग्नि को इन तीनों से परिधान कर दिया । तब वषट्-कार-रूप वज्र ने उसको न खदेड़ा । सो वह अग्नि को कवच बांधता है यह जो परि-धियों की स्थापना करना है ।१४। तब वे तीनों बोले यह इस प्रकार हमें यज्ञ में जोतते हो तो यज्ञ में हमें भाग भी तो मिलना चाहिए ।१५। देवों ने कहा ऐसा ही होगा ।

परिधि से बाहर जो कुछ गिरेगा वह तुम्हारा भाग होगा। और तुम्हारे ऊपर से जो हवन होगा वह तुम्हारी रक्षा करेगा। सो जो कुछ अग्नि में हवन किया जाता है वह उनकी रक्षा करता है। और जो इन के ऊपर से हवन होता है वह इनकी रक्षा करता है। और जो परिधि से बाहर बिखर जाता है वह इन में हवन हुआ। इससे लाभ यह होता है कि बाहर गिरना भी अपराध नहीं होता। क्योंकि वह खदेड़े जाकर इस पृथिवी में तो घुस गए थे। सो अब जो कुछ गिरता है सो इस पृथिवी पर तो प्रतिष्ठित होता है।१६। वह बाहर बिखरे हुए हविर्द्रव्य को स्पर्श करता है। उस समय वाक्य पढ़ता है—**"भुवपतये स्वाहा, भुवनपतये स्वाहा, भूतानाम्पतये स्वाहा"** (यजु० २।२) यह भुवपति, भुवनपति, भूतानाम्पति उन तीन अग्नियों के नाम हैं। सो जिस प्रकार वषट्कारपूर्वक हवन है इसी प्रकार यह बिखरा पदार्थ उनमें हवन हुआ। १७। सो कई लोग इध्मकाष्ठ अर्थात् २१ समिधाओं की गठरी में से ही परिधि परिधान भी कहः हैं। वह वैसा न करना चाहिए। यह उस काम के लिए उपयुक्त नहीं हैं जो इध्म में से चुनकर परिधान कर देना है। इध्म काष्ठ अग्नि में आहुति करने के लिए तैयार किए जाते हैं। यह जो और काष्ठ परिधि कहकर लाए जाते हैं यही इस परिधिकर्म के लिए उपयोगी होते हैं।१८। वे पलाश के हों। पलाश ब्राह्मण काष्ठ है। अग्नि ब्राह्मण है और पलाश अग्नि है। इसलिए पलाश के हों। १९। यदि पलाश के न मिलें तो वैकङ्कत हों। यदि वैकङ्कत न मिलें तो काश्मर्य के हों। यदि काश्मर्य्य के न मिलें तो चाहे बिल्व के हों, चाहे खैर के हों, चाहे गूलर के हों। इतने यज्ञोपयोगी वृक्ष हैं। इसलिए इन वृक्षों के होते हैं।२०।"

यहां सबसे पहले वषट्कार को समझ लेना चाहिए जिससे अग्नि डरता था और जिसके कारण वह तीनों खदेड़े गए। फिर भुवपति, भुवनपति, भूतानाम्पति को समझने के पश्चात् इस सन्दर्भ का अर्थ अति सुगम हो जायगा। इनमें से पहले वषट्कार को ले लें। इस शब्द की व्युत्पत्ति वह धातु से डषट् प्रत्यय होने पर होती है। ऐसा वाचस्पत्य कोष में लिखा है, शतपथ में लिखा है कि वषट्कार देवों का पात्र है। देवों के लिए जो हव्य ले जावें वह वषट्कार के बिना ऐसा है मानो किसी को धरती पर अन्न परोस दिया। (शत० १। ७। २। १३)। सो वषट्कार का अर्थ है किसी पदार्थ को पूर्णता तक पहुँचा कर छोड़ना। कल्पना कर लीजिए कि एक आदरणीय अतिथि के लिए भोजन तैयार कराया गया। एक अधिकारी उसकी परीक्षा के लिए नियुक्त है। उसने परीक्षा की। परीक्षा से पता लगा कि अभी इसके पकने में कुछ कसर है। उसने कहा इसमें अमुक त्रुटि है। वह ठीक की गई। उसने फिर दोष बताया। अन्त में परीक्षा के पश्चात् निश्चय हुआ कि अब ठीक है, अब परोसने योग्य है। इसे वषट् अर्थात् (वहत) ले जाओ इसी प्रकार मोटर गाड़ियां तैयार हो रही हैं। एक शिल्पकार जो परीक्षार्थ नियत है उसकी परीक्षा पर नियुक्त है। उसने परीक्षा करके १० को तो दूकान में ले जाने योग्य निश्चय करके आज्ञा दी, वषट् (ले जाओ)। ५ को कह दिया इन्हें यहीं रक्खो, यह दूकान में रखने योग्य नहीं। तो जो वषट्कृत (Certified) हो गई वह तो ऐसी हैं मानो थाली में परोसने योग्य भोजन, जो इस प्रकार की नहीं हैं वह धरती पर बिखर अन्न के समान हैं। इसी प्रकार जो मनुष्य किसी अधिकार-पद पर नियुक्त होने के योग्य हो और परीक्षकों ने निश्चय कर के कह दिया वषट् (ले जाओ) अर्थात् इसे ले जाकर उचित पद पर नियुक्त कर दो, वह तो वषट्कार को पार कर गया। किन्तु जो इस

योग्य न हुआ उसे वषट्कार के वज्र ने मार दिया। इस प्रकार वषट्कार का अर्थ हुआ किसी पदार्थ को वारंवार परखना और जब तक वह स्वकार्यसमर्थ नहीं हो जाता तब तक उसका पीछा न छोड़ना।

अब अग्नि अर्थात् परीक्षोत्तीर्ण अधिकारी कहता है कि निःसन्देह मैं विद्या की परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया हूँ किन्तु मैं प्रजा के वषट्कार (Thorough-mindedness) से डरता हूँ। जब तक जो कार्य मैं करूं उस पर परम्परा (Tradition), लोकमत और राजमत की छाप न लग जाय तब तक मुझे पूर्ण सन्तोष न होगा कि मेरा निश्चय वषट्कार को पार कर सकेगा। राजमत इसलिए आवश्यक है कि किसी नये काम में व्यय आदि के उत्तरदायित्व को समझना राजकर्मचारियों का काम है। लोकमत इसलिए आवश्यक है कि हर एक राजनियम अन्त को भोगना प्रजा को ही पड़ता है। वंश-परम्परागत विचार इसलिए आवश्यक है कि जो प्रथा सहस्रों वर्षों तक स्थिर रही है, उसके उपयोगी होने की सम्भावना है। परन्तु विज्ञान के सामने इन तीनों का दरजा छोटा है। इसलिए विज्ञान की परीक्षा को सबसे ऊँचा दरजा देकर इन तीनों को परिधि अर्थात् कवच का स्थान दिया। यदि कोई विद्वानों की कही बात राजानुमोदित, प्रजानुमोदित परम्परानुमोदित भी हो जाय तब तो उसने अभेद्य कवच धारण कर लिया। और यह तीनों ही विद्वानों के एक प्रवाह में बह जाने के (one-sidedness) प्रतिनियन्त्रण भी हैं।

अब भुवपति वंशपरम्परा का प्रतिनिधि है। क्योंकि वह भुव, अमुक वंश में जन्म लेने के कारण पति है। भुवनपति नाम राजा का है। अतः भुवनपति राजा का प्रतिनिधि है। भूतानाम्पति प्रजा का प्रतिनिधि है। इस बात की सूचना यहां भूतानां इस बहुवचन से मिलती है। भुवपति भूतकाल का प्रतिनिधि है। भुवनपति वर्त्तमान का और भूतानाम्पति भविष्य का, क्योंकि इसका फल क्या होगा, यह प्रजाजन अच्छा समझते हैं। और अग्नि विज्ञान का प्रतिनिधि है।

अब कण्डिकाओं का अर्थ इस प्रकार हुआ—"फिर अध्वर्यु परिधियों को आहवनीय के तीन ओर रखता है। सो यह जो परिधियों को रखता है, यह इसका सूचक है कि जब राष्ट्र के कार्यकर्त्ता देवों ने किसी कर्मचारी को परीक्षा के पश्चात् नियुक्त किया तो वह बोला, मुझे तो हिम्मत नहीं पड़ती कि मैं तुम्हारा होता बनूं, या तुम्हारा हव्य ढोऊं। पहले तुमने इसी पद पर तीन को नियुक्त किया। वे चलते बने। उन्हें मुझे लाकर दो। तब मुझे यह उत्साह होगा कि तुम्हारा होता बनूँ या तुम्हारा बोझा ढोऊँ। तब देवों ने ऐसा ही होगा, कहकर उन्हें लाकर उपस्थित किया। वह यह तीन परिधि उन्हीं के चिह्न हैं।१३। वह अग्नि अर्थात् राज कर्मचारी बोला, संसार की कड़ी परीक्षा के वज्र ने उन्हें खदेड़ दिया था। मैं भी उसकी कड़ी परीक्षा रूप वज्र से डरता हूँ। कहीं मुझे कड़ी परीक्षा-रूप वज्र न खदेड़ दे। इसलिए इन तीनों से अर्थात् राजानुमोदन, लोकानुमोदन और वंश-परम्परानुमोदन से मुझे ढक दो। फिर मुझे कड़ी परीक्षा रूप वज्र न खदेड़ेगा। तब ऐसा ही हो, यह कहकर उस अग्नि अर्थात् राजकर्मचारी को इन्होंने इन तीनों से ढक दिया। तब कड़ी परीक्षा का वज्र उसे न खदेड़ पाया। सो यह जो परिधियों की स्थापना करना है वह अग्नि के लिए कवच बांधना है।

तात्पर्य यह कि विज्ञानवित् (experts) की सम्मति पर यदि यह तीन प्रश्न और पूछ लिये जायें कि—

(१) वर्त्तमान राज्याधिकारियों को इस विषय में क्या कहना है?

(२) वंशपरम्परा से इस सम्बन्ध में क्या नियम चला आता है ?

(३) जिन पर इस नये नियम अथवा पदार्थ का सीधा प्रभाव पड़ेगा, वे क्या कहते हैं ?

और यदि यह तीनों भी उस विज्ञानवित् अग्नि की सम्मति का अनुमोदन कर दें तो मानो उस सम्मति ने अभेद्य कवच पहिन लिया। किन्तु विज्ञान अकेला भी इन तीनों को परास्त करता है। यह केवल परिधि-मात्र हैं। कवच हैं। शरीरधारी नहीं, कवच हैं। कवच के स्वामी नहीं, स्वामी तो अग्नि ही है। वह कवच के बिना भी चल सकता है, किन्तु उस अवस्था में कवच-हीन अवस्था की अपेक्षा खतरे अधिक होंगे।१४। तब यह परिधि बोले यदि हमें यज्ञमें जोतते होतो हमें यज्ञभाग भी तो मिलना चाहिए।१५। देवों ने कहा ऐसा ही होगा। जो परिधि के बाहर जा पड़ेगा वह तुम्हारा होगा। (तात्पर्य यह कि ऐसे सहायक न्यायाधीशादि को जो राजकर्मचारियों से बचा-खुचा अतिरिक्त कार्य हो वह दे देना चाहिए) और जो तुम्हारे ऊपर से हवन होगा अर्थात् तुमको साक्षी बनाकर तुम्हारी अनुमति से कार्य होगा वह तुम्हारी रक्षा करेगा। अर्थात् यही तुम्हारा गौरव होगा। और जो राज-कर्मचारी कार्य करेंगे उसके सहायक होने के कारण उस पुण्य के भागी भी तुम होगे। वह पुण्य भी तुम्हारी रक्षा करेगा। सो जो अग्नि में हवन होता है अर्थात् परीक्षानन्तर नियुक्त कर्मचारियों द्वारा निर्णय होता है उसका पुण्य भी इन्हें मिलता है। जो इनके ऊपर हवन होता है अर्थात् इन्हें साक्षी बनाकर निर्णय होता है तो अपनी सम्मति देने का पुण्य भी इनकी रक्षा करता है। और जो परिधि से बाहर कार्य आ पड़ा वह तो दिया ही इन्हें जायगा। इससे यह होगा कि कार्य के अत्यधिक बढ़ जाने पर राजकर्मचारी जल्दी घसीटने के जिस अपराध के प्रलोभन में फंस जाते हैं उससे बच जावेंगे। क्योंकि जो गिरा सो धरती पर गिरा। और धरती पर अब ये प्रतिष्ठित हैं। सो पात्र में ही गिरा।१६। बिखरे हुए हवि द्रव्य को स्पर्श करके वह (अध्वर्यु) मन्त्र पढ़ता है **"भुवपतये स्वाहा, भुवनपतये स्वाहा, भूतानाम्पतये स्वाहा"** (यजु० २।२) ये उन तीन अग्नियों के नाम हैं—भुवपति, भुवनपति, भूतानाम्पति। सो इन में हवन हुआ मानो वषट्कृत हुआ अर्थात् सुपरीक्षित ही हुआ।१७। कई लोग यह परिधि ईंधन अर्थात् पहले अन्य कार्यों में लगे हुए कर्मचारियों में से ही ले लेना चाहिए ऐसा कहते हैं। किन्तु ऐसा कभी न करना चाहिए। जो पहले ही दूसरे अग्नि के इन्धन बन चुके हैं, जिनका समय अन्य कार्यों के अर्पण हो चुका है, वह इस कार्य के लिए अनुपयुक्त होते हैं। इध्म तो पहले ही अग्नि में अभ्याधान के लिए तैयार किया जाता है। सो वही उस कार्य के लिए ठीक हैं जिन्हें अतिरिक्त-रूप से परिधि कह कर लाया जाता है। तात्पर्य यह कि इस कार्य के लिए वही मनुष्य चुने जाने चाहियें जिन्हें किसी अन्य कार्य का विशेष व्यासङ्ग न हो। इसलिए और ही लाए जाने चाहिएँ। कार्यव्यासक्त नहीं।१८। वे ब्राह्मण ही होने चाहियें। क्योंकि ब्राह्मण ही त्यागी होने के कारण जीविका की चिन्ता से मुक्त हो सकता है। पलाश लकड़ी लकड़ियों में ब्राह्मण है। इसलिए वह ब्राह्मण की प्रतिनिधि बनाई गई। वह ब्राह्मण इसलिए है कि वह आग को शीघ्र ग्रहण करती है और देर तक रखती है।१९।

यदि पलाश न मिले तो विकङ्कत के परिधि बना ले। यदि विकङ्कत न मिलें तो काश्मर्य के। यदि काश्मर्य न मिले तो बिल्व के। यदि बिल्व न मिले तो खदिर के।

यदि खदिर न मिले उदुम्बर के। ये ही वृक्ष यज्ञिय हैं इसलिए इनके ही परिधि होते हैं।

इनके हिन्दी नाम इस प्रकार हैं —

(१) पलाश=ढाक।
(२) विकङ्कत=किंकिणी वंज या कण्टाई।
(३) काश्मर्य=खम्भारी।
(४) बिल्व=बेल या पंजाबी बिल्ल।
(५) खदिर=खैर।
(६) उदुम्बर=गूलर।

इसके विषय में ब्राह्मण ग्रंथों में जो लिखा है सो इस प्रकार है —

"प्रजापतिर्य्याम्प्रथमामाहुतिमजुहोत्स हुत्वा यत्र न्यमृष्ट ततो विकङ्कतः समभवत्।" श० ६।६।३।१॥

अर्थात् मानो प्रजापति ने जो प्रथम हवन क्रिया उसके पश्चात् जहाँ अपने चिकने हाथ पोंछ दिए उससे विकङ्कत हुआ।

तात्पर्य यह कि विकङ्कत चिकना होता है।

"देवा ह वा एनं वनस्पतिषु रक्षोघ्नं ददृशुर्यत् काश्मर्यम्।" श० ३।४।१।१६॥

अर्थात् देवों ने जिस वनस्पति को वनस्पतियों में राक्षस-नाशक पाया वह यह काश्मर्य है।

तात्पर्य यह कि काश्मर्य रोग के कीटाणुओं का नाशक है।

"अथ (प्रजापतेः) यत् कुन्तापमासीत् यो मज्जा स सार्धं समवद्रुत्य श्रोत्रत उदभिनत् स एष वनस्पतिरभवद् बिल्वः।" १३।४।१।८॥

अर्थात् वानस्पत्य जगत् रूपी प्रजापति का जो भेजा और मज्जा थी, वह कान के रास्ते पिघलकर बाहर उभर आई उससे यह बिल्व बना।

तात्पर्य यह कि बिल्व मज्जा के समान चिकना और पुष्टिकारक है।

"अस्थिभ्य एवास्य खदिरः समभवत् तस्मात्स दारुणो बहुसारः।

१३।४।४।९॥

अर्थात् वानस्पत्य जगत् रूपी प्रजापति की हड्डियों से खैर बना इसलिए वह बड़ा कठोर और सारवान् है।

ऊर्गुदुम्बरः। श० ३।२।१।३३॥

अर्थात् गूलर में ऊर्ज होता है।

तात्पर्य यह कि उदुम्बर शक्तिवर्धक रसमय है।

परिणाम यह निकला कि यदि ब्राह्मण उस पद के योग्य न मिले तो फिर जो स्नेह युक्त, दोष-नाशक, दृढव्रत, सारवान्, ऊर्जस्वी मनुष्य मिलें उनसे कार्य लेना चाहिए॥२०॥

यह आवश्यक नहीं कि यह परिधि कोई व्यक्ति विशेष हों वस्तुतस्तु राज्य के किसी भी पद पर नियुक्त अधिकारी को अपने ऊपर यह तीन बन्धन रखने चाहियें। वह अपने विषय का विशेषज्ञ होने के कारण उस पद पर नियुक्त किया गया है, इसलिए मुख्य अग्नि (अग्र+नी) तो वह स्वयं है। किन्तु उसे भी हर एक कार्य के करने के

पहले इन तीन बातों को जान लेना चाहिए कि—

(१) पुराना अनुभव इस विषय में क्या कहता है।

(२) जिन पर इस कार्य का सीधा प्रभाव होगा वे क्या कहते हैं।

(३) वर्तमान राज्य-नियम इस विषय में क्या कहता है।

यह तीन उसके परिधि (Limitations) हैं। और जब वह कोई ऐसा उपाय निकाल ले कि जिससे वह इन तीनों को सन्तुष्ट कर सके तब ही उसे समझना चाहिए कि उसने रोग का पूर्ण प्रतीकार कर पाया है। इसीलिए कहा—

॥ इति तृतीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ तृतीयाध्यायेचतुर्थं ब्राह्मणम्

ते वाऽआर्द्राः स्युः । एतद्धये षां जीवमेतेन सतेजस एतेन वीर्यवन्तस्तस्मादार्द्राः स्युः ॥१॥

"वे परिधि गीले अर्थात् हरे होने चाहिएं । यह ही इनका जीव है वह इसी से तेजोयुक्त हैं, इसीसे वीर्यवान् हैं । इसलिए आर्द्र होने चाहिएं ।"

तात्पर्य यह कि परिध्युपलक्षित मनुष्य अथवा वह विचार जो राजा प्रजा तथा परम्परा के प्रतिनिधियों की ओर से आवें आर्द्र (Sympethatic) होने चाहिएँ साथ ही वीर्यवान् भी होने चाहिएं ॥१॥

इस आर्द्रता का मनुष्य पक्ष में यह अर्थ है कि शासक को मार्गदर्शन के लिए नियुक्त सहायक न तो इतने अड़ियल होने चाहिएं कि वह व्यर्थ में शासन को असम्भव बना दें और न ऐसे निस्तेज और दब्बू होने चाहिएँ कि हर बात में व्यर्थ ही हाँ में हाँ मिलाते जावें । इसीलिए उन्हें आर्द्र कहा है । तेजस्वी, वीर्यवान भी हों और सरस भी हों यही आर्द्रता का तात्पर्य है । परिध्युपलक्षित विचारपक्ष में इसका अर्थ यह है कि मनुष्य यों ही काल्पनिक आशंकाओं में न मरता रहे । राजा प्रजा वंश परम्परादि सम्बन्धी जो भी विचार सामने रक्खे जानदार (Living sisues) हों ।

अब आगे परिधि-स्थापन के मन्त्र देते हैं।

स मध्यममेवाग्रे । परिधिं परिदधाति "गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित" (यजु० २।३०) इति ॥२॥ अथ दक्षिणं परिदधाति । "इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित" (यजु० २।३) इति ॥३॥ अथोत्तरं परिदधाति । "मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित" (यजु० २।३) इत्यग्नयो हि तस्मादाहाग्निरिड ईडित इति ॥४॥

"सब से पहले वह परम्परा सूचक मध्यम परिधि की स्थापना करता है । उस समय वाक्य बोलता है—**गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः** (यजुः २।३) । अर्थात् हे अग्न्युपलक्षित ! शासक विश्वावसु अर्थात् सम्पूर्ण प्रजा के हृदय में परम्परा से बसने वाला गन्धर्व अर्थात् रूढि तुझे परिमित तथा परिरक्षित करती है, तेरी स्थापना यहाँ विश्व के कल्याण के लिए हो रही है, तू यजमान का परिधि (नियन्त्रक रक्षक) है, तू हमारी स्तुति करने वाला है, अर्थात् भलाई चाहने वाला है, यों और अतएव ईडित स्तोतव्य भी है । गन्धर्व शब्द यहाँ इसलिए कहा कि यहाँ उन रूढि से तात्पर्य है जो प्रजा को इतनी प्यारी हो चुकी हों कि उन्हें संगीतकार के मधुर संगीत के समान प्यारी हों और उनमें बाधा प्रजा को बेसुरे राग के समान अखरे । यदि कभी राज्याधिकारियों को कोई ऐसा नियम बनाना देश कालानुसार आवश्यक प्रतीत होता हो

जो रूढि के अत्यन्त विपरीत हो तो उन्हें चाहिए कि प्रजा के हृदयों को पहले प्रचारादि द्वारा वशीभूत करलें, विश्वावसु गन्धर्व की पूजा कर लें। ऐसे मार्ग से न चलें कि रूढियों को घोर आघात (Rude Shock) पहुँचे। नहीं तो जहाँ विश्वावसु गन्धर्व चिल्लाया कि यह नियम बेसुरा है फिर विशेषज्ञ महाराज का सारा ज्ञान-विज्ञान और युक्ति-परम्परा धरे रह जावेंगे। वर्तमान युग में पठान नरपति अमानुल्लाह ने इसी राजनीति के तत्त्व को न जानकर हानि उठाई। इसलिए इस परिधि को नहीं लांघना चाहिए। किन्तु धीरे-धीरे अपने अनुकूल कर लेना चाहिए।२।

"फिर राज-नियम सूचक तथा राज-प्रतिनिधि सूचक दक्षिण परिधि को स्थापन करता है। उस समय बोलता है—**इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः।** (यजु०२।३) अर्थात् हे दक्षिण परिध्युपलक्षित राजनियम तथा राजप्रतिनिधि तू इन्द्र अर्थात् राजा का दाहिना हाथ है, तू यहां इस शासक के कार्य म विश्व के अ+रिष्टि अर्थात् मार्गभ्रष्ट न होने के लिए यजमान का परिधि है, इड अर्थात् हमारा हितैषी और ईडित स्तोतव्य है। तात्पर्य यह है कि नया नियम अथवा कार्य प्रचलित राजनियम के विरुद्ध भी न होना चाहिए नहीं तो कोई मर्यादा ही न रहेगी। यदि नया नियम चलाना हो तो पहले उस नियम पर चलने वालों पर क्या प्रभाव होगा यह अवश्य देख लेना चाहिए। उदाहरण के लिए हम आज राजनियम बनाने लगे हैं कि तीन वर्ष बीत जान पर उत्तमर्ण अधमर्ण से ऋण न ले सकेगा। कल्पना कीजिये कि अब से पहले पाँच वर्ष का नियम था। ऐसे समय में यह अवश्य देखना पड़ेगा कि जिन्होंने ५ वर्ष का नियम समझ कर लेन देन किया था उन पर इसका क्या प्रभाव होगा इसलिए यह दूसरा परिधि है। २।

"फिर प्रजा की सम्मति सूचक तीसरा परिधि स्थापन करते हैं। उस समय मन्त्र बोलते हैं—**मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः। यजु० २। ३।**

अर्थात् हे शासक! तेरा सबसे बड़ा अविचल धर्म प्रजा का हित है, इस नियम का जिन पर सीधा प्रभाव होगा उसके प्रतिनिधिभूत ब्राह्मण तथा क्षत्रिय तुझे उत्तर की ओर से परिमित तथा परिरक्षित करें, हे प्रतिनिधे! तू विश्व की अरिष्टि के लिए यजमान का परिधि है, और अतएव इड और ईडित है।

यहां हमने "त्वा" इस शब्द का सम्बोध्य मुख्य अग्नि को माना है। क्योंकि परिधि तो कर्ता है और उनका परिधेय मुख्य अग्नि है। फिर 'परिधिरसि' यहां से अगले वाक्य का सम्बोध्य परिधि सूचित व्यक्ति है।

अर्थात् 'त्वा' सम्बोधन मुख्य शासक को है और 'परिधिरसि' यह सम्बोधन सहायक को। मित्रावरुणौ का अर्थ ब्राह्मण तथा क्षत्रिय स्वयं शतपथ के आधार पर है। इसका प्रमाण है—**ब्रह्मैव मित्रः क्षत्रं वरुणः।** ४।१।४।१।

इससे स्पष्ट है कि चाहे राजनियम बनाने वाली सभा में सब लोगों के प्रतिनिधि हों किन्तु शासक के शासन कार्य में उनके प्रतिनिधि विद्वान् ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय लोग होने चाहिएँ।

अब यहां पुरोडाश द्वारा पति का वर्णन हुआ तथा वेदि द्वारा पत्नी का। परन्तु पत्नी तो यजमान के हृदय की अभिलाषाओं का केन्द्र है। वह तो उसके जीवन के उद्देश्य (वर्ण धर्म) की पूर्ति में उसकी सबसे बड़ी सहकारिणी है। परन्तु अब अगले

प्रकरण में वह अपने जीवन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने कार्यालय (पाठशाला, न्यायालय, वरुणालय, दूकान आदि) में प्रवेश करता है। सो वह उस समय क्या व्यवहार करे, यह भी बताया जायगा। प्रश्न है कि जब वेदि को पत्नी का प्रतिनिधि माना तो कार्यालय धर्म को बताने वाली आहुति वेदि में क्यों होगी। इसका उत्तर है कि जिस प्रकार वेदि पत्नी का उपलक्षण है उसी प्रकार पत्नी भी स्वयं उसके मुख्य कर्म में सहायकों का उपलक्षण है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक मनुष्य को अपना कार्यालय ऐसा ही प्यारा होना चाहिए जैसी पत्नी। और पत्नी को भी समझना चाहिए कि मेरा पति जो अपना कर्तव्य-पालन कर रहा है सो यह मेरी ही आराधना हो रही है। अब अगली विधि में यह दिखायेंगे कि मनुष्य अपनी सहधर्मचारिणी के समान प्राणाधिक प्रिय कर्तव्यशाला में प्रवेश करता है जिसमें उसे राष्ट्र ने नियुक्त किया है। सबसे पहली बात तो यह है कि कर्तव्यशाला में प्रवेश करते हुए उसे देखना चाहिए कि मेरी कर्तव्यशाला मेरी पत्नी के सदृश—सुक्ष्मा शिवा स्योना सुषदा ऊर्जस्वती पयस्वती अर्थात् सुक्ष्मा दृढ़, शिवा मंगलमयी अर्थात् भगवान् का स्मरण दिलाने वाली, स्योना सुख देने वाली, सुषदा साफ सुथरी, ऊर्जस्वती स्वास्थ्य की दृष्टि से बलवर्धक और पयस्वती आने वालों को जल दूध आदि से तृप्त कर सकने वाली है या नहीं। यह सब विशेषण वेदि के १३९ पृष्ठ (श० १।२।५।११) पर दिये हैं। क्योंकि कर्तव्यशाला भी पत्नी के समान है इसलिए वह भी वैसी ही स्नेहभरी, मन्दस्मित से स्वागत करने वाली होनी चाहिए। इसी प्रकार अन्य विशेषणों को भी देख लेना। अब कर्तव्यशाला में प्रवेश करते ही सबसे पहले क्या कर्तव्य है सो आगे बताते हैं। इसमें पहले तीन समिधाओं का आधान है। पहले इनका अक्षरार्थ देंगे और फिर तात्पर्य स्पष्ट करेंगे।

अथ समिधमभ्यादधाति। स मध्यममेवाग्रे परिधिमुपस्पृशति तेनैतानग्रे समिन्धेऽथाग्नावभ्यादधाति तेनोऽअग्निं प्रत्यक्षꣳसमिन्धे ॥५॥ सोऽभ्यादधाति। "वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तꣳ समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वर" (यजु० २।४) ऽइत्येतया गायत्र्या गायत्रीमेवैतत्समिन्धे सा गायत्री समिद्धान्यानि छन्दाꣳसि समिन्धे छन्दाꣳसि समिद्धानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति ॥६॥ अथ यां द्वितीयाꣳ समिधमभ्यादधाति। वसन्तमेव तया समिन्धे स वसन्तः समिद्धोऽन्यानृतून्त्समिन्धऽऋतवः समिद्धाः प्रजाश्च प्रजनयन्त्योषधीश्च पचन्ति सोऽभ्यादधाति "समिदसी" (यजु० २।५) ति समिद्धिः वसन्तः ॥७॥ अथाभ्याधाय जपति। "सूर्यस्त्वा पुरस्तात्पातु कस्याश्चिदभिशस्त्या" (यजु० २।५)ऽइति गुप्त्यैवाऽअभितः परिधयो भवन्त्यथैतत्सूर्यमेव पुरस्ताद् गोप्तारं करोति नेत्पुरस्तान्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यभ्यवचरानिति सूर्यो हि नाष्ट्राणाꣳ रक्षसामपहन्ता ॥८॥ अथ यामेवामूं तृतीयाꣳ समिधमभ्यादधाति। अनुयाजेषु ब्राह्मणमेव तया समिन्धे स ब्राह्मणः समिद्धो देवेभ्यो यज्ञं वहति ॥९॥

"फिर वह एक समिधा (आहवनीय में) आधान करता है। पहले उस समिधा से मध्यम परिधि को स्पर्श करता है। इससे इन (पूर्वोक्त भुवपति, भुवनपति, भूतानाम्पति नामक अग्नियों) को प्रदीप्त करता है, और स्पर्श करने के पश्चात् अग्नि में आधान करता है, इससे प्रत्यक्ष सम्मुख विद्यमान अग्नि को समिन्धन करता है ॥५॥ सो वह समिदाधान करता है—**वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि अग्ने बृहन्तमध्वरे** (यजु० २।४) इस गायत्री द्वारा। सो यह गायत्री को प्रदीप्त करता है। गायत्री प्रदीप्त हुई अन्य छन्दों को प्रदीप्त करती है। अन्य छन्द प्रदीप्त हुए देवों तक यज्ञ को

पहुंचाते हैं ।।६।। फिर जिस दूसरी समिधा को आधान करता है उससे वसन्त को दीप्त करता है । वह वसन्त प्रदीप्त होकर अन्य ऋतुओं को प्रदीप्त करता है । ऋतु प्रदीप्त होकर प्रजा को उत्पन्न करते हैं । और औषधियों का परिपाक करते है । उस समय वह वाक्य बोलता है "समिदसि" (यजु० २ । ५) वसन्त ही समिध् है ।।७।। फिर उस समिधा की स्थापना करके जपता है—**सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै** (यजु० २ । ५) यह परिधियें तीन ओर रक्षा के लिए स्थापित होती हैं । अब पूर्व की ओर सूर्य को गोप्ता (रखवाला) बनाता है । जिससे सामने से भी नाशकारी राक्षस यज्ञ में न घुस पड़ें । क्योंकि सूर्य ही नाशकारी राक्षसों का मारने वाला है ।।८।। फिर यह जो अनुयाज हवन के समय तीसरी समिधा आधान करता है उससे ब्राह्मण को प्रदीप्त करता है । वह ब्राह्मण प्रदीप्त होकर देवों तक यज्ञ को पहुंचाता है ।।९।।

यह अक्षरार्थ हुआ, अब तात्पर्य सुनिए—

कर्तव्यशाला में प्रवेश करते ही मनुष्य का कर्तव्य है कि सबसे प्रथम उन तीन मर्यादाओं का ध्यान करे जिनकी परवाह न करने से कोई नया किया हुआ कार्य गड़बड़ उत्पन्न करता है । वे तीन परिधि अथवा मर्यादा हैं—

(१) प्रचलित रूढ़ि ।
(२) लोकमत ।
(३) प्रचलित राजनियम ।

चौथी अग्नि वर्तमान प्रत्यक्ष ज्ञान है । किन्तु वर्तमान प्रत्यक्ष ज्ञान को इन पूर्वोक्त तीन अग्नियों से सहायता अवश्य लेनी चाहिए । इन में से भी वर्षों का अनुभव सब से मुख्य है । इसलिए प्रचलित परम्परा को तीनों का प्रतिनिधि मानकर उनके प्रति आदर सूचक मध्यम परिधि स्पर्श करता है । परन्तु यह ध्यान रहे कि यह आदर स्पर्श मात्र तक है । अर्थात् इनका ध्यान अवश्य करना होगा इनकी उपेक्षा नहीं करनी होगी । परन्तु मुख्य दृष्टि वर्तमान आवश्यकता और वर्तमान विज्ञान की है । यदि परम्परा का अनुभव वर्तमान युग के ज्वलन्त प्रश्न की समस्या को नहीं सुलझा सकता परन्तु वर्तमान युग की खोज उसमें सहायक है तो मुख्यता उसी की है । वह 'प्रत्यक्ष अग्नि है' ।२। इस लिए पूर्व परिधि स्पर्श पूर्वक समिदाधान द्वारा प्रत्यक्ष अग्नि को समिन्धन करता है । इस समय जो मन्त्र पढ़ा जाता है उसका भाव यह है कि मनुष्य को यह बताया जाय कि राज-कार्यालय से लेकर अपनी दूकान तक, मनुष्य कहीं कर्तव्यशाला में खड़ा हो तो उसे पता होना चाहिए कि यह कर्तव्यशाला ही उसे अन्न दे रही है । और यदि वह ईमानदारी से कार्य न करेगा तो यह अन्न भगवान् उससे छीन लेगा । मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि अग्ने बृहन्तमध्वरे । (यजु० २ । ४)

अर्थात् हे (कवे) क्रान्तदर्शिन् भगवन् (अग्ने) मार्गदर्शक अग्रणी (वीति-) अन्न तथा अन्य कमनीय पदार्थ हम तक (होत्रम्) भेजने वाले (वीति+होत्रम्) (द्युमन्तम्) दीप्तिमान् (बृहन्तम्) सबसे बड़े, आपको हम (अध्वरे) हिंसा निवारक कर्तव्यपालन में (समिधीमहि) अपने हृदय में प्रदीप्त करें ।

तात्पर्य यह कि अन्नादि सब कमनीय पदार्थ प्रजा के कल्याण के लिए आपने हमें दिये हैं । हम अपनी कर्तव्यशाला में प्रवेश करते समय आपको साक्षी करते हैं । आप हमारे हृदय में प्रदीप्त रहो जिससे हम इनको उस कार्य में ही लगावें जिसके लिए आपने यह हमें दिये हैं ।

वीति शब्द की व्युत्पत्ति "वी गतिव्याप्तिप्रजननकान्त्यसनखादनेषु" इस धातु से हुई है। कान्ति अर्थ के आधार पर कमनीय और खादन के आधार पर हमने अन्न अर्थ किया है। वीति का होत्र अर्थात् अन्नदाता यह अर्थ इस शब्द का हुआ।

गायत्री छन्द के चौबीस अक्षर हैं। इस का अर्थ यह हुआ कि गायत्री अर्थात् चौबीस वर्ष के पूर्व किसी को कर्म-क्षेत्र में प्रवेश नहीं करना चाहिए। उससे पहले सबको शिक्षा पानी चाहिए। सो गायत्री अर्थात् प्रभु के गुणों का गान करने वाली शिक्षा सबसे पहले मनुष्य को कर्तव्यशाला में प्रवेश का अधिकारी बनाती है। उससे अन्य मर्यादाएं प्रदीप्त होती हैं और वे यज्ञ को अपने अभीष्ट स्थल पर पहुँचाती हैं ॥६॥

अब "समिदसि" (यजु० २। ५) कहकर जिस समिधा का आधान करता है उसका तात्पर्य कहते हैं। उसके द्वारा वसन्त का समिन्धन करता है। तात्पर्य यह कि मनुष्य जब प्रातःकाल कार्य आरम्भ करे उससे पहले दिन भर क्या करना है इस पर शान्त चित्त से निष्पक्ष होकर विचार कर ले। किसी एक ओर अधिक न झुका हो। बस इस समावस्था की वसन्त से उपमा दी गई है। जब फिर अपना मार्ग निश्चय कर के बलपूर्वक उस कार्य में सरगर्मी से लग जावे तब मानो ग्रीष्म ऋतु आ गई। जिस प्रकार ग्रीष्म से पहले वसन्त आता है इसी प्रकार एकाग्रचित्त से कार्याभिनिवेश ज्वाला से पहले अशान्त निर्द्वन्द्व चिन्तन आता है। और वही "**कार्यं वा साधयेयं देहं वा पातयेयम्**" इस ज्वाला को प्रदीप्त करता है। जितना निर्द्वन्द्वरूप से (Dispassionately) किसी कार्य के औचित्य पर विचार किया गया होगा उतना ही निर्धारित मार्ग पर चलते हुए उससे न डिगने का जोश प्रबल होगा। इसी निर्द्वन्द्व चिन्तन का नाम वसन्त है। क्योंकि वसन्त ऋतु शीतोष्णादि द्वन्द्व रहित है और क्योंकि यही सच्चे जोश का उत्पादक है। इसलिए इसे "समिदसि" कहा गया है अर्थात् हे निर्द्वन्द्व ! चिन्तन ! तू कार्य सिद्धार्थ जोश का समिन्धन करने वाला है। जिससे कार्य रूप औषधि परिपक्व होती हैं, और फल रूप प्रजा उत्पन्न होती है। इसीलिए "समिदसि" कहकर इस इध्म की स्थापना करता है ॥७॥

फिर स्थापन करके जपता है—

सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै (यजु० २। ५)

जिस प्रकार मेघ रहित सूर्य से वसन्त की शोभा होती है। इसी प्रकार विकार-रहित ज्ञान से कर्तव्यशाला की शोभा होती है। सो वह सूर्यों का सूर्य परमेश्वर और उसका ज्ञान रूपी सूर्य मुझे आगे बढ़ते हुए मार्ग में आने वाली सब अभिशस्तियों अर्थात् विघ्न बाधाओं से बचावे। तात्पर्य यह कि यदि विचारक के विचार को सब ओर से बांध दिया जावे तो उसमें कभी नवीनता नहीं आ सकती। वह पुरस्तात् अर्थात् आगे नहीं बढ़ सकता। अतएव अग्नि को जहां दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तीन ओर से परिधियों से घेर दिया है वहां एक ओर से खुला भी छोड़ दिया है। यहां केवल एक ही बन्धन है कि जो कुछ कर भगवान् को तथा उसके ज्ञान वेद को साक्षी करके कर। किन्तु भगवान् की तथा वेद की आज्ञा क्या है इसे स्वतन्त्र होकर विचार। इसीलिए इस ओर कोई परिधि नहीं लगाया गया। इस ओर विचारक की ईश्वर-परायणता ही उसकी रक्षा करने वाली है। इसीलिए कहा कि तीन ओर तो परिधि लगाता है, किन्तु पुरस्तात् सूर्य अर्थात् परमेश्वर को गोप्ता करता है। वह हमारा ज्ञान मार्ग में इसी प्रकार रक्षक

है जैसे यह सूर्य स्थूल जगत् में नाशकारी राक्षसों का अपहन्ता अर्थात् मारने वाला है ॥८॥

अब अनुयाज प्रकरण में जो तीसरी समिधा-स्थापन करता है इससे ब्राह्मण को प्रदीप्त करता है और वह प्रदीप्त होकर यज्ञ को देवों तक पहुँचाता है। तात्पर्य यह कि मनुष्य इस संसार में मजदूरी, दूकानदारी, राज्य-कार्य आदि किसी कार्य में भी क्यों न लगा हो उसे अपना स्थिर सम्बन्ध एक न एक ऐसे ब्राह्मण से अवश्य बनाए रखना चाहिए जो उस विशेष विद्या का विशेषज्ञ हो जिससे सम्बद्ध व्यवसाय में उसने अपना जीवन लगाया हुआ है। वह सच्चा त्यागी विद्वान् ही उसे नये-नये उपाय भी बतायगा और अधर्म-मार्ग में जाने से भी बचाएगा। ध्यान रहे कि इस विद्वान् का सम्बन्ध कर्तव्यशाला से है परिवार से नहीं। किन्तु यह याद रहे यह पद पुरोहित से भिन्न है। चाहे आवश्यकता पड़ने पर पुरोहित को ही दोनों पदों पर प्रतिष्ठत कर दिया जाय किन्तु पद दोनों अलग हैं ॥९॥

अथ स्तीर्णां वेदिमुपावर्तते। सद्वे तृणे आदाय तिरश्ची निदधाति "सवितुर्बाहू स्थ" (यजुः २।५) इत्ययं वै स्तुपः प्रस्तरोऽथास्यै तु भ्रुवावेव तिरश्ची निदधाति तस्मादिमे तिरश्च्यौ भ्रुवौ क्षत्रं वै प्रस्तरो विश इतरं बर्हिः। क्षत्रस्य चैव विशश्च विधृत्यै तस्मात्तिरश्ची निदधाति तस्माद्वेव विधृति नाम ॥१०॥

"अब जिस पर पहले कुशा बिछाई जा चुकी हैं उस वेदि की ओर आता है। फिर वह (अध्वर्यु) दो (अरत्नि मात्र साग्र, कातीये०) तिनके (बिछे हुए बर्हि में से कातीये०) लेकर टेढ़े रखता है। उस समय वाक्य पढ़ता है "सवितुर्बाहू स्थः" (यजु० २। ५) यह प्रस्तर जो हैं सो यज्ञ का स्तुप अर्थात् शिखर भाग के बालों के समान हैं यह पहले कह आए हैं। शिखर के अर्थात् सर्वोच्च स्थान के बालों में भ्रू युगल का भी दर्जा है। सो यह दो तृण भ्रू युगल के समान जानो। सो यह भ्रू जिस प्रकार टेढ़ी होती है इसी प्रकार इन दो तृणों को रखता है। इसीलिए यह भौंहें भी टेढ़ी हैं। इन दो तृणों को विधृति नाम दिया गया है। सो इसलिए कि प्रस्तर का दर्जा क्षत्रिय का और शेष कुशाओं का जो बिछाई गई हैं दर्जा वैश्यों का है। सो यह क्षत्रिय और वैश्य दोनों का विधारण करती हैं। इनमें परस्पर सम्बन्ध उत्पन्न करती हैं। इसीलिए इनका नाम विधृति है और इसीलिए भ्रू-युग के समान आड़ी रखी जाती हैं।१०।"

तात्पर्य यह कि हर एक कर्तव्यशाला में चाहे वह व्यक्तिगत सम्पत्ति ही क्यों न हो राजनियम की देखरेख और पड़ताल अवश्य चाहिए और राजनियम द्वारा नियन्त्रण भी अवश्य चाहिए। वह इतना हो कि भ्रूभंग मात्र से दुष्ट लोग कांप उठें। भ्रूक्षेप हो हस्ताक्षेप नहीं।

जहां वेद कड़े शासन का आदेश करता है वहां सविता का प्रसव, अश्वियों के बाहू तथा पूषा के हाथ तीनों पहुँच जाते हैं। तात्पर्य यह कि जिन चीजों पर राज्य कड़ा नियन्त्रण रखना चाहे उन पर स्पष्ट राज्यनियम, तथा वहाँ राज्य की पहुंच का प्रबन्ध तथा उसकी आय भी राज्य के हाथ में होनी चाहिए। जब गड़बड़ होने लगे तो आय बन्द कर दें। बस दुष्ट लोग स्वयं सीधे हो जावेंगे। सविता के साथ प्रसव (Impulsion) अश्विनौ के साथ बाहू अर्थात् व्यापकता यद्वा पहुँच के अन्दर होना तथा पूषा के साथ हस्त अर्थात् रोकने और पकड़ने की सामर्थ्य सदा पाई जाती है। किन्तु जहां राज्य का इतना कड़ा नियन्त्रण न हो भ्रूक्षेप तो वहां भी चाहिए। इसलिए इन

भ्रू युग के स्थानीय तृणों को सविता, राजनियम बनाने वाले राजा के बाहू कहा है। अंग्रेजी भाषा में भी 'राज्यनियम की दीर्घ भुजाएँ' (Long arms of Law) का मुहाविरा प्रयोग में आता है। इसलिए अर्थ यह हुआ कि हे विधृति तृणोपलक्षित कर्त्तव्य-शालाओं के निरीक्षको ! तुम सविता अर्थात् राजनियम के अधिष्ठाता की भुजास्वरूप हो। द्विवचन से यह सूचित होता है कि वे दो होने चाहिएँ। जिससे एक-दूसरे के निकाले परिणामों की तुलना की जा सके। अथवा समय पड़ने पर एक का स्थान दूसरा ले सके। यद्वा एक राजा की ओर से नियत हो और एक प्रजाजनों द्वारा निर्धारित हो। अथवा एक स्त्री और पुरुष हो। तात्पर्य यह कि छोटे-से-छोटे कार्य का भी राज्य द्वारा निरीक्षण अवश्य होना चाहिए। जिससे लोग मनमानी न करें और बुरे पदार्थ उत्पन्न करके प्रजा को न ठगें। तभी क्षत्रिय वैश्यों का विधारण कर सकते हैं ॥१०॥

अब आगे प्रस्तर-स्तरणविधि लिखते हैं—

तत्प्रस्तरꣳ स्तृणाति। "ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यः" (यजुः २।५) इति साधु देवेभ्य इत्येवैतदाह यदाहोर्णम्रदसं त्वेति "स्वासस्थं देवेभ्य" (यजुः २।५) इति स्वासदं देवेभ्य इत्येवैतदाह ॥११॥

"फिर उन विधृति नामक तृणों के ऊपर कुशा में से "**विष्णोः स्तुपोऽसि**" कह-कर पहले पृथक् किये हुए प्रस्तर नामक कुश-समूह का अग्रभाग पूर्व की ओर रखते हुए विछाता है। उस समय वाक्य पढ़ता है "**ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यः**" (यजुः २।५) ऊर्ण शब्द "ऊर्णुञ् आच्छादने" धातु से बना है। उसका अर्थ है आच्छा-दक। अर्थात् बैठने के समय जो सुख होता है उसके बाधक तृण काष्ठादि ऊर्णों को जो म्रदयति अर्थात् मृदु करता है उसे ऊर्णम्रदस् कहते हैं। आसन का काम है कि जब वह बिछा दिया जाता है तो वह हमारे आसन सुख के आच्छादक तृण काष्ठादि को मृदु कर देता है। फिर वह हमारे नितम्ब प्रदेश में चुभते नहीं। इसी प्रकार यहां कर्त्तव्यशाला में बैठे। सबसे पहले भगवान् का स्मरण किया, उसे वीतिहोत्र कहा अर्थात् वही हमें अन्न भेजने वाला और हमारे द्वारा देवों को अन्न दिलाने वाला है, उसी की कृपा से शूद्र से राजा और उससे भी बढ़कर परिव्राजक तक सब लोग दिन-भर के श्रम द्वारा अपनी शक्त्यनुरूप देव हविः तैयार करते हैं। 'दस्युलोग उसमें से बहुत-सा नष्ट कर देते हैं, बहुत-सा स्वयं खा जाते हैं। परन्तु मनुष्य देव भाग अवश्य देते हैं। फिर भगवत्स्मरणा-नन्तर उसने अपने मन को निर्द्वन्द्व तथा पक्षपातरहित बनाया। यह मानो वसन्त-ऋतु आ गई। फिर किसी विद्वान् की सहायता प्राप्त की जो उस विषय का विशेषज्ञ था। अब वह अन्य सलाहकारों से भी सलाह लेगा इसके लिए आवश्यक है कि वह अपने आपको शिष्टाचार की मूर्ति बना ले। बस इस शिष्टाचार का नाम ही ऊर्णम्रदस् अर्थात् विघ्नहन्ता है। इस शिष्टाचार का ही उपलक्षण यहाँ प्रस्तर नामक कुश समूह है। अर्थ इस प्रकार हुआ कि हे प्रस्तरोपलक्षित शिष्टाचार तू ऊर्णम्रदस् विघ्नों को सुखकारी बना देने वाला है, मैं तुझे अपने कर्म-भवन में बिछाता हूँ, जिससे कि तू देवों के लिए "स्वासस्थ" सुख पूर्वक बैठने का साधन बने ॥११॥

अब अभिनिधान विधि कहते हैं—

तमभिनिदधाति। "आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्त्वि" (यजुः २।५) त्येते वै त्रयो देवा यद्वसवो रुद्रा आदित्या एते त्वासीदन्त्वित्येवैतदाहाभिनिहित एव सव्येन पाणिना भवति ॥१२॥

"फिर (दोनों हाथों से) उस प्रस्तर को अभिनिधान करता है अर्थात् नीचे दबाता है। उस समय वाक्य पढ़ता है। "**आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु** (यजुः २। ५) हे शिष्टाचार तुझे आसन बनाकर वसु, रुद्र आदित्य ब्रह्मचारी लोग तुझ पर बैठें। वसु, रुद्र, आदित्य ये तीन प्रकार के देव हैं ये तुझ पर बैठें यह कहता है। फिर अगली क्रिया जुहूग्रहण दाहिने हाथ से करता है उस समय भी बायां हाथ बिछाए हुए प्रस्तर पर रक्खा ही होता है। अर्थात् कर्त्तव्यशाला में परस्पर वार्त्तालाप विवादादि जो भी कार्य करे उसमें शिष्टाचार को हाथ से न जाने दे। जो विद्वान् स्वयं शरीर से वहां न बैठे हों किन्तु पुस्तक रूप में वहाँ बैठे हों, उनके विचारों का यथोचित आदर करें। और जहां उनके वचनों से सहायता ले वहाँ कृतज्ञता प्रकाश करे। यही उनके प्रति शिष्टाचार है। यह शिष्टाचार ऊर्णम्रदस् है, अर्थात् विचार के विघ्नों को नाश करता है। और जहां शिष्टाचार होता है उस मस्तिष्क में उत्तम विचार इस प्रकार आ बैठते हैं जैसे उत्तम आसन मिलने से विद्वान् लोग सभा में आ बैठते हैं।

यहाँ वसु, रुद्र तथा आदित्यों पर कुछ विचार कर लेना अप्रासङ्गिक न होगा।

शतपथ में लिखा है—

पुरुषो यज्ञः। (श० ३। १। २३)

फिर लिखा है—

अथेमं यज्ञं विष्णुं त्रेधा व्यभजन्त वसवः प्रातःसवनं रुद्रा माध्यन्दिनं सवनम् आदित्यास्तृतीयसवनम्।

(श० १४। १। १। १५)

फिर लिखा है—

गायत्री प्रातःसवनं त्रिष्टुम्माध्यन्दिनं सवनं जगती तृतीयं सवनम्।

(श० १४। १। १। १७)

फिर लिखा है—

चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री चतुश्चत्वारिंशदक्षरा वै त्रिष्टुप्।

(श० ८। ५। १। ११)

फिर लिखा है—

अष्टचत्वारिंशदक्षरा वै जगती। (श० ६। २। २। २३)

परिणाम :—

पुरुष {
वसु = प्रातः सवन = गायत्री = २४
रुद्र = माध्यन्दिन सवन = त्रिष्टुप् = ४४
आदित्य = तृतीय सवन = जगती = ४८

इस पर छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है—

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत् प्रातःसवनम् अथ यानि चतुश्चत्वारिंशत् वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनम् अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद् वर्षाणि तत्तृतीयं सवनम्। छान्दोग्य अध्याय ३। खण्ड १६।

इससे स्पष्ट पता लगा कि वसु संज्ञा २४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण करने वालों की, रुद्र ४४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण करने वालों की, आदित्य ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण करने वालों की है।

इसका यह अर्थ नहीं कि इन शब्दों के अन्य अर्थ नहीं। स्वयं शतपथ में ही अन्य अर्थ भी दिये हैं। किन्तु पुरुष के सम्बन्ध में हम यही अर्थ लेंगे ॥ १२ ॥

अब आगे जुहू, ध्रुवा और उपभृत् द्वारा कर्त्तव्यशाला के आय-व्यय के सम्बन्ध में उपदेश करते हैं। कर्त्तव्यशाला में प्रवेश करते ही मनुष्य पहले वीतिहोत्र अर्थात् अन्नदाता भगवान् का स्मरण करे और समझे कि जब तक मैं ईमानदारी से अपना कर्तव्य पूरा न करूं, मैं अन्न का अधिकारी नहीं हूँ। उसके पश्चात् यह याद रक्खे कि कर्तव्यशाला में जितना व्यवहार होगा उसका आधार शिष्टाचार है जो विघ्नों को मृदु कर देता है। इसके पश्चात् आय-व्यय का निरीक्षण करे। वह जिस विभाग में भी कार्य कर रहा हो, व्यय को आय से न बढ़ने दे। और ध्रुवा अर्थात् स्थिर कोष भी सदा भरा रक्खे। यह बात जिन कण्डिकाओं में कही गई है पहले उनका अर्थ देकर पश्चात् भावार्थ समझाएंगे। कण्डिकाएँ इस प्रकार हैं—

अथ दक्षिणेन जुहूं प्रतिगृह्णाति। नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षाᳬस्याविशानिति ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता तस्मादभिनिहित एव सव्येन पाणिना भवति ॥१३॥ अथ जुहूं प्रतिगृह्णाति। "घृताच्यसि जुहूर्नाम्ने" (यजुः २। ६) ति घृताची हि जुहूर्हि नाम्ना "सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियᳬ सद आसीदे" (यजुः २। ६) ति घृताच्यस्युपभृन्नाम्ने" (यजुः २। ६) त्युपभृतं घृताची ह्युपभृद्धि नाम्ना "सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियᳬ सद आसीदे" (यजुः २। ६) ति "घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ने" (यजुः २। ६) ति ध्रुवा घृताची हि ध्रुवा हि नाम्ना "सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियᳬ सद आसीदे" (यजुः २। ६) ति "प्रियेण धाम्ना प्रियᳬ सद आसीदे" (यजुः २। ६) ति यदन्यद्धविः ॥१४॥ स वाऽउपरि जुहूᳬ सादयति। अथ इतराः स्रुचः क्षत्रं वै जुहूर्विश इतराः स्रुच क्षत्रमेवैतद्विश उत्तरं करोति तस्मादुपर्यासीनं क्षत्रियमधस्तादिमाः प्रजा उपासते तस्मादुपरि जुहूᳬ सादयत्यध इतराः स्रुचः ॥१५॥ सोऽभिमृशति। "ध्रुवा असदन्नि" (यजुः २। ६) ति ध्रुवा ह्यसदन्नृतस्य योना" (२। ६) विति यज्ञो वा ऽऋतस्य योनिर्यज्ञे ह्यसदं "स्ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपति" (यजुः २। ६) मिति तद्यजमानमाह "पाहि मां यज्ञन्यमि" (यजुः २। ६) ति तदप्यात्मानं यज्ञान्नान्तरेति यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञायैवैतत्सर्वं परिददाति गुप्त्यै तस्मादाह ता विष्णो पाहीति ॥१६॥

"फिर दाहिने हाथ से जुहू को ग्रहण करता है। उधर जुहू ग्रहण करते समय वाम हस्त से प्रस्तर को दबाए रखता है। कहीं इसमें राक्षस न घुस जावें। ब्राह्मण ही राक्षसों का मारने वाला है। इसीलिए वामहस्त से दबा कर रक्खा होता है ॥१३॥ फिर जुहू को ग्रहण करता है। उस समय मन्त्र पढ़ता है—"घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना" (यजुः २। ६) इसका तात्पर्य यह है कि उस जुहू का काम है घृत पहुंचाना और नाम जुहू है। "सेदम्प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद्" (यजुः २। ६) सो प्रिय स्थान में बैठे। "घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना" (यजुः २। ६) यह कहकर उपभृत् को ग्रहण करता है क्योंकि उपभृत् का काम है घृत-अञ्चन करना, नाम है उपभृत्। सो इस प्रिय स्थान में प्रिय धाम से बैठे। फिर "घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना" (यजुः २। ६) यह वाक्य बोलकर ध्रुवा को ग्रहण करता है। ध्रुवा का काम भी घृताञ्चन है। सो वह ध्रुवा इस प्रिय सदः अर्थात् स्थान में प्रिय धाम से विराजे और भी जो पुरोडाशादि वहाँ रखना हो उस में प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद्" (यजुः २।६) यह वाक्य बोले ॥१४॥ सो वह जुहू को ऊपर रखता है, अन्य स्रुवों को नीचे। जुहू क्षत्रिय है। अन्य स्रुक् प्रजा हैं। इस प्रकार क्षत्रिय को उच्चतर

करता है। इसीलिए दरबार में भी क्षत्रिय सिंहासन पर बैठता है। और उस ऊपर बैठे हुए के समीप यह सब प्रजा वर्ग नीचे बैठते हैं। इसीलिए जुहू को ऊँचा रखता है, अन्य स्रुवों को नीचे।॥ १५ ॥ (फिर कुशा के बने हुए वेद नामक यज्ञोपकरण द्वारा क्रमशः आज्यस्थाली में तथा जुहू उपभृत् और ध्रुवा में पड़े घृत को) स्पर्श करता है। इसे अभिमर्शन कहते हैं। उस समय वाक्य पढ़ता है—**ध्रुवा असदन् ऋतस्य योनौ ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिम्**" (यजुः २। ६) "ध्रुवा असदन्" अर्थात् यह पात्र तथा हवि अपने-अपने स्थान पर ध्रुव होकर बैठें। "ऋतस्य योनौ" का अर्थ यह हुआ कि यज्ञ ऋत का स्थान है, सो यज्ञ में बैठें। सो हे विष्णो! तुम इन यज्ञ-पात्रों की रक्षा करो, यज्ञ की रक्षा करो, इस यजमान की रक्षा करो। फिर कहता है—"**पाहि मां यज्ञन्यम्**" (यजुः २। ६) सो अपने आपको यज्ञ से अवंचित करता है। विष्णु यज्ञ अर्थात् संगठन है। सो रक्षार्थ सब को यज्ञ के समर्पण करता है इसीलिए कहता है—"**विष्णो पाहि**" (यजुः २। ६)। ॥ १६ ॥

इन कण्डिकाओं का मर्म्म जानने के लिए सबसे पहले हमें घृत शब्द की ओर देखना होगा। यह शब्द घृ धातु से क्त प्रत्यय करने से बनता है। घृ धातु दो हैं। एक भ्वादिगण में "घृ सेचने", दूसरी जुहोत्यादिगण में "घृ क्षरणदीप्त्योः"। इस प्रकार इस शब्द के तीन अर्थ हुए—जो सींचा जाय, जो पिघले, जो भड़के, जैसे घृत आग में पड़कर भड़कता है। अब शतपथ इसका अर्थ क्या कहता है—

आग्नेयं वै घृतम् (श० ७। ४। १। ४१)
रेतो वै घृतम् (श० १। २। ३। ४४)
इसी प्रकार प्रसिद्ध वाक्य है—
आयुर्वै घृतम्।

हम यहाँ शतपथ से "रेतो वै घृतम्" यह वाक्य लेते हैं। इसी से हम घृत शब्द की तह तक पहुँच जायेंगे। मनुष्य में जठराग्नि, कामाग्नि, ज्ञानाग्नि जितने प्रकार की अग्नियां हैं, उनका आधार वीर्य है। वह पिघलकर जिस अग्नि में भी जा पड़े वही अग्नि भड़क उठती है और मनुष्य की आयुरूप ज्वाला को प्रज्वलित करके रखने वाला भी यही वीर्य है। बस चाहे राष्ट्र, चाहे भौतिक यन्त्र, किसी भी संगठित समारम्भ को ले लीजिए, जो उसमें पिघलकर शक्ति उत्पन्न करता है, जिसके आधार पर उसकी आयु खड़ी है वही उसका घृत है। पैट्रोल मोटर का घृत है। जल एञ्जिन का घृत है। धन अथवा अन्न राष्ट्र का घृत है।

अब इसके सहारे से जुहू, उपभृत् और ध्रुवा को समझने का यत्न करें। यदि अग्नि से तात्पर्य कामाग्नि ले लें और घृत का अर्थ वीर्य ले लें तो जुहू और उपभृत् का अर्थ समझ में आ जायगा। मनुष्य के जनन यन्त्र में कुछ ऐसी ग्रंथियां हैं जो वीर्य को रुधिर में से खींचती हैं। वीर्यकोष में वह जमा होने लगता है और उपस्थ-प्रणाली द्वारा स्त्री-प्रजनन में आहुति किया जाता है। बस पुरुषरूप यज्ञ में शरीर आज्यस्थाली है, वीर्यजनक ग्रन्थियां उपभृत् हैं, वीर्यकोष ध्रुवा है, और उपस्थेन्द्रिय जुहू है। वीर्य घृत है। इसी पर कामाग्नि की आयु खड़ी है। इसके बाहिर होते ही जब तक नया घृत तैयार नहीं होता, अग्नि शान्त रहता है। बस अब इस नियम को कहीं भी लगा लीजिए। मोटर में पैट्रोल की टंकी (Petrol Tank) आज्यस्थाली है, पैट्रोल खेंचने वाला पम्प (Suction Pump) उपभृत् है, ज्वलन (Combustin) का यन्त्र उपभृत् है। राज्य

में आय उपभृत् है, व्यय जुहू है, स्थिरकोष ध्रुवा है, और राष्ट्र की सम्पत्ति आज्य-स्थाली है। यह आय (Income) व्यय (Expenditure) और स्थिरनिधि (Reserve) का चक्कर संसार के प्रत्येक संगठित समारम्भ अर्थात् यज्ञ की जान है। इन्हीं को उपभृत्, जुहू और ध्रुवा के नाम से कहा गया है। इन तीनों का काम है यज्ञ को घृत से अञ्चन (Saturate) करना। इसीलिए इन तीनों को घृताची कहा है। यज्ञ तक ठीक चलता है जब यह तीनों अपने-अपने स्थान पर प्रिय होकर बैठें, शोर पैदा न करें। यदि कहीं आय अधिक होती जायगी और उसके सद्व्यय के साधन न ढूंढे जावेंगे तो राष्ट्र में प्रमाद और विलासिता शोर उत्पन्न करेंगे। यदि व्यय आय से अधिक होने लगे फिर तो पूछना ही क्या। और यदि स्थिरकोष न हो तो ऐसा होना अर्थात् आय से व्यय अधिक हो जाना बिलकुल स्वाभाविक है। इसी कारण इन तीनों को स्त्रीलिंग रक्खा गया है। जिस प्रकार सुशीला, प्रियंवदा स्त्रियें जहाँ कार्य करती हैं वहाँ कार्य मधुरता से होता है, इसी प्रकार आय, व्यय और स्थिरकोष, उपभृत्, जुहू और ध्रुवा, इन तीनों को प्रियधाम धारण करके प्रिय आसन पर बैठना चाहिए। मोटर चलाने वालों से पूछिए, वह भी बताएंगे कि मोटर अच्छी वह है जो आवाज न दे। क्योंकि उसमें सब पुरजे "प्रियेण धाम्ना प्रियं सदः" में बैठे हैं, और घृत सब अंगों में ठीक पहुँचता है।

उपभृत् का अर्थ ही है भरण करने वाली। आय राष्ट्र का भरण करने वाली है। जुहू का अर्थ है दान प्रत्यादान करने वाली। सो जब तक व्यय न हो तब तक दान प्रत्यादान नहीं होता। ध्रुवा का अर्थ स्पष्ट ही है। इस प्रकार कण्डिकाओं का अर्थ यों हुआ—

"दक्षिण हाथ से जुहू को ग्रहण करता है। इसमें पहले कहीं नाशक राक्षस न आ घुसें, क्योंकि ब्राह्मण राक्षसों का मारने वाला होता है, इसीलिए प्रस्तर को बायें हाथ से दबाए रखता है। अर्थात् व्यय की पड़ताल के समय शिष्टाचार को हाथ से नहीं छोड़ता। प्रस्तर शिष्टाचार का सूचक है ॥ १३ ॥ फिर जुहू को ग्रहण करता है। उस समय वाक्य पढ़ता है, "घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना" अर्थात् हे जुहूपलक्षित व्यय तू राष्ट्ररूप यज्ञ की अग्नि में घृत डालकर उसे प्रदीप्त करने वाला है। तो वह नाम से जुहू है। सो इस प्रिय सदस् में प्रिय धाम से विराज अर्थात् व्यय वेदर्दी से नहीं होना चाहिए। और उसका सदस् अर्थात् पात्र क्या है, इसका भी खूब विचार होना चाहिए। ठीक पात्र में प्रेमपूर्वक व्यय हो तब ही अग्नि प्रदीप्त होती है। फिर "घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना" यह बोलकर उपभृत् को ग्रहण करता है। उपभृत् का अर्थ है भरण करने वाली। सो उपभृदुपलक्षित आय भरण करने वाली है। इसीलिए उप-भृत् नाम वाली है, और वह घृताची अर्थात् राष्ट्र को घृत से अञ्चन करने वाली है। वही तो पिघलकर क्षरण होकर व्यय बनती और अग्नि को दीप्त करती है। सो वह इस प्रिय धाम से. इस प्रिय सदस् में बैठे, अर्थात् आय भी पात्रों के हाथ में होनी चाहिए। कुपात्रों के हाथ में आने से वे आय के निमित्त प्रजा को पीड़ा देंगे। फिर उसकी रक्षा और जांच पड़ताल भी प्रेमपूर्वक होनी चाहिए। फिर "घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना" यह वाक्य बोलकर ध्रुवा को रखता है। क्योंकि वह घृत की अञ्चन करने वाली है, और नाम से ध्रुवा है। सो वह ध्रुवोपलक्षित स्थिरकोष तू प्रिय धाम से प्रिय सदस् में बैठे, अर्थात् स्थिरकोष के संभालने वाले विशेष बुद्धि के लोग हों और उसकी प्रेमपूर्वक रक्षा करें। इसी प्रकार "प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद" यह वाक्य बोल

कर अन्य सब हवियों को रखने का तात्पर्य यह है कि राष्ट्र के सभी कार्यकर्त्ता अपने-अपने कार्य को प्रेमपूर्वक करें। इसी प्रकार यन्त्र-शास्त्र में इसका अर्थ यों होगा कि यन्त्र का जो पुर्जा जिस छिद्र में स्थापन किया गया है, वहाँ पूरा ठीक बैठने वाला (Fit) होना चाहिए, जिससे शोर न हो ॥ १४ ॥ वह जुहू अर्थात् व्यय को ऊपर रखता है, अन्य स्रुचों को नीचे। क्योंकि जुहू क्षत्रिय है, अन्य आय, स्थिरकोष आदि उसकी प्रजा हैं। यह स्पष्ट ही है। आय का उद्देश्य ही यही है कि व्यय की जाय और स्थिरकोष भी इसी निमित्त होता है कि अचानक व्यय आ पड़ने पर ढूंढना न पड़े। सो क्षत्रिय को प्रजा से ऊँचा करता है। इसलिए क्षत्रिय ऊपर बैठा होता है और उस समय प्रजा नीचे बैठती है। इसलिए जुहू को ऊपर रक्खे और अन्य स्रुचों को नीचे ॥ १५ ॥ फिर कुशा द्वारा यज्ञ-पात्रों में पड़े घृत को अभिमर्शन करता है, अर्थात् इस बात की घोषणा करता है कि यह आय, व्यय और स्थिरकोष सब व्यर्थ हैं, यदि वे यज्ञ के लिए न हों। उस समय वाक्य पढ़ता है "**ध्रुवा असदन्**" यह सब अपने-अपने स्थान में ठीक निश्चल होकर बैठ गए। हमारी जुहू (व्यय) हमारी उपभृत् (आय) हमारी ध्रुवा (स्थिरकोष) सब ध्रुव हैं। '**ऋतस्य योनौ**" यह सब यज्ञ के घर में स्थित हैं, क्योंकि यज्ञ ज्ञान का घर है। "**विष्णो**" हे परमात्मन्! "**ता पाहि**" इन सब की रक्षा कर। "**पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिम्**" यह यजमान की ओर निर्देश है। "**पाहि मां यज्ञन्यम्**" यह अध्वर्यु का अपनी ओर निर्देश है। इस प्रकार अपने आपको भी यज्ञ से अवञ्चित करता है। यज्ञ ही का नाम विष्णु है। सो यह सब कुछ रक्षा के लिए यज्ञ के पास अर्पण करता है। इसीलिए कहा "**विष्णो पाहि**" ॥१६॥ सारा वाक्य इस प्रकार हुआ—"**ध्रुवा असदन् तस्य योनौ ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञन्यम्।**"

इस प्रकार अब तक यह दिखाया गया कि कर्त्तव्यशाला में प्रवेश करके मनुष्य प्रथम उसकी स्वच्छता, सुन्दरता और सुखप्रदता का ध्यान करे, फिर वीतिहोत्र (अन्न-दाता) कहकर भगवान् का स्मरण करे फिर शिष्टाचार की महिमा को समझे, फिर आय-व्यय और स्थिरकोष का निरीक्षण करे। सामिधेनी समिन्धन विधि में यह बताया गया है कि मनुष्य अपने दिन, अपने मास, अपने वर्ष और अपने जीवन का समय-विभाग कैसे बनाए, यहाँ प्रसङ्ग से आदर्श ब्राह्मण का भी वर्णन कर दिया गया है: वेद ने इस सारे समय की एक ब्राह्मण देह से उपमा दी है। और इस कालरूपी ब्राह्मण का कौन-सा अङ्ग किस प्रकार का और कितना बड़ा होना चाहिए, यह बताते हुए आदर्श ब्राह्मण के किस अङ्ग में क्या गुण होना चाहिए, यह भी बता दिया गया है। इस विधि के सम्बन्ध में अगली (१६ + ६)=२२ कण्डिकाओं में १४ बातें बताई गई हैं।

१. अध्वर्यु कहे "अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि।
२. यह सब ऋचा अग्नि-सम्बन्धिनी (आग्नेयी) हों।
३. इन का छन्द गायत्री हो।
४. संख्या में ११ हों।
५. प्रथम और अन्तिम ३ वार बोली जावें।
६. इस प्रकार १५ हों।
७. कोई कहते हैं १७ हों।

८. कोई कहते हैं २१ हों।
९. वस्तुतः १५ ही हों।
१०. एक सांस में बोली जावें (यथाशक्ति)।
११. एक दूसरे के साथ मिलाकर लगातार बोली जावें।
१२. हिङ्कार अर्थात् स्वरदर्शनपूर्वक बोली जावें।
१३. हिङ्कार मुख में हो।
१४. ऋचाएँ "आ" वाली या "प्र" वाली हों। यह सब क्यों हो इसकी व्याख्या आगे सुनिये।

।। इति तृतीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ।।

अथ तृतीयाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम्

इन्धे ह वा एतदध्वर्युः । इध्मेनाग्निं तस्मादिध्मो नाम समिन्धे सामिधेनीभि- र्होता तस्मात्सामिधेन्यो नाम ॥१॥ स आह । अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीत्यग्नये ह्येत- त्समिध्यमानायान्वाह ॥२॥ तद्ध हैकऽआहुः । अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रूहीति तद्ध तथा न ब्रूयादहोता वाऽएष पुरा भवति यदेवैनं प्रवृणीतेऽथ होता तस्मादु ब्रूयादग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीत्येव ॥३॥ आग्नेयीरन्वाह । स्वयैवैनमेतद्देवतया समिन्धे गायत्री- रन्वाह गायत्रं वाऽअग्नेश्छन्दः स्वेनैनमेतच्छन्दसा समिन्धे वीर्यं गायत्री ब्रह्म गायत्री वीर्येणैवैनमेतत्समिन्धे ॥४॥ एकादशान्वाह । एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुब्ब्रह्म गायत्री क्षत्रं त्रिष्टुबेताभ्यामेवनमेतदुभाभ्यां वीर्याभ्याᳬं समिन्धे तस्मादेकादशान्वाह ॥५॥ स वै त्रिः प्रथमामन्वाह । त्रिरुत्तमां त्रिवृत्प्रायणा हि यज्ञास्त्रिवृदुदयनास्तस्मात्त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम् ॥६॥ ताः पञ्चदश सामिधेन्यः सम्पद्यन्ते । पञ्चदशो वै वज्रो वीर्यं वज्रो वीर्यमेवैतत्सामिधेनीरभिसम्पादयति तस्मादेतास्वनूच्यमानासु यं द्विष्यात्तमङ्गुष्ठाभ्या- मवबाधेतेदमहममुमवबाधऽइति तदेनमेतेन वज्रेणावबाधते ॥७॥ पञ्चदश वा अर्द्धमासस्य रात्रयः । अर्द्धमासशो वै संवत्सरो भवन्नेति तद्रात्रीराप्नोति ॥८॥ पञ्चदशानामु वै गाय- त्रीणां त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्चाक्षराणि त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च संवत्सरस्या- हानि तदहान्याप्नोति तद्वेव संवत्सरमाप्नोति ॥९॥ सप्तदशसामिधेनीः । इष्ट्याऽअनुब्रू- यादुपाᳬंशु तस्यै देवतायै यजति यस्याऽइष्टिं निर्वपति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य पञ्चर्त्तव एष एव प्रजापतिः सप्तदशः सर्वं वै प्रजापतिस्तत्सर्वेणैव तं काममनपराधᳬं राध्नोति यस्मै कामायेष्टिं निर्वपत्युपाᳬंशु देवतां यजत्यनिरुक्तं वा ऽउपांशु सर्वं वा ऽअनिरुक्तं तत्सर्वेणैव तं काममनपराधᳬं राध्नोति यस्मै कामायेष्टिं निर्वपत्येष इष्टेरुपचारः ॥१०॥ एकविᳬंशतिः सामिधेनीः । अपि दर्शपूर्णमासयोरनुब्रूयादित्या- हुर्द्वादश वै मासा संवत्सरस्य पञ्चर्त्तवस्त्रयो लोकास्तद्विᳬंशतिरेषऽएवैकविᳬंशो य एष तपति सैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति तस्मादेकविᳬंश- तिमनुब्रूयात् ॥११॥ ता हैता गतश्रेरेवानुब्रूयात् । य इच्छेन्न श्रेयान्स्यान्न पापीयानिति यादृशाय हैव सतेन्वाहुस्तादृङ्वा हैव भवति पापीयान्वा यस्यैवं विदुष एता अन्वाहुः सोऽएषा मीमाᳬंसैव न त्वेवैता अनूच्यन्ते ॥१२॥ त्रिरेव प्रथमां त्रिरुत्तमामनवानन्न- नुब्रूयात् । त्रयो वाऽइमे लोकस्तदिमानेवैतल्लोकान्त्सन्तनोतीमांल्लोकान्त्स्पृणुते त्रय इमे पुरुषे प्राणा एतमेवास्मिन्नेतत्सन्ततमव्यवच्छिन्नं दधात्येतदनुवचनम् ॥१३॥ स यावदस्य वचः स्यात् । एवमेवानुविवक्षेत्तस्यैतस्य परिचक्षीत साम्यवान्यादनवानन्ननु- विवक्षस्तत्कर्म विवृह्येत सा परिचक्षा ॥१४॥ स यद्येतन्नोदाशᳬंसेत । अप्येकैकामे- वानन्ननु ब्रूयात्तदेकैकयेवेमांल्लोकान्त्सन्तनोत्येकैकयेमांल्लोकान्त्स्पृणुतेऽथ यत्प्राणं दधाति गायत्री वै प्राणः स यत्कृत्स्नां गायत्रीमन्वाह तत्कृत्स्नं प्राणं दधाति तस्मादेकैकामेवान- वानन्ननुब्रूयात् ॥१५॥ ता वै सन्तता अव्यवच्छिन्ना अन्वाह । संवत्सरस्यैवैतदहोरा- त्राणि सन्तनोति तानीमानि संवत्सरस्याहोरात्राणि सन्ततान्यव्यवच्छिन्नानि परिप्लवन्ते द्विषतऽउ चैवैतद्भ्रातृव्याय नोपस्थानं करोत्युपस्थानᳬं ह कुर्याद्यदसन्तता अनुब्रूयात्त- स्माद्वै सन्तता अव्यवच्छिन्ना अन्वाह ॥१६॥

॥ इति तृतीयाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अथ चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

हिङ्कृत्यान्यान्वाह । नासामा यज्ञोऽस्तीति वाऽआहुर्न वाऽअहिङ्कृत्य साम गीयते यद्धिङ्करोति तद्धिङ्कारस्य रूपं क्रियते प्रणवेनैव साम्नो रूपमुपगच्छत्योऽम् ओ३मित्येतेनो हास्यैष सर्व एव ससामा यज्ञो भवति ॥ १ ॥ यद्वेव हिङ्करोति । प्राणो वै हिङ्कारः प्राणो हि वै हिङ्कारस्तस्मादपिगृह्य नासिके न हिङ्कर्तुँ शक्नोति वाचा वाऽऋचमन्वाह वाक् च वै प्राणश्च मिथुनं तदेतत्पुरस्तान्मिथुनं प्रजननं क्रियते सामिधेनीनां तस्माद्वै हिङ्कृत्यान्वाह ॥ २ ॥ स वाऽउपाँशु हिङ्करोति । अथ यदुच्चैर्हिङ्कुर्य्यादन्यतरदेव कुर्याद्वाचमेव तस्मादुपाँशु हिङ्करोति ॥३॥ स वाऽएति च प्रेति चान्वाह । गायत्रीमेवैतदर्वाचीं च पराचीं च युनक्ति पराच्यह देवेभ्यो यज्ञं वहत्यर्वाची मनुष्यानवति तस्माद्वाऽएति च प्रेति चान्वाह ॥४॥ यद्वेवेति च प्रेति चान्वाह । प्रेति वै प्राण एत्युदानः प्राणोदानावेवैतद्दधाति तस्माद्वाऽएति च प्रेति चान्वाह ॥ ५ ॥ यद्वेवेति च प्रेति चान्वाह । प्रेति वै रेतः सिच्यतऽएति प्रजायते प्रेति पशवो वितिष्ठन्तऽत एति समावर्त्तन्ते सर्वं वाऽइदमेति च प्रेति च तस्माद्वा एऽति च प्रेति चान्वाह ॥६॥

"अध्वर्य्य अग्नि में समिधाएं लगाकर अग्नि को प्रदीप्त करता है । इसीलिए वह समिधाएं जिनसे प्रदीप्त करता है इध्म कहलाती हैं। और क्योंकि अग्नि के समिन्धन अर्थात् प्रदीप्त करने के सम्बन्ध में होता यह ऋचाएं पढ़ता है इसलिए यह सामिधेनी कहलाती हैं ।१। उस समय में वाक्य बोलता है "अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि" । २ । में कई लोग कहते हैं कि "अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रूहि" इस प्रकार बोलना चाहिए । किन्तु वस्तुतः ऐसा न बोलना चाहिए । जब तक वरणविधि नहीं हो लेती उससे पहले यह पुरुष अहोता होता है अर्थात् होता नहीं होता । जब उसका विधिपूर्वक वरण होता है तब बनता है । इसलिए "अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि" ऐसा ही बोलना चाहिए।३। ये ऋचाएं होता अग्नि देवतावाली होनी चाहिए, अग्नि समिन्धन अपनी देवतावाली ऋचाओं से ही होना चाहिए । इन ऋचाओं का छन्द भी गायत्री होना चाहिए । अग्नि देवता का छन्द है ही गायत्री । सो अपने ही छन्द से उसको समिन्धन करता है । गायत्री वीर्य्य की द्योतिका है, ब्रह्म की द्योतिका है, सो इसे इस प्रकार वीर्य्य से प्रदीप्त करना है । ४ । ये ऋचाएँ संख्या में ग्यारह हों । त्रिष्टुप् के ग्यारह अक्षर होते हैं । गायत्री ब्रह्मशक्ति की द्योतिका है, त्रिष्टुप् क्षत्रिय शक्ति की । इस प्रकार इन दोनों शक्तियों से इसे प्रदीप्त करता है, इसलिए ११ बोलता है । ५ । वह तीन वार प्रथम ऋचा को बोलता है, तीन बार अन्तिम को यज्ञों का प्रारम्भ और परिसमाप्ति दोनों तीन तहों वाले होते हैं, इसीलिए तीन बार प्रथम को बोलता है तीन बार अन्तिम को । ६ । इस प्रकार यह १५ सामिधेनी हो जाती हैं । १५ की संख्या वज्र है, वज्र वीर्य है, इस प्रकार सामिधेनियों को शक्तिमती

सम्पादन करता है। इसलिए सामिधेनी वचन के समय जिस शत्रु से द्वेष हो उस का नाम लेकर पैर के अंगूठों से धरती को दबा दे। इस अमुक.........नाम वाले को मैं दबाता हूँ। इस प्रकार इस वज्र से उसे दबाता है।७ अथवा १५ संख्या का भाव यह है कि एक पखवाड़े में १५ रात्रि होती हैं, पखवाड़े पखवाड़े कर के संवत्सर बनता है, इस प्रकार वह सब रात्रियाँ प्राप्त करता है। ८। अथवा १५ गायत्रियों के (१५×२४) तीन सौ साठ अक्षर होते हैं, संवत्सर के दिन भी ३६० होते हैं, इस प्रकार उन दिनों को प्राप्त करता है। इस प्रकार सारे संवत्सर को प्राप्त करता है।९। किन्हीं इष्टियों में १७ सामिधेनी उच्चारण की जाती हैं। उनमें जिस देवता के लिए इष्टि की जाती है उसका नाम उपांशु बोला जाता है। उपांशु का अर्थ है कि ओष्ठ तो हिलें परन्तु शब्द दूसरे को सुनाई न दे। सो इस १७ संख्या का भाव यह है कि संवत्सर के १२ मास होते हैं। यह प्रजापति का सप्तदश रूप है, प्रजापति सम्पूर्ण है, सो उस के सम्पूर्ण रूप से यज्ञ करने से उस कामना को निर्विघ्न रूप से सिद्ध करता है जिसके लिए इष्टि रचता है देवता का उच्चारण उपांशु करने का भाव यह है कि उपांशु व्यक्त रूप नहीं है। जो सम्पूर्ण परमात्मा है वह भी व्यक्ति-गोचर नहीं, सो इस प्रकार उस सम्पूर्ण के द्वारा उस कामना को भी सम्पूर्ण निर्विघ्न रूप से प्राप्त करता है जिसके लिए यज्ञ रचता है। यह इष्टि का उत्तम प्रकार है। १०। कोई कोई २१ सामिधेनी दर्शपूर्ण मास की उच्चारण करे ऐसा कहते हैं। यह २१ संख्या इस प्रकार पूरी होती हैं—संवत्सर के १२ महीने होते हैं, पाँच ऋतु होते हैं, तीन लोक होते हैं, इस प्रकार यह २० हुए, और इक्कीसवां हुआ यह जो तपता है (सूर्य)। यह इक्कीसवां जो है यह सब की गति है, सबकी प्रतिष्ठा है। सो २१ सामिधेनी वाला इस गति, इस प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है इसलिए २१ सामिधेनियों का उच्चारण करे।११। यह सामिधेनी गत-श्री अर्थात् श्री सम्पन्न मनुष्य के यज्ञ में ही बोले जिसे बनने बिगड़ने की चिन्ता न हो जिस अवस्था में हुए यजमान के लिए उच्चारण करते हैं वैसा ही हो जाता है, अथवा बुरी अवस्था वाला हो जाता है, जिसके इस प्रकार २१ सामिधेनी उच्चारण की जाती हैं। परन्तु यह विचार ही विचार है, यह बोली नहीं जातीं अर्थात् सिद्धान्त पक्ष में २१ सामिधेनी नहीं मानी गई। १२। प्रथम सामिधेनी को तीनवार और अन्तिम को तीनवार एक सांस में, अनवानन्=बीच में दम न लेते हुए, बोले। तीन संख्या इसलिए क्योंकि यह लोक तीन हैं सो इस प्रकार तीन लोकों को अविच्छिन्न करता है, इन को प्रीति तथा बलयुक्त करता है सो इस पुरुषदेह में तीन प्राण हैं इस प्राण-समुदाय को इस देह में लगातार अविच्छिन्न रूप से धारण करता है। यही सामिधेनियों का अनुवचन है। १३। कोई कोई कहते हैं जितना सुखपूर्वक एक सांस में बोलने की शक्ति (वचः) हो उतना एक सांस में बोले। परन्तु इस पक्ष की निन्दा की गई है। जो एक सांस में बोलने की, बिना दम लिये बोलने की, इच्छा करता हुआ आधे में (सामि) दम ले ले उसका वह कर्म विकृत हो जायेगा। यह निन्दा है।४। सो यदि तीनों को इकट्ठा एक सांस में न बोल सके तो एक एक को एक सांस में बोले। इस प्रकार एक एक ऋचा से एक एक लोक को सन्तत करता है। एक एक से इन लोकों को प्रीति तथा बलयुक्त करता है। और यह जो कहा कि प्राण की स्थापना करता है सो गायत्री प्राण का उपलक्षण है। पूर्ण गायत्री एक सांस में बोलता है, सो पूरा प्राण धारण करता है। इसलिए एक एक को एक सांस में बोले।१५। यह सब सामिधेनी एक के पीछे दूसरी अविच्छिन्न रूप से बोली जाती है। इस का तात्पर्य यह है कि यह संवत्सर के दिन-रातों का तन्तु जानता है। सो संवत्सर के दिन रात लगातार अविच्छिन्न रूप

से चक्कर करते हैं। इस प्रकार द्वेष करने वाले भ्रातृपुत्र के लिए घुसने का छिद्र नहीं देता यदि बीच में तन्तु तोड़ दे तो शत्रु को घुसने का स्थान दे दे। इसीलिए लगातार अटूट बोलता है ॥ १६॥"

"हिङ्कार करके उच्चारण करता है। इसका कारण यह है कि बिना साम अर्थात् संगीत के यज्ञ नहीं होता, ऐसा कहते हैं और संगीत बिना हिङ्कार के नहीं होता। सो जो हिङ्कार करता है वह तो स्वयं हिङ्कार का रूप है। परन्तु साम का रूप यहां ओ३म् से पूरा होता है। बस इस ओ३म् के उच्चारण से ही सारा यज्ञ संगीत-युक्त हो जाता है।१। यह जो हिङ्कार करता है सो इसका आशय यह है कि हिङ्कार प्राण रूप है। देखो हिङ्कार प्राण रूप है क्योंकि नाक बन्द करके हिङ्कार नहीं कर सकता। हिङ्कार ओष्ठ-चालन मात्र करके चुपचाप होता है। परन्तु ऋचा वाणी से स्पष्ट बोली जाती है। वाणी और प्राण का जोड़ा है। सो यह सामिधेनियों के पूर्व नई उत्पत्ति करने वाला जोड़ा रखा जाता है। इसीलिए हिङ्कार करके उच्चारण करता है। सो हिङ्कार की क्रिया चुपचाप केवल ओष्ठ-चालन करके ध्वनि न करते हुए होती है।२। सो वह हिङ्कार उपांशु अर्थात् ओष्ठ-चालन युक्त मौन से करता है। यदि हिङ्कार भी ऊंचे से बोलकर करे तो प्राण और वाणी में से वाणी ही वाणी करे, जोड़ा नहीं बने, इसलिए हिङ्कार उपांशु करता है।३। वह सामिधेनी के मन्त्र इस प्रकार के हैं जिनमें 'आ' और 'प्र' उपसर्ग आए हैं। जैसे—"अग्न आ याहि वीतये", "प्र वो वाजा अभिद्यवे", सो वह गायत्री को समीपगामिनी और दूरगामिनी बनाकर कार्य में नियुक्त करता है। सो वह दूरगामिनी होकर देवों तक यज्ञ को पहुँचाती है, समीपगामिनी होकर मनुष्यों की रक्षा करती है, इसीलिए 'आ' और 'प्र' वाली ऋचाएँ बोलता है।४। एक और व्याख्या इस की यह है कि 'प्र' प्राण का उपलक्षण है, 'आ' यह उदान का। सो इस में प्राण उदान दोनों को स्थापन करता है, इसलिए 'आ' और 'प्र' कहता है।५। इस की तीसरी व्याख्या यह है कि यह जो 'आ' और 'प्र' कहता है, सो 'प्र' गर्भाधान का चिह्न है, 'आ' प्रजोत्पत्ति का। 'प्र' यह सूचित करता है कि पशु चल पड़े हैं, 'आ' यह सूचित करता है कि वे लौटते हैं। सो 'आ' और 'प्र' के बीच में सारा जगत् का व्यवहार है। इसीलिए 'आ' और 'प्र' वाली ऋचाएँ बोलता है।६।"

आय, व्यय और स्थिरकोष इन तीन के विचार के पश्चात् फिर कर्त्तव्यशाला में मुख्य कार्यविभाग का है। यह कार्य उस विषय के विशेषज्ञ को करना चाहिए। जो उस कर्तव्यशाला का मुख्य विषय है। उपादानों का विभाग, उपकरणों का विभाग, कार्य-कर्ताओं का विभाग, यह सब विभाग एक विभाग में स्वयं अन्तर्गत हो जाते हैं, वह है समयविभाग। संसार का कोई भी कार्य हो काल का नियन्त्रण उस पर अवश्य है। निश्चय ही वह कुछ न कुछ काल में होगा। यह काल चुपचाप सब पर राज्य जमाए बैठा है। इसीलिए इसे संवत्सर कहते हैं। शतपथ में संवत्सर की व्युत्पत्ति इस प्रकार ही है?—

स सर्व्वत्सरोऽभवत्सर्वत्सरो ह वै नामैतद्यत्संवत्सर इति ॥ ११।१।६।१२।

'त्सर' धातु का अर्थ है छद्म गति। इस प्रकार सर्व्व+त्सर का अर्थ हुआ जो सब तक चुपचाप पहुँचा हुआ है। इस संवत्सर के ज्ञान से ही सामिधेनी समिन्धन का मर्म्म जाना जा सकता है क्योंकि यही इसका आधार है। १५ सामिधेनियों की संख्या की व्याख्या करते हुए इसी प्रकरण में नवम कण्डिका में कहा है कि १५ गायत्रियों के

३६० अक्षर होते हैं, इतने ही संवत्सर के दिन होते हैं, सो इसे जानकर संवत्सर को प्राप्त होता है। अब यह संवत्सर क्या है? इसकी व्युत्पत्ति शाकटायन तथा पाणिनि के (क्योंकि उणादि सूत्रों को पाणिनि ने स्वीकार कर लिया है) मतानुसार इस प्रकार है सम्पूर्वक वस् धातु से सरच् प्रत्यय होने पर संवत्सर शब्द बनता है (उणादि ३।७२)। इस प्रकार अर्थ यह हुआ कि 'जिसमें ऋतु इकट्ठे होकर बसते हैं वह संवत्सर है।' परन्तु केवल व्याकरण से शब्द का अर्थ ज्ञात नहीं होता प्रयोग से भी सहायता लेनी पड़ती है। वस्तुतः एक पदार्थ के निर्माण के आरम्भ से उस की समाप्ति तक जो ममय लगता है उसका नाम संवत्सर है। उदाहरण के लिए यदि एक कारखाने में एक मोटर को एक सिरे से आरम्भ करके दूसरे सिरे अर्थात् निष्पत्ति तक पहुंचने में एक घण्टा लगता है वह एक घण्टा मोटर का संवत्सर है, यदि एक वृक्ष फल को बीज से फल तक पहुँचने में १० वर्ष लगते हैं तो उस वृक्ष का संवत्सर १० वर्ष है। यदि एक बीज को ओषधि बन-कर परिपक्व होने तक ४ मास लगते हैं तो वह उस बीज का संवत्सर है। यदि पुरुष के वीर्य को गर्भ में प्रवेश करके बालक रूप में निकलने तक १० मास लगते हैं तो वह पुरुष का संवत्सर है। यदि बालक को गुरु के घर में प्रवेश करके स्नातक बनने में १२ वर्ष लगें तो यह स्नातक का संवत्सर है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि संवत्सर की व्युत्पत्ति इनमें कैसे घटी। इसका उत्तर यह है कि गर्भाधान से पूर्णता तक जो समय लगता है उसमें जितने ऐसे क्रमिक पद आते हैं जो एक दूसरे के पीछे आने आव-श्यक है उन्हें ऋतु कहते हैं। जो गर्मी अधिक पड़े तो उससे वाष्प का अधिक मात्रा में उठना आवश्यक है, इसलिए ग्रीष्म के पीछे वर्षा आवश्यक है, अतः ग्रीष्म और वर्षा ऋतु हैं। वर्षा से गर्मी की शान्ति और शीत का प्रादुर्भाव आवश्यक है, अतः उस के पश्चात् शरद् ऋतु है। यह सब अन्न के उत्पत्ति विकास और परिपाक में इकट्ठे मिल-कर बसते हैं, और परस्पर सहायता करते हैं, अतः इन सबको मिलाकर संवत्सर कहते हैं। क्योंकि यह भिन्न ऋतुओं अर्थात् प्रक्रियाओं में से गुजर कर परिपूर्णता तक पहुंचने का अटल नियम यावदुत्पद्यमान पदार्थों में व्यवस्थित रूप से पाया जाता है, कोई पदार्थ जो पूर्णता तक पहुँचा है उसकी उत्पत्ति और उसके विकास में यह ऋतुओं का क्रमिक सहयोग सर्वत्र चुप-चाप छिपा बैठा है, अतः इसे संवत्सर कहते हैं। इस प्रकार यह दोनों व्युत्पत्ति एक ही नियम के दो पहलुओं को सहोद्योग और सर्वव्यापकता को, दिखाती हैं। सं+वस्+सर इससे क्रमिक सहोद्योग दीखता है, सर्व+त्सर इससे इस नियम की सर्वव्यापकता दीखती है। इस प्रकार सूक्ष्मदृष्टि से देखें तो एक दिन भी संवत्सर है, मास भी संवत्सर है, वर्ष तो संवत्सर है ही। और परब्रह्म की सृष्टि के विकास और प्रलय की दृष्टि से ब्राह्म संवत्सर भी है। एक तत्त्वज्ञ को एक दिन, एक मास एक वर्ष का विभाग किस प्रकार करना चाहिए यही इस सामिधेनी समिन्धन-विधि में बताया है। इससे पहले कि हम यह दिखावें कि इस संवत्सर को पुरुष से और पुरुषों में भी ब्राह्मण से उपमा क्यों दी गई है, हम इस बात के प्रमाण उपस्थित करना चाहते है कि दिन भी संवत्सर है—

आदित्यस्त्वेव सर्वऽऋतवः। यदेवोदेत्यथ वसन्तो यदा सङ्गवोऽथ ग्रीष्मो यदा मध्यन्दिनोऽथ वर्षा यदा पराह्णोऽथ शरद् यदैवास्तमेत्यथ हेमन्तः। श० २। २। ३। ९॥

(संवत्सरस्य) वसन्त एव द्वारं हेमन्तो द्वारम्। श० १। ६। १। १९॥

अर्थात्—"सूर्य ही सब ऋतुओं का जन्मदाता है, (एक ही दिन में देखिए) जब उदय होता है वह वसन्त है, गो-दोहन के समय ग्रीष्म है, मध्यन्दिन वर्षा है, जब पिछला पहर हो तो शरद्, जब अस्त हो तो हेमन्त है।" "संवत्सर के दो द्वार हैं एक वसंत (प्रवेश द्वार) एक हेमन्त (निर्गम द्वार)।"

अब इस संवत्सर की पुरुष से उपमा इसलिए दी गई है कि जिस प्रकार पुरुष सजीव है, नये पदार्थ ग्रहण करके अपनी उत्पादक-शक्ति द्वारा उन्हें नया रूप देता है, इसी प्रकार हमारा प्रत्येक दिन और प्रत्येक वर्ष सजीव होना चाहिए। संसार में ऐसे पुरुष भी देखे गए हैं जो निर्जीव से निर्जीव समय को भी अपनी आनन्ददायक शक्ति से सजीव कर देते हैं। दूसरी ओर ऐसे पुरुष भी हैं जो हरे भरे वसन्त को भी अपने रोंदूपन से निर्जीव कर डालते हैं। हमें अपने प्रत्येक दिन और वर्ष को सजीव बनाना चाहिए।

इसकी ब्राह्मण से उपमा इसलिए दी गई है कि हमें प्रत्येक आने वाले दिन का ऐसे आदर करना चाहिए जैसे ब्राह्मण का। हमारा प्रत्येक क्षण ब्राह्मण के समान ब्रह्म परायण होना चाहिए और जो समय हम व्यर्थ नष्ट करते हैं वह ब्रह्महत्या है। इस प्रकार प्रसंग से आदर्श ब्राह्मण का भी वर्णन हो गया।

अब यह देखना है कि होता बनने से पहले सामिधेनी समिन्धन क्यों है। हम ऊपर दिखा चुके हैं कि सामिधेनी समिन्धन संवत्सर का उपलक्षण है। अब तात्पर्य स्पष्ट है। किसी मनुष्य को भी विशेषज्ञ का आसन नहीं मिलना चाहिए। जब तक उसका एक संवत्सर न देख लिया जाय। यदि कोई मोटर का विशेषज्ञ है तो उसे उस पद पर नियुक्त करने से पूर्व एक मोटर आदि से अन्त तक बनवाकर देख लेनी चाहिए। उक्त पद पर स्थिर नियुक्ति तब ही होनी चाहिए। इसीलिए प्रथम वर्ष लोगों को परीक्षार्थ ही नियुक्त करना चाहिए। किन्तु यह वर्ष पदार्थभेद से छोटा बड़ा भी हो सकता है। क्योंकि संवत्सर प्रति पदार्थ भिन्न है। किन्तु कार्य सुगमता के लिए लोगों ने सर्व सामान्य सौर संवत्सर रख लिया है।

इस प्रकार संवत्सर की व्याख्या करके हम क्रमशः कण्डिकाओं का तात्पर्य दिखाते हैं। अध्वर्यु मुख्य कार्यकर्त्ता का प्रतिनिधि है और होता विशेषज्ञ (Expert adviser) का। इनका परस्पर सम्बन्ध यहां इन शब्दों में दिखाते हैं। अध्वर्यु समिधाओं द्वारा अग्नि को दीप्त करता है। होता सामिधेनियों से उसी अग्नि को समिन्धन करता है। सन्दीप्त करता है, इसलिए यह सामिधेनी कहलाती है।१। उस समय यज्ञ में कहा जाता है 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' अर्थात् हम अग्नि का समिन्धन करेंगे तू अनुवचन अर्थात् मार्गनिर्देश कर।२। यहाँ कई लोग कहते हैं कि "अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रूहि।" किन्तु ऐसा न कहना चाहिए क्योंकि वरण-विधि से पहले वह होता नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि किसी विशेषज्ञ को भी उसका आसन नहीं मिलना चाहिए जब तक उसका एक संवत्सर तक (एक वर्ष नहीं) परीक्षण न कर लिया जाय। उसे उस पदवी पर स्थिर तब ही करना चाहिए जब कम से कम एक बार उससे वह काम करवा कर देख लिया जाय।३। यह सब गायत्री अग्नि सम्बन्धी होनी चाहिए अर्थात् हर एक कर्तव्यशाला का वायुमण्डल ऐसा होना चाहिए कि उसकी ईंट ईंट में से उस विषय का गान निकले और उस कार्य की पूर्ति के लिए अग्नि प्रदीप्त हो।४। संख्या में ११ इसलिए है क्योंकि हर एक कर्त्तव्यशाला में मार्गदर्शन ब्राह्मण करावें, किन्तु सब मिलकर राष्ट्र को, क्षत्रिय को, पुष्ट करें इसलिए ब्राह्मणत्व

का प्रतिनिधि गायत्री छन्द रक्खा गया है। और सब मिलकर क्षत्रिय को राष्ट्रपति को सहायता दें अनुशासन क्षत्रियों का हो और वृत्ति ब्राह्मणों की हो। इसलिए मन्त्र ११ छन्द गायत्री दें इसलिए सब की संख्या मिलकर ११ रक्खी गई है।५। इसमें से प्रथम और अन्तिम ३ बार बोली जाती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि दिन का उद्देश्य कार्य करना है, अत: उसके आरम्भ और अवसान को तीन गुना समय मिलना चाहिए। इसे काल-विभाग में घटाने से ठीक समझ में आ जायगा। दिन और रात के २४×६०=१४४० मिनट हैं। इन्हें ३० से भाग देने से ४८ मिनट हुए। अब इनमें से यदि आधे भाग को दिन और आधे को रात मान लें तो सन्ध्या स्वाध्यायादि जो कार्य दिन के मुख्य कार्य की तैयारी करने के हैं उन्हें ३×४८=२ घण्टा २४ मिनट का समय अवश्य मिलना चाहिए। इसी प्रकार २ घण्टा २४ मिनट का समय दिन के कार्य के उपसंहार के लिए मिलना चाहिए। शेष ९×४८=७ घण्टा तथा १२ मिनट के समय का क्या विभाग होना चाहिए सो अगली व्याख्या में जहां पञ्च-दश सामिधेनियों का वर्णन है वहां बतायेंगे। ये नियम गृहस्थों के हैं। क्योंकि पौर्ण-मास का अधिकार गृहस्थों को है। बालक वृद्धादि में यथायोग्य परिवर्तन हो सकता है। परन्तु यह एक सामान्य समय-विभाग महर्षि याज्ञवल्क्य ने सब गृहस्थों के लिए बता दिया है। यज्ञ का आरम्भ और उदय ३ लड़ वाला होता है इसकी यही व्याख्या है।६। इस प्रकार १५ सामिधेनी होती है। जो इस समय-विभाग को काबू कर ले, और यदि कोई किसी से द्वेष करे और अहर्निश १५ की १५ सामिधेनियों में उसके विरोध की ही साधना करे तो निश्चय ही उसे जीत लेगा। यह अंगुष्ठवाधन विधि द्वारा बताया गया।७। १५ अर्धमास की रात्रि हैं, सो दर्शेष्टि द्वारा उनको भी जीत लेता है। ८।१५ गायत्रियों के ३६० अक्षर होते हैं सो यह ३६० दिन के संवत्सर पर अधिकार पाता है। एक दिन को संवत्सर मानकर उसका विभाग ऊपर दिखा आए हैं। अब पूरे संवत्सर का भी विभाग इसी प्रकार क्या तात्पर्य रखता है सो दिखाते हैं। संवत्सर के ३६० दिन हैं। इनको १५ से भाग देने से २४ हुए। इनमें से ३ आरम्भ की गायत्री और ३ अन्त की हुई। अर्थात् वर्ष में १४४ दिन साधना के और २१६ दिन कार्य के होने चाहिए। इनमें भी जो आरम्भ के ७२ दिन हैं वे कार्य की तैयारी के होने चाहिए और अन्त के ७२ दिन जांच पड़ताल के कि कार्य किस प्रकार हुआ है। जहां कार्य चलता जाता है किन्तु उस पर विचार कुछ नहीं होता और उसकी जांच पड़ताल बिल-कुल नहीं होती वहां सदा अव्यवस्था बनी रहती है।

अब इस प्रकार वसन्त से वर्ष आरम्भ करके यदि ऋतुक्रम से उसे बांटना हो तो जहाँ से किसी कर्तव्यशाला का कार्य आरम्भ हो वह उसका वसन्त है। अगले ७२ दिन ग्रीष्म है। अगले ७२ दिन वर्षा है। अगले ७२ दिन शरत् है और अगले ७२ दिन हेमन्त है। इस प्रकार समय-विभाग यों बना कि प्रत्येक कर्तव्यशाला में प्रथम ७२ दिन नये संविधान तैयार करने में लगाने चाहियें। अगले ७२ दिन उस संविधान को कार्य-रूप में परिणत करने में लगाने चाहियें। फिर ७२ दिन छुट्टी के होने चाहिए क्योंकि इस समय कार्य शक्तिरूप सूर्य मेघाच्छन्न हो गया। फिर ७२ दिन पिछले सम्पादित कार्य के परिपाक में और अगले ७२ दिन जांच पड़ताल में लगने चाहिएँ। और फिर नया संविधान और फिर नया चक्र। अब देखना चाहिए कि मध्यन्दिन को वर्षा से उपमा किस प्रकार दी गई। कहाँ हरी-भरी वर्षा और कहां झुलसती दुपहरिया। इनमें क्या साम्य है? आपाततः तो वर्षा को मध्यन्दिन के साथ मिलाना अत्यन्त बेडौल प्रतीत

होता है। किन्तु यदि हम कार्य-शक्ति को सूर्य मान लें तो यह गोरखधन्धा बड़ी सुगमता से समझ में आ जाता है। प्रातःकाल कार्य-शक्ति वसन्त के समान इठलाती मदमाती चाल से चलती है। फिर वह गरम हो उठती है। किन्तु दोपहर के समय जो एक आलस्य छाता है वह मानो मेघ है, वृत्र है, इस सूर्य को आच्छन्न कर लेता है। अतः इस समय छुट्टी होनी चाहिए। भारत में जो १० से आरम्भ करके ४ तक दफ्तर खुलते हैं यह अति घातक प्रथा है कि भोजन खाते ही लोग दफ्तर भेज दिए जाते हैं। किन्तु शतपथ के अनुसार दोपहर के समय छुट्टी होनी चाहिए। दोपहर में ही भोजन तथा विश्राम करके कार्य आरम्भ न करें। किन्तु उसमें पूर्व के ही कार्य का परिपाक तथा निरीक्षण हो। नया कार्य करने का समय प्रातःकाल ही है। यह साधारण नियम है। विशेष कार्यकर्त्ताओं की बात दूसरी है। दोपहर के समय पूर्वाह्ण के कार्य की थकावट तथा सूर्य का उत्ताप दोनों कार्य-शक्ति को आच्छन्न कर लेते हैं। इसीलिए उस समय को वर्षा कहा है। अन्य किसी भी प्रकार मध्यन्दिन को वर्षा से उपमा नहीं दी जा सकती।

इससे यह भी परिणाम निकला कि यदि किसी देश में अति शीत के कारण मनुष्यों की कार्यशक्ति न्यूनतम हो तो मानुष-संवत्सर की दृष्टि से वही वर्षा है। यदि किसी राष्ट्र में वर्षा-ऋतु ही अति प्रबल होकर कार्यशक्ति को प्रच्छन्न कर ले तो वहाँ वर्षा ही वर्षा है। मानवीय संवत्सर तथा सौर संवत्सर एक हो यह आवश्यक नहीं किन्तु दोनों का सिद्धान्त एक है। आरम्भ, उत्कर्ष, विश्राम, ढलवान और उपसंहार यह पाँच ऋतु दोनों में ही हैं। यही बात यहां पञ्चदश सामिधेनियों में कही गई है और यही सामिधेनियों का रहस्य है। किसी-किसी यज्ञ में जैसे इष्टि, पशुबन्ध में १७ सामिधेनियां हैं। उनमें जिस देवता के नाम की इष्टि हो उसके नाम का योग उपांशु अर्थात् ओष्ठचालन पूर्वक मुख में ही बोलकर किया जाता है।

इसका भाव यह है कि संवत्सर के १२ मास हैं और उन्हें ५ में विभक्त करना है। यह १७ सामिधेनियों से अधिक स्पष्ट हो जाएगा। यही सप्तदश संख्या का प्रजापति है। प्रजापति पूर्ण है इसलिए पूर्ण संख्या से ही यज्ञ करने से उस कामना को निर्विघ्न पा सकेगा जिस उद्देश्य से इष्टि कर रहा हो। तात्पर्य यह कि जिसमें जितनी बात अधिक स्पष्टता से उल्लिखित हों उतनी ही कार्य में सफलता अधिक होती है। देवता को उपांशु यजन इसलिए करता है, क्योंकि सब यज्ञों का अन्तिम ध्येय परमात्मा है और वह अनिर्वचनीय है। जो भी सर्व अर्थात् परिपूर्ण है वह अनिर्वचनीय ही होता है। इसलिए पूर्ण संख्यासूचक मार्ग से ही उस इच्छा को निर्विघ्नरूप से पूरा कर सकता है जिसके लिए यज्ञ किया जाता है। यही इष्टि का वास्तविक उपचार है, अर्थात् यज्ञ में अग्नि सोम आदि किसी भी देवता का नाम क्यों न हो वह अन्ततोगत्वा देवों के देव परमात्मा के ही किसी गुण का नाम होने से उसी का स्मरण है। इसलिए देवता का नाम चुपचाप लिया जाता है (यह १७ सामिधेनी आपस्तम्वादि का मत है)।१०। कइयों का मत है कि २१ सामिधेनी होनी चाहिए क्योंकि १२ मास, ५ ऋतु, ३ लोक जिनमें ये ऋतु अपना प्रभाव दिखाते हैं, ये २० हुए। २१ वां यह हुआ जो तपता है अर्थात् सूर्य, जो सारे काल विभाग का मूल है। यही अन्तिम गति अन्तिम प्रतिष्ठा है क्योंकि इसी से कालविभाग है। सो २१ सामिधेनियों से इस गति, इस प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि यज्ञ का पूर्ण स्वरूप १२+५=१७ से भी नहीं मिलता।

उसमें विभजनीय और विभाग यही दो अंश आए। विभाग का कारण और विभाग का अधिष्ठान यह दो नहीं आये। इनसे ही पूर्णता होती है। इसलिए २१ सामिधेनियां बोले। ११। ये सामिधेनियां वही बोले जो लक्ष्मीसम्पन्न हो, जिस पर भले बुरे दिनों का कुछ प्रभाव न पड़े। यह सब मत दिखाकर अन्त में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस प्रकार तो सूक्ष्म विवेचन से न जाने कितने और अंक निकल आयेंगे। जितनी निश्चिन्तता तथा कृतकृत्यता हो उतना ही सूक्ष्म विचार सम्भव है और वह शोभा भी कृतकृत्य को ही देता है। किन्तु इस प्रकरण में मुख्यता पंचदश सामिधेनी सूचित काल-विभाग की ही है, वही करना चाहिए १७ वा २१ नहीं।१२।

प्रथम गायत्री को तीन बार तथा अन्तिम को तीन बार एक साँस में बोलें। भूः भुवः स्वः ये तीन लोक हैं। भूः अग्नि का, भुवः वायु का, स्वः आदित्य का सूचक है। प्रथम कर्तव्यशाला में हर एक कार्य को अग्नि अर्थात् तर्क से जांचना चाहिए कि वह कार्य क्यों किया जा रहा है। यदि उस कार्य के किए जाने के लिए उचित युक्ति युक्त कारण उपस्थित हैं तो यह उसका भूलोक पूरा हो गया। अब देखना चाहिए कि इस कार्य के लिए क्या साधन सामग्री उपस्थित है। यदि उपस्थित नहीं तो उसे उपस्थित करने का उद्योग करना चाहिए। यदि उपस्थित है तो उसे कार्य में लाना चाहिए। यह गति वायु का क्षेत्र है। इसी का नाम भुवर्लोक है। तीसरी परीक्षा इस बात की होनी चाहिए कि इस कार्य को सौन्दर्य-सम्पन्न कैसे किया जा सकता है। यह स्वर्लोक है। ये तीनों इकट्ठे एक साँस में होने चाहिएँ। पृथक् करने से किसी अंश के मर्यादा से अधिक स्थान पा लेने की आशंका बनी रहती है। इस प्रकार तीन बार बोलकर वह तीनों लोकों को 'स्पृणुते' अर्थात् बलवान् बनाता है। तथा तीनों को 'सन्तनोति' अर्थात् अविच्छिन्न रूप से विस्तार करता है। पुरुष में भी प्राणापानव्यान तीन प्राण हैं। सो सामिधेनीमय पुरुष में भी इस प्रकार यह तीन प्राण सन्तत अव्यवच्छिन्नरूप से स्थापित किए जाते हैं। यही अनुवचन का रहस्य है। अन्त में तीन बार फिर इसी प्रकार एक-एक ही सामिधेनी के उच्चारण का तात्पर्य यह है कि उपक्रम और उपसंहार में पूरा मिलान होना चाहिए। कार्य-समाप्ति पर अवश्य देख लेना चाहिए कि जिस अग्नि से जिस निमित्त से कार्य आरम्भ हुआ था वह पूरा हुआ वा नहीं। उसके लिए उद्योग भी पूरा हुआ या नहीं, तथा उसमें सुन्दरता भी आई वा नहीं।१३। कई कहते हैं कि जितना इकट्ठा एक समय में बोल सके उतना बोले। अर्थात् भूः, भुवः, स्वः में से जितना अंश पूरा कर सके पूरा करे। किन्तु यह ठीक नहीं इसकी निन्दा है।१४। क्योंकि यदि किसी ने कारण भी पूरी तरह नहीं विचारा तो आगे चलने से क्या लाभ। इसलिए कम से कम एक गायत्री तो एक सांस में बोले। अर्थात् कारण, उद्योग और सौन्दर्य इनमें से एक-एक अङ्ग को तो पूरा करके आगे चले।१५। यह १५ सामिधेनी लगातार एक साथ बोली जाती हैं। क्योंकि तोड़-तोड़कर कार्य करने से कार्य अत्यन्त अव्यवस्थित हो जाता है। अतः वर्ष भर का जो कार्यक्रम निर्धारित हो वह ठीक अक्षुण्णरूप से वैसा ही होना चाहिए। जितना विश्रामादि उचित है उसके लिए उसमें पहले ही स्थान रख ले, परन्तु निर्धारित कार्यक्रम को न बिगड़ने दे। यही सूचित करने के लिए संवत्सर-सूचक १५ सामिधेनी अव्यवच्छिन्न पढ़ता है। इस प्रकार दुर्व्यवस्था रूप शत्रु को घुसने के लिए कोई उपस्थान अर्थात् छिद्र नहीं मिलता। जैसे दिन रात का चक्र सूर्य का नियम पूर्वक चलता है ऐसे ही हमारा कर्त्तव्यशाला का चक्र भी नियम पूर्वक चलता है।१६।

इति तृतीयाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम्।

अथ चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ।

अब अगले अध्याय के आरम्भ में हिङ्कार का वर्णन है सो पहले इस बात की व्याख्या आवश्यक है कि यह हिङ्कार क्या वस्तु है। इस शब्द का मर्म छान्दोग्योपनिषत् के पढ़ने से पता चलता है। परन्तु दुःख की बात तो यह है कि छान्दोग्योपनिषत् का भी मर्म लोग नहीं जानते। इसका कारण यह है कि छान्दोग्य उपनिषत् संगीत विद्या से सम्बन्ध रखती है। इसका नाम ही यह सूचित करता है कि यह छन्दो + ग = छन्द गान करने वालों की उपनिषत् है। संगीत विद्या के जानने वाले जानते हैं कि उत्तम खयाल गाने के समय पहले राग का स्वर-सूचक आलाप लिया जाता है। फिर स्थायी कहा जाता है। फिर अन्तरा कहा जाता है। फिर धीरे-धीरे तान आलाप आदि को हलका करते हैं। और फिर मधुर स्वर से स्थायी के साथ उपसंहार किया जाता है। आलाप, स्थायी, अन्तरा, उतार और समाप्ति ये ५ संगीत के अङ्ग क्रमशः हिङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन इन ५ नामों से कहे जाते हैं। जैसा कि इस वर्णन से स्पष्ट है—

अभिमन्थति स हिङ्कारः, धूमो जायते स प्रस्तावः, ज्वलति स उद्गीथः, अङ्गारा भवन्ति स प्रतिहारः, उपशाम्यति तन्निधनम् ॥ छान्दोग्य अध्याय २ खण्ड १२

अर्थात्—"अग्नि का जब मन्थन करते हैं वह हिङ्कार है, जब धूआं निकल पड़ता है वह प्रस्ताव है, जब लपटें निकलती हैं वह उद्गीथ है, जब अङ्गार हो जाते हैं वह प्रतिहार है, बुझ जाना निधन है।" बस यही राग स्वर-सूचक आलाप हिङ्कार कहलाता है। इसलिए कहा कि सामिधेनी हिङ्कार पूर्वक बोली जाती हैं। अर्थात् प्रत्येक वर्ष वा दिन के आरम्भ में दिन भर का वा वर्ष का क्या मुख्य कार्य है उसकी अति संक्षिप्त रूप-रेखा बनाकर कार्य आरम्भ करना लाभदायक है। इसी को हिङ्कार कहा है। जिस प्रकार भैरवी के हिङ्कार के साथ ही परिषत् जान जाती है कि अब भैरवी गाई जायगी, इसी प्रकार इस हिङ्कार से पता लग जायगा कि इस संवत्सर में क्या कार्य करना है। इसीलिए कहा कि विना साम यज्ञ नहीं होता, विना हिङ्कार के साम नहीं गाया जाता। सो यह जो सामिधेनी के आरम्भ में ओ३म् कहा जाता है वह साम का रूप है। और हिङ्कार तो हिङ्कार है ही। इससे यह भी पता लगता है कि प्रत्येक कर्त्तव्यशाला में सन्धि-कालों में संगीत अवश्य होना चाहिए। कम से कम आरम्भ और अन्त में तो अवश्य होना चाहिए।१। वह हिङ्कार इसलिए किया जाता है कि यह रूपरेखा सारे यज्ञ का प्राण है। मनुष्य में हिङ्कार और प्राण का सम्बन्ध स्पष्ट है। कोई मनुष्य नाक बन्द करके अलाप नहीं ले सकता। आगे जो ऋचा कही जाती है वह वाणी की प्रतिनिधि है क्योंकि ऋचा बोली जाती है। सो इस प्रकार प्राण और वाणी का जोड़ा बन गया। जोड़ा ही नई

उत्पत्ति करता है। सो वह सामिधेनियों से पूर्व किया जाता है। इसीलिए हिङ्कार के पश्चात् सामिधेनियों का उच्चारण करता है। २। सो यह हिङ्कार मुख में ही किया जाता है। अर्थात् रूपरेखा का निश्चय करना विशेष मनन का कार्य है। इसीलिए उसे चुपचाप मुख में ही उच्चारण किया जाता है। इसे उपांशु कहते हैं। किन्तु सामिधेनी कार्य का नाम है सो उसका प्रतिनिधि उच्चारण है। मनन और कार्य-करण क्रमशः उपांशु जप और अनुवचन हैं। यदि इनमें से एक ही करे तो मन-वचन का जोड़ा पूरा न हो। वचन ही वचन रह जाय। ३। इसमें 'आ' वाली और 'प्र' वाली दो प्रकार की गायत्री हैं। सो 'आ' वाली देवों तक यज्ञ को पहुँचाती हैं। और 'प्र' वाली मनुष्यों की रक्षा करती हैं। तात्पर्य यह कि योग्य मनुष्य को अधिकार पर नियुक्त करे और अधिकार पर नियुक्त पुरुष अपनी योग्यता फल से प्रमाणित करे। यही दो कर्त्तव्यशाला की सफलता के साधन हैं। नियुक्ति-समय भी अधिकारियों की परीक्षा होनी चाहिए, यह देवों का आवाहन है। और वह कर्त्तव्य-पालन भी करते हैं वा नहीं यह परीक्षा करना प्रवाहण है। ४। इन्हीं को प्राण और उदान के नाम से भी कहा है। ५। यह जो 'आ' और 'प्र' कहा है यह कार्यारम्भ और कार्य परिपाक, रेतःसेचन और प्रजनन, पशुओं का गमन और प्रत्यावर्त्तन, इनमें से किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है।६।

अब एक-एक सामिधेनी पर पृथक् विचार करते हैं—

सोऽन्वाह। प्र वो वाजा अभिद्यव इति तन्नु प्रेति भवत्यग्न ऽआयाहि वीतयऽइति तद्वेति भवति ॥७॥ तदु हैकऽआहुः। उभयं वाऽ एतत्प्रेति सम्पद्यतऽइति तदु तदातिविज्ञान्यमिव प्र वो वाजा अभिद्यवऽइति तन्नु प्रेत्यग्नऽआयाहि वीतयऽइति तद्वेति ॥८॥ सोऽन्वाह। "प्र सो वाजा अभिद्यव" (ऋग्० ३।२७।१) इति तन्नु प्रेति भवति वाजा इत्यन्नं वै वाजा अन्नमेवैतदभ्यनूक्तमभिद्यव इत्यर्द्धमासा वा ऽअभिद्यवोऽर्द्धमासानेवैतदभ्यनूक्तꣳ "हविष्मन्त" (ऋग्० ३।२७।१) इति पशवो वै हविष्मन्तः पशूनेवैतदभ्यनूक्तम् ॥ ९॥ "घृताच्ये" (ऋग्० ३।२७।१) ति। विदेघो ह माथवोऽग्निं वैश्वानरं मुखे बभार तस्य गोतमो राहूगण ऋषिः पुरोहित आस तस्मै ह स्मामन्त्र्यमाणो न प्रतिशृणोति नेन्मेऽग्निर्वैश्वानरो मुखान्निष्पद्याताऽइति ॥ १०॥ तमृग्भिर्ह्वयितुं दध्रे। "वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तꣳ समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे" (यजुः २।४॥ ऋग्० ५।२६।३) विदेघेति ॥११॥ स न प्रतिशुश्राव। "उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते। तव ज्योतीꣳष्यर्चयो" (ऋग्० ८।४४।७) विदेघोऽइति ॥१२॥ स ह नैव प्रतिशुश्राव। "तं त्वा घृतस्नवीमहे" (ऋग्० ५।२६।२) ऽइत्येवाभिव्याहरदथास्य घृतकीर्त्तावेवाग्निर्वैश्वानरो मुखादुज्जज्वाल तन्न शशाक धारयितुꣳसोऽस्य मुखान्निष्पेदे स इमां पृथिवीं प्रापादः ॥१३॥ तर्हि विदेघो माथव आस। सरस्वत्याꣳ स तत एव प्राङ् दहन्नभीयायेमां पृथिवीं तं गोतमश्च राहूगणो विदेघश्च माथवः पश्चाद्दहन्तमन्वीयतुः स इमाः सर्वा नदीरतिददाह सदानीरेत्युत्तराद् गिरेर्निर्द्धायति ताꣳ हैव नातिददाह ताꣳ ह स्म तां पुरा ब्राह्मणा न तरन्त्यनतिदग्धाग्निना वैश्वानरेणेति ॥१४॥ तत एतर्हि। प्राचीनं बहवो ब्राह्मणास्तद्धाक्षेत्रतरमिवास स्रावितरमिवास्वदितमग्निना वैश्वानरेणेति ॥१५॥ तदु हैतर्हि। क्षेत्रतरमिव ब्राह्मणा उ हि नूनमेनद्यज्ञैरसिष्वदन्त्सापि जघन्ये नैदाघे समिवैव कोपयति तावच्छीतानातिदग्धा ह्यग्निना वैश्वानरेण ॥१६॥ स होवाच। विदेघो माथवः क्वाहं भवानीत्यत एव ते प्राचीनं भुवनमिति होवाच

सैषाप्येतर्हि कोसलविदेहानां मर्यादा ते हि माथवाः ॥१७॥ अथ होवाच । गोतमो राहूगणः कथं नु नऽआमन्त्र्यमाणो न प्रत्यश्रौषीरिति स होवाचाग्निर्मे वैश्वानरो मुखेऽभूत्स नेन्मे मुखान्निष्पद्याता इति तस्मात्ते न प्रत्यश्रौषमिति ॥१८॥ तदु कथमभूदिति । यत्रैव त्वं घृतस्नवीमहऽइत्यभिव्याहार्षीस्तदेव मे घृतकीर्त्ताविग्निर्वैश्वानरो मुखादुदज्वालीत्तं नाशकं धारयितुꣳ स मे मुखान्निरपादीति ॥१९॥ स यत्सामिधेनीषु घृतवत् । सामिधेनीमेव तत्समेवंन तेनेन्धे वीर्यमेवास्मिन् दधाति ॥२०॥ तदु घृताच्येति । "देवान् जिगाति सुम्नयु" (ऋग्० ३ । २७ । १) रिति यजमानो वै सुम्नयुः स हि देवान् जिगीषति स हि देवान् जिगाꣳसति तस्मादाह देवान् जिगाति सुम्नयुरिति सैषाग्नेयी सत्यनिरुक्ता सर्वं वाऽअनिरुक्तꣳ सर्वेणैवैतत्प्रतिपद्यते ॥२१॥

"सो वह पहली सामिधेनी को उच्चारण करता है । वह इस प्रकार है—

प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या । देवाञ्जिगाति सुम्नयुः ॥ (ऋ० ३।२७।१) सो यह 'प्र' वाली ऋचा है । प्रश्न हो सकता है जब "आ" वाली ऋचाएँ आरम्भ सूचक हैं और "प्र" वाली प्रकर्ष तथा परीक्षासूचक, तो "आ" वाली ऋचा से आरम्भ न करके "प्र" वाली ऋचा से क्यों आरम्भ किया । सो इसका अभिप्राय यह है कि आवाहन उसका ही होना चाहिए जिसका प्रकर्ष पहले परीक्षा द्वारा प्रमाणित हो चुका है, फिर उसके कार्य की भी पड़ताल होती रहनी चाहिए । इसीलिए आरम्भ 'प्र' वाली ऋचा से ही किया गया । आगे जो "**अग्न आ याहि वीतये**" यह ऋचा आएगी वह 'आ' वाली है ।७। कई इसमें कहते हैं कि 'प्र' वाली ऋचा से ही दोनों काम चल जाते हैं सो यह व्यर्थ की अपने विज्ञान की अहम्मन्यता सी है । विद्वानों की केवल पड़ताल हो और उनका आदर-पूर्वक निमन्त्रण, आ + वाहन, न हो तो भी कभी यज्ञ पूरा नहीं हो सकता । आदर तथा परीक्षा दोनों का ही अतियोग न होना चाहिए । यदि केवल पड़ताल ही रहे तो कोई आत्मगौरव-हीन मनुष्य ही राष्ट्र का कार्य करेंगे और यदि विद्वानों का इतना अधिक आदर होने लगे कि उनके कार्य की किसी प्रकार भी पड़ताल न हो तो ये आलसी प्रमादी और उच्छृङ्खल हो जावेंगे । इसलिए 'आ' और 'प्र' दोनों चाहिएँ । जैसे "**प्र वो वाजा अभिद्यवः**" यह 'प्र' तथा "**अग्न आ याहि वीतये**" यह 'आ' ।८। सो वह जो कहता है "**प्र वो वाजा अभिद्यवः**" यह 'प्र' वाली ऋचा है । इसमें वाज का अर्थ अन्न है । उसी को 'अभि' अर्थात् लक्ष्य करके यह 'वाजाः' कहा है । आगे शब्द पड़ा है 'अभिद्यवः' इसका अर्थ है देदीप्यमान । सो यह दर्श तथा पौर्णमास याग द्वारा पवित्र किए हुए १५ दिन के पखवाड़े का अर्थात् अर्धमास का नाम है । सो यह अर्धमास को लक्ष्य करके कहा है । आगे शब्द पड़ा है 'हविष्मन्तः' । हविः का अर्थ है बुलाने का, आह्वान का, साधन । संसार का प्रत्येक पदार्थ हमें बुलाता है । जब हम उसकी उपयोगिता को जान लेते हैं तो हम मानो उसके पुकारे हुए उसके पास जाते हैं । बस हर एक पदार्थ जिस गुण के कारण हमें बुलाता है वही गुण उसका हविः है । और उसके कारण वह हविष्मान् है । जड़ पदार्थों का हवि-अंश (Utility) हमें परीक्षा-पूर्वक खोजना पड़ता है । किन्तु अश्वादि पशुओं का चेतन होने के कारण हविः अंश अति स्पष्ट है । अतः कहते हैं कि हविष्मान् पशु हैं और इन्हें ही लक्ष्य करके 'हविष्मन्तः' यह शब्द कहा है ।९। आगे शब्द कहा है 'घृताच्या' । सो इस पर एक कथा कहते हैं । मथु का पुत्र माथव (यदि माधव पाठ मानें तो मधु का पुत्र माधव)

विदेह का राजा था। वह वैश्वनर अग्नि को मुख में लिये हुए था। राहूगण गोतम उसका पुरोहित था। गोतम राहूगण उससे बात करता परन्तु वह अनेक वार प्रेरणा करने पर भी प्रतिज्ञा न करता था (हाँ न करता था)। कहीं वैश्वानगर अग्नि मेरे मुख से बाहर न निकल पड़े (मुख भींचे पड़ा था)। १०। तब गोतम ने अग्नि को राजा के मुख से निकालने के लिए ऋचाओं द्वारा पुकारने की ठानी। वह बोला—

वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि अग्ने बृहन्तमध्वरे विदेघ।११।

वह फिर भी न बोला। तब उन्होंने दूसरी ऋचा पढ़ी। वह इस प्रकार थी—

उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते तव ज्योतींष्यर्चयो विदेघ।१२।

वह फिर भी न बोला। तब गोतम ने तीसरी ऋचा पढ़ी। वह इस प्रकार थी—

तन्त्वा घृतस्नवीमहे चित्रभानो स्वर्दृशं देवां आ वीतये वह।

अभी उसने "तन्त्वा घृतस्नवीमहे" इतना ही कहा था कि घृत शब्द के कीर्त्तन मात्र से वैश्वानर अग्नि मुख से भड़क उठा। राजा उसे मुख में न रख सका। वह उसके मुख से निकल पड़ा। वह इस पृथिवी पर आ पहुँचा।१३। विदेघ माथव उन दिनों सरस्वती में था। वहां से वह अग्नि आगे-आगे दाह करता हुआ पृथिवी पर निकल पड़ा। गोतम राहूगण और विदेघ माथव उस दाह करते-करते अग्नि के पीछे-पीछे चले आते थे। उसकी यह दाह-यात्रा सब नदियों को पार करती जाती थी। किन्तु उत्तर पर्वत से सदानीरा नाम की नदी बहती थी। उसे पार न कर सकी। इसीलिए प्राचीन काल में ब्राह्मण इस नदी को पार न करते थे। वे कहते थे कि इस नदी को पार करके वैश्वानर अग्नि ने दाह नहीं किया है (इसीलिए यह देश अभी पवित्र नहीं हुआ है)।१४। उससे आगे की ओर तो बहुत से ब्राह्मण अब भी हैं। किन्तु पहले यह सम्मुख भाग भी ब्राह्मणों के निवास के योग्य न था। सभ्य पुरुषों के लिए अक्षेत्र-तर-सा था। चूते हुए वर्तन-सा था क्योंकि अभी तक उसका वैश्वानर अग्नि ने स्वाद न लिया था।१५। अब वही प्रदेश क्षेत्रतर है (निवास योग्य है) क्योंकि ब्राह्मणों ने उसे यज्ञों द्वारा सुस्वादु बना दिया है। वह भी पिछली गर्मियों में सूखने के स्थान में और कुपित हो जाती है मानो इसलिए कि वैश्वानर अग्नि ने उसे पार करके दाह यात्रा नहीं की है।१६। तब वह विदेह माथव बोला हे अग्ने! मैंने तो सारी आयु भ्रमण में बिता दी, मैं डेरा कहाँ करूँ? इस पर अग्नि ने कहा कि इस सदानीरा से सामने की ओर का प्रदेश तेरा राज्य है। सो वह सदानीरा ही इस समय भी कोसल और विदेह देशों की मर्यादा है। और वे विदेह ही माथव भी कहलाते हैं। १७। अन्त में गोतमराहूगण ने कहा कि मेरे बार-बार बुलाने पर आप हां हूं क्यों न करते थे। वह (विदेह माथव) बोला वैश्वानर अग्नि मेरे मुख में था, कहीं वह मेरे मुख से न निकल पड़े इसी डर से मैं प्रतिश्रवण न करता था। १८। गोतम ने पूछा कि फिर यह तुम बोल पड़े यह कैसे हो गया। विदेघ ने उत्तर दिया कि ज्यों ही तुमने "घृतस्नवीमहे" यह ऋचा पढ़ी सो घृत शब्द के उच्चारण मात्र करते ही वैश्वानर अग्नि मेरे मुख में प्रज्व-लित हो उठा और मैं उसे मुख में रोक न सका। सो वह मेरे मुख से निकल पड़ा।१९। सो इसलिए सामिधेनी ऋचाओं में जो घृतवाले मन्त्र हैं वह असली सामिधेनी हैं क्योंकि घृत से ही अग्नि का समिन्धन होता है इस प्रकार घृत द्वारा इस अग्नि में शक्ति धारण कराता है। २०। इसीलिए यह शब्द कहा "घृताच्या।" आगे कहते हैं—"देवान् जिगाति सुम्नयुः।" वह देवों की विजय करना चाहता है अथवा वह देवों को 'जिगां-

सति' अर्थात् प्राप्त होना चाहता है इसीलिए कहा "देवान् जिगाति सुम्नयुः" सो यह आग्नेयी होकर भी अनिरुक्ता है अर्थात् अग्नि के स्पष्ट नाम-निर्देश से रहित ऋचा है। सो यह नाम-निर्देशरहित इसलिए कहा कि जो नाम-निर्देशरहित होता है वह सम्पूर्ण की ओर निर्देश करता है। सो इस प्रकार इस ऋचा का सम्बन्ध एक विशेष अग्नि के साथ न होकर सब अग्नियों के साथ हो जाता है। २१।"

ऊपर हमने कण्डिकाओं का अर्थ कह दिया। अब हम इनका गूढ़ार्थ कहेंगे। किन्तु उससे पहले दूसरे भाष्यकारों की कुछ भूलें दिखाना चाहते हैं।

सब से प्रथम तो हमें "प्राक्" और "पश्चात्" इन दो शब्दों के सम्बन्ध में कहना है। शतपथ ब्राह्मण के इस सन्दर्भ के आधार पर वेबर आदि लेखकों ने यह परिणाम निकाला है कि आर्य लोग जब मध्य एशिया की ओर से आए तो पहले सदानीरा के पश्चिम तक रहे। फिर वह अपनी सभ्यता का विस्तार करते हुए सदानीरा को पार करके उसके पूर्वीय तट पर आ बसे। अब यदि माथव विदेघ देश का राजा है तो उनके कथनानुसार कोसल विदेह से भी कहीं पूर्व में होना चाहिए। क्योंकि विदेघ माथव के मुख से निकला वैश्वानर विदेह देश से 'प्राङ्" अर्थात् पूर्व की ओर "दहन् अभीयाय" अर्थात् दहन करता हुआ चला। अर्थात् कोसल देश में पहुँचा। परन्तु कोसल वास्तव में विदेह से पश्चिम में है।

इस पर यदि कोई कहे कि विदेह माथव विदेह देश का राजा था इसमें क्या प्रमाण है? वह सरस्वती के किनारे का रहने वाला भी हो सकता है और फिर वहां से पूर्व की ओर आते-आते वह सदानीरा नदी के पूर्व तट तक आया हो। इसमें क्या अनुपपत्ति है? इसका उत्तर यह है कि विदेह तो माथव का क्षेत्र है। इसीलिए यहां "कोसलविदेहानां मर्यादा" का वर्णन है। यदि विदेह का "विदेघो माथवः" से कोई सम्बन्ध न होता तो यहाँ "कोसलविदेहानां मर्यादा" के वर्णन की क्या आवश्यकता थी इसलिए विदेह माथव विदेह जनपद का राजा ही है यह सिद्ध हुआ। अतः हमारी विप्रतिपत्ति यथापूर्व बनी रही।

इससे पहले कि हम इस पर आगे विचार करें, कोसल और विदेह क्या हैं यह देख लेना चाहिए। कोसल नाम अवध का तथा विदेह तिरहुत का है। कोसल में अयोध्या और विदेह में मिथिला आज भी हैं। हमने शतपथ ब्राह्मण का यह संदर्भ सुयोग्य ऐतिहासिक तथा प्राचीन भूगोल के पण्डित जयचन्द्र जी विद्यालंकार के सामने रक्खा। उनका कहना है कि विदेह माथव सरस्वती नदी के किनारे वाला था और वहां से पूर्व की ओर चलता हुआ वह उस स्थान तक आया जहां आज विदेह है। विदेह नाम किसी जाति विशेष का था और उसी के कारण विदेह नाम देश का भी हुआ। इस प्रकार विदेह जाति का याज्ञवल्क्यकालीन विदेह से सम्बन्ध मानकर भी प्राक् और पश्चिम सम्बन्धी हमारी बात का प्रत्याख्यान हो जाता है। क्योंकि इसका तात्पर्य यह हुआ कि सदानीरा के पूर्व की ओर जो विदेह लोग आज रहते हैं वे पूर्वकाल में विदेह माथव के राज्य में सरस्वती तट पर रहते थे। और वहां से कोसल पूर्व की ओर है ही।

इस पक्ष को मानने में निम्नलिखित आपत्ति है—

प्रथम तो वहाँ लिखा है कि पहले लोग सदानीरा नदी पार नहीं करते थे। इससे पता लगता है कि पहले विदेह में ही रहते थे और वैश्वानर अग्नि अथवा आर्य सभ्यता विदेह तक ही थी। किन्तु इसके उत्तर में यह भी कहा जा सकता है कि सर-

स्वती के किनारे रहकर भी तो, सदानीरा के पश्चिम से पूर्व न आने पर भी, यह कहा जा सकता है कि ब्राह्मण इसे पार नहीं करते। यदि लोग विदेह से कोसल में न जाते हों अथवा कोसल से विदेह में न जाते हों, दोनों ही अवस्थाओं में सदानीरा का पार न करना कहा जा सकता है।

इस गुत्थी को सुलझाने के लिए हम शतपथ ब्राह्मण के एक वाक्य का विश्लेषण करना चाहते हैं। वह महत्त्वपूर्ण वाक्य है **'सैषाऽप्येतर्हि कोसलविदेहानां मर्यादा।'** यहां "सैषा अपि एतर्हि" में जो "अपि" है यह सारी गुत्थियों को सुलझा देता है। देखिए सायणाचार्य इस वाक्य का अर्थ क्या करता है—**"अत एव कारणात् एतस्मिन्नपि काले सैषा सदानीरा नदी कोशलदेशस्य विदेहदेशस्य च मर्यादा।"** यहां "सा + एषा" और "अपि" पर ध्यान देना चाहिए। 'सा' पूर्वोक्त का परामर्शक है और 'अपि' समुच्चय-वाचक है। सो यह 'अपि' किसका समुच्चय कर रहा है? यह वही नदी है जो पहले विदेह माथव के समय में थी। और आज भी उसी प्रकार कोसल विदेह की मर्यादा है। इससे स्पष्ट है कि माथव विदेघ उसी विदेह का रहने वाला था जो शतपथ के जनक वैदेह का विदेह है, और तब भी यही सदानीरा उनकी मर्यादा थी और आज भी है।

इस पर प्रतिवादियों की ओर से प्रश्न उठ सकता है कि विदेघ माथव का वैश्वानर अपने से प्राङ् अर्थात् पूर्व की ओर बढ़ा। सो विदेह से पूर्व न कोई सदानीरा है न कोसल देश। उलझन किस प्रकार सुलझेगी? यहाँ हमारा नम्र निवेदन है कि यह 'प्राङ्' यहां 'पश्चात्' का विरोधी होकर आया है। इसलिए प्राङ् का अर्थ पूर्व की ओर नहीं किन्तु सामने अथवा आगे-आगे इस प्रकार है। आगे-आगे वैश्वानर चलता था और पीछे-पीछे विदेघ माथव और गोतम राहूगण चलते थे। सो प्राङ् का अर्थ पूर्व दिशा की ओर ऐसा न करके 'आगे-आगे' इस प्रकार करना चाहिए। क्योंकि 'प्राङ् दहन्' के साथ 'पश्चात् अन्वीयतु:' के जोड़ने से आगे और पीछे यही अर्थ युक्ततर प्रतीत होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि **"तर्हि विदेघो माथव आस सरस्वत्याम्"** इस वाक्य का क्या अर्थ है। सो यहाँ हमारा वक्तव्य यह है कि प्रथम तो 'सरस्वत्याम्' का अर्थ सरस्वती में है न कि सरस्वती के किनारे। फिर यदि इस सरस्वती का अर्थ जानना है तो पहले वैश्वानर का अर्थ जान लेना चाहिए। इस विषय में हम अपनी ओर से कुछ न कहकर वेबर का मत जो शतपथ ब्राह्मण के अंग्रेजी अनुवाद में एग्लिङ् ने उद्धृत किया है यहां देते हैं—

The Agni Vaishwanara (or Agni who is common to all men) of our legened Professor Weber considers a personification of brahmanical worship and civilization and the destructive effects of their extension. अर्थात् वेबर के मत में वैश्वानर अग्नि से अभिप्राय ब्राह्मणों की यज्ञ पद्धति और सभ्यता से है।

बड़े आश्चर्य की बात है कि जिन वेबर ने इस अग्नि को पहिचान लिया वह सरस्वती को क्यों न पहिचान सके। क्या यह बात किसी से छिपी है कि सभ्यता का प्रचार करने वाला दिन रात सरस्वती अर्थात् विद्याव्यसन में रहता है। सरस्वती के किनारे नहीं, सरस्वती में ठीक सरस्वती में। साथ ही वेबर ने दाह शब्द को देखकर लिख दिया है कि अग्नि शब्द में इस सभ्यता के प्रचार के घातक प्रभाव की ओर निर्देश

है। यदि वह घातक के साथ दोष शब्द और बढ़ा दें तो हमें कोई आपत्ति नहीं। इस सभ्यता के प्रचार का प्रभाव घातक (Destructive) तो अवश्य था। किन्तु दोष-घातक अविद्याघातक, अन्धकार-घातक था। इसीलिए जब तक यह अग्नि वहाँ नहीं पहुँची वे देश, अक्षेत्रतर, स्राविितर (फूटे बर्तन के समान निकम्मे) थे। जब यह वैश्वानर अग्नि वहाँ पहुँची तो वह स्थान क्षेत्रतरम् (सायण के शब्दों में निवासयोग्यम्) हो गये।

अब देखना चाहिए कि यह वैश्वानर अग्नि क्या है। हम वेबर से सहमत हैं। वैश्वानर अग्नि शिक्षा के सर्व साधारण में प्रचार (Mass Education) का नाम है। शिक्षा तीन प्रकार की है—

१. वीतिहोत्र शिक्षा (Secular Education)
२. अर्चिष्मती शिक्षा (Acadmie Education)
३. वैश्वानर शिक्षा (Popular Education)

वीतिहोत्र शिक्षा अन्न तो देती है, मनुष्यों को खाने कमाने योग्य तो बना देती है, किन्तु वह वस्तुतः शिक्षा नहीं। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य के चरित्र का संस्कार उससे नहीं होता। दूसरी ओर अर्चिष्मती शिक्षा बड़ी पवित्र है, जाज्वल्यमान है। मनुष्य को बहुत ऊँचा उठाने वाली है। परन्तु वह थोड़े से प्रतिभाशाली सरस्वती के लाडलों का भागधेय है। तीसरी शिक्षा वैश्वानर शिक्षा (Mass Education) वस्तुतः संसार का सबसे बड़ा उपकार करती है। परन्तु वह किसी पाठशाला में नहीं दी जाती। उसका विस्तार वैश्वानर (विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितो वैश्वानर इति सायणः) अर्थात् संसार भर का कल्याण चाहने वाले संन्यासी तथा उनके अनुचर ही कर सकते हैं। इस वैश्वानर का वर्णन वेद से सुनिए—

पिता यज्ञानामसुरो विपश्चितां विमानमग्निर्वयुनञ्च वाघताम्। आविवेश रोदसी भूरिवर्पसा पुरुप्रियो भन्दते धामभिः कविः॥ ऋ० मं ३। सू० ३ मं ४॥

मन्त्र का ग्रिफिथकृत् अनुवाद लीजिए—

The Sire of Sacrifice, great God of holy bards, Agni, the measure and symbol of priests; hath entered heaven and earth that show in varied form the sage whow many love rejoiceth in his might.

विश्पतिं यह्वमतिथिं नरः सदा यन्तारं धीनामुशिजञ्च वाघताम्। अध्वराणां चेतनं जातवेदसं प्रशंसन्ति नमसा जूतिभिर्वृधे। ऋ० मं० ३। सू० ३। मं० ८॥

The mighty one, lord of the people and their guest, the leader of their thoughts, devoted Friend of the priests, our solemn rites' rishis-annoncer, Jatavedas, men with worship ever praise, with urgings for fheir weal.

वैश्वानर तव धामान्याचके येभिः स्वर्विदभवो विचक्षण। जात आपृणो भुवनानि रोदसी अग्ने ता विश्वा परिभूरसि त्मना॥ ऋ० मं० सू० ३। मं १०॥

I celebrate thy glories, O Vaishwanara, wherewith thou, O forsighted God, hastt fonud the light. thou filledst at thy birth both worlds, the earth and heaven; all this, O Agni, hast thou compassed of thyself.

अर्थात् वह वैश्वानर यज्ञों का पिता है विद्वानों का मार्गदर्शक है। दूरदर्शी है। प्रजाओं के हृदयों का स्वामी है। इसलिए ऐसे संन्यासी के हृदय में जलने वाली अज्ञान का खाण्डवदाह करने वाली प्रबल ज्वाला को भी वैश्वानर अग्नि कहें तो कुछ अनुचित नहीं।

अब देखना है कि वह अग्नि विदेह माथव के मुख में किस प्रकार रह सकती है। इसका रहस्य यह है कि जिस प्रकार शंकर को सुधन्वा मिल गए, तथा रामदास को शिवाजी मिल गए, तब ही उनके विचारों का प्रचार हुआ इसी प्रकार राहूगण गोतम राजा विदेघ माथव को वैश्वानर शिक्षा (अर्थात् Mass Education) के लिए प्रेरणा करते थे। अग्नि राजा के मुख में थी। अर्थात् राजा की आज्ञा निकलते ही प्रचार आरम्भ होना अनिवार्य था। किन्तु विवाद यह हो रहा था कि ज्ञान-प्रचार का साधन किसे बनाया जाय।

पहले राहूगण ने कहा कि अग्नि "वीतिहोत्र" अर्थात् अन्नदाता है। कुछ लोगों को अन्न कमाने की विद्या सिखा दो, बस उनकी देखा-देखी सब लोग उस विद्या को सीखने लगेंगे। राजा बोले कि यह मुझे स्वीकार नहीं। इससे लोगों को अन्न मिलेगा किन्तु वे शिश्नोदर-परायण ही तो रहेंगे।

फिर गोतम ने कहा कि अच्छा कुछ अत्यन्त उच्च कोटि के विद्वान् उत्पन्न कर दो। उनकी विद्या के प्रकाश से खिंचे लोग स्वयं विद्याभ्यास में प्रवृत्त हो जाएंगे। राजा ने कहा. मुझे यह भी स्वीकार नहीं। उन विद्वानों की लोग पूजा करेंगे, उन पर आश्चर्य करेंगे, आतंक और विस्मय भरी दृष्टि से उन्हें देखेंगे परन्तु इससे उनमें ज्ञान का प्रचार न होगा।

इस पर राहूगण ने कहा कि फिर तो ऐसे प्रचारकों के हाथ में ज्ञान-प्रचार दीजिए, जिनकी वाणी में घृत हो और वे इस अग्नि में घृत डालें। घृत अग्नि को प्यारा है। लोगों की ज्ञान-प्राप्ति की अभिलाषारूप अग्नि इस घृत से जाग उठेगी। कथा, नाटक, आख्यानाख्यायिका, प्रचार आदि साधनों द्वारा साधारण प्रजा में ज्ञान फैलाओ। यह बात राजा के मन लग गई और उन्होंने यह अग्नियात्रा आरम्भ कर दी। जिस नगर और ग्राम से यह अग्नि निकल गई वहां का कूड़ा करकट भस्म हो गया और वह क्षेत्रतर बन गया। यही इस अग्नि-यात्रा की कथा है। अब कण्डिकाओं की क्रम से व्याख्या आरम्भ करते हैं—

होता सामिधेनी वचन के समय सबसे पहले सामिधेनी पढ़ता है '**प्र वो वाजा अभिद्यवः**" सो यह 'प्र' से आरम्भ हुई। आगे चलकर पढ़ता है "**अग्न आ याहि वीतये** यह 'आ' वाली हुई।७। इसमें कई लोग कहते हैं कि 'प्र' वाली ऋचाओं से ही काम चल जायेगा अर्थात् यदि समय-समय पर कार्यकर्त्ताओं की पड़ताल होती रहे तो उत्तम कार्य-कर्त्ता राष्ट्र में स्वयं ही उत्पन्न होते रहेंगे। परन्तु यह व्यर्थ अकड़ में आकर कहने की बात है। सच्चे विद्वान् आवाहन की भी अपेक्षा रखते हैं। उनको जब तक उचित सम्मान-पूर्वक खींचकर उनके पद पर न लाया जायगा तो निकम्मे पद-लोलुप लोग उस पदवी पर प्रतिष्ठित हो जावेंगे। दूसरी ओर यदि उनकी जाँच पड़ताल बिलकुल न होगी तो वे आलसी और प्रमादी हो जायेंगे यह भी निश्चित है। अतः 'प्र' और 'आ' दोनों ही अवश्य होने चाहिएँ। सो यह जो "**प्र वो वाजा अभिद्यवः**" कहा यह 'प्र' हुआ।८।

सो यह पढ़ता है—"प्र वो वाजा अभिद्यवः" वह 'प्र' हुआ। वाज नाम अन्न का है। सो यह अन्न की ओर लक्ष्य करके कहा है। यहाँ अन्न शब्द का अर्थ केवल भोजनोपयोगी द्रव्य ही नहीं लेना, किन्तु अन्न शब्द का अर्थ यहाँ वही है जो अंग्रेजी शब्द Assets का है और Assets की भांति वाजाः भी बहुवचनान्त पड़ा है। इसीलिए हमने उसका अर्थ सम्पत्ति किया है। 'अभिद्यवः' यह कहा सो अभिद्यु नाम अर्धमासों का है। इसलिए यह दर्श पौर्णमास के उपदेशों द्वारा देदीप्यमान अर्धमासों की ओर निर्देश करके कहा। क्योंकि अभिद्यु का अर्थ है देदीप्यमान। और यहां प्रकरणवश देदीप्यमान अर्धमास ऐसा अर्थ हुआ। फिर आगे कहा "हविष्मन्तः" सो हविष्मान् नाम पशुओं का है। सो यह पशुओं को लक्ष्य करके कहा है। ९। आगे पद पड़ा है 'घृताच्या', इस पर एक कथा कहते हैं। विदेह के राजा माथव मुख में वैश्वानर अग्नि धारण किए हुए थे। यहां कार्य कारण के अभेद से वैश्वानर अर्थात विश्व-भर के नरों के हितकारी विद्वान् के हृदय में जलने वाली विश्व-कल्याण के संकल्प की ज्वाला को भी वैश्वानर कहा है। उस प्रबल अग्नि को विदेह का राजा माथव अपने मुख में धारण किए हुए था अर्थात् वह अग्नि प्रज्वलित होने के लिए राजा के मुख से निकलने वाली आज्ञा की प्रतीक्षा में थी। गोतम राहूगण ऋषि उन के पुरोहित थे। वह वारम्वार राजा को इस प्रकार के प्रचार के लिए शासन बनाने और आज्ञा निकालने के लिए प्रेरणा कर रहे थे। परन्तु राजा को यह संकोच था कि मेरे मुख से निकली आज्ञा सारी प्रजा के जीवन पर गहरा प्रभाव रखती है। उसके अनुकूल चलने वाले सैकड़ों को प्रसाद और विपरीत चलने वाले सहस्रों को दण्ड मिल सकता है। अतः मैं विना पूर्णरूप से सोचे कैसे आज्ञा निकाल दूँ।१०। पुरोहित ने राजा से कहा "**वीतिहोत्रन्त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि। अग्ने वृहन्तमध्वरे विदेघ**" अर्थात् "हे वीतिहोत्र, हे अन्नदाता, उद्देश्यपूर्तियों के साधन ढूंढ निकालने वाले क्रान्तिदर्शिन् दीप्तिमान् राजन् आप अग्नि रूप हैं, इस महान् अध्वर में हम आप को दीप्त करते हैं। आप सब में अन्नदायिनी विद्या का प्रचार कीजिए, हे विदेहराज!" राजा ने इस 'अन्नदाता' की पुकार पर वारम्वार आमन्त्रण करने पर भी कान न दिया कि कहीं मेरे मुख से अग्निरूप आज्ञा न निकल जावे। ११। फिर पुरोहित ने कहा, "**उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते तव ज्योतींष्यर्चयो विदेघ।**" अर्थात् "हे विदेह राजरूप अग्ने! तुम्हारी पवित्र उज्ज्वल पूजा के योग्य ज्योतियां चमचमाती हुई उठ रही हैं।" अर्थात् आप इस प्रकार के परमोच्च कोटि के विद्वानों की अग्नि द्वारा प्रजा का कल्याण कीजिए।१२। परन्तु राजा ने नहीं सुना। तब फिर पुरोहित ने मन्त्र पढ़ा। "**तन्त्वा घृतस्नवीमहे।**" अभी पुरोहित ने इतना कहा ही था कि घृत का का नाम लेते ही वैश्वानर अग्नि मुख से भड़क आया और राजा उसे न रोक सके। वह इस पृथ्वी पर आया अर्थात् अन्न अथवा पूजा के भाव पर विद्या का प्रचार राजा को समझ न आया। किन्तु स्निग्ध उपायों से (जिनमें से एक को अलंकार शास्त्रकारों ने कान्तासम्मित शब्द कहा है) प्रचार करने का नाम सुनते ही राजा ने आज्ञा दे दी और यह पाप-दाहक अज्ञानान्धकार निवारक अग्नि धरती पर फैल पड़ी।१३। उस दिन से विदेहराज को दिन रात यही धुन सवार थी। वह दिन रात सरस्वती में डूबे रहते थे। आगे-आगे अज्ञान का दाह करती हुई, अविदग्धों को विदग्ध बनाती हुई, अग्नि जाती थी और पीछे-पीछे विदेघ माथव और गोतम राहूगण चलते थे। जो नदी राह में आई इस अग्नि को न बुझा सकी। यह आग सब नदियों को लाँघती चली। परन्तु अन्त को उत्तर पर्वत से जो सदानीरा नदी दौड़ती आती है उसके किनारे आकर ठहर

गई। उसे न लांघ सकी। इसीलिए उस समय ब्राह्मण उस नदी को नहीं लांघते थे। कहते थे कि जंगली लोगों में जाकर क्या लेंगे जिन्हें वैश्वानर अग्नि ने अपनी पवित्र दाह-शक्ति द्वारा पवित्र नहीं किया। १४। परन्तु अब उस नदी के दूसरे किनारे तक बहुत से ब्राह्मण जा बसे हैं। पूर्व काल में यह भाग भी निवास योग्य क्षेत्र नहीं था। फूटे बर्तन की तरह ज्ञान-रस इसमें न ठहरता था। इस भाग को वैश्वानर अग्नि ने आस्वादन नहीं किया था। अर्थात् यहां विद्या-प्रचार की सीमा थी। विद्वान् लोग विदेह राजधानी में रहते और दूसरे तट को स्पर्श करते। परन्तु डेरा नहीं करते थे। नदी पार जाने की तो बात ही क्या थी।१५। परन्तु आज (शतपथब्राह्मण के जमाने में) वह सदानीरा का दूसरा तट भी निवास योग्य बन गया है। क्योंकि ब्राह्मणों ने इस भूमि को यज्ञ द्वारा पवित्र कर दिया है। यह नदी बीच गर्मी के दिनों में भी कुपित रहती है। मानो कहती है कि सब जगह सूर्य तप रहा है पर मैं ठण्डी की ठण्डी हूँ अब तक वैश्वानर अग्नि ने मेरा दाह नहीं किया।

इससे पता लगता है कि आर्य लोग जब तिब्बत से आए तो वे पहले विदेह में बसे। अन्यत्र भी उनकी बस्तियाँ थीं जिनमें विद्वान् रहते थे। परन्तु उनमें साधारण प्रजा में शिक्षा-प्रचार का भाव न आया। कहीं तो लोग अर्थकरी विद्या सीखते थे और कहीं कुछ विद्वान् अपने विद्याभ्यास में मस्त थे। परन्तु उन्हें प्रजा में विद्या-प्रचार का ध्यान न था। जो प्रजा में प्रचलित थी वह वीतिहोत्र अर्थात् खाने-कमाने की विद्या थी। वह वैश्वानर (Popular) तो थी परन्तु अग्नि (Education) नहीं थी। कहीं-कहीं विद्वानों में बड़ी उच्च कोटि की विद्या रूप अग्नि (Education) तो थी परन्तु वह वैश्वानर (Popular) नहीं थी। इन दो अंशों वैश्वानर (Popular) तथा अग्नि (Education) को मिलकर वैश्वानर अग्नि (Popular + Education) बनाने का विचार पहले-पहल विदेहराज माथव के पुरोहित गोतम राहूगण के मस्तक में उठा। तब से विद्या के दुर्ग बनने लगे और विदेहराज-जनक और महर्षि याज्ञवल्क्य (शतपथ काल) के काल में यह विजय-यात्रा कोसल विदेहों की मर्यादा सदानीरा नदी तक पहुँच गई। उसके पश्चात् महाराज दशरथ के काल में हम कोसल को एक पवित्र विद्या और शिक्षा का केन्द्र पाते हैं। इससे पता लगता है कि यह विदेहराज जनक पीछे से कुल की उपाधि हो गई। अतएव रामायण काल में भी फ्रांस के लुइयों की भांति जनक वंश का कोई जनक (सीता महारानी के पिता) विदेह में राज्य कर रहा है। किन्तु यह जनक याज्ञवल्क्य के साथ संवाद करने वाले जनक से भिन्न है। इससे यही ज्ञात होता है कि सभ्यता पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ती गई। और समय के चक्र से पूर्व विदेह की अपेक्षा भी कोसल में अधिक बढ़ गई। और आज भारत को छोड़कर उससे भी पश्चिम में चली गई हैं। इस कथा से पता लगता है कि भारत में सर्वसाधारण में शिक्षा के स्निग्ध उपायों द्वारा प्रचार का विचार सबसे पहले गोतम राहूगण के मस्तक में आया। हाय आज इस ऋषि की इस कथा का किसी को भी ज्ञान नहीं। वस्तुतः यह ऋषि भारत के इतिहास में कभी न भूलने योग्य है।।१६।। अब विदेह माथव कहने लगे कि मैं कहाँ डेरा लगाऊँ अर्थात् मेरी सारी आयु तो प्रचार में लगी अब मैं क्या करूँ। वैश्वानर अग्नि ने मानो विदेह से कहा कि अब तुम सदानीरा के सामने से पूर्व की ओर एक विद्यापीठ बना कर रहो। सदानीरा के सामने की ओर का सारा राज्य तुम्हारा ही है। बस वही सदानीरा नदी आज भी कोसल और विदेहों की सीमा है और यह विदेहही माथव है।

पं० जयचन्द्र विद्यालङ्कार की सम्मति में यह राप्ती नामक नदी है। वस्तुतः कौन-सी है सो इतिहासज्ञ जानें। यह हमारा क्षेत्र नहीं है। यह जो प्रसंग से बाधित हो कर हमने इतिहास के क्षेत्र में चञ्चुपात किया है। इस अनधिकार चेष्टा के लिए इतिहासवित् हमें क्षमा करेंगे।१७। अब गोतम राहूगण एक दिन राजा से पूछने लगे कि आपने पहले-पहल मेरी बात क्यों न सुनी? राजा बोले कि राजा को अपना उत्तरदायित्व सदा समझना चाहिए, उसके मुख से निकला एक वचन लाखों मनुष्यों का भाग्य-निर्णय कर देता है। यह वैश्वानर अग्नि मेरे मुख में था। मुझे भय था कि कहीं मेरे मुख से निकल न जावे। इसीलिए मैंने प्रत्युत्तर न दिया। १८। फिर गोतम ने पूछा कि अब आप बोल पड़े यह कैसे हुआ? राजा बोले कि ज्यों ही आपने "घृतस्नवीमहे" यों कहा, बस घृत का नाम लेते ही वैश्वानर अग्नि मेरे मुख में भड़क उठा। मैं उसे रोक न सका। अर्थात् जब आपने अन्नद्वारा विद्या-प्रचार की बात कही वह मेरे दिल में न जमी। जब आपने अत्यन्त उच्च कोटि के कुछ विद्वान् इकट्ठे करने की बात कही वह भी मेरे दिल में न जमी। ये दोनों काम तो अन्यत्र भी हो रहे थे। जब आपने प्रेम के सहारे अपनी सारी प्रजा में विद्यानुराग उत्पन्न करने की बात कही तो मैंने भी आज्ञा निकाल दी॥ १९॥ सो सामिधेनियों में जहाँ कहीं घृत का वर्णन है वस्तुतः सामिधेनियों का सार है। उसी से यह प्रदीप्त होती है। वे घृत-वाक्य ही इन्हें वीर्यवती करते हैं॥२०॥ इसीलिए कहा 'घृताच्या'। आगे कहते हैं—देवान् जिगाति सुम्नयुः"। सो सुम्नयु नाम यजमान का है। वह देवों को विजय करना चाहता है। देव होना चाहता है। अथवा देवों को हांकना चाहता है। यहाँ यह बात अत्यन्त ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकरण में जिघांसति का अर्थ सब भाष्यकारों ने प्राप्तुमिच्छति ऐसा ही किया है वस्तुतस्तु इसका अर्थ हांकता है ऐसा होना चाहिए क्योंकि इसमें हन् धातु के दोनों अर्थों अर्थात् हिंसा और प्राप्ति का सम्बन्ध होता है। इसीलिए कहा "देवान् जिगाति सुम्नयुः।" इस ऋचा में यह विचित्रता है कि यद्यपि यह अग्नि की ऋचा है परन्तु इस में अग्नि का कहीं स्पष्ट नामोल्लेख नहीं है। बस जहाँ किसी एक का नाम न लिया जावे उस में सब समा जाते हैं। अतः इस में सब आ गये। यहाँ हम पूरी ऋचा देकर उसका अर्थ लिखते हैं। ऋचा इस प्रकार है—

प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या देवान् जिगाति सुम्नयुः। ऋ० ३।२७।१

होता कहता है—"हे मनुष्यो! यह अन्न तथा अर्धमास, अर्थात् तुम्हारी सम्पत्ति और तुम्हारा समय दोनों ही, 'प्र' अर्थात् प्रकर्ष उत्पन्न किये जाने पर, स्नेहवर्षिणी (घृताची) शक्ति की कृपा से तुम्हारे लिए पालतू जानवर की भाँति स्वयं तुम्हारी सेवा करने वाले तथा इशारे पर चलने वाले बन जाते हैं। और अपनी सेवा देने के लिए मानो तुम्हें पुकारते हैं (हविष्मन्त् बन जाते हैं)। अतएव यह यजमान उस घृताची अर्थात् स्नेहवर्षिणी शक्ति को पाने के लिए विद्वानों के पास जाता है (जिसके बल से संसार-भर के पदार्थ हम से ऐसा प्रेम करने लगें जैसे पालतू जानवर स्वामी से)।"

यहाँ एक बात बड़ी ध्यान देने योग्य है। ब्राह्मण में यहाँ "जिघांसति" शब्द का प्रयोग प्राप्त करना चाहता है इस अर्थ में किया है। और सायण तक को "जिघांसति, हन्तुम् प्राप्तुमिच्छति हन्तिरत्र गत्यर्थः", ऐसा लिखना पड़ा है। यह 'हन्' धातु

का प्रयोग आगे चलकर उन प्रकरणों पर बड़ा प्रकाश डालेगा जिन को पशुयागवादी पशु-वध में लगाते हैं ॥२१॥

अब दूसरी सामिधेनी पढ़ता है—

"अग्नऽआयाहि वीतये" (ऋ० ६।१६।१०)ऽइति । तद्वेति भवति वीतयऽइति समन्तिकमिव ह वाऽइमेऽग्रे लोका आसुरित्युन्मृश्या हैव द्यौरास ॥२२॥ ते देवा अकामयन्त । कथं नु न इमे लोका वितराँ स्युः कथं न इदं वरीय इव स्यादिति तानेतैरेव त्रिभिरक्षरैर्व्यनयन् वीतयऽइति त इमे विदूरं लोकास्ततो देवेभ्यो वरीयोऽभवद्वरीयो ह वाऽअस्मै भवति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुर्वीतय इति ॥२३॥ "गृणानो हव्यदातय" (ऋग्० ६ । १६ १०) इति । यजमानो वै हव्यदातिर्गृणानो यजमानायेत्येवैतदाह "नि होता सत्सि बर्हिषी" (ऋ० ६ । १६ । १०) त्यग्निर्वै होतायं लोको बर्हिरस्मिन्नेवैतल्लोकेऽग्निं दधाति सोऽयमस्मिंल्लोकेऽग्निर्हितः सैषामुमेव लोकमभ्यनूक्तेऽमुमेवैतया लोकं जयति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥२४॥

सामिधेनी इस प्रकार है—

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये । नि होता सत्सि बर्हिषि ॥
ऋ० ६ । १६ । १०

अब याज्ञवल्क्य इसकी व्याख्या करते हैं पहले कह आए हैं कि 'प्र' वाली ऋचाएँ पड़ताल की, परीक्षा की ऋचाएं हैं । अतः प्रथम सामिधेनी में यह बताया है कि होता का कर्त्तव्य क्या है । यजमान, होता आदि देवों के पास क्यों आता है । उत्तर मिला कि यजमान के समय और सम्पत्ति को हविष्मान् बनाने के लिए । अब कोई होता अपना कार्य कर रहा है या नहीं इसकी पड़ताल इसी बात से होगी कि वह यजमान के समय और सम्पत्ति को हविष्मान् बनाता है वा नहीं । अब अगली ऋचा आवाहन की है यजमान होता को बुलाता है । यदि कोई यजमान होता को आदर पूर्वक न बुलाएगा तो वह उससे कार्य न ले सकेगा । इसलिए अगले मन्त्र में एक विद्वान् ब्राह्मण का आवाहन है—"हे अपनी विद्या के व्यवहार को आगे खेंच कर ले जाने वाले अग्र+नी=अग्नि विद्वन् ! आप हमारे परस्पर निःशङ्क संचार के लिए आइये और होता बनकर इस बर्हि पर बैठिए ।" सो यह 'आ' वाली ऋचा हुई । पहले यह लोक परस्पर एक दूसरे के समीप से थे. और यह द्यौः ऐसे थी मानो हाथ ऊँचा करके तारे तोड़ लें ॥२२॥ तब देवों ने सोचा कि यह लोक परपस्पर दूर-दूर कैसे हो जावे, कैसे हमारे संचार के लिए खुला अवकाश हो जावे । तब उन्होंने लोकों को यह आज्ञा दी—"वीतये" । तब से यह लोक दूर-दूर हो गए । बस जो इस ऋचा के मर्म को इस प्रकार जानता है और जिस जानने वाले के लिए यह सामिधेनी उच्चारण की जाती है, उसके लिए भी सञ्चार का खुला अवकाश (वरीयः) हो जाता है ॥२३॥ आगे चलकर कहते हैं "गृणानो हव्यदातये" सो हव्यदाति नाम यजमान का है । इसलिए यजमान के लिए उत्तम पदार्थों का वरण करता है, यह कह रहा है । आगे कहता है "नि होता सत्सि बर्हिषि" सो अग्नि होता है और यह लोक बर्हि है । सो इस लोक में अग्नि की स्थापना करता है । यह स्थूल भौतिक अग्नि भी इस लोक में निहित है, सो यह ऋचा भी इस लोक की ओर इशारा करती है । इसका इस प्रकार मर्म जानने वाले के लिए जब यह कही जाती है तो यजमान इस लोक को (अर्थात् पृथ्वी के समान) आधारभूत स्थान को विभाग को विजय कर लेता है ॥२४॥

तात्पर्य यह हुआ कि जिस प्रकार यह सृष्टि सब एक स्थान पर गड्ड-मड्ड (Jumbled) थी, परन्तु उस परम अग्नि परमात्मा ने जब एक प्रकार के परमाणुओं को एक स्थान पर इकट्ठा कर दिया तो ये लोक लोकान्तर बन गए, और उनमें संचार का खुला अवकाश हो गया, इसी प्रकार विद्वान् होता भी जिस लोक (Department को संभालता है उसमें पड़ी सब गड़बड़ वस्तुओं को यथास्थान विन्यस्त कर देता है। इसका फल है यथेच्छ संचार। ठीक क्रम में विन्यास करने से बहुत से पदार्थ थोड़े स्थान में आ जाते हैं तथा संचार के लिए अवकाश बन जाता है। दूसरी ओर अस्त-व्यस्त पड़े हुए थोड़े से भी पदार्थ बहुत स्थान घेर लेते हैं। बस चतुर विद्वान् का यही कार्य है कि वह अवकाश उत्पन्न कर दे। यही 'वीतये' का भाव है। दूसरी बात यह है कि होता का कर्त्तव्य है कि वह यजमान का भला चाहे और यजमान का कर्त्तव्य है कि वह विनम्र होकर उससे प्रार्थना करता रहे कि आप मेरा कल्याण करें। तीसरी बात यह है कि होता (Expert) का कर्त्तव्य है कि वह अपने लोक में आसन जमा कर बैठे। इधर उधर भटके नहीं।

अब अगली सामिधेनी के विषय में कहते हैं—

"तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरः" ऋग्० (६।१६।११७) इति समिद्भिर्ह्येतमङ्गिरस ऐन्धताङ्गिर इत्यङ्गिरा उ ह्याग्नि: "घृतेन वर्धयामसी" (ऋ० ६।१६।११) ति तत्सामिधेनीम् पदं समेवैनं तेनेन्धे वीर्यमेवास्मिन् दधाति ॥२५॥ "बृहच्छोचा यविष्ठच" (ऋ० ६।१६।११) ति बृहदु ह्येष शोचति समिद्धो यविष्ठचेति यविष्ठो ह्याग्निस्तस्मादाह यविष्ठ्येति सैवैनमेव लोकमभ्यनूक्तान्तरिक्षे लोकमेव तस्मादाग्नेयी सत्यनिरुक्तानिरुक्तो ह्येष लोक एतमेवैतया लोकं जयति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहु: ॥२६॥

"तीसरी सामिधेनी इस प्रकार है—

तन्त्वा समिद्भिङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि बृहच्छोचा यविष्ठच। ऋ० ६।१६।११

इसकी व्याख्या शतपथकार इस प्रकार करते हैं—

"अगली सामिधेनी पढ़ता है" **तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरः।"** (अंगिर: पर देखो पृष्ठ ७४-७५) इस का भाव यह है कि अंगारे समिधाओं के सहारे इस अग्नि को प्रदीप्त करते हैं। अथवा यों ही क्यों न कहें कि अंगारे ही अग्नि हैं। बस विद्वान् को भी अंगारों के समान निर्धूम जलने वाला होना चाहिए। अपने आपको लोकोपकार के लिए जला दे। शेष कुछ न रखे। न पास बैठों की आंखों में धूआं दे। फिर आगे कहता है—**"घृतेन वर्धयामसि।"** सो यह सामिधेनी का विशेष पद है सो ऊपर कह आए हैं। सो इस पद द्वारा इसमें शान्ति स्थापित करता है ।। २५।। आगे कहते हैं—**बृहच्छोचा यविष्ठच।"** सो अग्नि में प्रदीप्त होने से बड़ी लपटें निकलती हैं आगे कहते हैं—**"यविष्ठच।"** सो अग्नि के दो काम हैं मिश्रण और वियोजन। रसायनशास्त्र में पदार्थों के विश्लेषण तथा संश्लेषण दोनों में ही अग्नि काम करता है। इसलिए कहा कि "यविष्ठच", क्योंकि अग्नि यविष्ठ है। खूब मिश्रण और अमिश्रण करती है (यु मिश्रणामिश्रणयो:) यह ऋचा इस अन्तरिक्ष लोक को लक्ष्य करके कही गई है। इसी लिए यद्यपि अग्नि की ऋचा है परन्तु इसमें किसी का नाम नहीं। जैसे अन्तरिक्ष नामरूप रहित है ऐसे ही इसमें अग्नि का नाम नहीं। इसके द्वारा वह अन्तरिक्ष लोक को जीतता है जिस इस प्रकार जानने वाले के लिए यह पढ़ी जाती ।।२६।।

अब सम्पूर्ण सामिधेनी का अर्थ यों हुआ—"हे अंगारों के सदृश जाज्वल्यमान

विद्वन् ! हम आपको अनेक प्रकार के स्नेहयुक्त तथा ज्ञानोद्दीपक साधनों से बढ़ाते रहें, आप बड़ी दीप्ति वाले और सबसे बड़े जोड़ने वाले तोड़ने वाले हैं।"

तात्पर्य यह कि विद्वान् केवल अपने विभाग में वर्गीकरण द्वारा सुख संचार के लिए अवकाश ही उत्पन्न करके न रह जाय। उसका कर्त्तव्य है अङ्गारों के समान अपने आपको विद्याग्नि के लिए जलाता रहे। उसकी लपटें निकलें और नये से नये जोड़ तोड़ करता रहे। जिससे नये परीक्षणों द्वारा उस विभाग में ज्ञान-वृद्धि हो। साथ ही यजमान का कर्त्तव्य है कि विद्वान् रूपी अग्नि को घृत अर्थात् प्रेम और समित् अर्थात् उपकरणों से बढ़ाता रहे !

अब चौथी सामिधेनी के विषय में कहते हैं—

"स नः पृथुश्रवाय्यमि" (ऋग्० ६।१६।१२)ति। अदो वै पृथु यस्मिन् देवा एतच्छ्रवाय्यं यस्मिन् देवा "अच्छा देव विवाससी" (ऋग्० ६।१६।१२) त्यच्छं देवविवासस्येतन्नो गमयेत्येवैतदाह।२७। "बृहदग्ने सुवीर्य्यम्" (ऋग्० ६।१६।१२) इति। आदो वै बृहद्यस्मिन् देवा एतत् सुवीर्य्यम् यस्मिन् देवाः सैषैतमेव लोकमभ्यनूक्ता दिवमेवैतया लोकं जयति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥२८॥

चौथी सामिधेनी इस प्रकार है—

स नः पृथु श्रवाय्यम् अच्छा देव विवाससि बृहदग्ने सुवीर्य्यम्। ऋ० ६।१६।१२।

इसका अन्वय कुछ कठिन है इसलिए अन्वय भी देते हैं—"हे देव अग्ने स (पूर्वोक्तस्त्वं) नः पृथु बृहत् श्रवाय्यम्। अच्छ विवाससि"

अब इसकी शतपथानुसारिणी व्याख्या लिखते हैं—

"होता पढ़ता है **"स नः पृथु श्रवाय्यम्।"** सो वह जो द्युलोक है यही पृथु है जिसमें सूर्य चन्द्रादि देव रहते हैं। यही श्रवाय्य है जिसमें देव रहते हैं। आगे कहते हैं, **'अच्छा देव विवाससि।'** सो यह वस्तुतः 'अच्छा देव विवाससि' है इसका भाव है, भगवन्! बड़े कृपालु हो। हमारी बड़ी सेवा करते हो कि हमें प्रकाश देते हो। तात्पर्य यह कि ऐसी प्रकाशमय अवस्था तक हमें भी पहुँचाइए। बस वह यही कहता है ।।२७।। आगे कहता है, **"बृहदग्ने सुवीर्य्यम्।"** वही अवस्था बड़ी है जहां देव रहते हैं। वही शान्ति भरा धाम है जहां देव रहते हैं। सो यह ऋचा इस लोक अर्थात् देवलोक को लक्ष्य कर के कही गई है। सो इस प्रकार इस ऋचा का मर्म्म जानने वाले जिसके लिए इसे पढ़ते हैं यह देवलोक की विजय करता है ।।२८।।"

संसार में दो प्रकार के देव हैं। एक जड़ एक चेतन। सूर्य चन्द्रादि जड़ देव हैं और विद्वान् चेतन। दोनों ही हमें अनेक प्रकार का सुख देते हैं। तथा दोनों ही अपने गुणों से देदीप्यमान हैं अतः देव कहलाते हैं। अतएव प्रायः एक से दूसरे को उपमा रूपकादि दिये जाते है। व्याकरण का सूर्य, साहित्य का चन्द्रलोक, सिनेमा (cinema) के स्टार (star) आदि शब्द यह बताते हैं कि एक देवलोक दूसरे देवलोक के लिए उपमान का काम देता है। सो यही बात यहां कही गई है। वेद में "अग्न आ याहि वीतये", "तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरः" तथा "स नः पृथु श्रवाय्यम्", ये तीनों ऋचा एक दूसरे के पश्चात् पड़ी हैं—(ऋ० ६। १६, १०–१२)। इनमें जो परस्पर क्रम है उसे शतपथकार ने पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्यौ के दृष्टान्त से समझा दिया। प्रत्येक विभाग के वेद पारङ्गत अधिष्ठाता (होता) का कर्त्तव्य है कि वह अपने विभाग को हाथ में लेते ही सब से पहले अव्यवस्था को व्यवस्था में लावे। कार्यक्रम तथा उपकरण-क्रम

बनाए। यथेच्छ संचार के लिए स्थान उत्पन्न करे। यह विभाग की उन्नति की सबसे पहली सीढ़ी है अर्थात् क्रम में लाना।

संविधान तथा वर्गीकरण (Planning and Classification) यह विभाग का पृथ्वीलोक है। दूसरे मन्त्र में अग्नि में जलना अर्थात् अविरत श्रम (hard work) लपटें निकलना (Enlightened work), तथा मिश्रणामिश्रण (Fxperimentation) का अङ्गिरः, बृहच्छोचा तथा यविष्ठ्य इन तीनों शब्दों में वर्णन है। ये तीन अन्तरिक्ष लोक हैं। फिर विस्तार (Propaganda), सुख्याति (Advertisement) लोकहित-कारी शक्ति का संचय तथा विशाल संचय आते हैं। यह तीसरी अवस्था है। यह द्युलोक है। आज-कल संसार के तीनों लोक उलटे हैं। सब काम सुख्याति से आरम्भ होते हैं। और अधिकांश ख्याति में ही लीन हो जाते हैं। इनकी ओर मन्त्र में पृथु श्रवाय्य, बृहत् और सुवीर्य्यम् इन शब्दों द्वारा निर्देश है। अब मन्त्र का अर्थ यों है—

"हे इस विभाग के अधिष्ठाता देव अग्ने (विद्वन्!) आप हमारी ऐसे अच्छे प्रकार से सेवा करते हैं कि जिससे पृथु (विस्तार युक्त) श्रवाय्य (शक्तिशाली) हो जाते हैं (अतः हमें भी इस देवलोक तक पहुंचाइये जिसमें आप सूर्य की भाँति पृथु, बृहत्, सुवीर्य, श्रवाय्य रूप से प्रकाश का विस्तार कर रहे हैं। 'वास' उपसेवायाम्, चुरा०)।"

इस प्रकार इन तीन सामिधेनियों का सार यह हुआ कि विद्वान् जब किसी विभाग को हाथ में ले तो उसके सामने ये तीन दशा आती हैं—

(१) पहले उसे अव्यवस्था में व्यवस्था उत्पन्न करनी पड़ती है।

(२) फिर खूब मेहनत और नये-नये परीक्षण बुद्धिपूर्वक करने पड़ते हैं।

(३) फिर संगृहीत सत्यों का विस्तार करके विभाग को यशस्वी, विशाल और शक्तिशाली बनाना होता है जिसके लिए यह आवश्यक है कि वह सदा सुने कि लोग उसके सम्बन्ध में सच्चे हृदय से क्या कहते हैं, कभी खुशामद से सन्तुष्ट न हो जावे। तब यजमान (राष्ट्रपति राजा) को सुख मिलता है।

जिस होता ने अपने विभाग को इन तीनों दशाओं तक पहुँचा दिया उसने अपने यजमान को तीनों लोकों का अधिपति बना दिया। परन्तु यह बात तब ही हो सकती है जब यजमान अपने होता को सन्तुष्ट रक्खे, उससे प्रेम करे, उसे साधन दे, तथा उसका आदर करे। प्रेम तथा सामग्री का वर्णन 'समिद्भिः, और 'घृतेन, इन शब्दों में पहले आ चुका है। अब आदर का वर्णन अगली सामिधेनी में करते हैं—

सोऽन्वाह "ईडेन्यो नमस्य" (ऋ० ३। २७ १३) इतीडेन्यो ह्येष नमस्यो ह्येष "तिरस्तमांसि दर्शत" (ऋ० ३।२७।१३) इति तिर इव ह्येष तमांसि समिद्धो ददृशे "समग्निरिध्यते वृषे" (ऋ० ३।२७।१३) ति सꣳहीध्यते वृषा।२६।

सामिधेनी इस प्रकार है—

ईडेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः समग्निरिध्यते वृषा। ऋ० ३।२७।१३

इसकी शतपथानुसार व्याख्या है—

"वह पढ़ता है **"ईडेन्यो नमस्यः।"** सो यही ईडेन्य है, यही नमस्य है। **"तिरस्तमांसि दर्शतः"**, यह भौतिक अग्नि देख लो इसी के समान विद्वान् भी अन्धकार को तितर बितर कर देता है और इसी के समान जब दीप्त हो तब दर्शनीय होता है। आगे कहते हैं, **"समग्निरिध्यते वृषा।"** सो यह दीप्त किया जाता है, वृषा इसलिए कि यह वर्षा करता है, समिध्यते इसलिए कहा कि प्रदीप्त तो किया ही जाता है। २६।" मन्त्र का अर्थ यों

हुआ यह कि, "यजमान द्वारा विभाग का अध्यक्ष सदा स्तुति करने योग्य है, तथा नमस्यः झुककर मिलने योग्य है। अर्थात् केवल ऊपर से वाणी द्वारा ही विद्वान् की स्तुति न करता रहे मनोवृत्ति भी उसके प्रति सदा नम्रता की रक्खे। वह अन्धकार को दूर करता है और दर्शनीय है। ऐसे सुखवर्षी विद्वान् को विभाग की अध्यक्षता के आसन पर प्रदीप्त किया जाता है।"

तात्पर्य्य यह है कि विद्वान् का गुण यह होना चाहिए कि वह तो स्वभाव से ही वृषा मेघ के समान ऊसर, तालाब, खेत सर्वत्र ज्ञान-जल की वर्षा करने वाला तथा अग्नि के समान अन्धकार से नैसर्गिक द्वेष करने वाला हो। मेरी स्तुति हो, लोग मुझे नमस्कार करें इसकी प्रतीक्षा व आशा न करे। हाँ यजमानों का कर्त्तव्य है कि उसकी स्तुति करें और नमस्कार करें। साथ ही विभाग के अध्यक्ष का कर्त्तव्य है कि वह दर्शनीय रहे। मैले वस्त्र तथा भद्दे ढंग से न रहे। यहीं से मनु ने कहा है—

"न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति।" चरक के सूत्रस्थान अष्टम अध्याय में भी लिखते हैं कि वैद्य का साधुवेश हो तथा 'नित्यमनुपहतवासाः सुमनाः सुगन्धिः स्यात्।' परन्तु शतपथ ने यह बता दिया है कि सब से बड़ी दर्शनीयता उस कान्ति में है जो सत्य की प्रबल खोज में रहने वाले विद्वान् के चेहरे पर वास करती है। इसीलिए कहा, 'समिद्धो ह्येष ददृशे।' तात्पर्य यह है कि होता को दर्शनीय भी होना चाहिए। तथा "तमांसि तिरः" से यह व्यंजना निकलती है कि तम का उलटा अर्थात् श्वेत वस्त्र वाला होना चाहिए। इसीलिए स्मृतिकारों ने ब्राह्मणों के वस्त्र श्वेत लिखे हैं। वेद का आशय इतना है कि उसे दर्शनीय होना चाहिए।

अब अगली सामिधेनी में उसकी मानसिक उन्नति कैसी होनी चाहिए सो बताते हैं। बाह्य रूप की दर्शनीयता के साथ वह मानसिक शक्तियों में कैसा हो—

"वृषो अग्निः समिध्यते" (ऋ० ३।२७।१४) सꣳहीध्यते "अश्वो न देववाहन" (ऋग्० ३। २७। १४) इति अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति यद्वै नेत्यृच्यो-मिति तस्मादाह अश्वो न देववाहन इति। ३०। "तꣳ हविष्मन्त ईडते" (ऋग्वेद ३। २०। १४) हविष्मन्तो ह्येतं मनुष्या ईडते तस्मादाह तꣳ हविष्मन्त ईडते। ३१।

सामिधेनी इस प्रकार है—

वृषो अग्निः समिध्यते अश्वो न देववाहनः तꣳ हविष्मन्त ईडते।
ऋग्० ३।२७।१४

इस कण्डिका का वृषो अग्निः समिध्यते सꣳ हीध्यते" इतना भाग २९वीं कण्डिका में मिला हुआ छपा है। सायण भाष्य में भी इसी प्रकार है। किन्तु इसमें स्पष्ट लेखक का प्रमाद दीखता है। समस्त कण्डिकाओं में मन्त्र की समाप्ति के साथ कण्डिका की समाप्ति है। फिर २९ वीं कण्डिका में अगली सामिधेनी का भाग कैसे घुस आया? इस का कारण लेखक-प्रमाद के अतिरिक्त कुछ नहीं दीखता। अब उसकी शतपथानुसार व्याख्या लिखते हैं—

"होता सामिधेनी पढ़ता है—"वृषो अग्निः समिध्यते" तो वह प्रदीप्त किया ही जाता है। आगे वाक्य है "अश्वो न देववाहनः"। सो यह अश्व होकर देवों तक यज्ञ को पहुँचाता है। यहाँ "अश्वो न देववाहनः" में जो 'न' पढ़ा है वह निषेधवाची नहीं। लौकिक संस्कृत में जो निषेधार्थक न है वह ऋचा में स्वीकारार्थक भी होता है। इसी अर्थ में यहां कहा है "अश्वो न देववाहनः।३०।" आगे वाक्य है "तꣳ हविष्मन्त

ईडते ।" सो यह मनुष्य लोग हविष्मान् होकर उसकी स्तुति करते हैं, इसलिए कहा "त ँ हविष्मन्त ईडते ।३१।"

भावार्थ यह हुआ कि ज्ञानवर्षी विद्वान् की मानसिक उन्नति ऐसी होनी चाहिए कि वह यज्ञ को अर्थात् हमारे विभाग के कार्य को घोड़े की भाँति तीव्र वेग से दिव्य भावनाओं तथा विचारों तक पहुँचा दे। अर्थात् उसे तुरन्त बात सूझे और आवश्यक बातें यथासम्भव स्मृति-गोचर हों तथा अपने आपको विभाग सम्बन्धी कार्य के लिए घोड़े की तरह सवारी के लिए अर्पण कर दे । अर्थात् उस में—

(१) तीव्रगामिनी प्रतिभा
(२) तत्क्षणोपस्थायिनी स्मरण-शक्ति
(३) कार्य-तत्परता

ये तीन घोड़े के गुण होने चाहिएँ। प्रश्न हो सकता है कि हमने यहाँ देव का अर्थ दिव्य भावनाएँ कैसे किया और इस ऋचा को मानसिक उन्नति के सम्बन्ध में क्यों लगाया ? तो इसका उत्तर कुछ दूर आगे चलकर ग्रन्थकार स्वयं ही देते हैं—

अश्वो न देववाहन इति। मनो वै देववाहनम् । मनो हीदं मनस्विनं भूयिष्ठं वनीवाह्यते मन एवैतया समिन्वे । श० । १ । ४ । ५ । ७ ।

बस यहाँ स्पष्ट है कि विद्वान् का मन देवों का वाहन है सो इस प्रकरण के बल पर यहाँ देव मानसिक ही लिये जावेंगे ।

अब सामिधेनी का अर्थ यों हुआ—

"यह ज्ञानवर्षी विद्वान् यहां इस आसन पर पूजादि द्वारा प्रदीप्त किया जाता है । यह विद्वान दिव्य विचारों के लिए घोड़े के समान उत्तम वाहन है । मनुष्य लोग हवि दे देकर इसकी स्तुति करते हैं।"

यजमान चाहते हैं कि 'वाजाः' और "अभिद्यवः" सम्पत्ति और समय, उन्हें हवि दे । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे विद्वान् को हवि देते हैं। और उस पर उपकार जतलाने के स्थान में उसकी स्तुति करते हैं।

अगली सामिधेनी के विषय में कहते हैं—

"वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमही" ऋ० ३ । २७ । १५) ति । स ँ ह्येनमिन्धते "ऽग्ने दीद्यतं बृहदि" (ऋ० ३ । २७ । १५) ति दीदयदेव ह्येष बृहत् समिद्धः ।३२। तं वा एतं वृषण्वन्तं त्रिचमन्वाहाग्नेय्यो वाऽएताः सर्वाः सामिधेन्यो भवन्तीन्द्रो वै यज्ञस्य देवतेन्द्रो वृषैतेनो हास्यैताः सेन्द्राः सामिधेन्यो भवन्ति, तस्माद् वृषण्वन्तं त्रिचमन्वाह ।३३।

सामिधेनी इस प्रकार है—

वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि अग्ने दीद्यतं बृहत् । ऋ० ३ । २७।२५

कण्डिका का शब्दार्थ इस प्रकार है—

"होता सामिधेनी पढ़ता है—"वृषणं त्वा वयं वृषणः समिधीमहि ।" सो उसका समिन्धन करते ही हैं। आगे वाक्य है "अग्ने दीद्यतं बृहत् ।" सो जब इसका खूब समिन्धन किया जाता है तो जगमगाती है । ३२ । सो यहाँ ये तीन "वृषन्" शब्द वाली ऋचाओं का तिक्का इकठ्ठा पढ़ा जाता है। ये सारी सामिधेनियाँ अग्नि देवता की हैं। परन्तु यज्ञ का असली देवता तो इन्द्र है । और उसी का नाम वृषा है। सो इस प्रकार अग्नि का वृषा विशेषण दे देने से यह सब इन्द्र वाली भी हो गईं। इसीलिए यह

वृषत् शब्द वाली तिलड़ी कही जाती है ।३३।"

पहले सामिधेनी का अर्थ लिखते हैं—

"हे ज्ञानवर्षिन्, ज्ञान बरसाने वाले आपके सामने हम भी तो सामग्रीवर्षी होकर आएँ और इस प्रकार आपका समिन्धन करें, हे अग्रणी जब हम आपके सामने साधन उपस्थित करें तो आप खूब जगमगाएं ।"

अब यहाँ देखने योग्य बात है कि यहाँ अग्नि का विशेषण बारम्बार वृषा आया है । वर्षा करना आग का गुण नहीं । किन्तु यहां यदि अग्निनाम विद्वान् का समझें तो उसमें वृषा और अग्नि, ज्ञानवर्षी और अग्रणी, ये दोनों विशेषण सुचारु रूप से घटित होजाते हैं । आगे चलकर कहा भी है कि यह सामिधेनी ब्राह्मण का समिन्धन करती हैं । अत: इन मन्त्रों में एक विद्वान् का वर्णन है यह स्पष्ट मानना चाहिए । साथ ही यहाँ यजमान प्रतिज्ञा करता है कि जब विद्वान् निष्काम भाव से वृषा है तो हम कम से कम ज्ञान की कामना से तो वृषा हो जावें, ऐसे कृतघ्न तो न हों कि वह ज्ञानवर्षा करे और हम बदले में सकाम होकर भी कुछ न दें । इसीलिए यहां स्पष्ट "समिधीमहि" यह उत्तम पुरुष का प्रयोग किया है । और इस प्रकार इन्द्र अर्थात् यजमान का कर्तव्य बीच में आ जाने से तथा वर्षा का वर्णन होने से ये ऋचाएँ इन्द्रवती भी हो गईं । साथ ही यह भी स्पष्ट हो गया कि होता का अर्थात् भविष्य कार्यक्रम के अधिष्ठाता का कार्य केवल कार्य करते जाना ही नहीं है कार्य को सफलता तक पहुँचाना, फलवर्षा करना भी है और जो यज्ञ मा फलेषु कदाचन कहा है सो सफलता का निषेध नहीं सफलता के बदले से फल की आकांक्षा का निषेध है । इन्द्र का अर्थ यजमान होने में प्रमाण शतपथ में ही अनेक स्थलों पर हैं जिनमें से एक यहां देते हैं—"इन्द्रो वै यजमानः" । (श० २ । १ । २ । ११) ।

अब अगली सामिधेनी के विषय में लिखते हैं—

सोऽन्वाह 'अग्निं दूतं वृणीमहे" (ऋ० १ । १२ । १) इति देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे तान् स्पर्धमानान् गायत्र्यन्तरा तस्थौ या वै सा गायत्र्यासीदियं वै सा पृथिवीयँ ह वै तदन्तरा तस्थौ त उभय एव विदाञ्चक्रुर्यतरान्वै न इयमुपावर्त्स्यति ते भविष्यन्ति परेतरे भविष्यन्तीति तामुभय एवोपमन्त्रयाञ्चक्रिरेऽग्निरेव देवानां दूत आस सहरक्षा इत्यसुररक्षसमसुराणाँ साऽग्निमेवानु प्रेयाय तस्मादन्वाहाग्निं दूतं वृणीमहे इति सा हि देवानां दूत आसी "द्धोतारं विश्ववेदसमि" ऋ० १ । १२ । १) ति ॥३४॥ तदु हैकेऽन्वाहुः । होता यो विश्ववेदस इति नेदरमित्यात्मानं ब्रवाणीति तदु तथा न ब्रूयान् मानुषँ ह ते यज्ञे कुर्वन्ति व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद्व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्माद्यथैवर्चानूक्तमेवानुब्रूयाद्धोतारं विश्ववेदसमित्येवा "स्य यज्ञस्य सुक्रतु" (ऋ० १ । १२ । १) मित्येष हि यज्ञस्य सुक्रतुर्यदग्निस्तस्मादाहास्य यज्ञस्य सुक्रतुमिति सेयं देवानुपाववर्त्त ततो देवा अभवन्परासुरा भवति ह वाऽआत्मना परास्य सपत्ना भवन्ति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥३५॥

यह आठवीं सामिधेनी इस प्रकार है—

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ।

ऋ० । १ । १२ । १

इस पर शतपथ एक आख्यान पूर्वक व्याख्या करता है । वह इन कण्डिकाओं में है । कण्डिकाओं का अर्थ इस प्रकार है—

"वह (होता) अगली सामिधेनी बोलता है—"अग्निं दूतं वृणीमहे ।" सो एक समय प्रजापति के दोनों पुत्र देव और असुर आपस में होड़ करने लगे। जब वे लड़ रहे थे तो गायत्री उनके बीच में आ खड़ी हुई। वह जो गायत्री दोनों के बीच खड़ी थी वही तो यह पृथिवी है। यही तो दोनों के बीच खड़ी थी। वे दोनों ही यह जानते थे कि हम में से जिनके पास यह आ जायगी वे रहेंगे और दूसरे पराभूत हो जावेंगे। तब दोनों ने उसे अपनी ओर खींचने का यत्न किया। इस उपमन्त्रण में अग्नि देवों का दूत था और सहरक्षा नाम का असुर-राक्षस असुरों का। सो वह अग्नि के पीछे चली आई। इसीलिए कहा—"अग्निं दूतं वृणीमहे।" वही तो देवों का दूत था। उसी के लिए कहा—"होतारं विश्ववेदसम्।" ३४। कई लोग इस ऋचा को इस प्रकार पढ़ते हैं—"अग्निं दूतं वृणीमहे होता यो विश्ववेदसः।" क्योंकि "होतारं विश्ववेदसम्" ऐसा पढ़ने से "होतारम्" का "होता+अरम्" इस प्रकार छेद करने से होता पृथक् हुआ, ऐसे उलटे अर्थ का भान होने लगता है। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं करना चाहिए। वेद प्रभु की वाणी है। उसे वैसा ही रहने देना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से यह मानुष कर्म हो जायगा। वेद अपौरुषेय वाक्य है। उसे वैसा ही रहने देना चाहिए। जो मन्त्रों को परिवर्तन कर देते हैं वह भगवान् की कृति में मानवीय कृति मिलाकर यज्ञ में घटियापन उत्पन्न कर देते हैं। इसलिए जैसा ऋचा में लिखा है वैसा ही रहने देना चाहिए—"होतारं विश्ववेदसम्।" ऐसा करने से ही यज्ञ में सुक्रतुत्व आ जाता है। यह जो अग्नि है यही यज्ञ का सुक्रतु है। इसलिए कहा—"अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्।" सो अग्नि के ऐसा कहने पर वह गायत्री देवों के पास आ गई। सो देव रह गए और असुर परास्त हो गए। वह स्वयं रह जाता है और उसके विरोधी परास्त हो जाते हैं जिस प्रकार जानने वाले के लिए यह ऋचा पढ़ी जाती है। ३५।"

भावार्थ यह कि पहली सामिधेनी में उसकी तीव्रगामिनी प्रतिभा और भार-वाहिनी स्मृति की प्रशंसा हुई, अगला गुण सर्वस्व-त्याग के लिए तत्परता यहां दिखाते हैं। यह धरती गायत्री गाकर रिझाने वाली सुवर्ण-पुष्पिता उसके लिए होती है जो इस संसार रूपी रणक्षेत्र में समय पड़ने पर अपने सर्वस्व तथा प्राण तक की बाजी लगा देता है। ऐसे ही मनुष्य को विश्ववेदस कहते हैं। दूसरी ओर "सहरक्षा" वह मनुष्य हैं जो सम्पूर्ण रक्षा का सामान पहले दो तब आगे चलेंगे। ऐसे मनुष्य अग्नि (अग्र+णी) का कार्य नहीं कर सकते।

सब पदार्थों के गुणों और तत्त्वों को जानने के कारण, मानो उनकी बोली में उनसे बातचीत करने की शक्ति रखने वाले, उन्हें बुलाने में समर्थ, विद्वान् को हम उन पदार्थों के प्रति अपना दूत वरण करते हैं। वह अपना सर्वस्व अर्पण करके भी दूत कर्म करता है। अर्थात् हम में और संसार के पदार्थों में सम्बन्ध स्थापन कर देता है। और इस प्रकार इस यज्ञ का सुक्रतु अर्थात् अच्छी प्रकार करने वाला है (उसको हम वरण करते हैं)। और जिनके ऐसे नेता हों उनके लिए यह पृथिवी गा गाकर रिझाने वाली है। अब इस सामिधेनी के विषय में मतान्तर दिखाकर उसका प्रत्याख्यान करते हैं—

तां वाऽअष्टमीमनुब्रूयात्। गायत्री वाऽएषा निदानेनाष्टाक्षरा वै गायत्री तस्मादष्टमीमनुब्रूयात् ॥३६॥ तद्धैके। पुरस्ताद्धाय्ये दधत्यन्नं धाय्ये मुखतऽइदमन्नाद्यं दध्म इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यादनवक्लृप्ता तस्यैषा भवति यः पुरस्ताद्धाय्ये दधाति दशमी वा हि तर्ह्येकादशी वा सम्पद्यते तस्यो हैवैषावक्लृप्ता भवति यस्यैतामष्टमीमन्वा-

हुस्तस्मादुपरिष्टादेव धाय्ये दध्यात् ॥३७॥

"इस उपर्युक्त सामिधेनी को ८वीं संख्या पर ही बोले। क्योंकि यह धरती का हमारे लिए गायत्री बनाने का रहस्य कहती है अतः यह वास्तव में गायत्री है। गायत्री आठ अक्षर की होती है। इसलिए इसे आठवीं ही संख्या पर पढ़ें।३६। सो कई लोग आरम्भ में—"पृथुपाजा अमर्त्यो घृतनिर्णिक् स्वाहुतः अग्निर्यस्य हव्यवाट्।" (ऋग् ३।२७।५) "तं सबाधो यतस्रुच इत्था धिया यज्ञवन्तः, आचक्रुरग्निमूतये।" (ऋ० ३। २७।६) यह दो धाय्या नाम की ऋचाएँ पढ़ते हैं। उनका कथन है कि धाय्या सामिधेनियों का अन्न है। सो मुख में अर्थात् आरम्भ में ही रखी जानी चाहिए। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। जो आरम्भ में धाय्या रख देगा वह इस रचना का सौन्दर्य बिगाड़ देगा। क्योंकि उस अवस्था में यह दशवीं वा ११ वीं होगी (१७ सामिधेनियों में ११ वीं होगी) और यह फबती तब ही है जब इसे आठवीं संख्या पर रक्खें। (क्योंकि वह गायत्री के साथ सर्वस्व त्याग को जोड़ती है) इसलिए धाय्याओं को यदि पढ़ना ही हो तो आठवीं सामिधेनी के पश्चात् तथा "समिध्यमानो अध्वरे'। इस से पहले रक्खे।३७।

अब अगली सामिधेनियों की व्याख्या इकट्ठी करेंगे—

"समिध्यमानो ऽअध्वर" (ऋग्० ३ । २७ । ४) इति। अध्वरो वै यज्ञः समिध्यमानो यज्ञऽइत्येवैतदाह "अग्निः पावक ईड्य" (ऋग्० ३ । २७ । ४) इति पावको ह्येष "शोचिष्केशस्तमीमह" (ऋग् ३ । २७ । ४) इति शोचन्तीव ह्यस्य केशाः समिद्धस्य 'समिद्धोऽअग्नऽआहुते' (ऋग्० ५ । २८ । ५) त्यतः प्राचीनꣳ सर्वमिध्ममभ्यादध्याद्यदन्यत्समिधोऽपवृङ्क्तऽइव ह्येतद्धोता यद्वाऽअन्यत्समिध इध्मस्यातिरिच्यतेऽतिरिक्तं तद्यद्वै यज्ञस्यातिरिक्तं द्विषन्तꣳ हास्य तद्भ्रातृव्यमभ्यतिरिच्यते तस्मादतः प्राचीनꣳ सर्वमिध्ममभ्यादध्याद्यदन्यत्समिधः ॥३८॥ "देवान्यक्षि स्वध्वर" (ऋग्० ५ । २८ । ५) इति। अध्वरो वै यज्ञो देवान्यक्षि सुयज्ञियेत्येवैतदाह 'त्वꣳ हि हव्यवाडसि" (ऋग्० ५। २८ ।५) इत्येष हि हव्यवाड् यदग्निस्तस्मादाह त्वं हि हव्यवाडसीति "त्वाजुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे वृणीध्वꣳ हव्यवाहनमि ऋग्० ५ । २८ । ६) ति सम्प्रेष्यैवैतया जुहुत च यजत च यस्मै कामाय समैन्धिढ्वं तत्कुरुतेत्येवैतदाहाग्निं प्रयत्यध्वरऽइत्यध्वरो वै यज्ञोऽग्निं प्रयति यज्ञऽइत्येवैतदाह वृणीध्वꣳ हव्यवाहनमित्येष हि हव्यवाहनो यदग्निस्तस्मादाह वृणीध्वꣳ हव्यावहनमिति ॥३९॥ तं वाऽएतम् । अध्वरवन्तं त्रिचमन्वाह देवान्ह वै यज्ञेन यजमानान्त्सपत्ना असुरा दुधूर्षाञ्चक्रुस्ते दुधूर्षन्त एव न शेकुर्धूर्वितुं ते पराबभूवुस्तस्माद्यज्ञोऽध्वरो नाम दुधूर्षन्ह वाऽएनꣳ सपत्नः पराभवति यस्यैवं विदुषोऽध्वरवन्तं त्रिचमन्वाहुर्यावद्वेव सौम्येनाध्वरेणेष्ट्वा जयति तावज्जयति ॥४०॥

इति चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

इन कण्डिकाओं में भी विषय के अनुसार ३८ वीं कण्डिका "केशा समिद्धस्य" इस स्थान पर समाप्त हो जानी चाहिए। पता नहीं अगली सामिधेनी इसमें क्यों घुसेड़ दी गई है। हमें तो इसमें भी प्रमाद दीखता है। यह सामिधेनी इस प्रकार है—

समिध्यमानो अध्वरेऽग्निः पावक ईड्यः शोचिष्केशस्तमीमहे॥ ऋ० ३ । २७ ।४।

कण्डिका की व्याख्या इस प्रकार है—

"होता अगली सामिधेनी पढ़ता है—'समिध्यमानो अध्वरे।' सो अध्वर नाम यज्ञ का है, इसलिए यज्ञ में यह समिन्धन किया जाता है वस्तुतः यही कहता है। आगे

कहता है—"अग्निः पावक ईड्यः ।" क्योंकि यह विद्वान् पवित्र करने वाला है तथा स्तुति योग्य है इसलिए यह शब्द कहे। आगे कहते हैं "शोचिष्केशस्तमीमहे ।" सो प्रदीप्त उत्तम विद्वान् के केश पवित्र और चमकदार होते हैं (क्योंकि वीर्यरक्षा से सिर के बाल चिकने रहते हैं और उपस्थ के बाल वीर्यपात से अपवित्र नहीं होते । शुच्धातु में पवित्रता और चमक यही दो भावनाएँ हैं।)"

तात्पर्य यह कि यदि ऊपर के सब गुण किसी विद्वान् में स्थिर रखने हों तो आवश्यक है कि वह जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी हो।

अब होता 'समिध्यमानो अध्वरे' इस नौवीं सामिधेनी के पश्चात् और 'समिद्धो-अग्न आहुत:' इस दसवीं सामिधेनी से पहले अनुयाज के लिए एक समिधा बचाकर शेष सब इध्म नामक काष्ठ की गठरी की समिधाएँ अग्नि में डाल दे (इध्म देखो पृ० १६८) क्योंकि पहले मन्त्र तक "समिध्यते" "समिध्यमानः" इस प्रकार के शब्द थे और दशवीं सामिधेनी में "समिद्ध" यह यह शब्द पड़ा है। सो जो चीज समिध्यमान थी वह पूर्ण समिद्ध तो तब ही होगी जब सब काष्ठ पड़ जावें। सो अग्नि को जब सुलगाते हैं तो उसमें एक अवस्था ऐसी होती है जिसमें वह सुलगाने से लकड़ी में लगती है। उस समय यदि अधिक लकड़ी पड़ जावे तो वह बुझ जाती है। किन्तु फिर एक ऐसा समय आता है जब वह लकड़ी लगाने से सुलगती है। वह समय सब लकड़ियाँ डालने का है। यही नियम अन्य अग्नियों में भी है। एक समय गुरु शिष्य में विद्या प्रेम उत्पन्न करता है। उस समय यदि कहीं गुरु शिष्य को एकदम बहुत अधिक पढ़ाने लगे तो शिष्य को विद्या से ग्लानि उत्पन्न हो जाय। फिर एक समय ऐसा आ जाता है जब विद्यार्थी के हृदय में विद्या-व्यसन जाग उठता है। उस समय न पढ़ाने से विद्यार्थी भाग जाते हैं। बालक अति पढ़ाने से घबड़ाते हैं, सुशिक्षित विद्यार्थी कम पढ़ाने से। पहली अवस्था समिध्यमान है, दूसरी समिद्ध। सो इस समिद्ध और समिध्यमान की सन्धि में ही विद्या प्रेम, भोजन-प्रेम, आदि अग्नियाँ सबसे अधिक प्रज्वलित होती हैं। यह सब ईंधनडाल देने योग्य समय है।

इसी प्रकार भोजन में लीजिए, पहले व्यायाम तथा उपवास से भूख बढ़ती है। वह व्यायाम का समय है। परन्तु जब भूख जाग्रत् हो जावे तब वह खाने से और चमकती है। उस समय यदि भोजन न मिले तो वह भूख मर जाती है। सो व्यायाम तथा उपवास द्वारा जठराग्नि समिध्यमान होती है फिर रुचिकारक भोजन द्वारा वह और चमकती है। वह समिध्यमान और समिद्ध की सन्धि ही भोजन का ठीक समय है। यदि समिध्यमान अवस्था में भोजन कर लें जठराग्नि बिगड़ जाती है यदि समिद्ध अवस्था में भोजन न मिले तो शरीर को खा जाती है। यही नियम सर्वत्र अग्नियों में लगा लेना। विद्वान् पहले अभ्यास करके उपर्युक्त गुण अपने अन्दर आधान करता है। उनके द्वारा उसके अन्दर लोक सेवा की अग्नि प्रज्वलित हो जाती है। यदि ठीक उसी समय उसे गुणग्राहक यजमान मिल जावें तो वह एक दूसरे का कल्याण करने वाले होते हैं। यदि ठीक समय पर विद्वान् को सामग्री न मिले तो उत्साहाग्नि ऐसे ही मन्द हो जाती है जैसे ठीक समय पर भोजन न मिलने से भूख की अग्नि। यह समिध्यमान और समिद्ध की सन्धिवेला जीवन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वेला है। यजमानों को ठीक इस समय सामग्री प्रस्तुत कर देनी चाहिए। यही नियम गर्भाधानादि में भी काम करते हैं। सो "अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः ।"

एक जो समिधा बचा ली है। सो इसका भाव यह है कि अत्यन्त भोजन रसास्वाद के समय भी थोड़ी-सी भूख रखकर खाना चाहिए। भोजन का अतियोग न होना चाहिए। विद्वान् को भी इतनी सामग्री मिलनी चाहिए कि आगे की उन्नति के लिए तड़प बनी रहे। वह आलसी न हो जावे।

यही बात "अपवृङ्क्ता इव" इससे आगे कही है। अर्थात् यहां समिध्यमानवती ऋचाओं की समाप्ति पर होता एक प्रकार से यज्ञ को समाप्त-सा करता है (याद रहे समाप्त नहीं करता समाप्त सा करता है, क्योंकि यहाँ सामिधेनियों का एक गौरवयुक्त भाग समाप्त होता है)।

"सो वह जो अनुयाज समिधा से भिन्न काष्ठ बचें हैं वे उत्कर्षजनक हैं। जो यज्ञ में उत्कर्षजनक हैं उससे यजमान अपने से द्वेष करने वाले शत्रु की अपेक्षा उत्कर्ष को प्राप्त होता है। इसलिए इससे पूर्व अनुयाज समिधा को छोड़कर शेष सम्पूर्ण इध्म काष्ठ अग्नि में डाल दे। ३८।"

अब अगली सामिधेनी कहते हैं। सामिधेनी इस प्रकार है—

समिद्धो अग्न आहुत देवान् यक्षि स्वध्वर त्वꣳहि हव्यवाडसि। ऋ० ५।२८।५

इसकी व्याख्या इस प्रकार है—

पढ़ता है—"**देवान्यक्षि स्वध्वर।**" सो अध्वर नाम यज्ञ का है। बस उसने यही कहा कि "**देवान् यक्षि सुयज्ञिय।**" आगे कहता है—"**त्वꣳ हि हव्यवाडसि।**" सो अग्नि है ही हव्यों को देवों तक पहुँचाने वाली।

इसीलिए कहा—"**त्वꣳ हि हव्यवाडसि।**

अब अगली सामिधेनी पढ़ता है। सामिधेनी इस प्रकार है—

आजुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे वृणीध्वं हव्यवाहनम्। ऋ० ५।२८।६

यहाँ तक वह मन्त्र दिये जिन में किन-किन गुणों की एक होता (Departmental expert) में आवश्यकता है, यह बताया गया है। अब जब वह परीक्षा द्वारा सुनिश्चित हो जावे तो उसे किस प्रकार सम्बोधन किया जाय यह लिखते हैं—

"हे अग्ने (विद्वन्) आप बुलाए जाकर इस आसन पर विराजमान (राजृदीप्तौ) हो चुके हैं, हे हिंसारहित कर्म करने वाले अब आप देवों के साथ सगतीकरण कीजिए आप ही हमारी पुकार और भेंट उन तक पहुँचाने वाले हैं।"

अब सम्पूर्ण जनता को सम्बोधन किया जाता है इसीलिए यहाँ बहुवचन है—"आजुहोत।" इस अग्नि (विद्वान्) के साथ दानादान का व्यवहार करो। यहाँ आहुति दो और इसकी पूजा करो। यह यज्ञ चल रहा है इसके चलते पुण्य कमा लो और इस हव्यवाहन को अपनाओ।

"सो यह आज्ञा देता है कि यज्ञ करो, जिस उद्देश्य से यह होता बुलाया है उसे पूरा करो। आगे कहता है—"**अग्निं प्रयत्यध्वरे।**" सो अध्वर नाम यज्ञ का है। तो यह वस्तुतः "अग्निं प्रयति यज्ञे" ऐसा कहता है। आगे कहता है—"**वृणीध्वं हव्यवाहनम्**" सो हव्यवाहन नाम अग्नि का है इसीलिए कहता है, "**वृणीध्वं हव्यवाहनम् ॥३१॥**"

इस प्रकार अन्तिम सामिधेनी में होता का जनता के साथ भी सम्बन्ध दिखा दिया। अब यह दिखाते हैं कि इन अन्तिम तीन सामिधेनियों में अध्वर शब्द क्यों आया है—

"सो यह तीन ऋचाओं का त्रिच अध्वर शब्द से युक्त है। देव लोग जब यज्ञ

करने लगे तो उन्हें सपत्न (पतन सहित) गिराने वाले असुरों ने मारना चाहा। परन्तु मारना चाहते हुए भी वे मार नहीं सके। तब वह परास्त हो गये। इसीलिए यज्ञ का नाम अध्वर है। जिसके यज्ञ में यह अध्वर वाला त्रिच इस प्रकार जानते हुए पढ़ा जाता है तो जितना सोमयाग करके फल पाता है उतने आनन्द को जीतता है ॥४०॥"

यहाँ यह दिखाया है कि कितने ही उत्तम उद्देश्य से यज्ञ किया जाय परन्तु यदि उसमें हिंसा की भावना होगी तो वह निष्फल हो जायगा। इसीलिए अन्त की तीनों सामिधेनियां अध्वर शब्द वाली हैं। और इसी का फल सोमयाग के समान है। इससे पता लगता है सोमयाग भी हिंसा रहित है। यहाँ शब्द भी है "सौम्य अध्वर।"

॥ इति चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

अथ चतुर्थाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

"हमें सामिधेनियों ने होता की परीक्षा और उसका यजमान और जनता से सम्बन्ध बता दिया। परन्तु अभी तक वह होता नहीं हुआ। यह तो एक संवत्सर का चित्र है जिसमें होता, यजमान और प्रजा का सम्बन्ध स्थापन हो जाएगा। अब उसके विधिपूर्वक होता बनने की ओर आते हैं—

एतद्ध वै देवा अग्निं गरिष्ठेऽयुञ्जन्। यद्धोतृत्वऽइदं नो हव्यं वहेति तमेतद् गरिष्ठे युक्त्वोपामदन्वीर्यवान्वै त्वमस्यलं वै त्वमेतमस्माऽअसीति वीर्यं समादधतो यथेदमप्येतर्हि ज्ञातीनां यं गरिष्ठे युञ्जन्ति तमुपमदन्ति वीर्यवान्वै त्वमस्यलं वै त्वमेतस्माऽअसीति वीर्यं समादधतः स यदत ऊर्ध्वमन्वाहोपस्तौत्येवैनमेतद्वीर्यमेवास्मिन्दधाति ॥१॥ अग्ने महां २॥ ऽअसि ब्राह्मण भारतेति। ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मणेति भारतेत्येष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद्भरतोऽग्निरित्याहुरेष उ वा ऽइमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्त्ति तस्माद्वेवाह भारतेति ॥२॥ अथार्षेयं प्रवृणीते। ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥३॥ परस्तादर्वाक् प्रवृणीते। परस्ताद्ध्यर्वाच्यः प्रजाः प्रजायन्ते ज्यायसस्पतयऽउ चैवैतं निह्नुतऽइदꣳ हि पितैवाग्रेऽथ पुत्रोऽथ पौत्रस्तस्मात्परस्तादर्वाक् प्रवृणीते ॥४॥ स आर्षेयमुक्त्वाह। देवेद्धो मन्विद्ध इति देवा ह्येतमग्रऽऐन्धत तस्मादाह देवेद्ध इति मन्विद्ध इति मनुर्ह्येतमग्रऽऐन्द्ध तस्मादाह मन्विद्ध इति ॥५॥ ऋषिष्टुत इति। ऋषयो ह्येतमग्रेऽस्तुवँस्तस्मादाहर्षिष्टुत इति ॥६॥ विप्रानुमदित इति। एते वै विप्रा यदृषय एते ह्येतमन्वमदंस्तस्मादाह विप्रानुमदित इति ॥७॥ कविशस्त इति एते वै कवयो यदृषय एते ह्येतमशꣳसंस्तस्मादाह कविशस्त इति ॥८। ब्रह्मसꣳशित इति। ब्रह्मसꣳशितो ह्येष घृताहवन इति घृताहवन इति घृताहवनो ह्येषः ॥९॥ प्रणीर्यज्ञानाꣳ रथीरध्वराणामिति। एतेन वै सर्वान् यज्ञान्प्रणयन्ति ये च पाकयज्ञा ये चेतरे तस्मादाह प्रणीर्यज्ञानामिति ॥१०॥ रथीरध्वराणामिति। रथो ह वाऽएष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति तस्मादाह रथीरध्वराणामिति ॥११॥ अतूर्त्तो होता तूर्णिर्हव्यवाडिति। न ह्येतꣳ रक्षाꣳसि तरन्ति तस्मादाह तूर्त्तो होतेति तूर्णिर्हव्यवाडिति सर्वꣳ ह्येष पाप्मानं तरति तस्मादाह तूर्णिर्हव्यवाडिति ॥१२॥ आस्पात्रं जुहूर्देवानामिति। देवपात्रं वाऽएष यदग्निस्तस्मादग्नौ सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति देवपात्रꣳ ह्येष प्राप्नोति ह वै तस्य पात्रं यस्य पात्रं प्रेप्स्यति य एवमेतद्वेद ॥१३॥ चमसो देवपान इति। चमसेन ह वाऽएतेन भूतेन देवा भक्षयन्ति तस्मादाह चमसो देवपान इति ॥१४॥ अराँ२॥ ऽइवाग्ने नेमिर्देवांस्त्वं परिभूरसीति। यथारान्नेमिः सर्वतः परिभूरेवं त्वं देवान्त्सर्वतः परिभूरसीत्येवैतदाह ॥१५॥ आवह देवान्यजमानायेति। तदस्मै यज्ञाय देवानावोढवाऽआहाग्निमग्नऽआवहेति तदाग्नेयायाज्यभागायाग्निमावोढवाऽआह सोममावहेति तत्सौम्यायाज्यभागाय सोममावोढवाऽआहाग्निमावहेति तद्य एष

उभयत्राच्युत आग्नेयः पुरोडाशो भवति तस्माऽअग्निमावोढवाऽआह ॥१६॥ अथ यथा॰देवतम् । देवां २ ॥ ऽआज्यपां २ ॥ ऽआवहेति तत्प्रयाजानावोढवाऽआह प्रयाजानुयाजा वै देवा आज्यपा अग्निँ होत्रायावहेति तदग्निँ होत्रायावोढवाऽआह स्वं महिमानमावहेति तत्स्वं महिमानमावोढवाऽआह वाग्वाऽअस्य स्वो महिमा तद्वाचमावोढवाऽआहा च वह जातवेदः सुयजा च यजेति तद्या एवैतद्देवता आवोढवाऽआह ता एवैतदाहा चैनाव-नुष्ठ्या च यजेति यदाह सुयजा च यजेति ॥१७॥ स वै तिष्ठन्नन्वाह । अन्वाह ह्येतदसौ ह्यनुवाक्या तदसावेवैतद् भूत्वान्नवाह तस्मात्तिष्ठन्न्वाह ॥१८॥ आसीनो याज्यां यजति। इयँ हि याज्या तस्मान्न कश्चन तिष्ठन्याज्यां यजतीयँ हि याज्या तदियमेवैतद् भूत्वा यजति तस्मादासीनो याज्यां यजति ॥१९॥

॥ इति चतुर्थाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ चतुर्थाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

यो ह वा ऽअग्निः सामिधेनीभिः समिद्धः। अतितराᳬ ह वै स इतरस्मादग्नेस्तपत्यनवधृष्यो हि भवत्यनवमृश्यः ॥१॥ स यथा हैवाग्निः सामिधेनीभिः समिद्धस्तपत्येवᳬ हैव ब्राह्मणः सामिधेनीर्विद्वाननुब्रुवंस्तपत्यनवधृष्यो हि भवत्यनवमृश्यः ॥२॥ सोऽन्वाह प्र व इति प्राणो वै प्रवान्प्राणमेवैतया समिन्द्धेऽग्नऽआयाहि वीतयऽइत्यपानो वाऽएतवानपानमेवैतया समिन्द्धे बृहच्छोचा यविष्ठचेत्युदानो वै बहच्छोचा उदानमेवैतया समिन्द्धे ॥३॥ स नः पृथु श्रवाय्यमिति। श्रोत्रं वै पृथु श्रवाय्यᳬ श्रोत्रेण हीदमुरु पृथु शृणोति श्रोत्रमेवैतया समिन्द्धे ॥४॥ ईडेन्यो नमस्य इति। वाग्वाऽईडेन्या वाग्घीदᳬ सर्वमीट्टे वाचेदᳬ सर्वमीडितं वाचमेवैतया समिन्द्धे ॥५॥ अश्वो न देववाहन इति। मनो वै देववाहनं मनो हीदं मनस्विनं भूयिष्ठं वनीवाह्यते मन एवैतया समिन्द्धे ॥६॥ अग्ने दीद्यतं बृहदिति। चक्षुर्वै दीदयेव चक्षुरेवैतया समिन्द्धे ॥७॥ अग्निं दूतं वृणीमह ऽइति। य एवायं मध्यमः प्राण एतमेवैतया समिन्द्धे सा हैवान्तस्था प्राणानामतो ह्यन्य ऽऊर्ध्वाः प्राणा अतोऽन्येऽवाञ्चोऽन्तस्था ह भवत्यन्तऽस्थामेनं मन्यन्ते यऽएवमेतामन्तस्थां प्राणानां वेद ॥८॥ शोचिष्केशस्तमीमहऽइति। शिश्नं वै शोचिष्केशᳬ शिश्नᳬहीदᳬ शिश्निनं भूयिष्ठᳬ शोचयति शिश्नमेवैतया समिन्द्धे ॥९॥ समिद्धोऽअग्नआहुतेति। य एवायमवाङ्प्राण एतमेवैतया समिन्द्धऽआ जुहोता दुवस्यतेति सर्वमात्मानᳬ समिन्द्धऽआ नखेभ्योऽथो लोमभ्यः ॥१०॥ स यद्येनं प्रथमायाᳬ सामिधेन्यामनुव्याहरेत्। तं प्रति ब्रूयात्प्राणं वाऽएतदात्मनोऽग्नावाधाः प्राणेनात्मन आर्तिमारिष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥११॥ यदि द्वितीयस्यामनुव्याहरेत्। तं प्रति ब्रूयादपानं वा ऽएतदात्मनोऽग्नावाधा अपानेनात्मन आर्तिमारिष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥१२॥ यदि तृतीयस्यामनुव्याहरेत्। तं प्रति ब्रूयादुदानं वाऽएतदात्मनोऽग्नावाधा उदानेनात्मन आर्तिमारिष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥१३॥ यदि चतुर्थ्यामनुव्याहरेत्। तं प्रति ब्रूयाच्छ्रोत्रं वाऽएतदात्मनोऽग्नावाधाः श्रोत्रेणात्मन आर्तिमारिष्यसि बधिरो भविष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥१४॥ यदि पञ्चम्यामनुव्याहरेत्। तं प्रति ब्रूयाद्वाच वाऽएतदात्मनोऽग्नावाधा वाचात्मन आर्त्तिमारिष्यसि मूको भविष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥१५॥ यदि षष्ठ्यामनुव्याहरेत्। तं प्रति ब्रूयान्मनो वाऽएतदात्मनोऽग्नावाधा मनसात्मन आर्त्तिमारिष्यसि मनोमुषि गृहीतो मोमुघश्चरिष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥१६॥ यदि सप्तम्यामनुव्याहरेत्। तं प्रति ब्रूयाच्चक्षुर्वाऽएतदात्मनो ऽग्नावाधाश्चक्षुषात्मन आर्त्तिमारिष्यस्यन्धो भविष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥१७॥ यद्यष्टम्यामनुव्याहरेत्। तं प्रति ब्रूयान्मध्यं वाऽएतत्प्राणमात्मनोऽग्नावाधा मध्येन प्राणेनात्मन आर्त्तिमारिष्यस्युद्ध्माय मरिष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥१८॥ यदि नवम्यामनुव्याहरेत् तं प्रति ब्रूयाच्छिश्नं वाऽएतदात्मनोऽग्नावाधः शिश्नेनात्मन आर्ति मारिष्यसि क्लीबो भविष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥१९॥ यदि दशम्यामनुव्याहरेत्।

तं प्रति ब्रूयादवाञ्चं वाऽएतत्प्राणमात्मनोऽग्नावाधा अवाचा प्राणेनात्मन आर्त्तिमारिष्य-स्यपिनद्धो मरिष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥२०॥ यद्येकादश्यामनुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयात्सर्वं वाऽएतदात्मानमग्नावाधाः सर्वेणात्मनार्त्तिमारिष्यसि क्षिप्रेऽमुं लोकमेष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥२१॥ स यथा हैवाग्निꣳ सामिधेनीभिः समिद्धमापद्यार्ति न्येत्येवꣳ हैव ब्राह्मणꣳ सामिधेनीर्विद्वाꣳसꣳ समनुब्रुवन्तमनुव्याहृत्यार्ति न्येति ॥२२॥

इति चतुर्थाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

इससे पहले कि हम इन कण्डिकाओं की व्याख्या करें हम यह आवश्यक समझते हैं कि यज्ञ की विधि का कुछ संक्षिप्त किन्तु विशद वर्णन यहाँ दे दिया जाय । क्योंकि अब इस नाट्यशाला में कई पात्र एक साथ कार्य करते दिखाई देंगे । अब तक इतनी मुख्य क्रियाएँ हो चुकी हैं। सबसे पहले व्रतोपायन द्वारा यह दिखाया गया कि जिस यजमान का कोई व्रत नहीं उसे पूर्ण चन्द्र अर्थात् उत्तम सन्तान के दर्शन नहीं हो सकते । फिर शकट द्वारा यह दिखाया गया कि जिसके घर में धन धान्य पर्याप्त न हो उसका गृहस्थ सुखी नहीं हो सकता । सन्तान के पालन पोषण के लिए पर्याप्त सामग्री घर में होनी चाहिए । फिर व्रीहि मुष्टि के साफ करने, मृगचर्म पर ऊखल रखने, धान कूटने आदि द्वारा गुरुकुल भेजना आवश्यक है, वहाँ उसकी खेलें आदि भी विद्याभ्यास में रुचि बढ़ाने वाली हों, आदि अनेक उपयोगी विषयों का वर्णन हुआ, जिसकी समाप्ति पुरोडाश पाक तक हुई । पक्व पुरोडाश एक स्नातक का प्रतिनिधि है । इसीलिए पुरोडाश पाक को सोमयाग के समान कहा है (तद्यथैवादः सोमे राजानम् पृष्ठ ४७) ।

फिर अगले प्रकरण में एक स्नातक को समाज में स्थान किस प्रकार देना चाहिए इसका वर्णन एकत, द्वित, त्रितादि द्वारा किया गया । फिर यज्ञवेदी द्वारा एक स्नातिका का वर्णन किया गया । फिर वही यज्ञ-वेदी कर्त्तव्यशाला का रूप धारण करके आई । उसके पश्चात् सामिधेनी समिन्धन द्वारा कर्त्तव्यशाला में एक वर्ष का समय-विभाग क्या होना चाहिए तथा एक दिन का समय-विभाग क्या होना चाहिए यह बताया । यहाँ इस समय-विभाग को एक आदर्श ब्राह्मण के रूप में वर्णन किया गया है । जिससे समय-विभाग का भी वर्णन हो गया है और एक आदर्श ब्राह्मण होता का भी वर्णन हो गया है ।

यहाँ यह अप्रासङ्गिक न होगा कि होता, अध्वर्यु, उद्गाता ब्रह्मा तथा यजमान का परस्पर सम्बन्ध बता दिया जावे ।

आप एक बड़े कारखाने को ले लीजिए । कारखाने का स्वामी यजमान है । कारखाने का प्रबन्धकर्त्ता अध्वर्यु है । यही दो मुख्य कार्यकर्त्ता हैं अत्यन्त छोटे यज्ञों में यजमान ही स्वयं अध्वर्यु कर्म कर लेते हैं । उदाहरणार्थ नित्याग्निहोत्र में अथवा ब्रह्म-यज्ञ में स्वयं यजमान ही अध्वर्यु है । किन्तु ज्यों-ज्यों बड़ा यज्ञ अर्थात् संगठन हो तो कार्य-विभाग की आवश्यकता होती है । यजमान वह है जो अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए सहायकों को इकट्टा करता है । चाहे धन के बल से इकट्ठा करे, चाहे प्रेम और भक्ति के बल से, चाहे समान उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त हृदयों में जलने वाली सङ्कल्पाग्नि के बल से । किन्तु यह आवश्यक नहीं कि उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपेक्षित प्रबन्ध शक्ति भी उस यजमान में हो । जिसमें होगी वह अध्वर्यु भी स्वयं होगा । किन्तु यदि यजमान में यह शक्ति स्वयं न हो तो वह जिस अध्यवसायशील, सदा चुस्त रहने वाले

क्रियातत्पर मनुष्य को चुनेगा वह अध्वर्यु होगा। परन्तु धीरे-धीरे कार्य अधिक बढ़ने पर विशेषज्ञों की आवश्यकता होगी। हो सकता है कि अध्वर्यु प्रबन्ध कुशल तथा बड़ा क्रियाशील हो किन्तु वह उस विद्या का विशेषज्ञ न हो जिसकी उस कारखाने में आवश्यकता है। अतः वहाँ विशेषज्ञ बुलाना पड़ेगा। उस विशेषज्ञ को होता कहते हैं। अध्वर्यु का विशेष गुण क्रिया है, ज्ञान नहीं। वह सदा कार्य में तत्पर दिखाई देता है। दूसरी ओर होता का विशेष गुण ज्ञान है। वह दिन-रात उस कारखाने के यन्त्रादि की उन्नति के लिए नई से नई योजनाएं सोचता रहता है अतः उसे हम एक स्थान पर बैठे चिन्तन में निमग्न पाते हैं। यह अग्नि है। अध्वर्यु वायु है। होता ऋग्वेदी है, अध्वर्यु यजुर्वेदी है। होता "अग्निमीडे पुरोहितम्" से चलता है, अध्वर्यु 'वायवः स्थ" से चलता है (वा गति गन्धनयोः) अब उद्गाता को लीजिए। प्रत्येक यज्ञ में, प्रत्येक संगठन में, कार्य करने वालों की कार्य-शक्ति थकावट से, उत्साह की मन्दता से, नीरसता से, क्षीण हो जाती है। इस लिए आवश्यक है कि उनका जीवन सरस बनाने के साधन भी उसमें उपस्थित किए जावें। संगीत चित्रकला, नाटच, उद्यान आदि द्वारा उनके चित्त को आह्लाद हो यह कार्य उद्गाता का है। ब्रह्मा इन सब ही विद्याओं का पण्डित होना चाहिए। क्योंकि उसका कार्य सब का निरीक्षण करना है। अब चाहे यह सब काम एक ही मनुष्य करे जैसे ब्रह्मयज्ञ अर्थात् सन्ध्या में यजमान होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा सब के कर्म करने वाला यज्ञकर्ता स्वयं है और चाहे किसी यज्ञ में एक-एक के अनेक सहायक भी क्यों न हों, किन्तु ये ५ पद अवश्य हैं—

१. संङ्कल्पकर्त्ता=यजमान=ओ३म्

२. प्रयत्नशील=अध्वर्यु=भुवः

३. ज्ञानशील=होता=भूः

४. अनुभूतिशील=उद्गाता=स्वः

५. सूक्ष्म निरीक्षक=ब्रह्मा=

यह दूसरी बात है कि इन ५ पदों को कितने मनुष्यों में बाँटा जाय।

अब यहाँ यज्ञ में होता का प्रवेश होता है। सामिधेनियों तक होता का स्वरूप, समय-विभाग तथा कार्य-विभाग बताया। अब उसका अपने पद पर प्रतिष्ठित होने का तथा अन्य कार्यकर्ताओं के साथ मिलकर कार्य करने की प्रतिज्ञाएं करने का समय आया। यहाँ विधि इस प्रकार है—

एक ओर होता अपना कार्य करता है, दूसरी ओर अध्वर्यु अपना। सामिधेनियों की समाप्ति पर होता "अग्नि महां २॥ असि ब्राह्मण भारत" ऐसा उन सामिधेनियों के साथ पढ़े। और इसके साथ ही यजमान के प्रवरों का नाम ले। अर्थात काश्यप, अवासार नैध्रुव यह सम्बोधन वाक्य साथ पढ़े। फिर १५ निविद् वाक्य भी इससे सम्बद्ध हैं, उन्हें बोले। वे इस प्रकार हैं—

देवेद्धो मन्विद्ध ऋषिष्टुतो विप्रानुमदितः कविशस्तो ब्रह्म शंसितो घृतवाहनः प्रणीर्यज्ञाना१७ रथीरध्वराणामतूर्त्तो होता तूर्णिर्हव्यवाड् आस्पात्रं जुहूर्देवानां चमसो देवपानोऽराँ इवाग्ने नेमिर्देवाँस्त्वं परिभूरस्यावह देवान् यजमानाय।

किन-किन देवों को बुलाए सो आगे कहते हैं—

अग्निमग्न आ ३ वह सोम मा ३ वह अग्निमा ३ वह अग्नीषोमावा ३ वह देवां २॥

आज्यपां २॥ आ ३ वह अग्निं होत्रा या ३ वह स्वं महिमानमा ३ वह आ च वह जातवेदः सुयजा च यज।

यह वाक्य बोलकर अध्वर्यु द्वारा अपने वरण की प्रतीक्षा करता हुआ बैठे।

उधर अध्वर्यु। **"अग्ने महां २ ॥ असि ब्राह्मण भारत"** यह वाक्य (होता द्वारा) बोले जाने पर, वेद नामक कुश-ग्रन्थि से आहवनीय को तीन वार उपवाजन कर के अर्थात् चलाकर, वेद (कुशग्रन्थि) हाथ में लिये हुए स्रुवद्वारा घृत लेकर, उत्तर परिधि की सन्धि के पीछे खड़ा होकर, प्रजापति को मन में ध्यान करता हुआ, आहवनीयाग्नि के उत्तर भाग में पूर्व्वाघार करे। वह आघार देर तक हो, सीधी रेखा में हो, पश्चिमोत्तर कोण से दक्षिण पूर्व कोण तक सीधी रेखा में हो। आघार का अर्थ है घृत की लम्बीधारा अग्नि में डालना।

इधर जब अवध्र्यु अग्नि में आहुति कर रहा हो तो यजमान **"ओ३म् इदं प्रजापतये इदन्न मम"** यह वाक्य बोले। इसमें "प्रजापतये" इतना अंश मन में बोले।

इसके पश्चात् अध्वर्यु अग्नीत् को इध्ममसन्नहन (वह रस्सी जिस में २१ समिधाएं बँधी थीं) देता हुआ आज्ञा दे—**"अग्निमग्नीत् समृड्ढि।"** इस पर अग्नीत् स्वयं वाम हस्त में लेकर, अग्नि की प्रदक्षिणा कर के दक्षिण परिधि के समीप खड़ा होकर, इध्म सन्नहनों से दक्षिण परिधि (तीन परिधि नामक काष्ठों का वर्णन पृष्ठ १७३से १८२ तक कर आए हैं) के समीप की अग्नि को पूर्व की ओर सम्माज्र्जन करे अर्थात् सरका दे। यह क्रिया एक बार **"अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजितं सम्मार्जिम"** (यजु०२।७) यह मन्त्र बोलकर करे और दो वार चुपचाप करे इस प्रकार ३ वार करे। फिर वहीं खड़ा-खड़ा मध्यम परिधि के समीप की अग्नि को सन्नहन द्वारा उत्तर की ओर इकट्ठा करे। यहाँ भी एक बार **"अग्ने वाजजित्"** आदि मन्त्र बोले और दो वार चुपचाप।

फिर दक्षिण पार्श्व से उत्तर पार्श्व की ओर जाकर उत्तर परिधि के समीप की अग्नि को पूर्व की ओर सरकाए। यहाँ भी पहले की भाँति एक वार मन्त्र बोले, दो वार चुपचाप करे। फिर इसी प्रकार तीन वार अग्नि के मध्य भाग में सम्मार्जन करे। किन्तु इस में तीनों सम्मार्जन चुपचाप होंगे। मध्य की अग्नि भी पूर्व की ओर सरकावे।

इसके पश्चात् अध्वर्यु जहाँ जुहू और उपभृत् रक्खी हैं उनके सामने के भाग में और आहवनीय के पीछे की ओर भूमि पर पुटाञ्जलि (अर्थात् हथेली नीचे और हाथ की पीठ ऊपर रखकर) रखे। और उस समय **"ओ३म् नमो देवेभ्यः"** (यजु० २।७) यह वाक्य बोले। फिर उससे कुछ दाहिनी ओर **"स्वधा पितृभ्यः"** (यजु० २।७) इस वाक्य द्वारा बायें हाथ की उत्तान अंजलि को पूर्व की ओर मुख किए किए उठता है। फिर जलोपस्पर्शन करके, दोनों हाथों से जुहू को लेकर, उपभृत् के अग्र भाग के ऊपर से लाकर उपभृत् पर रख के, **"ओं सुयमे मे भूयास्तं** (यजु० २।७) **अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यं सं भ्रियासम्"** (यजु० २।८) इस मन्त्र से जुहू और उपभृत् को एक साथ उठाकर, खड़ा होकर **"अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वाऽवक्रमिषम्"** इस मन्त्र द्वारा वेदि के उत्तर भाग से यजति देश (आहुति स्थान पर) जाकर, वेदि के दक्षिण भाग में **"ओं वसुमतीमग्ने तेच्छायामुपस्थेषं विष्णोः स्थानमसि"** (यजु० २।८) इस मन्त्र को बोलकर ईशानाभिमुख खड़ा रहे। यहाँ पहले बायाँ पैर उठाना पीछे दाहिना। (आहुति-

स्थान पर जाने के लिए सर्वत्र यह नियम है कि परिधियों के पीछे और स्रुवों के सामने से होकर जाना)।

जुहू को उपभृत् के अग्र भाग के ऊपर की ओर से पूर्व की ओर उतार कर, दक्षिण परिधि के समीप ले जाकर, **"ओ३म् इन्द्र इन्द्रो वीर्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वर आस्थात्** (यजु: २।८) **अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यमवतां त्वां द्यावापृथिवी अव त्वं द्यावापृथिवी स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत् स्वाहा"** यजु० २।९ इस मन्त्र से आग्नेय कोण में, सीधी रेखा में लम्बा अविच्छिन्न पूर्व में समाप्त होने वाला, उत्तराघार खड़ा रहते हुए करे। (इसमें प्रयाज के द्रव्य का चतुर्थांश हवन होता है)। इस समय यजमान **"इदम् इन्द्राय इदन्न मम"** यह त्यागविधि करे। इस पर अध्वर्यु दोनों स्रुवों को परस्पर स्पर्श न करने देता हुआ दायां पग पहले बढ़ाकर आहुति स्थान से लौटकर, **"ओ३म् संज्योतिषा ज्योतिः** यजु० २।९ यह वाक्य बोलकर, जुहू के घृत की एक बूंद ध्रुवा के घृत में डाल दे। फिर बाएं हाथ में उपभृत् लिये, जुहू के दक्षिण की ओर प्रस्तर पर रखकर बाएं हाथ में वेद (कुश ग्रन्थि लेकर, उपभृत् को जुहू के उत्तर की ओर अपने स्थान पर रख दे। फिर होता को अपने दक्षिण भाग में करके उत्कर के पश्चिम भाग में प्राङ् मुख स्थित अध्वर्यु इध्म सन्नहन लेकर **"ओ३म् श्रा३वय"** यह आज्ञा दे। इस पर अध्वर्यु के उत्तर की ओर दक्षिणाभिमुख खड़ा हुआ अध्वर्यु स्फ्य और सन्नहन को हाथ में लेकर **"अस्तु श्रौ३षट्"** ऐसी आज्ञा दे। उधर होता यहां प्रतीक्षा करता हुआ खड़ा ही है। अब अध्वर्यु कहता है—**"ओ३म् अग्निर्देवो दैव्यो होता देवान् यक्षद् विद्वांश्चिकित्वान् मनुष्वद् भरतवत्।"** इसके आगे वत् शब्द लगाकर यजमान के प्रवरों का उच्चारण करता है। जैसे—कश्यपवत्, अवत्सारवत्, निध्रुववत्। फिर **"ब्राह्मणवत् आ च वक्षद् ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितारो ·····होता मानुषः"**, यहां रिक्त स्थान में होता का नाम बोले। अब होता **"एतत् त्वा देव सवितः"** इत्यादि अपने पद को ग्रहण करने सम्बन्धी प्रार्थना के वाक्य बोले।

यहां यह विधि इसलिए दी गई है कि इसके बिना आगे की ब्राह्मण की व्याख्या समझ नहीं आ सकती थी।

यह पद्धति श्रीनित्यानन्द पर्वतीय के कातीयेष्टि दीपक से ली गई है। अब कण्डिका क्रम से व्याख्या सुनिए—

सामिधेनियों में अग्नि स्तुति के व्याज से आदर्श ब्राह्मण की स्तुति की है। उस स्तुति को **"अग्ने महां असि ब्राह्मण भारत"** इस वाक्य से समाप्त किया। अतः अब उन वाक्यों की व्याख्या करते हैं—

"देवों ने जो अग्नि को होता का पद दिया। यह उसे सर्वोच्च पद पर नियुक्त किया। उसे उन्होंने यह काम सौंपा कि यह हमारा हवि देवों तक पहुंचा (अर्थात् सन्देश भेजकर उन्हें बुला)। ऐसे उच्च पद पर प्रतिष्ठित करके उत्साहवर्धन के लिए उन्होंने उसकी स्तुति की कि "तू वीर्यवान् है" इस कार्य के करने में समर्थ है।" इस प्रकार उसे शक्तिसम्पन्न करते हुए बोले—अब भी तो हम सब ऐसा ही करते हैं, अपने बन्धु-बान्धवों में से जिस किसी को भारी उत्तरदायित्व के कार्य पर नियुक्त करना होता है, उसे शक्तिसम्पन्न करते हुए "तू वीर्यवान् है," "इस कार्य के करने में समर्थ है," इस प्रकार खूब बढ़ावा देते हैं (उपामदन्ति) सो इसलिए इससे आगे जितने शब्द हैं वह उसकी स्तुति करते हैं, उसमें शक्ति भरते हैं। १। वे शब्द इस प्रकार हैं, "अग्ने

महां २॥ असि ब्राह्मण भारत ।" अग्नि ब्राह्मण है इसलिए उसे ब्राह्मण कहकर सम्बोधन किया । उसे ही भारत यह इस प्रकार सम्बोधन करते हैं, क्योंकि यही देवों तक हव्य पहुंचाता है, इसीलिए अग्नि भरत ऐसा कहते हैं । अथवा इसलिए भी कहते क्योंकि यही प्राण बनकर प्रजाओं का पालन करता है इसीलिए उसे कहा भरत ।"

यहां यह ध्यान देने योग्य बात है क्योंकि अग्नि ब्रह्म है इसीलिए ब्राह्मण है । साथ ही क्योंकि वह भरत है इसीलिए भारत है। इससे पता लगता है कि वैदिक वाङ्मय में अपत्य प्रत्यय स्वार्थ में होता है । इससे यह सूक्ष्म ध्वनि निकलती है कि वेद की सम्मति में कोई किसी का अपत्य तब तक ही है जब तक वह उस शब्द के अर्थ को पूरा करे । मनुष्य, मनुष्य तब तक ही है जब तक वह मनन का पुत्र है । यदि वह मनन नहीं करता तो देहधारी होकर भी मनुष्य नहीं । ब्राह्मण ब्रह्म का पुत्र है । माता-पिता का नहीं । जब तक उसमें ब्रह्म अर्थात् विद्या है तब तक ही वह ब्राह्मण है । इसी प्रकार अन्यत्र भी अपत्य प्रत्यय के सम्बन्ध में जानना । २ ।

"अब यजमान के प्रवर सुनाकर उसका वरण करता है इसका भाव यह है कि होता और यजमान को यज्ञ में अपने पूर्वजों का भी स्मरण रहे । आज इस यज्ञ में तू याद रख 'तू कश्यप की, अवत्सार की, निध्रुव की सन्तान है । इसीलिए यजमान के आर्षेय अर्थात् गोत्र प्रवरादि को उच्चारण करता है । सो यह उसे ऋषियों और देवों को अर्पण करता है । यह महा शक्तिशाली है जो यज्ञ तक पहुँचा है । यह कश्यप अवत्सार और निध्रुव जैसे महापुरुषों का वंशज है । इसीलिए आर्षेय वरण की विधि की जाती है ।"

आर्षेय अर्थात् प्रवर का तात्पर्य है कि जिस कुल में जो श्रेष्ठ ऋषि माने गए हैं उनका स्मरण दिलाने से कार्य में और अधिक उत्साह होता है ।३।

"इस प्रवरनामावली में जो पुराना है उसका नाम पहले, फिर उससे अर्वाचीन फिर उससे अर्वाचीन का नाम लेवे । क्योंकि पूर्वज से अनुजात की ओर आना यही संतान के उत्पन्न होने के क्रम हैं । जो जिससे बड़ा है उसके सामने छोटे को नम्र करता है । सब से पहले पिता का नाम आता है, फिर उसके पुत्र का, फिर पौत्र का । इसलिए पहले से पिछले की ओर आते हुए वरण करता है ।४।

वह (होता) प्रवरों का उच्चारण करके कहता है—"**देवेद्धो मन्विद्धः** ।" पहले भी देव इस अग्नि का इन्धन कर चुके हैं । इसलिए कहा "**देवेद्धः**" मनु अर्थात् मन में ही संकल्पाग्नि का इन्धन होता है । इसलिए कहा, "**मन्विद्धः**" (मनु० देखो पृ० ।५६।

अगला विशेषण है "**ऋषिष्टुतः**" इस संकल्पाग्नि की स्तुति ऋषि सदा करते चले आए हैं । इसलिए कहा ऋषिष्टुतः ।५। **विप्रानुमदितः** ।" यही तो मेधावी है । जो ऊपर ऋषि कहे गए हैं वे इसे देखकर प्रफुल्लित हो उठते हैं कि देखो इस कुल में यह संकल्प परम्परा अविच्छिन्न रूप से आ रही है । इसीलिए कहा "**विप्रानुमदितः**" ।७। आगे कहा "**कविशस्तः**" सो कवि भी यही ऊपर कहे ऋषि लोग हैं । वे क्योंकि इसकी प्रशंसा करते हैं इसलिए कहा, "**कविशस्तः**" ।८। आगे कहते हैं, '**ब्रह्म सꣳशितः**" क्योंकि यह ब्राह्मणों का पैना किया हुआ है । आगे कहते हैं "**घृतवाहनः**" सो समान संकल्प ही लोगों में परस्पर स्नेह उत्पन्न करता है, इसलिए कहा घृतवाहनः ।९। आगे कहा "**प्रणीर्यज्ञानाꣳरथीरध्वराणाम्** ।" उसे इसी संकल्पाग्नि के द्वारा ही पाक यज्ञ तथा अन्य यज्ञ पूरे होते हैं, इसलिए कहा "प्रणीर्यज्ञानाम्" ।१०। आगे शब्द है "**रथीरध्वराणाम्**"

सो यह यज्ञ को रथ बना देवों तक पहुँचाता है, इसलिए कहा "रथीरध्वराणाम्" ।११।
आगे शब्द हैं "अतूर्त्तो होता तूर्णिर्हव्यवाट् ।" इसका अर्थ है कि यदि संकल्प रहेगा तो एक होता के मरने पर दूसरा उसके स्थान में हो जायगा। इसलिए यह अमर होता है। इसका कोई राक्षस पार नहीं पा सकते। यह सब दुष्टों का पार पा जाता है इसलिए तरणशील होने से कहा "तूर्णिर्हव्यवाट्" ।१२। आस्पात्रं जुहूर्देवानाम् ।" यह देवों का मुख रूप पात्र है। क्योंकि अग्नि ही देवों का पात्र है। इसीलिए सब देवों के लिए इसी में हवन किया जाता है। यही तो देवपात्र है। जो इस रहस्य को इस प्रकार जानता है वह जिसको पात्र पहुँचाना चाहता है उसे पात्र प्राप्त हो जाता है।१३। आगे कहा "चमसो देवपानः ।" सो इसे ही चमस (चमचा) बनाकर देव लोग भोजन करते हैं। इसलिए कहा चमसो देवपानः ।१४। आगे कहते हैं "अरां २॥ इवाग्ने नेमिर्देवांस्त्वं परिभूरसि" सो जैसे अरों के लिए नाभि सबसे बड़ा है इसी प्रकार वह केन्द्र होकर सब देवों पर अपनी शक्ति विस्तार करता है। अतः इसीलिए परिभूरसि कहा।१५। आगे कहते हैं "आ वह देवान्यजमानाय" सो इस यजमान को यज्ञ ढोकर लाकर देने के लिए कहता है। आगे कहता है "अग्निम् अग्ने आवह" सो आग्नेय आज्य भाग के लिए अग्नि लाने के लिए कहता है। आगे कहता है "सोममावह" सौम्य आज्य भाग के लिए सोम को लाने के लिए कहता है। उसके पीछे फिर अग्निमावह कहा सो यह केवल अग्नि के लिए जो पुरोडाश भाग रक्खा जाता है उसके लिए कहता है।१६।

अब आगे के देवों का प्रत्येक नाम पूर्वक वर्णन करते हैं। आगे कहता है देवाँ २॥ आज्यपाँ २॥ आ वह।" सो यह प्रयाजानुयाजों के आवहन के लिए कहता है क्योंकि प्रयाजानुयाज का ही नाम देव आज्यपा है। आगे कहता है—"अग्नि होत्रायावह" सो यहां स्थूल अग्नि को स्थूल हवन के लिए ला, यह कहता है। अपनी महिमा का आवाहन कर। सो यह अपने उत्तरदायित्व और गौरव को समझने को कहा। और वह गौरव बनाने वाली वस्तु वाणी है। इसलिए वाणी को ला यह कहा। फिर कहता है "आ च वह जातवेदः सुयजा च" सो यह उपसंहार वाक्य है। इसका भाव यह है कि वह जो देवता ऊपर यहां कही गई हैं इन्हें सबको ला और अनुष्ठान पूर्वक यज्ञ कर। १७।

यह अनुवाक्या खड़े होकर बोली जाती है। यह याज्या के पीछे बोली जाती है। अतः इसका याज्या से वही सम्बन्ध है जो छत का फर्श से अथवा द्यौः का पृथिवी से है। सो जिस प्रकार द्यौः ऊँची है सो उसी प्रकार खड़ा होकर (याज्या से ऊँचा होकर) अनुवचन करता है। १८। याज्या का यजन बैठकर करता है—क्योंकि याज्या "इयम्" अर्थात् यह पृथिवी है "असौ" वह अर्थात् द्यौः नहीं। इसलिए कोई याज्या को खड़े होकर नहीं बोलता। याज्या यह पृथिवी ही है इसीलिए याज्या को बैठकर हवन करता है। तात्पर्य यह कि याज्या के भाव पर ही अनुवाक्या की इमारत खड़ी है। याज्या में असली क्रिया बताई जाती है अनुवाक्या में उसका विस्तार तथा उत्कर्ष साधन बताए जाते हैं। १९।

यह सारा प्रकरण समझने के लिए यहाँ एक अलंकार को समझना आवश्यक है। कई बार अपने आपको उपदेश तथा उत्साह देने के लिए अपने आप को भी पर पुरुष की तरह पुकारा जाता है। जैसे "रामो द्विर्नाभिभाषते" यहाँ राम अपने आप

को स्वयं "मैं" न कहकर नाम से पुकार रहे हैं। इसी प्रकार उत्तररामचरित में देखिए—

रे हस्त ! दक्षिण ! मृतस्य शिशोर्द्विजस्य जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम् ।
रामस्य बाहुरसिनिर्भरगर्भ खिन्न सीताविवासनपटो करुणा कुतस्ते ।।

यहां राम स्वयं अपने बाहु को **"रामस्य बाहुरसि"** कहकर सम्बोधन कर रहे हैं। ठीक इसी प्रकार सामिधेनियों में जिस अग्नि का वर्णन किया वह होता ही है, और कोई नहीं। किन्तु होता अपने आपको उपदेश देने के लिए कह रहा है, हे अग्ने हे ब्राह्मण तू इस प्रकार कर। क्योंकि होता के हृदय में जलने वाली यजमान की अभिलाषा को पूर्ण करने वाली अग्नि वास्तव में होता से भिन्न कुछ नहीं, किन्तु फिर भी उसे भिन्न की तरह सम्बोधन करके होता कहता है **"अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारत"** इत्यादि, अर्थात् हे मेरे अपने आप आज तू इस उच्च आसन पर बैठा है, समझ, सब ऋषि तेरी स्तुति कर रहे हैं, मेधावियों की आँखें तुझ पर लगी हैं, कितना महान् तेरा पद है, जरा इस के गौरव को समझ और यजमान के लिए देवों को लाकर दे। अर्थात् वह दिव्य गुण इस यजमान में उत्पन्न कर। जहाँ मानसिक अग्नि अपेक्षित है मानसिक अग्नि लाकर दे, जहाँ भौतिक अग्नि अपेक्षित है भौतिक अग्नि लाकर दे। इसी प्रकार अन्य देवताओं के सम्बन्ध में समझना।

।। इति चतुर्थाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ।।

अब आगे सामिधेनियों में कौनसा मंत्र ब्राह्मण के किस अंग की महिमा का वर्णन करता है, यह अगली कण्डिकाओं में बताते हैं। पाठकों ने शृंगार रस के काव्यों में अनेक नायिकाओं के नखशिख वर्णन पढ़े होंगे परन्तु यह ब्राह्मण का नखशिख अपने ढंग का एक ही है। हम पिछली कण्डिकाओं की व्याख्या में सामिधेनियों का वर्णन करते हुए यह बता आए हैं कि इसमें आदर्श होता (Expert) का वर्णन किया गया है। सो हमारी उस स्थापना को यहाँ स्पष्ट शतपथकार स्वयं प्रमाणों से पुष्ट कर रहे हैं। सो उनके ही शब्दों में सुनिए—

जो अग्नि सामिधेनियों से प्रदीप्त किया जाता है वह दूसरे अग्नि की अपेक्षा अत्यन्त प्रताप वाला होता है। उसे कोई धर्षण नहीं कर सकता। धर्षण करना तो एक ओर कोई अवमर्शन अर्थात् अपमान पूर्वक स्पर्श भी नहीं कर सकता ।।१।। सो जिस प्रकार सामिधेनियों द्वारा प्रदीप्त किया अग्नि दूसरे अग्नि की अपेक्षा अधिक प्रतापी होता है इसी प्रकार इन सामिधेनियों द्वारा समिद्ध विद्या का अनुवचन करने वाला ब्राह्मण प्रतापी होता है। उसे भी कोई धर्षण वा अवमर्शन नहीं कर सकता ।।२।। सो वह अनुवचन 'प्र' द्वारा आरम्भ होता है। सो इस सामिधेनी में यह बताया गया है कि ब्राह्मण को प्रगतिशील तथा परीक्षा से न घबड़ाने वाला उलटा सदा पड़ताल को निमन्त्रण देने वाला होना चाहिए। और जिस विभाग का वह होता (Expert) हो उसकी दृष्टि से हर एक पदार्थ को पालतू जानवर की भाँति उपयोगी (हविष्मान्) बनाने में सदा तत्पर रहना चाहिए। यह उपयोगितान्वेषण-परायणता उसके प्राण के समान है। दूसरी सामिधेनी में यह बताया कि यजमान का धर्म है कि होता को आदर पूर्वक निमन्त्रण दे और होता का कार्य है कि वह अपने विभाग को "वीतये"

यथेष्ट संचार के योग्य बनावे और इसके लिए सबसे प्रथम अव्यवस्था को दूर करे। सो यह अव्यवस्था को दूर करना अपान के समान है। अपान का अर्थ है न पान अर्थात् जो न पीने योग्य अव्यवस्था है उसका न पीना, बाहर फेंकना इसीलिए इसमें "अग्न आयाहि वीतये" ऐसा कहा गया। तीसरी समिधा में अग्नि को "बृहच्छोचा यविष्ठ्य" कहा गया। सो यह उदान के गुण हैं। इसके द्वारा ब्राह्मण के उदान का समिन्धन करता है। तात्पर्य यह कि उदान के समान ब्राह्मण का गुण है पदार्थों के नये-नये जोड़ द्वारा नये परीक्षण करना। इसके बिना उत्+नति=उन्नति नहीं हो सकती। इसीलिए इसका नाम उत्+आन है। सो इस सामिधेनी द्वारा उदान को दीप्त करता है ॥३॥ चौथी सामिधेनी में कहा है "स नः पृथु श्रवाय्यम्" सो यह ब्राह्मण के श्रोत्रों का गुण बताता है। होता का धर्म है कि अपने विभाग को "श्रवाय्य" सुविश्रुत विख्यात बनाए। यह तब ही हो सकता है जब वह अपने कान खुले रक्खे। उसे खूब सहनशील होना चाहिए। सुनने की आदत होनी चाहिए। सुने झुंझलाए नहीं। उपदेश सुने अभिमान न करे। निन्दा सुने उसे परखे। जो अपयश सुनने से नहीं घबड़ाता वही अपने विभाग को यशस्वी बना सकता है। सो इस प्रकार ब्राह्मण के श्रोत्र कैसे होने चाहिएँ सो बताया ॥४॥ अगली सामिधेनी "ईडेन्यो नमस्यः" इस प्रकार आरम्भ होती है। सो इसमें ब्राह्मण की वाणी कैसी होनी चाहिए यह बताया है। सो इसका भाव यह है कि वह इतना मधुरभाषी होना चाहिए कि सब उसे नमस्कार करें। किन्तु साथ ही अन्धकार का दूर करने वाला होना चाहिए। ऐसा न हो कि नमस्कार के लोभ में अन्धकार ही फैलाने लगे। उसकी मूर्ति वेशभूषादि दर्शनीय हों। और ज्ञानवर्षा उसका निष्काम स्वभाव हो ॥५॥ अगली सामिधेनी "अश्वो न देववाहनः" इस प्रकार आरम्भ होती है। इसमें ब्राह्मण का मन तीव्रगामी और ज्ञान के लिए उत्तम वाहन के सदृश हो यह बताया गया है। अर्थात् उसके मन पर सदा कोई न कोई देव(दिव्यतत्त्व)सवार रहना चाहिए।।६।।यह अगली सामिधेनी "अग्ने दीद्यतं बृहत्" इस प्रकार आरम्भ होती है। इसमें विद्वान् होता के नेत्र कैसे होने चाहियें यह बताया है।सो कहा कि दीद्यतं बृहत् अर्थात् देदीप्यमान और बहुदर्शी सो इससे उसके चक्षुओं का समिन्धन करता है ॥७॥ अगली ऋचा यह बताती है कि उस ब्राह्मण का मध्यम प्राण कैसा होना चाहिए। इसलिए इसका आरम्भ इस प्रकार है—"अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।" सो यहाँ यह बताया कि विश्ववेदस अर्थात् समय पड़ने पर ज्ञान की वृद्धि के लिए अपने सर्वस्व की बाजी लगाने के लिए तैयार रहना ब्राह्मण का मध्यम प्राण है। इस सामिधेनी द्वारा ब्राह्मण के मध्यम प्राण का समिन्धन करता है। सो यह प्राणों की मध्य रेखा है। इससे ऊपर ऊर्ध्वगामी प्राण हैं। इससे नीचे अधोगामी प्राण हैं। इनके बीच में अन्तःस्था अर्थात् मध्य रेखा रहती है। जो इस सामिधेनीगत प्राणविद्या के मर्म को जानता है उसे भी लोग मध्य रेखा के समान मुख्यता देते हैं ॥८॥ अगली सामिधेनी में ब्राह्मण का उपस्थेन्द्रिय किस प्रकार का होना चाहिए यह बताते हैं। यहाँ वाक्य पढ़ते हैं "शोचिष्केशस्तमीमहे।" सो शोचिष्केश नाम उपस्थेन्द्रिय का है। यह उपस्थेन्द्रिय यदि ठीक प्रकार सुरक्षित रहे तो उपस्थेन्द्रिय वाले को बहुत तेजस्वी बना देता है। सो इसके द्वारा यही कहा कि होता का उपस्थेन्द्रिय शोचिष्केश हो अर्थात् उसके उपस्थेन्द्रिय के केश सदा शुचि रहे हों, कभी वीर्य स्खलन द्वारा अशुचि न हुए हों इस प्रकार होता के शिश्न को प्रदीप्त करता है ॥९॥ अब अगली सामिधेनी में अधोगामी प्राण का वर्णन है। सो इसका भाव यह है कि समिन्धन की सारी विधि कर लेने के पश्चात् होता को

एक अन्तिम दृष्टिपात (Finishing servay) करके देख लेना चाहिए कि देवों को हव्य पहुँच भी रहा है कि नहीं। कहीं मल तो नहीं पहुँच रहा, हव्य ही पहुँच रहा है। बस स्वास्थ्य में अधोगामी प्राण का यही कार्य है। पूर्ण स्वस्थ मनुष्य भी यदि उसका मल विसर्जन ठीक न हो तो यह अनुभव करता है कि सब किया कराया गज-स्नान की तरह धूलि में मिल गया। इसलिए सन्तोष तब ही लेना चाहिए जब समिध्यमान से समिद्ध तक पहुँच जावें। जब हवि देवों तक पहुँच जावे। इसी "आफलोदयकर्मता" को आगे चलकर वषट्कार भी कहेंगे। इस एक छोटी-सी क्रिया द्वारा लोम-नखादि तक सम्पूर्ण शरीर को समिन्धन करता है ॥१०॥

अब अगली कण्डिकाओं की व्याख्या से पहले एक आवश्यक शब्द पर विचार करेंगे। वह शब्द अनुव्याहरेत् है इसका अर्थ सायण ने शपेत् किया है और इसमें जादू टोना ला घुसेड़ा है। अर्थात् यदि कोई प्रथम सामिधेनी के समय अभिचार द्वारा होता को शाप दे तो होता उसे उसी पर उलट दे और कहे किसने अपना प्राण अग्नि में झोंक दिया, कि तेरे प्राणों पर विपत्ति आएगी, और ऐसा ही हो जाता है। यहाँ "अनुव्या-हरेत्" का अर्थ शपेत् क्योंकर हुआ कुछ समझ नहीं आता। फिर अभिचार और शत्रु का तो यहाँ गन्ध भी नहीं। न जाने वह सायण ने कहां से ला घुसेड़ा। सायण ने **'अनुव्याहरेत्'** का अर्थ शपेत् धूर्त्त स्वामी नाम भाष्यकार से लिया है। सो धूर्त्त स्वामी भी यहाँ चूक गए हैं। व्याहरण का अर्थ है बोलना। **'अनुव्याहरण'** यहाँ निन्दा के अर्थ में आया है। क्योंकि उसका फल अनिष्ट बताया गया है। अतः **"अनुव्याहरण"** का अर्थ हुआ बीच में बोल पड़ना, अथवा बाधा डालना। तात्पर्य यह कि यजमान यदि होता को चुनने के पीछे अभिमान वश पग-पगपर चञ्चुपात करेगा तो जिस प्रक्रिया में चूँ चूँ करेगा उसी उसी अंग को बिगाड़ लेगा। अतः होता का चुनाव पूर्ण सावधानी से करना चाहिए। किन्तु होता का चुनाव हो जाने पर उसे पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिए। उसे ब्रह्मा ही रोक सकता है यजमान नहीं ; यही बात अगली कण्डिकाओं में कही गई है।

सो वह यजमान यदि इस होता को पहली सामिधेनी में टोक दे तो उसे कहे कि तूने अपने संकल्प का प्राण अग्नि में झोंक दिया है। तुझे अपने प्राणों द्वारा विपत्ति झेलनी पड़ेगी। और ऐसा ही होता है अर्थात् उसके विभाग का प्राण निकल जाता है। यदि द्वितीय सामिधेनी में अड़ पड़े तो उसे कहे कि तूने अपान को आग में झोंक दिया है, सो अपने अपान द्वारा तुझे विपत्ति झेलनी पड़ेगी और वैसा ही होगा ॥१२॥ यदि तृतीय में अड़ पड़े तो उससे उदान के सम्बन्ध में इसी प्रकार कहे ॥१३॥ यदि चौथी में अड़ पड़े तो कहे कि तूने अपने श्रोत्र को आग में डाल दिया है। तू अपने श्रोत्र द्वारा विपत्ति पायेगा, बहिरा हो जायगा, और वैसा ही होता है। उसे उसके काम के सम्बन्ध में क्या होना है कुछ ठीक पता नहीं लगता ॥१४॥ यदि पाँचवीं सामिधेनी में अड़ पड़े तो उससे कहे कि तूने अपनी वाणी को आग में झोंक दिया है तुझे अपनी वाणी द्वारा विपत्ति पड़ेगी तू गूँगा हो जायगा और वैसा ही होता है ॥१५॥ यदि छठी सामिधेनी के समय अड़ पड़े तो उससे कहे कि तूने अपना मन आग में झोंक दिया है। सो अपने मन द्वारा तुझे विपत्ति झेलनी पड़ेगी। मानसिक रोग का पकड़ा हुआ बिलकुल मूढ़ होकर विचरेगा। और वैसा ही होता है ॥१६॥ यदि सातवीं सामिधेनी पर अड़ पड़े तो उससे कहे कि तूने अपनी आँख आग में झोंक दी है सो तू आँख द्वारा विपत्ति

पाएगा और ऐसा ही होता है ।।१७।। यदि आठवीं सामिधेनी में अड़ पड़े तो कहे तूने अपना मध्यम प्राण आग में झोंक दिया है । सो अफारे और श्वास रोग से अर्थात् प्रति-लोम वात से मरेगा और वैसा ही होता है ।।१८।। यदि नवीं सामिधेनी में अड़ पड़े तो कहे कि तूने अपने उपस्थेन्द्रिय को आग में झोंक दिया है । सो तू उपस्थेन्द्रिय से विपत्ति पाएगा । तू नपुंसक हो जावेगा । और वैसा ही होता है ।।१९।। यदि दसवीं सामिधेनी में अड़ पड़े तो उससे कहे कि तूने अधोगामी प्राण को आग में झोंक दिया है । सो तू अधोगामी प्राण से अपने पर विपत्ति लेगा । मलावरोध द्वारा दम घुट कर मरेगा । और वैसा ही होता है ।।२०।। यदि ग्यारहवीं सामिधेनी पर अड़ पड़े तो उससे कहे कि तूने सब कुछ बना बनाया आग में झोंक दिया । तेरे सम्पूर्ण शरीर से तुझे विपत्ति उठानी पड़ेगी । शीघ्र ही तू लोकान्तर में चला जायगा और वैसा ही होता है ।।२१।। सो जिस प्रकार सामिधेनी समिन्धन में जिस सामिधेनी का कार्य ठीक न करे उसी सामिधेनी द्वारा अग्नि बिगड़ती है और यजमान का यज्ञ बिगड़ता है, इसी प्रकार सामिधेनी-रहस्यवित् सामिधेनी सर्वांग सम्पन्न ब्राह्मण जब कह रहा है तो उसके सामने अड़कर विपत्ति उठाता है ।।२२।।" यह अन्तिम कण्डिका सारे प्रकरण का रहस्य है । अब इस प्रकरण का सार लिखते हैं—

१. होता को प्रगतिशील तथा पड़ताल से घबड़ाने वाला न होना चाहिए । वह प्राण है ।
२. उसे विभाग को हाथ में लेते ही पहला काम यह करना चाहिए कि सुव्य-वस्था उत्पन्न करे । दुर्व्यवस्था को दूर करे । यह अपान है ।
३. सदा नये-नये परीक्षण करता रहे । यह उदान है ।
४. अपनी निन्दा सुने । दूसरों के उपदेश भी सदा सुने । इसके बिना विभाग यशस्वी नहीं होता । ये होता के कान हैं ।
५. सत्य के प्रकाश करने में किसी से न डरे । किन्तु साथ ही सदा मधुरभाषी तथा मधुर-वेश हो तथा निष्काम भाव से ज्ञान की वर्षा करे, और इस प्रकार सब के नमस्कार का पात्र बने । यह होता की वाणी है ।
६. (क) उसमें तीव्रगामिनी प्रतिभा हो
   (ख) उसकी स्मरणशक्ति तत्क्षणोपस्थायिनी हो ।
   (ग) वह सदा कार्य-तत्पर रहे ।
   इन तीनों गुणों को एक शब्द में इस प्रकार कहा गया है कि होता का मन देवों के लिए घोड़े के समान हो । उसके मन पर सदा देव सवार रहें । यह होता का मन है ।
७. वह तेजस्वी और दूरदर्शी होना चाहिए । तथा उसे प्रकाश से प्रेम होना चाहिए । सत्य को देखकर पक्षपातवश घबराए नहीं, चौंधियाए नहीं । यह होता का चक्षु है ।
८. समय पड़ने पर उसे ज्ञान-वृद्धि के लिए अपने सर्वस्व तथा प्राण तक की भी बाजी लगा देनी चाहिए । यह होता का मध्यम प्राण है ।
९. उसे पूर्ण जितेन्द्रिय होना चाहिए । उसका वीर्य कभी स्वयं स्खलित न हो यह होता का उपस्थेन्द्रिय है ।

१०. उसे अन्त में देखना चाहिए कि जिस उद्देश्य के लिए चले थे वह पूर्ण हुआ वा नहीं। यदि नहीं तो जिन कारणों से रुका हो उन्हें दूर करना चाहिए। सफलता, पूर्ण सफलता तक पहुँचे बिना नया कार्य हाथ में लेना ऐसा है जैसे शौच न जाना और खाए जाना। सो यह पूर्णता तक पहुँचने का अध्यवसाय होता का अघोमुख प्राण है।

ऐसे होता के काम में जिस अंग पर यजमान अड़ेगा वही पूर्ण न होगा। और यदि पूर्ण होने पर कृतघ्नतावश उसको स्वीकार न करेगा तो यजमान की सर्वांग हानि होगी और यह शोषन (Exploitation) उसे समूचा नष्ट कर देगा।

॥ इति चतुर्थाध्याये तृतियं ब्राह्मणम् ॥

अथ चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्

इस प्रकार सामिधेनियों का वर्णन करके अब आघारों की ओर आते हैं। आघार सम्बन्धी कण्डिकाएँ इस प्रकार हैं—

तं वाऽएतमग्निꣳ समैन्धिषत । समिद्धे देवेभ्यो जुहवामेति तस्मिन्नेतेऽ एव प्रथमेऽआहुती जुहोति मनसे चैव वाचे च मनश्च हैव वाक् च युजौ देवेभ्यो यज्ञं वहतः ॥१॥ स यदुपाꣳशु क्रियते । तन्मनो देवेभ्यो यज्ञं वहत्यथ यद्वाचा निरुक्तं क्रियते तद्वाग्देवेभ्यो यज्ञं वहत्येतद्वाऽइदं द्वयं क्रियते तदेतेऽएवैतत्सन्तर्पयति तृप्ते प्रीते देवेभ्यो यज्ञं वहात इति ॥२॥ स्रुवेण तमाघारयति । यं मनसऽआघारयति वृषा हि मनो वृषा हि स्रुवः ॥३॥ स्रुचा तमाघारयति । यं वाचऽआघारयति योषा हि वाग्योषा हि स्रुक ॥४॥ तूष्णीं तमाघारयति । यं मनस आघारयति न स्वाहेति चनानिरुक्तꣳ हि मनोऽनिरुक्तꣳ ह्येतद्यत्तूष्णीम् ॥५॥ मन्त्रेण तमाघारयति । यं वाचऽआघारयति निरुक्ता हि वाङ्निरुक्तो हि मन्त्रः ॥६॥ आसीनस्तमाघारयति । यं मनसऽआघारयति तिष्ठंस्तं यं वाचे मनश्च ह वै वाक् च युजौ देवेभ्यो यज्ञं वहतो यतरो वै युजोर्ह्रसीयान्भवत्युपवहं वै तस्मै कुर्व्वन्ति वाग्वै मनसो ह्रसीयस्यपरिमिततरमिव हि मनः परिमिततरेव हि वाक्तद्वाचऽएवैतदुपवहं करोति ते सयुजौ देवेभ्यो यज्ञं वहतस्तस्मात्तिष्ठन्वाचऽआघारयति ॥७॥ देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुस्तऽएतद् दक्षिणतः प्रत्युदश्रयन्नुच्छ्रितमिव हि वीर्यं तस्माद्दक्षिणतस्तिष्ठन्नाघारयति स यदुभयत आघारयति तस्मादिदं मनश्च वाक् च समानमेव सन्नानेव शिरो ह वै यज्ञस्यैतयोरन्यतर आघारयोर्मूलमन्यतरः ॥८॥ स्रुवेण तमाघारयति । यो मूलं यज्ञस्य स्रुचा तमाघारयति यः शिरो यज्ञस्य । ९॥ तूष्णीं तमाघारयति । यो मूलं यज्ञस्य तूष्णीमिव हीदं मूलं नो ह्यत्र वाग्वदति ॥१०॥ मन्त्रेण तमाघारयति । यः शिरो यज्ञस्य वागधि मन्त्रः शीर्ष्णो हीयमधि वाग्वदति ॥११॥ आसीनस्तमाघारयति । यो मूलं यज्ञस्य निषण्णमिव हीदं मूलं तिष्ठंस्तमाघारयति यः शिरो यज्ञस्य तिष्ठतीव हीदꣳ शिरः ॥१२॥ स स्रुवेण पूर्वमाघारमाघार्याह । अग्निमग्नीत्सम्मृड्ढीति यथा धुरमध्यूहेदेवं तद्यत् पूर्वमाघारमाघारयत्यध्यूह्य हि धुरं युञ्जन्ति ॥१३॥ अथ सम्मार्ष्टि । युनक्तयेवनमेतद्युक्तो देवेभ्यो यज्ञं वहादिति तस्मात्सम्मार्ष्टि परिक्रामꣳ हि योग्यं युञ्जन्ति त्रिस्त्रिः सम्मार्ष्टि त्रिवृद्धि यज्ञः ॥१४॥ स सम्मार्ष्टि । "अग्ने वाजजिद्वाज त्वा सरिष्यन्तं त्वा वाजजितꣳ सम्मार्ज्मीं" (यजुः २।७) ति यज्ञं त्वा वक्ष्यन्तं यज्ञियꣳ सम्मार्ज्मीत्येवैतदाहाथोपरिष्टात्तूष्णीं त्रिस्तद्यथा युक्त्वा प्राजेत्प्रेहि वहेत्येवमेवैतत्कशयोपक्षिपति प्रेहि देवेभ्यो यज्ञं वहेति तस्मादुपरिष्टात्तूष्णीं त्रिस्तद्यदेतदन्तरेण कर्म क्रियते तस्मादिदं मनश्च वाक्च समानमेव सन्नानेव ॥१५॥

इति चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्

पुरोडाश पाक द्वारा एक बालक के मस्तिष्क का परिपाक बताया गया। उसके स्नातक बनने की अवस्था बताई गई। हम उसे एकत, द्वित और त्रित देवताओं के पास छोड़ आए थे कि वे उसे राष्ट्र में यथायोग्य स्थान पर पहुँचा दें। उसके पश्चात् वेदि ने स्नातिका का वर्णन किया। फिर वही वेदि कर्त्तव्यशाला का रूप धारण करके आई। उसके पश्चात् कर्त्तव्यशाला में सामिधेनी मिष से होता (Expert) ने प्रवेश किया। अब पुरोडाश अर्थात् नवीन स्नातक इस कार्य में नियुक्त होने अर्थात् इस यज्ञशाला में आहुति होने आ रहा है। अध्वर्यु, यजमान, होता (प्रबन्धकर्त्ता, स्वामी विशेषज्ञ) आदि मिलकर संस्थान-(बजट), कार्यक्रमादि बनाकर उसके लिए तैयार रक्खें। सो उसके आने से पूर्व क्या तैयारी रखनी होगी जिससे वह निर्दिष्ट मार्ग पर अक्षुण्ण रूप से चलता रहे यह आघार-क्रिया में बताया गया है। इसके दो भाग हैं। पूर्वाघार और उत्तराघार। पूर्वाघार मानस क्रिया है और उत्तराघार वाचिक। सो पूर्वाघार का तात्पर्य यह है कि पहले होता आदि अपने अपने मन में निश्चय कर लें कि कार्यक्रम क्या होगा और वह तैयार करके ले आवें। फिर आपस में बातचीत करके निश्चय कर लें कि वह क्या रहना चाहिए। यह परस्पर संवाद से निश्चित विवादोत्पन्न रूप वाचिक होने के कारण उत्तराघार और पहला मानसरूप पूर्वाघार कहलाएगा। होता की सामिधेनियों में मानो अब घृत पड़ गया। अब हविर्ग्रहण के लिए वेदि तैयार है। कार्यक्रम निश्चय हो गया। अब नये कार्यकर्त्ता के लिए क्षेत्र तैयार है। अब आहुति निर्धूम जलेगी। कार्य निर्विघ्न विना अ-पात -होगा बस यही बात आघारकर्म में बताई गई है। आघार शब्द घृ धातु से बना है जिसका अर्थ है "आसमन्तात् धारणम्" अर्थात् धार बांधकर अग्नि में खूब घी डालना। अब कण्डिकाओं का अर्थ सुनिये—

"सो यज्ञकर्त्ताओं ने इस अग्नि को प्रदीप्त किया। जिससे कि जब यह प्रदीप्त हो जाय तब इसमें हवन करें। सो इसमें सबसे प्रथम यह दो आहुतियें हवन करता है। एक मन के लिए एक वाणी के लिए। मन और वाणी ये दोनों देवताओं तक यज्ञ को ढोकर ले जाने वाले वाहनों की जोड़ी है। ये यज्ञ को देवों तक ले जाते हैं॥१॥ सो जो कर्म उपांशु अर्थात् चुपचाप किया जाता है (उपांशु उस कर्म को कहते हैं जिसमें ओष्ठ चलें किन्तु आवाज किसी दूसरे को सुनाई न दे) वह मानो मन यज्ञ को देवों तक पहुँचा रहा है जो वाणी से बोलकर किया जाता है वह वाणी यज्ञ को देवों तक पहुँचाती है। सो वहाँ ये दोनों कर्म किये जाते हैं। सो यह इन दोनों को तृप्त करता है। जिससे तृप्त हो कर यह दोनों यज्ञ को देवों की ओर ढोते हैं॥२॥ जो मन के लिए आघार किया जाता है उस आघार को स्रुव से करता है। क्योंकि मन नर है स्रुवा भी नर है।

(खादिरः स्रुवः अरत्निमात्रोऽङ्गुष्ठपर्ववृत्र पुष्करः।
का० श्रौ० सू० १। ३। ३२। ३८।

जो आघार वाणी के लिए किया जाता है उसे स्रुचा के द्वारा करता है। क्योंकि वाणी नारी है और स्रुचा भी नारी है॥४॥ जो मन के लिए आघार किया जाता है उसे चुपचाप करता है। स्वाहा शब्द तक नहीं बोलता। क्योंकि मन अस्फुट है, चुपचाप भी अस्फुट है॥५॥ जो आघार वाणी के द्योतन के लिए किया जाता है। उसे मन्त्रोच्चारण पूर्वक करता है। वाणी स्फुट है मन्त्र भी स्फुट है॥६॥ जो आघार मन के लिए किया जाता है उसे बैठकर करता है। जो वाणी के लिए किया जाता है

उसे खड़े-खड़े करता है। इसका कारण यह है कि मन और वाणी एक ही गाड़ी में जुतने वाले दो वाहन हैं। दोनों इकट्ठे यज्ञ को देवों तक पहुंचाते हैं। दो एक साथ जुतने वालों में से जो वाहन ऊँचाई में कुछ छोटा होता है उसके लिए कपड़े की गद्दी आदि से सहारा किया जाता है (जिसे उपवह कहते हैं)। वाणी मन से छोटी है। मन अपरिमिततर-सा है। वाणी उसकी अपेक्षा नपी तुली-सी है। इसलिए खड़ा होना वाणी के लिए उपवह करना है। तब वह एक साथ जुतकर यज्ञ को देवों तक पहुँचाते हैं। इसीलिए वाणी के लिए आघार खड़े होकर करता है ॥७॥ देव लोग यह यज्ञ करते थे। उन्हें भय हुआ कि असुर राक्षस हम में न मिल जावें। सो वे दक्षिण की ओर ऊंचे से चढ़ गए। जो वीर्यवान् होता है वह ऊँचा-सा होता है। इसलिए दक्षिण की ओर खड़ा होकर आघार करता है। सो एक आघार उत्तर की ओर और एक दक्षिण की ओर। यह जो दोनों ओर आघार करता है इसका भाव यह है कि मन वाणी वस्तुतः एक ही होकर पृथक् से हैं। क्योंकि वाणी वही तो बोलती है जो मन सोचता है। इन आघारों में एक यज्ञ का मूल है और शिर है ॥८॥ जो यज्ञ का मूल है उसे स्रुव से आघारण करता है जो शिर है उसे स्रुचा से ॥९॥ जो यज्ञ का मूल है उसे चुपचाप आघारण करता है क्योंकि जड़ चुपचाप-सी पड़ी होती है वहाँ कोई वाणी नहीं बोलती ॥१०॥ जो शिर है उसका आघारण मन्त्र पूर्वक करता है। मन्त्र वाणी है। और वाणी शिर से प्रकट होती है ॥११॥ जो यज्ञ का मूल है उसे बैठकर आघारण करता है। मूल बैठा सा रहता है। जो शिर है उसे खड़े होकर करता है। शिर खड़ा सा है ॥१२॥ सो स्रुव से पूर्वाघार का आघारण करके आज्ञा देता है **अग्निमग्नीत् सम्मृड्ढि'** (अध्वर्यु यह आज्ञा देता है)। सो यह जो पूर्वाघार करता है यह मानो इस प्रकार है जैसे बैल जोतने से पूर्व गाड़ी का जूआ ऊपर उठाए। जूआ उठा कर ही तो वाहन जोते जाते हैं ॥१३॥ उसके पश्चात् सम्मार्जन करता है। सो यह इस प्रकार है मानो जोतता है। जुते हुए यज्ञ को देवों तक पहुँचाए इसीलिए सम्मार्जन करता है परिधि प्रदेश के समीप जाकर सम्मार्जन करता है। वाहन को भी इसी प्रकार जिस ओर के जुए में जोतना होता है उसकी ओर आगे बढ़कर ही जोता जाता है। तीन-तीन बार सम्मार्जन करता है। यज्ञ है ही तीन लड़ा ॥१४॥ सो वह सम्मार्जन के समय मन्त्र पढ़ता है—**"अग्ने वाजजिद् वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजित ँ सम्मार्ज्मि"** (यजु० २।७) इसका अर्थ यही है कि तू अब यज्ञ को ढोना चाहता है, तू यज्ञोपयोगी है, तुझे सम्मार्जन करता हूँ यही कहता है। फिर तीन वार चुपचाप जो मन्त्र मन में बोलता है वह इस प्रकार है जिस प्रकार बैल को जोत कर हांके, रे चल-चल ढो। इसी प्रकार यहाँ चाबुक मारता है—आगे बढ़, यज्ञ को देवों तक ले जा। इसलिए पीछे चुपचाप तीन वार सम्मार्जन करता है। सो यहाँ जो सारी क्रिया की जाती है इसी से पता चलता है मन और वाणी पृथक् से हैं, पर वस्तुतः एक ही हैं ॥१५॥"

इन कण्डिकाओं को समझने के लिए पहले पूर्वाघार और उत्तराघार की विधि समझ लेनी चाहिए। जिस समय होता **"अग्ने महाँ २॥ असि ब्राह्मण भारत"** इस वाक्य के साथ सामिधेनियों का उपसंहार करे। उस समय अध्वर्यु वेद नामक कुशग्रन्थि से आहवनीय को तीन बार, उपवाजन करके (जिस प्रकार पंखे से सुलगाते हैं इस प्रकार सुलगा कर), वेद ग्रहण किये हुए स्रुव द्वारा घृत गर्म करके, उत्तर परिधि के समीप जाकर, प्रजापति का ध्यान करते हुए अग्नि के उत्तर भाग में सीधा लम्बा पूर्वगामी

एक आधार करे। तीन बार उपबाजन का भाव यह है कि त्रयीविद्या अर्थात् वेद की आज्ञा से अनुमोदित ही संविधान बनाना चाहिए। उत्तर परिधि प्रजा की सम्मति का सूचक है। तात्पर्य यह कि संविधान तैयार करने में सबसे पहला ध्यान इस बात का होना चाहिए कि इसका प्रभाव प्रजा पर क्या पड़ेगा (देखो पृ० १८२)। आधार ऋजु हो अर्थात् संविधान सरल रेखा के समान कम से कम धन और समय का व्यय करने वाला हो क्योंकि दो बिन्दुओं के बीच सबसे छोटी रेखा सीधी होती है। दीर्घ अर्थात् चिरस्थायी पूर्वगामी अर्थात् उन्नतिमुख होना चाहिए। प्रजापति के ध्यान का भाव यह है कि वह अगली सन्तानों के लिए भी हितकारी हो, तथा यजमान के मुख्य सङ्कल्प के तन्तु को अविच्छिन्न रखने वाला हो, जिसकी रक्षा के लिए प्रजा उत्पन्न करके यजमान प्रजापति कहलाता है। ऐसे समय उसे भगवान् को प्रजापति (Lord of Creative activity) के रूप में ध्यान करना चाहिए। अध्वर्यु जिस समय आहुति कर रहा हो उस समय यजमान **"ओ३म् इदं प्रजापतये इदन्न मम"** कहकर घृत त्याग करे। इसका "प्रजापतये" इतना अंश मन में बोले। उसके पश्चात् अध्वर्यु अग्नीध् को स्फ्य और इध्म बांधने की रस्सी देता हुआ " **"अग्नि अग्नीत् समृड्ढि"** यह आज्ञा दे। उसके पश्चात् स्फ्य को बाएँ हाथ में लेकर अग्नि की प्रदक्षिणा करके अग्नीत् दक्षिण परिधि के समीप खड़ा होकर इंधन की रस्सियों से दक्षिण परिधि के समीपस्थ अग्नि को पूर्व की ओर **"ओ३म् अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजितं सम्मार्ज्मि"** (यजु० २।७) इस मन्त्र से (एक बार बोलकर-दो बार चुपचाप) तीन बार सम्मार्जन करे। फिर वहीं खड़ा रहकर मध्यम परिधि के समीपस्थ अग्नि को उत्तर की ओर तीन पूर्वोक्त प्रकार सम्मार्जन करे फिर उत्तर पार्श्व की ओर जाकर उस परिधि के पासर खड़ा होकर पूर्ववत् अग्नि को पूर्व की ओर सम्मार्जन करे। फिर वहीं खड़ा रह कर अग्नि के मध्य भाग में पूर्व की ओर चुपचाप तीन बार सम्मार्जन करे। सम्मार्जन का तात्पर्य अंगारे इकट्ठे करना, भस्मादि दूर करना है। पूर्व की ओर का तात्पर्य यह कि इकट्ठा करने के लिए पश्चिम अथवा दक्षिण की ओर से पूर्व की ओर हाथ चलाए।

इसका तात्पर्य यह है कि संविधान बनाने से पहले परम्परागत रूढी, राज-नियम तथा प्रजा का हृदय जानने के लिए ताजा प्रयत्न करे। यह नहीं कि अपनी कल्पना से तीनों के विषय में स्वयं परिणाम बना ले। और मध्यम में अग्नि सम्मार्जन का तात्पर्य यह है कि स्वयं भी हर प्रश्न पर नये सिरे से विचारपूर्वक सम्मार्जन बनाए। चलती रेखा पर आँख मूंदकर न चलता जाए। सबका परिणाम हो उन्नति (पूर्व की ओर)।

फिर अध्वर्यु जुहू और उपभृत् के सामने आहवनीय के पीछे भूमि पर उलटी अञ्जलि रखकर **"ओं नमो देवेभ्यः"** (यजु० २।७) यह वाक्य बोले। फिर उस स्थान से दक्षिण की ओर **"ओं स्वधा पितृभ्यः"** (यजु० २।७) यह वाक्य बोलकर उत्तान अर्थात् हथेली ऊपर कर के बाएं हाथ से पूर्वाभिमुख रहकर अञ्जलि रखता है। फिर आचमन करके दोनों हाथों से जुहू पकड़कर उपभृत् की नोक के ऊपर में लाकर उपभृत् के ऊपर रखकर **"सुयमे मे भूयास्तम्** (यजु०(२।७) **अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यं संभ्रियासम्"** (यजु०२।८) इस मन्त्र से जुहू और उपभृत् इकट्ठी लेकर उठकर **ओ३म् अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वाऽवक्रमिषम्** वेदी के उत्तरभाग से आहुति स्थान पर जाकर बाएँ पैर को आगे चलाता हुआ दक्षिण दिशा की ओर जावे। **ओ३म् वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थेषं विष्णोस्थानमसि** इस मन्त्र को पढ़कर फिर वेदी के दक्षिण भाग में ईशानाभिमुख खड़ा रहे।

सर्वत्र यही नियम है कि परिधियों के पीछे की ओर तथा स्रुवों के सामने से आहुतिस्थान की ओर आवें। जुहू को उपभृत् के अग्र भाग के ऊपर से पूर्व की ओर उतार कर दक्षिण परिधि के समीप ले जाकर "ओ३म् इत इन्द्रो वीर्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वर आस्थात् (यजु० २।८) अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यमवतां त्वां द्यावापृथिवी अव त्वं द्यावापृथिवी स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत् स्वाहा" (यजु० २।९) इस मन्त्र से आग्नेय कोण में सरल लम्बा लगातार पूर्वगामी उत्तराघार खड़े-खड़े करे जिसमें प्रयाज घृत का चतुर्थांश हो।

अब यथाक्रम कण्डिकाओं का गूढ़ाभिप्राय कहते हैं—

"किसी विभाग का विशेषज्ञ किस प्रकार उस विभाग का परिष्कार करता है तथा उसके कार्यकर्त्ताओं में जोश भरता है यह सामिधेनी समिन्धन द्वारा वर्णन कर दिया। अब कार्यारम्भ से पहले प्रबन्धकर्त्ता (अध्वर्यु) का कर्तव्य है कि होता के निर्देशानुसार कार्य-विभाग, समय-विभाग, सामग्री-विभाग आदि सब का संविधान तैयार कर के सभा में उपस्थित करे। सो उपस्थित करने से पूर्व जो रूपरेखा वह स्वयं तैयार करता है उसका नाम पूर्वाघार है। और जिसे वह अपने सहयोगियों के साथ विचार पूर्वक तैयार करके अन्तिम निश्चय के लिए सभा के सम्मुख उपस्थित करता है वह उत्तराघार है। पूर्वाघार में विशेष निर्देश उद्देश्यों की ओर है। उत्तराघार में सामग्री की ओर भी पूरा ध्यान दिया गया है। इसलिए उनके बीच में जो क्रिया की गई है उस में उपभृत्, जुहू, (आय व्यय) आदि का वर्णन है। फिर उसका विशेष रूप से ध्यान देकर उत्तराघार तैयार किया जाता है। वर्तमान युग की भाषा में यदि पूर्वाघार को प्रारूप (Draught) और उत्तराघार को बीजक (Bill) कह दें तो लगभग ठीक होगा। होता विशेष रूप से इनके सम्बन्ध में सिद्धान्तों का वर्णन करता है। अध्वर्यु वास्तविक कार्यकर्ता है जो इन्हें तैयार करके उपस्थित करता है। इसलिए पूर्वाघार को मानसिक और उत्तराघार को वाचिक कहा गया है। और इनकी एक गाड़ी में जुतने वाले दो वाहनों से उपमा दी गई है।१। छठी कण्डिका तक स्पष्ट है। ७वीं कण्डिका से यह प्रतीत होता है कि विद्वान् लोग अन्दर जो संविधान से तैयार करते हैं वह बैठकर तैयार किया जाता है। परन्तु सभा में प्रकाशित करते समय बोलने वाले को खड़े होकर बोलना चहिए। इसीलिए कहा "आसीनस्तमाघारयति यं मनसे आघारयति तिष्ठंस्तं यं वाचे"।७। आठवीं कण्डिका से यह प्रतीत होता है कि प्रजा में राजा की ओर से संविधान उपस्थित करने वालों का आसन सभापति के दाहिनी ओर अन्य लोगों से पृथक् कुछ ऊँचा होना चाहिए जिससे गड़बड़, अस्तव्यस्तता, विचार शैथिल्यादि दोषों से बचे रहें।८।

पूर्वाघार स्रुव से, चुपचाप, बैठकर किया जाता है। उत्तराघार, स्रुचा से, बोलकर खड़े होकर किया जाता है। तात्पर्य यह कि पहले जो रूपरेखा तैयार की जाती है, वह चुपचाप एकान्त में मननपूर्वक बैठकर की जाती है। फिर जब सभा में उपस्थित हो तब खोलकर वाणी द्वारा सब को सुनाई जाती है और वाद-विवाद तथा मन्थन-पूर्वक उसका निर्णय होता है इस सभा में लोग खड़े होकर अपना आशय कहते हैं। ९। १०। ११। १२।

पूर्वाघार के पश्चात् उत्तराघार से पहले सम्मार्जन क्रिया है। इसका अर्थ है

कि सभा में विवाद उपस्थित होने से पूर्व रूपरेखा सब के पास पहुँचनी चाहिए और इस ढंग से पहुँचनी चाहिए कि सबका ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हो। होता का धर्म है कि वह लोगों को स्वयं इस बात के लिए प्रेरित करे कि वे उस विषय पर विचार करें जिससे उसे सबकी सम्मति प्राप्त हो सके। यह इस प्रकार है जैसे आगे बढ़कर ज्ञानाग्नि-रूपी बैल को चाबुक मारकर तेज करना। उसके पश्चात् उत्तराधार है। सो यद्यपि बीच में यह छोटा-सा कर्म आ गया है, परन्तु वास्तव में यह दोनों आघार एक ही हैं, भिन्न-रूप से हैं, वास्तव में भिन्न नहीं।

प्रत्येक प्रश्न पर तीन वार लोगों की सम्मति आनी चाहिए, इसीलिए "त्रिः सम्मार्ष्टि" कहा है। १३। १४। १५।

इति चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्।

अथ चतुर्थाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम्

अत्र दोनों आघारों का परस्पर सम्बन्ध कहकर दोनों आघारों के बीच में होने वाली क्रिया तथा उत्तराघार की व्याख्या आरम्भ होती है—

स स्रुचोत्तरमाघारमाघारयिष्यन् । पूर्वेण स्रुचावञ्जलिं निदधाति "नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः" (यजु० २ । ७) इति तद्देवेभ्यश्चैवैतत्पितृभ्यश्चार्त्विज्यं करिष्यन्निह्नुते "सुयमे मे भूयास्तमि" (यजु० २ । ७) ति स्रुचावादत्ते सुभरे मे भूयास्तं भर्त्तुं वाᳬ शकेयमित्येवैतदाहा "स्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यᳬ सम्भ्रियासमि" (यजु० २ । ८) त्यविस्कन्धमद्य देवेभ्यो यज्ञं तनवा इत्येवैतदाह ॥१॥ "अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषमि" (यजु० २ । ८) ति । यज्ञो वै विष्णुस्तस्माऽएवैतन्निह्नुते मा त्वावक्रमिषमिति "वसुमतीमग्ने ते छायामुपस्थेषमि" (यजु० २ । ८) ति साध्वीमग्ने ते छायामुपस्थेषमित्येवैतदाह ॥२॥ "विष्णोः स्थानमसी" (यजु० २ । ८) ति । यज्ञो वै विष्णुस्तस्यैव ह्येतदन्तिकं तिष्ठति तस्मादाह विष्णोः स्थानमसीती "त इन्द्रो वीर्यमकृणोदि" (यजु० २ । ८) त्यतो हीन्द्रस्तिष्ठन्दक्षिणतो नाष्ट्रा रक्षाᳬस्यपाहंस्तस्मादाहेत इन्द्रो वीर्यमकृणोदि "त्यूर्ध्वोऽध्वर आस्थादि" (यजु० २ । ८) त्यध्वरो वै यज्ञ ऊर्ध्वो यज्ञ आस्थादित्येवैतदाह ॥३॥ "अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्य" (यजु० २ । ९) मिति । उभयं वा ऽएतदग्निर्देवानाᳬ होता च दूतश्च तदुभयं विद्धि यद्देवानामसीत्येवैतदाह "वतां त्वां द्यावापृथिवी ऽअव त्वं द्यावापृथिवी" (यजु० २ । ९) ऽइति नात्र तिरोहितमिवास्ति "स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत्स्वाहे" (यजु० २ । ९) तीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्र आज्येनेति वाचे वा ऽएतमाघारमाघारयतीन्द्रो वागित्यु वाऽआहुतस्स्माद्वेवाहेन्द्र आज्येनेति ॥४॥ अथासᳬ स्पर्शयन्स्रुचौ पर्येत्य ध्रुवया समनक्ति । शिरो वै यज्ञस्योत्तर आघार आत्मा वै ध्रुवा तदात्मन्येवैतच्छिरः प्रतिदधाति शिरो वै यज्ञस्योत्तर आघारः श्रीर्वै शिरः श्रीर्हि वै शिरस्तस्माद्योऽर्द्धस्य श्रेष्ठो भवत्यसावमुष्यार्द्धस्य शिर इत्याहुः ॥५॥ यजमान एव ध्रुवामनु । योऽस्माऽअरातीयति स उपभृतमनु स यद्धोपभृता समञ्ज्याद्यो यजमानायारातीयति तस्मिञ्छ्रियं दध्यात्तद्यजमानऽएवैतच्छ्रियं दधाति तस्माद् ध्रुवया समनक्ति ॥६॥ स समनक्ति । "सं ज्योतिषा ज्योतिरि" (यजु० २ । ९) ति ज्योतिर्वाऽइतरस्यामाज्यं भवति ज्योतिरितरस्यां ते ह्येतदुभे ज्योतिषी सङ्गच्छेते तस्मादेवᳬ समनक्ति ॥७॥ अथातो मनश्चैव वाचश्च । अहम्भद्रऽ उदितं मनश्च ह वै वाक्चाहम्भद्रऽऊदाते ॥८॥ तद्ध मन उवाच । अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि न वै मया त्वं किं चनानभिगतं वदसि सा यन्मम त्वं कृतानुकरानुवर्मास्यहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मीति ॥९॥ अथ ह वागुवाच । अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि यद्वै त्वं

वेत्थाहं तद्विज्ञपयाम्यहꣳ संज्ञपयामीति ।।१०।। ते प्रजापतिं प्रतिप्रश्नमेयतुः । स प्रजापतिर्मनसऽएवानूवाच मन एव त्वच्छ्रेयो मनसो वै त्वं कृतानुकरानुवर्त्मासि श्रेयसो वै पापीयान्कृतानुकरोऽनुवर्त्मा भवतीति ।।११।। सा ह वाक्परोक्ता विसिष्मिये । तस्यै गर्भः पपात सा ह वाक् प्रजापतिमुवाचाहव्यवाडेवाहं तुभ्यं भूयासं यां मा परावोच इति तस्माद्यत्किं च प्राजापत्यं यज्ञे क्रियतऽउपाꣳश्वेव तत्क्रियतेऽहव्यवाड्ढि वाक् प्रजापतयऽआसीत् ।।१२।। तद्धेतद्देवाः । रेतश्चर्मन्वा यस्मिन्वा बभ्रुस्तद्ध स्म पृच्छन्त्यत्रैव त्या३इिति ततोऽत्रिः सम्बभूव तस्मादप्यात्रेय्या योषितैनस्व्येतस्यै हि योषायै वाचो देवताया एते सम्भूताः ।।१३।।

इति चतुर्थाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम् ।

"स्रुचा द्वारा उत्तराघार करने की इच्छा से (अध्वर्यु) स्रुचों के पूर्व की ओर अञ्जलि रखता है और "नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः" (यजुः २ । ७) यह वाक्य बोलता है । सो ऋत्विक् कर्म करने से पूर्व देव और पितरों का निहोरा करता है । नमः और स्वधा दोनों शब्दों का अर्थ अन्न है । परन्तु नमः देवों का अन्न है और स्वधा पितरों का (देखो स्वर्ग पृ० १८) । अब आगे उत्तराघार में बजट बनना है सो उसमें मुख्य ध्यान देवों के वेतन (नमः) और पितरों की पेन्शन (स्वधा) का करना पड़ेगा । इसलिए यहाँ उन दोनों का उच्चारण कर दिया । बजट और है क्या ? मुख्यतया यही दो अंश उसमें हैं । तीसरा अंश क्रय-विक्रय है सो उसका वर्णन मन्त्र के अगले भाग में करते हैं । ये दोनों स्रुचा जुहू और उपभृत् परमात्मा की कृपा से मेरे लिए सुयम अर्थात् उठाये जाने योग्य, संभालने योग्य हों, मैं इन्हें संभाल सकूँ । तात्पर्य यह कि उत्तराघार (बजट) तब ही ठीक बनेगा जब जुहू (व्यय) और उपभृत् (आय) (देखो पृ० १९२) दोनों ठीक संभले हुए हों । इसलिए कहा है आय-व्यय तुम दोनों मेरे द्वारा सुख से नियन्त्रित रहो, मैं भरण कर सकूँ यही कहता है—"**सुयमे मे भूयास्तम्**" (यजुः २ । ७) इस प्रकार आय-व्यय के वर्णन में वेतन पेन्शन के अतिरिक्त क्रय-विक्रय भी सम्मिलित हो गए ।

सो मैं जो व्यय करूँ सो देवों तक पहुँचे कहीं स्कन्न न हो (Leakage न हो), मैं अविक्षुब्ध होकर देवों के लिए यज्ञ का विस्तार करूँ यही कहता है ।१। फिर यजति स्थान की ओर बढ़ते समय अध्वर्यु वाक्य पढ़ता है—"अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वाऽवक्रमिषम्" (यजुः २ । ८) इसकी व्याख्या से पहले विष्णु और इन्द्र में भेद समझ लेना चाहिए । विष्णु और इन्द्र दोनों त्वष्टा के विरोधी हैं । त्वष्टा व्यक्ति के अधिकारों का प्रतिनिधि है और ये दोनों समाज के । किन्तु इनमें आपस में वही भेद है जो शासन और प्रजा में है, जो Government और People में है । वास्तव में तो त्वष्टा और विष्णु की लड़ाई होनी चाहिए । किन्तु राष्ट्र की लड़ाई त्वष्टा से (अथवा उसकी

दुष्ट सन्तान से) होती है शासन के रूप में ही। इसलिए हम इन्द्र और त्वष्टा को लड़ता पाते हैं। इधर विष्णु अर्थात् राष्ट्र तो सोता रहता है। जब इन्द्र को मुसीबत पड़ती है उसे जगा देता है। इसीलिए विष्णु शक्ति में बड़ा होने पर भी उपेन्द्र कहलाता है। असली कार्य करता है इन्द्र। अब अध्वर्यु अर्थात् प्रबन्धकर्त्ता बजट तथा कार्य-क्रम बनाते समय कहता है—हे विष्णो! हे राष्ट्र! मैं अपने पैर से तुझे कभी न लांघूं। अर्थात् पग पग तेरी आज्ञा से रक्खूं। विष्णु नाम यज्ञ अर्थात् राष्ट्र का है। यदि किसी छोटे संगठन को मान लें तो वहां भी बजट उस सारे समुदाय के हित की दृष्टि तथा आज्ञा से बनना चाहिए। इसलिए कहा हे विष्णो! हे संगठन! मैं अपने पैर से तुझे कभी अवक्रान्त न करूं। सो यज्ञ रूप विष्णु है उसके आगे निहोरा करता है "**मा त्वाऽवक्रमिषम्**।" हे अग्ने! हे विशेषज्ञ! मैं तेरी वसुमती धनवर्षिणी छाया में सदा उपस्थित रहूँ, सो यह तेरी मंगलमय छाया में रहूँ ऐसा कहता है।२। कार्यकर्त्ता के खड़े होने के स्थान को कहता है "**विष्णोः स्थानमसि**" (यजु० २।८) सो विष्णु नाम यज्ञ का है उसके ही समीप खड़ा होता है इसलिए कहा—**विष्णोः स्थानमसि**।" "**इत इन्द्रो वीर्य्यमकृणोत्**।" (यजु० २।८) इस राष्ट्र से ही विष्णु ने सदा शक्ति पाई, यहीं खड़ा होकर दाहिनी ओर नाशकारी राक्षसों को मारता था। इसलिए कहा—"**इत इन्द्रो वीर्य्यमकृणोत्**।" यहाँ से (राक्षसों के मारे जाने के कारण) वह अध्वर में, हिंसा रहित राज्य में, ऊंचा पद पाता था।३। आगे वाक्य पढ़ता है "**अग्ने वेर्होत्रम् वेर्दूत्यम्**।" (यजु० २।९) हे अग्ने! (विशेषज्ञ) तू होत्रम् (बुलाना) दूत्यम् (सन्देश ले जाना) यह दोनों जान। अग्नि देवों का होता तथा दूत दोनों है। यह दोनों जान, यही यहाँ कहा है। तू द्यावापृथिवी (आय व्यय) की रखवाली कर, द्यावापृथिवी तेरी रखवाली करें! द्यौः वर्षा करने के कारण व्यय और पृथिवी उपजाऊ होने के कारण आय है जो होता और दून दोनों होगा वह पदार्थों में से दिव्य शक्तियों को बुलाएगा भी और हमारी शक्तियें उन तक पहुँचाएगा भी। होता आय बढ़ाने वाला और दूत व्यय बढ़ाने वाला इन दोनों को जानने वाला ही स्विष्टकृत्, ठीक ठीक यज्ञ करने वाला, होगा। इसीलिए कि इन दोनों, को जानकर ही इन्द्र घृत रूप हवि से स्विष्टकृत् हुआ। क्या अच्छा कहा—"**इन्द्र आज्येन**" (यजु० २।९) इसलिए कहा कि इन्द्र ही यज्ञ का देवता है। अथवा यह आघार वाणी के लिए किया जाता है अथवा वाणी इन्द्र है ऐसा कहते हैं। इसीलिए कहा—"**इन्द्र आज्येन**"।४। फिर स्रुचों को (जुहू तथा उपभृत् को) परस्पर स्पर्श न करता हुआ जूहू में से कुछ घृत ध्रुवा के घृत में डालता है (इसे समञ्जन कहते हैं) यह उत्तराघार यज्ञ का सिर है। ध्रुवा यज्ञ का आत्मा है सो सिर को आत्मा के आश्रय करता है। उत्तराघार यज्ञ का सिर है। और लक्ष्मी सगठन का सिर है। श्रीः और सिर एक ही हैं। इसीलिए जो जिस भाग में (अर्ध में) बड़ा होता उसे उस घड़ का सिर कहते हैं भाव यह है कि आय और व्यय दोनों का प्राण स्थिर कोष है। उसका ध्यान रखकर ही सारा बजट आदि बनना चाहिए और आय व्यय का भी हिसाब स्पष्ट अलग अलग होना चाहिए। इसलिए उन्हें परस्पर स्पर्श नहीं होने देते।५। ध्रुवा यजमान है। जो उसका विरोधी है सो उपभृत् है यदि उपभृत् के साथ जूहू का समञ्जन किया जाय तो यजमान की श्री उसके पास चली जायगी। जो यजमान को उसका अंश नहीं देना चाहता किन्तु इस प्रकार ध्रुवा का समञ्जन करने से श्री यजमान के पास ही रहती है इसीलिए ध्रुवा से समञ्जन करता है। इसका भाव यह है कि स्थिर कोष यजमान के पास रहना चाहिए और आय व्यय दोनों का हिसाब उसके पास जाना

चाहिए। जहाँ आय का हिसाब यजमान को नहीं पहुँचता वहाँ आय के ग्रहण करने वाले उसे यजमान को न देकर स्वयं रख लेते हैं। इसलिए अ+राति (न देने वाले=शत्रु रा दाने) हो जाते हैं।६। वह समञ्जन के समय वाक्य बोलता है "संज्योतिषा ज्योतिः" (यजु० २।६) आय रूप ज्योति स्थिर कोष रूप ज्योति से सङ्गत हो। उपभृत् में विद्यमान घृत भी ज्योति होता है, ध्रुवा में भी घृत ज्योति होता है। सो यहाँ वे दोनों ज्योति इकट्ठी हो जाती हैं। इसीलिए इस मन्त्र से समञ्जन करता है।७। अब यहाँ एक मन की और वाणी की (कहते है)। एक समय दोनों "मैं बड़ा" "मैं बड़ी" इस प्रकार कहने लगे।८। सो मन बोला, देख मैं ही तुझ से बड़ा हूँ तू कोई बात ऐसी नहीं बोलती जो मुझे पहले ज्ञात नहीं होती सो तू जो मेरे किये का अनुकरण करने वाली, मेरी राह पर चलने वाली है, इसलिए मैं तुझ से बड़ा हूँ।६। अब वाणी बोली मैं ही तुझ से बड़ी हूँ। जो कुछ तू जानता है उसे मैं ही प्रकाशित करती हूँ, मैं ही समझती हूँ।१०। वे दोनों झगड़ते-झगड़ते प्रजापति के दरबार में न्याय कराने पहुँचे। उस प्रजापति ने मन के पक्ष में ही निर्णय किया। मन ही तुझ से बड़ा है। तू मन का अनुकरण करने वाली, उसकी राह पर चलने वाली है। छोटा बड़े का अनुकरण करने वाला, उसकी राह पर चलने वाला, होता है।११। इस प्रकार फटकारी जाकर वाणी अत्यन्त खिन्न हो गई इस दुःख के मारे उसका गर्भ गिर गया वह प्रजापति से बोली जा मैं तेरे लिए कभी हवि का वहन न करूँ जिसने मुझे दुतकार दिया। इसलिए यज्ञ में प्रजापति के नाम का जो कर्म किया जाता है, वह चुपचाप ही किया जाता है। क्योंकि वाणी प्रजापति के लिए हवि वहन नहीं करती थी।१२। वह जो गिरा हुआ वीर्य था उसे देवों ने चमड़े में अथवा किसी पदार्थ में जा दबाया। पर लोग पूछते ही रहे "वह यहाँ छिपा है"। इसी में से अत्रि उत्पन्न हुआ। बस अत्रि वाली स्त्री को आत्रयी कहते हैं (रजस्वला को आत्रेयी कहते हैं) इसीलिए जो आत्रेयी से बात करता है वह दोषी कहलाता है। क्योंकि वह विकृत गर्भ इसी प्रकार की वाणी रूप स्त्री से पैदा हुए।१३।

इस कथा का भाव यह है कि किसी सभा में उपस्थित होने से पहले बजट संविधान कार्य-क्रमादि सब उपज्ञान कर्म (Creative कार्य) एकान्त में चुपचाप होने चाहिएँ। क्योंकि चुपचाप में परिपक्वता आती है। कोलाहल में नहीं। जो लोग इस प्रकार के गम्भीर कार्यों में लगे हों उन्हें रहस्य गोपन भली प्रकार आना चाहिए। साधारण प्रजा में हरेक रहस्य के विषय में गपोड़े घड़ने की प्रवृत्ति होती है किन्तु उन्हें इन गपोड़ों से डरना नहीं चाहिए। वह घड़े ही इसलिए जाते हैं कि उनसे तङ्ग आकर लोग रहस्य उगल दें। किन्तु जब वह नहीं बताते, तब वह उनका गपोड़े रूप गर्भ गिर जाता है तब वह और नाना उपायों से रहस्य जानने का प्रयत्न करते हैं? उस समय देवलोक अर्थात् विद्वान् रहस्य का एक गोलमाल रूप बनाकर पेश कर देते हैं उसी का नाम अत्रि है। परन्तु बुद्धिमान् लोग उस प्रवाद युक्त वाणी से ऐसे बचकर रहते हैं जैसे रजस्वला स्त्री से। क्योंकि यदि वह गम्भीर उत्तरदायित्व रखने वाले लोग प्रजा से दूर न रहें तो ऐसे गपोड़े पैदा होते हैं जैसे रजस्वला से भोग करने से विकृत गर्भ होते हैं। अथवा गर्भपात होता है। इस प्रकार अच्छे-अच्छे संविधानों का भ्रूण-पात (Abortion) हो जाता है। इसलिए प्राजापत्य कार्य करने वालों को अर्थात् कोई नया संविधान (Scheme) बनाने वालों को अपना कार्य चुपचाप ही करना चाहिए, और जब तक वह कार्य परि-

पक्व न हो बाहिर न आने देना चाहिए। नहीं तो वह रजस्वला में गर्भाधान के समान होगा। यहाँ यह दृष्टान्त इसीलिए दिया गया है कि रहस्य गोपन करने वालों को उनका उत्तरदायित्व बताया जावे। मनुष्य में मण्डली में बैठकर अपने आपको बड़ा बनाने की और शेखी मारने की एक उतावलेपन की प्रवृत्ति होती है। वही उससे रहस्योद्घाटन करवाती है। इस प्रकार के मनुष्यों को शतपथ ने यह घृणा दिलाई है कि तुम्हारा कार्य ऐसा ही घृणित और पतित है जैसे रजस्वला से गमन करना। जैसे रजस्वला से गमन अत्यन्त कामातुर मनुष्य करता है इसी प्रकार यह कार्य गौरवातुर मनुष्य करते हैं। गौरवातुरता इतनी ही बुरी है जितनी कामातुरता।

इति चतुर्थाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम्।

अथ पञ्चमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

अब प्रवराश्रावण विधि की ओर आते हैं। उधर अध्वर्य्यु ने होता की सलाह से संविधान और उत्तराधार तैयार किए, उधर होता ने सारा कार्यक्रम बनाया। अब इससे पहले ही पुरोडाश अर्थात् एक नये स्नातक को कार्य सिखाने के लिए उससे कार्य लिया जाय, उस कार्य के भिन्न-भिन्न अंगों के परस्पर सम्बन्ध का नाटक प्रयाज के नाम से किया जायगा। किन्तु उससे पहले होता अपने पद पर स्थित होकर जो शपथ लेता है उसका वर्णन करते हैं। जिस से जो भी पुरुष राष्ट्र में किसी विभाग में विशेषज्ञ (Expert) रूप से स्थित किये जावें वे समझें कि उत्तरदायित्व क्या है? और शपथ किस प्रकार ली जाती है इस विधि का नाम प्रवराश्रावण है। अर्थात् होता के प्रवर (वरण किए जाने) के समय आश्रावण सारी सभा को सावधान होकर सुनो इस प्रकार कहना—

स वै प्रवरायाश्रावयति। तद्यत्प्रवरायाश्रावयति यज्ञो वाऽआश्रावणं यज्ञमभिव्याहृत्याथ होतारं प्रवृणाऽइति तस्मात्प्रवरायाश्रावयति ॥१॥ स इध्मसन्नहनान्येवाभिपद्याश्रावयति। यद्वानारम्य यज्ञमध्वर्युराश्रावयेद्वेपनो वा ह स्यादन्यां वार्त्तिमार्छेत् ॥२॥ तद्धैके। वेदे स्तीर्णायै वर्हिरभिपद्याश्रावयन्तीध्मस्य वा शकलमपच्छिद्याभिपद्याश्रावयन्तीदं वै किञ्चिद्यज्ञस्येदं यज्ञमभिपद्याश्रावयाम इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यादेतद्धै किञ्चिद्यज्ञस्य यैरिध्मः सन्नद्धो भवत्यग्निॅं सम्मृजन्ति तद्वेव खलु यज्ञमभिपद्याश्रावयति तस्मादिध्मसन्नहनान्येवाभिपद्याश्रावयेत् ॥३॥ स आश्राव्य। एव देवानाॅं होता तमेवाग्रे प्रवृणीतेऽग्निमेव तदग्नये चैवैतद्देवेभ्यश्च निह्नुते यदहाग्रेऽग्निं प्रवृणीते तदग्नये निह्नुतेऽथ यो देवानाॅं होता तमग्रे प्रवृणीते तदु देवेभ्यो निह्नुते ॥४॥ स आह। अग्निर्देवो दैव्यो होतेत्यग्निर्हि देवानाॅं होता तस्मादाहाग्निर्देवो दैव्यो होतेति तदग्नये चैव देवेभ्यश्च निह्नुते यदहाग्रेऽग्निमाह तदग्नये निह्नुतेऽथ यो देवानाॅं होता तमग्रआह तदु देवेभ्यो निह्नुते ॥५॥ देवान्यक्षद्विद्वांश्चिकित्वानिति। एष वै देवाननु विद्वान्यदग्निः स एनाननुविद्वाननुष्ठचा यक्षदित्येवैतदाह ॥६॥ मनुष्वद्भरतवदिति। मनुर्ह वाऽअग्रे यज्ञेनेजे तदनुकृत्येमाः प्रजा यजन्ते तस्मादाह मनुष्वदिति मनोर्यज्ञऽइत्यु वाऽआहुस्तस्माद्वेवाह मनुष्वदिति ॥७॥ भरतवदिति। एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद्भरतोऽग्निरित्याहुरेष उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्त्ति तस्माद्वेवाह भरतवदिति ॥८॥ अथार्षेयं प्रवृणीते। ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते। ९॥ परस्तादर्वाक् प्रवृणीते। परस्ताद्ध्यर्वाच्यः प्रजाः प्रजायन्ते ज्यायसस्पतयऽउ चैवैतन्निह्नुत ऽइदॅं हि पितैवाग्रेऽथ पुत्रोऽथ पौत्रस्तस्मात्परस्तादर्वाक्प्रवृणीते ॥१०॥ स आर्षेयमुक्त्वाह। ब्रह्मण्वदिति ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्रह्मण्वदित्या च वक्षदिति तद्या एवैतद्देवता आवोढवाऽआह ता एवैतदाहा वक्षदिति ॥११॥ ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितार इति। एते वै ब्राह्मणा यज्ञस्य प्रावितारो ये

ऽनूचाना एते ह्येनं तन्वतऽएतऽएनं जनयन्ति तदु तेभ्यो निह्नुते तस्मादाह ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितार इति ॥१२॥ असौ मानुष इति । तदिमं मानुषꣳ होतारं प्रवृणीते-ऽहोता हैष पुरार्थैर्तर्हि होता ॥१३॥ स प्रवृतो होता जपति । देवता उपधावति यथानुष्ठ्या देवेभ्यो वषट् कुर्याद्यथानुष्ठ्या देवेभ्यो हव्यं वहेद्यथा न ह्वलेदेवं देवता उपधावति ॥१४। तत्र जपति । एतत्त्वा देव सवितर्वृणत ऽइति तत्सवितारं प्रसवायोपधावति स हि देवानां प्रसविताग्निꣳ होत्रायेति तदग्नये चैवैतद्देवेभ्यश्च निह्नुते यदहाग्रेऽग्निमाह तदग्नये निह्नुतेऽथ यो देवानाꣳ होता तमग्र ऽआह तदु देवेभ्यो निह्नुते ॥१५॥ सह पित्रा वैश्वानरेणेति । संवत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिस्तत्संवत्सरायैवैतत्प्रजापतये निह्नुतेऽग्ने पूषन् बृहस्पते प्र च वद प्र च यजेत्यनुवक्ष्यन्वा ऽएतद्यक्ष्यन् भवति तदेताभ्य एवैतद्देवताभ्यो निह्नुते यूयमनुब्रूत यूयं यजतेति ॥१६॥ शतम् ४०० ॥ वसूनांꣳ रातौ स्याम रुद्राणामुर्व्यायाꣳ स्वादित्या अदितये स्यामानेहस इत्येते वै त्रया देवा यद्वसवो रुद्रा आदित्या एतेषामभिगुप्तौ स्यामेत्येवैतदाह ॥१७॥ जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासमिति । जुष्टमद्य देवेभ्योऽनूच्यासमित्येवैतदाह तद्धि समृद्धं यो जुष्टं देवेभ्योऽनुब्रवत् ॥१८॥ जुष्टां ब्रह्मभ्य इति । जुष्टमद्य ब्राह्मणेभ्यो ऽनूच्यासमित्येवैतदाह तद्धि समृद्धं यो जुष्टं ब्राह्मणेभ्योऽनुब्रवत् ।१९॥ जुष्टां नराशꣳसायेति । प्रजा वै नरस्तत्सर्वाभ्यः प्रजाभ्य आह तद्धि समृद्धं यश्च वेद यश्च न साध्वन्ववोचत्साध्ववोचदित्येव विसृज्यन्ते यदद्य होतृवर्ये जिह्मं चक्षुः परापतत् अग्निष्टत्पुनराभ्रियाज्जातवेदा विचर्षणिरिति यथा यानग्रेऽग्नीन्होत्राय प्रावृणत ते प्राधन्वन्नेवं यन्मेऽत्र प्रवरेणामायि तन्मे पुनराप्याययेत्येवैतदाह तथो हास्यैतत्पुनराप्यायते ॥२०॥ अथाध्वर्युं चाग्नीधं च सम्मृशति । मनो वाऽअध्वर्युर्वाग्घोता तन्मनश्चैवैतद्वाचं च सन्दधाति ॥२१॥ तत्र जपति । षण्मोर्वीरꣳहसस्पान्त्वग्निश्च पृथिवी चापश्च वाजश्चाहश्च रात्रिश्चेत्येता मा देवता आर्त्तेर्गोपायन्त्वित्येवैतदाह तस्यो हि न ह्वलास्ति यमेता देवता आर्त्तेर्गोपायेयुः ॥२२॥ अथ होतृषदनमुपावर्त्तते । स होतृषदनादेकं तृणं निरस्यति निरस्तः पुरावसुरिति पुरावसुर्ह वै नामासुराणाꣳ होता स तमेवैतद्धोतृषदनान्निरस्यति ॥२३॥ अथ होतृषदनऽ उपविशति । इदमहमर्वावसोः सदने सीदामीत्यर्वावसुर्वै नाम देवानाꣳ होता तस्यैवैतत्सदने सीदति ॥२४॥ तत्र जपति । विश्वकर्मंस्तनूपा असि मा मो दोषिष्टं मा मा हिꣳसिष्टमेष वां लोक इत्युदङ्ङेजत्यन्तरा वाऽएतदाहवनीयं च गार्हपत्यं चास्ते तदु ताभ्यां निह्नुते मा मो दोषिष्टं मा मो हिꣳसिष्टमिति तथा हैनमेतौ न हिꣳस्तुः ॥२५॥ अथाग्निमीक्षमाणो जपति । विश्वे देवाः शास्तन मा यथेह होता वृतो मनवै यन्निषद्य । प्र मे ब्रूत भागधेयं यथा वो येन पथा हव्यमा वो वहानीति यथा येभ्यः पक्वꣳ स्यात्तान् ब्रूयाद्वनु मा शास्त यथा व आहरिष्यामि यथा वः परिवेक्ष्यामीत्येवमेवैतद्देवेषु प्रशासनमिच्छतेऽनु मा शास्त यथा वोऽनुष्ठ्या वषट्कुर्यामनुष्ठ्या हव्यं वहेयमिति तस्मादेवं जपति ॥२६॥ ब्राह्मणम् ॥२॥
[५१] ।

अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रमिति । अग्निरिदꣳ होता वेत्त्वित्येवैतदाहाग्नेर्होत्रमिति तस्यो हि होत्रं वेत्तु प्रावित्रमिति यज्ञो वै वेत्तु यज्ञमित्येवैतदाह साधु ते यजमान देवतेति साधु ते यजमान देवता यस्य तेऽग्निर्होतेत्येवैतदाह घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमास्यस्वेति तदध्वर्युं प्रसौति स यदेकामिवाह ॥१॥ यजमान एव जुहूमनु योऽस्माऽअरातीयति स उपभृतमनु स यद् द्वेऽइव ब्रूयाद्यजमानाय द्विषन्तं भ्रातृव्यं प्रत्युद्यामिनं कुर्याद्दत्तैव जुहूमन्वाह उपभृतमनु स यद् द्वेऽइव ब्रूयादत्त्रऽआद्यं प्रत्युद्यामिनं कुर्यात्तस्मादेकामिवैवाह ॥२॥

देवयुवं विश्ववारामिति । उपस्तौत्येवैनामेतन्महयत्येव यदाह देवयुवं विश्ववारामि-तीडामहै देवां ॥२॥ ऽईडेन्यान्नमस्याम नमस्यान्यजाम यज्ञियानितीडामहै तान्देवान्य ऽई-डेन्या नमस्याम तान्ये नमस्या यजाम यज्ञियानिति मनुष्या वा ऽईडेन्याः पितरो नमस्य देवा यज्ञियाः ॥३॥ या वै प्रजा यज्ञेऽनन्वाभक्ताः । पराभूता वै ता एवमेवैतद्या इमाः प्रजा अपराभूतास्ता यज्ञ ऽआ भजति मनुष्याननु पशवो देवाननु वयाᳬंस्योषधयो वनस्पतयो यदिदं किञ्चैवमु तत्सर्वं यज्ञऽआभक्तम् ॥४॥ ता वाऽएताः । नव व्याहृतयो भवन्ति नवेमे पुरुषे प्राणा एतानेवास्मिन्नेतद्दधाति तस्मान्नव व्याहृतयो भवन्ति ॥५॥ यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम । तं देवा अन्वमन्त्रयन्ता नः शृणुप न आवर्त्तस्वेति सो ऽस्तु तथेत्येव देवानुपाववर्त्त तेनोपावृत्तेन देवा अयजन्त तेनेष्ट्वैतदभवन्यदिदं देवाः ॥६॥ स यदाश्रावयति । यज्ञमेवैतदनुमन्त्रयतऽआ नः शृणुप न आवर्त्तस्वेत्यथ यत्प्रत्याश्रावयति यज्ञ एवैतदुपाऽवर्त्ततेऽस्तु तथेति तेनोपावृत्तेन रेतसा भूतेनर्त्त्विजः सम्प्रदायं चरन्ति यजमानेन परोऽक्षं यथा पूर्णपात्रेण सम्प्रदायं चरेयुरेवमनेनर्त्त्विजः सम्प्रदायं चरन्ति तद्वाचैवैतत्सम्प्रदायं चरन्ति वाग्घि यज्ञो वागु हि रेतस्तदेतेनैवैतत्सम्प्रदायं चरन्ति ॥७॥ सोऽनुब्रूहीत्येवोक्त्वाध्वर्य्युः । नापव्याहरेन्नोऽएव होतापव्याहरेदाश्रावयत्यध्वर्य्यु-स्तदग्नीधं यज्ञ उपावर्त्तते ॥८॥ सोऽग्नीन्ना पव्याहरेत् । आ प्रत्याश्रावणात्प्रत्याश्रावय-त्याग्नीत्तत्पुनरध्वर्य्युं यज्ञ उपावर्त्तते ॥९॥ काण्डस्यार्द्धम् ॥१९॥ सोऽध्वर्युर्नापव्याहरेत् । आ यजेति वक्तोयंजेत्येवाध्वर्युर्होत्रे यज्ञᳬं सम्प्रयच्छति ॥१०॥ स होता नापव्याहरेत् । आवषट्कारात्तं वषट्कारेणाग्नावेव योनौ रेतो भूतᳬं सिञ्चत्यग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य स ततः प्रजायतऽइति नु हविर्यज्ञेऽथ सौम्येध्वरे ॥११॥ स वै ग्रहं गृहीत्वाऽध्वर्य्युः नापव्याहरेदो-पाकरणादुपावर्त्तस्वमित्येवाध्वर्य्युरुद्गातृभ्यो यज्ञᳬं सम्प्रयच्छति ॥१२॥ त ऽउद्गातारो नापव्याहरेयुः । ओत्तमाया एषोत्तमेत्येवोद्गातारो होत्रे यज्ञᳬं सम्प्रयच्छन्ति ॥१३॥ स होता नापव्याहरेत् । आ वषट्कारात्तं वषट्कारेणाग्नावेव योनौ रेतो भूतᳬंसिञ्च-त्यग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य स ततः प्रजायते ॥१४॥ स यद्ध सोऽपव्याहरेत् । यं यज्ञ उपा-वर्त्तते यथा पूर्णपात्र परासिञ्चेदेवᳬं ह स यजमानं परासिञ्चेत्स यत्र हैवमृत्विजः संविदाना यज्ञेन चरन्ति सर्वमेव तत्र कल्पते न मुह्यति तस्मादेवमेव यज्ञो भर्त्तव्यः ॥१५॥ ता वाऽएताः । पञ्च व्याहृतयो भवन्त्यो श्रावयास्तु श्रौषडचज ये यजामहे वौषडिति पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्चर्त्तवः संवत्सरस्यैषैका यज्ञस्य मात्रैषा सम्पत् ॥१६॥ तासाᳬं सप्तदशाक्षराणि । सप्तदशो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञ एषैका यज्ञस्य मात्रैषा सम्पत् ॥१७॥ ओ श्रावयेति वै देवाः । पुरोवातᳬं ससृजिरेऽस्तु श्रौषडित्यभ्राणि सम-प्लावयन्यजेति विद्युतं ये यजामह ऽइति स्तनयित्नुं वषट्कारेणैव प्रावर्षयन् । १८॥ स यदि वृष्टिकामः स्यात् । यदीष्टचा वा यजेत दर्शपूर्णमासयोर्वैव ब्रूयाद् वृष्टिकामो वाऽ-अस्मीति तत्रोऽअध्वर्य्युं ब्रूयात्पुरोवातं च विद्युतञ्च मनसा ध्यायेत्यभ्राणि मनसा ध्याये-त्यग्नीधᳬं स्यनयित्नुं च वर्षं च मनसा ध्यायेति होतारᳬं सर्वाण्येतानि मनसा ध्या-येति ब्रह्माणं वर्षति हैव तत्र यत्रैवमृत्विजः संविदाना यज्ञेन चरन्ति ॥१९॥ ओं श्राव-येति वै देवाः । विराजमभ्याजुहुवुरस्तु श्रौषडिति वत्समुपावसृजन्यजेत्युद जयन्ये यजा-मह ऽइत्युपासीदन्वषट्कारेणैव विराजमदुहतेयं वै विराडस्यैवाऽएतदोह एवᳬं ह वा ऽअस्म ऽइयं विराट् सर्वान् कामान्दुहे य एवमेतं विराजो दोहे वेद ॥२०॥ ब्राह्मणम् ॥३॥ [५. २] ॥

प्रवरों के सम्बन्ध में यहाँ दो विधि हैं। एक आर्षेयवरण दूसरी प्रवराश्रावण।

आर्षेयवरण में अध्वर्यु ने होता की प्रशंसा में कहा था कि "हे कश्यप ! हे अवत्सार ! हे नैध्रुव ! अग्ने महां २।। असि ब्राह्मण भारत" अर्थात् हे कश्यप, अवत्सार और नैध्रुव के वंशज ब्राह्मण आप महान् हैं। अब होता के अपने पद पर प्रतिष्ठित होते समय उन्हें फिर याद दिलाते हैं कि तुम अपने उच्च पद के कर्तव्यों को कश्यपवत् (कश्यप की तरह) अवत्सारवत् (अवत्सार की तरह) निध्रुववत् (निध्रुव की तरह) पालन करो। सो इस पद स्वीकार की घोषणा को, कि आप हमारे द्वारा वृत होकर, इस पद पर प्रतिष्ठित होते हैं, प्रवराश्रावण कहते हैं।

सो वह प्रवर के लिए घोषणा करता है। सो यह जो प्रवर के लिए घोषणा करता है ("अस्तु श्रौषट्"=सुनो इस प्रकार की आज्ञा देता है) सो यह सुनाना ही तो यज्ञ है क्योंकि सब में सुनाने से मनुष्य के हृदय पर समाज का बन्धन गहरा हो जाता है। इसीलिए विवाहादि कर्म सबके सामने किए जाते हैं। सो वह यज्ञ के प्रति घोषणा करके फिर होता का वरण करूँ इस भावना से प्रवर का आश्रावण करता है।१। सो यह क्रिया इध्म (समिधाओं का गट्ठर) सन्नहन को प्राप्त होकर स्पर्श करके की जाती है। यदि यज्ञ को स्पर्श किए विना अध्वर्यु आश्रावण कर दे तो वह कम्प रोग का रोगी हो अथवा अन्य कोई कष्ट पावे। भाव यह है कि होता का वरण उन बंधनों के द्वारा होना चाहिए जो इस विषय में नियत हैं। क्योंकि होता को यज्ञ का भार अपने ऊपर लेना है। ऐसे समय अध्वर्यु को इस विषय में सन्तोष होना चाहिए कि होता को इस पदवी पर प्रतिष्ठित करने के सब नियम पालन किए जा चुके हैं। सो उन बन्धनों का उपलक्षण इध्म सन्नहन है। यदि कोई होता, प्रजा में होता के चुनाव सम्बन्धी सब नियम पालन हो चुके हैं ऐसा बिना जाने, घोषणा करेगा तो वह हृदय में कांपता रहेगा अथवा सचमुच दोष निकलने पर किसी अन्य दण्ड का भागी होगा।२। इसमें कई लोग यह कहते हैं कि वेदि पर बिछे हुए कुशों में से एक कुशा को अथवा एक समिधा को ही स्पर्श करके आश्रावण कर दे। क्योंकि ये सब पदार्थ ही यज्ञ के अंग हैं, उनमें से किसी को स्पर्श करके घोषणा करते हैं। किन्तु ऐसा न करे। जिससे यज्ञ काष्ठ बँधे होते हैं, जिससे अग्निसम्मार्जन करते हैं इस प्रकरण में यज्ञ का वही अंग अपेक्षित है। इसलिए इध्मसन्नहन नाम की रस्सी को स्पर्श करके ही आश्रावण करे। तात्पर्य यह कि ऐसे उच्च पद पर प्रतिष्ठित होने के समय यथाकथञ्चित् यह सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए कि चुनाव ठीक हो गया किन्तु एक-एक नियम (बन्धन) का ठीक पालन होना चाहिए। जिस तिथि को उपस्थित होना, जिस प्रकार के पत्र पर हस्ताक्षर होना, आदि उस विभाग के नियमों के अनुसार आवश्यक हों उनका पूरा पालन होना चाहिए। इसीलिए बन्धन की रस्सी को छूकर आश्रावण क्रिया की जाती है।३। आश्रावण के पश्चात् अर्थात् सब ध्यान से सुनो (श्रौश्षट्) इस घोषणा के पश्चात् पहले दैव होता का कीर्त्तन किया जाता है। सो यह अग्निदेव तथा अन्य देवों के सामने निहोरा करता है। इस विधि में अग्नि का वरण करता है ऐसा कहकर अग्नि का आदर किया जाता है। और "जो देवों का होता है उसे पहले वरण करना है" ऐसा जो कहता है यह देवों के आगे निहोरा करता है।४। वह वाक्य बोलता है **'अग्निर्दैव्यो होता'** वह सब से बड़ा अग्रणी परमात्मा सूर्य चन्द्रादि इस ब्रह्माण्ड की दिव्य शक्तियों का होता है। इसलिए कहा "अग्निर्दैव्यो होता" सो यह भौतिक अग्नि परमात्मा और उसकी दिव्य शक्तियों के सामने अपनी तुच्छता अनुभव करता है (हे प्रभु तू सूर्य

चन्द्रादि का होता इनको बुलाने की सामर्थ्य रखता है मैं संसार के साधारण पदार्थों को भी बड़ी कठिनता से तेरे बनाए ज्ञान द्वारा इकट्ठा करता हूँ) पहले अग्नि का नाम लिया यह अग्नि के सामने अपनी तुच्छता दिखाई। फिर उसे दैव्य होता कहा इसमें अन्य जड़ देवों की महिमा और अपनी तुच्छता दिखाई।५।

हे अग्ने तू सब से बड़ा विद्वान् और सब को बसेरा देने वाला अथवा सब के रोग दूर करने वाला है। "कित निवासे रोगापनयने च" तू सब पदार्थों को संगठित करता है। ऐसे ही हमारा भी होता यज्ञ करे। सो वह परमात्मा अग्नि देवों को जानता है और संचालन करता है ठीक उसी प्रकार यह होता भी अपने विभाग के पदार्थों और कार्यकर्त्ताओं के दिव्य गुणों को भली-भांति जानकर अनुष्ठचा (ठीक-ठीक) यज्ञ करे यही कहता है। ६। मन हमारे अध्यात्म राज्य में सदा यज्ञ करता चला आया है। सब से पहला यज्ञ का नमूना यही है। जिस प्रकार मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों को ठीक चलाता है तब कार्य सफल होते हैं। इसी का अनुकरण करके संसार के लोग भी एक मननशील विद्वान् को आगे करके उसके पीछे चलते हैं। इसीलिए कहा मनुष्वत् क्योंकि यज्ञ वास्तव में तो मन का ही कर्म है इसीलिए कहा 'मनुष्वत्' मनु देखो पृ० ५६।७। आगे बोलता है भरतवत् यह अग्नि देवों तक हव्य पहुँचाता है। इसीलिए अग्नि का नाम भरत है। यह होता भी प्राण बनकर प्रजा की पालना करता है। इसीलिए कहा भरतवत्। भरत कुटुम्ब के उस व्यक्ति को कहते हैं जिसकी कमाई पर कोई कुटुम्ब पलता है। सो कहा कि यह होता इन्द्रियों में मन की तरह, कुटुम्ब में भरत की तरह अपने पद पर स्थित होकर यज्ञ करे।८। अब मनु की तरह, भरत की तरह, इसी शृंखला में यजमान के प्रवरों के नाम भी जोड़ता है। सो आर्षेय अर्थात् गोत्र के आदि पुरुष तथा अन्य प्रतिष्ठित पुरुषों के नाम साथ मिलाकर वाक्य को पढ़ता है। यहां कौन से नाम लेने यह हर गोत्र का अलग नियम है। सो इस विषय के ग्रन्थों में देखने से पता लग सकते हैं। जैसे कश्यप गोत्र में 'असितवत्, अवत्सारवत्, कश्यपवत्' यह बोला जाएगा। इसमें दो भिन्न प्रकार होते हैं। जब प्रथम बार नाम उच्चारण किए जाते हैं तो वह "अग्ने महां २।। असि ब्राह्मण भारत" इस वाक्य के साथ ही होता द्वारा बोले जाते हैं। वहाँ होता स्वयं अपने पद की प्रशंसा करता है। सो यहाँ अध्वर्यु उसके प्रवरों का उच्चारण करता है। सो प्रवर ग्रन्थों में किस गोत्र में होता किस प्रकार उच्चारण करता है और अध्वर्यु किस प्रकार उच्चारण करता है यह दिया हुआ है। भाव इसका यही है कि जिस प्रकार इन्द्रियों में मन, और कुटुम्ब में भरत, कर्त्तव्य पालन करता है, जिस प्रकार तुम्हारे गोत्र में असित, अवत्सार, कश्यप अपना नाम उज्ज्वल कर चुके हैं, उसी प्रकार इस पद पर प्रतिष्ठित होकर तुम भी करो। यज्ञ मण्डप में इकट्ठे हुए ऋषि और विद्वानों के सामने निवेदन करता है कि अमुक प्रतिष्ठित कुल का महावीर्य यह होता आज इस यज्ञ को प्राप्त हुआ है।६। बड़े की ओर से छोटे की ओर वरण करता है। संसार में सन्तान इसी प्रकार उत्पन्न होते ही अर्थात् पहले बड़ा फिर छोटा सो बड़े को उससे बड़े के सामने छोटा बनाता है। पहले दादा फिर उसका पुत्र फिर पोता इसीलिए प्राचीन से अर्वाचीन की ओर आता है।२०। इन तीनों ऋषि नामों के पीछे और शब्द कहता है 'ब्रह्मण्वत्' सो ब्राह्मण अग्नि है। इसीलिए कहा ब्रह्मण्वत् अर्थात् सच्चे ब्राह्मणों की तरह इसीलिए कहा ब्रह्मण्वत् फिर कहता है आ च वक्षत् सो "देवान् आज्यपां आ वह" आदि में जिन-जिन दिव्य गुणों को यज्ञ में उपस्थित करने के लिए

पहले कहा जा चुका है उन्हीं की ओर निर्देश करता है, कि सच्चे ब्राह्मणों की तरह उन-उन उत्तम गुणों को इस यज्ञ में आ वक्षत् उपस्थित करे ।११। "ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्राविताटः" क्योंकि वह ब्राह्मण ही यज्ञ की रक्षा करते हैं जो अनुवचन अर्थात् अध्यापनोपदेशन में लगे होते हैं यही इसका विस्तार करते हैं यही इसको उपन्न करते हैं। उनके सामने निहोरा करता है। इसीलिए कहता है ब्राह्मण इस यज्ञ के रखवाले हैं ।१२। फिर अन्त में वाक्य बोलता है असौ"'मानुषः । सो जिस प्रकार ब्रह्माण्ड यज्ञ का परमाग्नि भगवान् होता है जिस प्रकार यन्त्र यज्ञ में भौतिक अग्नि होता है इस प्रकार अपने यज्ञ में मनुष्य होता को वरण करते समय नाम लेकर कहता है कि आज उस बड़े होता को साक्षी करके हम इस मानुष होता को वरण करते हैं। रिक्त स्थान में होता का नाम लिया जाता। सो इस मानुष होता का विधि-पूर्वक वरण करता है इससे पहले वह अहोता था अब होता हुआ ।१३।

अब अपने पद पर प्रतिष्ठित होता हुआ होता जपता है। सो वह जाप इसलिए है कि वह भगवान् की दिव्य शक्तियों को और उन गुणों के रखने वाले सांसारिक मनुष्यों को शरण्य मानकर उनकी शरण में जाता है कि जिससे यथाऽनुष्ठ्या (नियत कार्य-क्रमानुसार) देवों के लिए ठीक कार्य करे। यथानुष्ठ्या उन को उनका हव्य पहुँचाए और कहीं चूके नहीं इसलिए देवता-स्मरण करता है ।१४। अब अगली कण्डिका में उस जप मन्त्र की व्याख्या होगी, परन्तु हम सुगमता के लिए उसे इकट्ठा दे देते हैं फिर कण्डिका क्रम से व्याख्या करेंगे। जप मन्त्र इस प्रकार है—

ओं एतत्त्वा देव सवितर्वृणते ऽग्निं होत्राय सह पित्रा वैश्वानरेणाग्ने पूषन् बृहस्पते प्र च वद प्र च यज वसूनाᳬ रातौ स्याम रुद्राणामुर्व्यायां स्वादित्या अदितये स्यामानेहसः जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासम् जुष्टां ब्रह्मभ्य जुष्टां नराशंसाय यदद्य होतृवर्ये जिह्मं चक्षुः परापतत् अग्निष्टत् पुनरभ्रियाज्जातवेदा विचर्षणिः ।

इसका भाव इस प्रकार हुआ—

हे देव सविता आज सबने मिलकर जो मुझे होता बनाया है सो वास्तव में आपको होता बनाया है। और अकेले आपको नहीं पिता वैश्वानर के साथ अग्नि को होता बनाया है। हे पूषा देव ! हे बृहस्पति देव ! मैं क्या बोलूँगा मैं क्या यज्ञ करूँगा। मुझे निमित्त बनाकर आप ही बोलिए आप ही यज्ञ करिए। हमारा यज्ञ इस ढंग से चले कि बस्ती (Civil population) का दान बना रहे। रुद्रों की (युद्ध विभाग की) शत्रुहिंसाशक्ति बनी रहे। हम प्रकृति माता के सुपूत सिद्ध हों, वह अखण्डित रहे, किसी प्रकार का दोष उसमें उत्पन्न न हो। आज ऐसी बात बोलूँ जो राजपुरुषों को भी प्रीतिकारक हो, ब्राह्मणों को भी प्रीतिकारक हो। प्रजावर्ग में भी प्रशंसित हो। इस मेरे होतृवरण कर्म में जो कहीं दृष्टि सन्मार्ग से च्युत होकर टेढ़ी पड़ी हो। सर्वान्तर्यामी (जातवेदाः) सर्वलोक साक्षी सकल लोकनायक भगवान् उसे पुनः ठीक स्थान पर आभूषित कर दे।

अब कण्डिका-क्रम से व्याख्या सुनिए। सविता नाम है नियम बनाने वाली राजसभा के अध्यक्षरूप में राजा का, सो प्रजा में कहीं भी किसी स्वतन्त्र व्यापारादि कर्म में लगा हुआ भी होता अपने आपको सब से पहले सीधा राजसभा के अधीन समझता है। यदि यजमान भी उसे कोई ऐसा कर्म करने को कहे जो राजनियम विरुद्ध हो वह उसे नहीं करेगा। इसलिए सबसे पहले जपता है "एतत्त्वा देव सवितर्वृणते" सो यह सबसे पहले आज्ञा लेने सविता की सेवा में उपस्थित होता है, क्योंकि सम्पूर्ण देवों

को कार्य करो इस प्रकार की आज्ञा देने वाला वही है। और सबसे बड़ा सविता परमात्मा है। सो वस्तुतस्तु उसे ही स्मरण करता है। क्योंकि यदि राजाज्ञा भी परमात्मा की आज्ञा के विरुद्ध हो तो वह नहीं माननी चाहिए। सो परिणामतः देवसवितः का अर्थ हुआ सारे संसार के आज्ञा द्वारा प्रेरक परमात्मन् और तदनुवर्ती, राजन् आज हम वस्तुतः तुझे ही होता वरण करते हैं।

फिर आगे वाक्य बोलता है **अग्नि होत्राय** सो अग्नि के नाम स्मरण द्वारा अग्नि के आगे तथा अन्य सब देवों के आगे निहोरा करता है। अग्नि का नाम-स्मरण अग्नि के आगे निहोरा है। और क्योंकि वह देवों का होता है और उसका नाम पहले लेता है, इसलिए देवों के आगे निहोरा करता है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार वह संसार रूप यज्ञ में गतिशील तथा अन्धकार-निवारक होने के कारण सच्चे होता का कार्य करता है। इसी प्रकार राज्य में, राजा द्वारा नियुक्त ब्राह्मणाग्रगण्य होता कार्य करता है। और विश्व में भगवान् स्वयं सविता, होता, अध्वर्यु सब कुछ है। सो हे अग्नि सदृश गुण वाले राजब्राह्मण अथवा सकल लोकाग्रणी परमेश्वर वास्तव में आप ही इस यज्ञ के भी होता हैं। मैं तो निमित्त मात्र हूँ।१५।

आगे वाक्य बोलता है **सह पित्रा वैश्वानरेण,** हे सविता आपके पिता वैश्वानर के सहित अग्नि को आज सब मिलकर होता बनाते हैं। वैश्वानर अग्नि का अर्थ हम पहले लोकप्रिय शिक्षण (Popular education) बता आए हैं वह सविता के लिए पितृरूप है क्योंकि जैसी प्रजा की सम्मति होगी तदनुरूप ही राज्यनियम भी उत्पन्न होंगे। अशिक्षित प्रजा के नियम भी भद्दे होंगे। सुशिक्षित प्रजा के नियम भी सुसंस्कृत होंगे। सो राज का राजतन्त्र प्रजा की इच्छा से ही पैदा होता है इसलिए वैश्वानर अग्नि को सविता का पिता कहा गया। अब परमात्मा में यह कैसे संगत होंगे सो विचारना है। सो परमात्मा के नियमों का पता उसके संवत्सर के देखने से पता लगता है। यदि आज तीव्र गरमी पड़ रही है तो हम नहीं कह सकते कि उसकी इच्छा संसार को सुखा डालने की है किन्तु वस्तुतः वह गर्मी उत्तम वर्षा की भूमिका है। इसलिए गर्मी के नियमों का रहस्य वर्षा होने पर खुलता है। इसी बात को कवि ने इन शब्दों में कहा है, "सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः" सो संवत्सर ही वस्तुतः वर्ष भर में दीखने वाले सब नियमों का जन्मदाता है। वर्ष भर में जितनी क्रिया है वह एक चक्र का अंग है। इसलिए ब्रह्माण्ड में संवत्सर को सविता का पिता कहा गया। परमात्मा के ही जिस एक नियम से दूसरे का जन्म अर्थात् प्रादुर्भाव होता है उन्हें आलङ्कारिक भाषा में पिता पुत्र कहा गया है इसीलिए कहा है स पिता स पुत्रः (अथर्व० ७।६।१) इसलिए कहते हैं संवत्सर का नाम ही पिता वैश्वानर प्रजापति है। सो यह संवत्सर प्रजापति के सामने अपना छोटापन बताता है अर्थात् कहता है कि मुझ होता का गुरु संवत्सर है उससे ही मैं सीखता हूँ कि ग्रीष्म शरत् वर्षादि परस्पर विरोधी शक्तियों को प्रजा के कल्याण के लिए किस प्रकार सुसंगठित किया जाता है सो संवत्सर के रूप में अपने यज्ञ नियम बनाने वाला भगवान मेरा गुरु है। वस्तुतः वही होता है, मैं तो निमित्त मात्र हूं।

हे अग्ने हे पूषन् हे बृहस्पते मेरे द्वारा आप ही बोलिये आप ही यज्ञ कीजिए सो आगे यज्ञ-कर्म में होता अनुवचन किया चाहता है। सो इन देवताओं के सामने अपनी तुच्छता स्वीकार करता है।

अग्नि राजा द्वारा विभाग विशेष में नियुक्त विशेषज्ञ ब्राह्मण का नाम है। पूषा उन राजकर्मचारियों को कहते हैं जिनको किसी राजाज्ञा को कार्य में परिणत करने का कार्य अर्पित होता है। उदाहरणार्थ पोलीस के अध्यक्ष ने शूरसेन को आज्ञा दी कि तुम दुष्टकर्मा को पकड़ो क्योंकि उसने हत्या की है सो हत्या करने वाले को पकड़ना चाहिए, यह सविता का आदेश है। दुष्टकर्मा को पकड़ो उसने हत्या की है यह वरुण का आदेश है। शूरसेन को दुष्टकर्मा तक पहुँचाना अश्विनौ का काम है। दुष्टकर्मा को पकड़ना पूषा का काम है बृहस्पति एक सम्राट् है। वैदिक व्यवस्था में राजा दण्ड द्वारा शासन करता है, बृहस्पति अनुशासन अथवा प्रेरणा द्वारा। इस देवता का विशेष वर्णन ऋग्वेद द्वितीय मण्डल २३ सूक्त मे देखना। सो अग्नि पूषा बृहस्पति वस्तुतः यज्ञ कर रहे हैं मैं तो निमित्त-मात्र हूँ। सब से बड़ा अग्नि पूषा तथा बृहस्पति परमात्मा है। सो हे अग्रणीगुणयुक्त हे पुष्टतायुक्त तथा हे बड़ों के बडे परमात्मन् तथा तद्गुणविशिष्ट राजपुरुषो वस्तुतः आप ही इस यज्ञ में अनुवचन करिये और यज्ञ करिये मैं तो निमित्तमात्र हूँ।१६।

आगे वाक्य बोलता है **वसूनां रातौ स्याम रुद्राणामुर्व्यायां स्वादित्या अदितये स्यामानेहसः** इसका अर्थ है कि हम वस्तुओं की दान-शक्ति मे रहें। रुद्रों की हिंसा-शक्ति में रहें। अदिति के लिए अनेहस् (दोष रहित) उत्तम आदित्य हों। सो वसु रुद्र आदित्य ये तीन देव हैं हम इनकी अभिगुप्ति में रहें यही कहता है। सायण ने यहाँ उर्व्यायाम् के स्थान में उर्व्वियाम् पाठ दिया है। इसका अर्थ किया है उरुता अर्थात् महत्ता किन्तु महत्ता रुद्र के साथ संगत नहीं होती। उर्व्वधातु का अर्थ हिंसा है, सो उर्व्वा अथवा उर्व्या 'उर्व्वी हिंसायाम्' से बनाना चाहिए। हम वसु वस्ती वसाने वाले, सृष्टि-वृद्धि करने वालों की दान-शक्ति में रहें। रुद्रों की हिंसा-शक्ति में रहें। और आदित्यों की अदम्यता में इनकी अभिगुप्ति में रहें। इनकी अभिगुप्ति करें और इनके द्वारा अभिगुप्त हों। इन दोनों को एक शब्द द्वारा कहा कि इनकी अभिगुप्ति में रहें। तात्पर्य यह है कि होता के तीन काम हैं। जिसका वह विशेषज्ञ है उस के अनुकूल पदार्थों की सृष्टि-विरोधी शक्तियों का नाश तथा प्रकृति के जिस तत्त्व से वह पदार्थ पाया है उसकी पूर्ति। उदाहरण के लिए कृषि के होता को लीजिए बीज बोना उसका वसु कर्म है, वाड़ लगाना रुद्र कर्म है, तथा पृथिवी में खेती करने द्वारा जो दिति (कमी) उत्पन्न हुई है उसे ठीक खाद डालकर पूरा कर देना आदित्य कर्म है इसी से वह अदिति माता का (प्रकृति-माता का) सच्चा सुपूत सिद्ध होता है।

कोयले, पेट्रोल, सोना, चाँदी, आदि के विषय में विज्ञान अभी रुद्र कोटि तक पहुँचा है। इस विषय के आदित्य अभी पैदा होने को हैं। देखें, यह बाजी कौन लेता है। वसु पैदा करते हैं, रुद्र रखवाली करते हैं। आदित्य क्षति-पूर्ति करते हैं, उत्तरोत्तर इनका दर्जा ऊँचा है। एक का काम है राति (Creation) दूसरे का उर्व्या (Destruction)। तीसरे का काम है, अदिति (Compensation)। यह वसु, रुद्र और आदित्यों का रहस्य है।१७।

आगे वाक्य बोलता है **"जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासम्"**। देव दो प्रकार के हैं एक सूर्यचन्द्रादि दिव्य पदार्थ, एक राजकर्मचारी। दोनों के लिए हितकर बात करूँ। अर्थात् जिन-जिन पदार्थों के जो दिव्य गुण हैं उन्हें इस होता के आसन पर बैठकर बताऊँ और जिस से राष्ट्र के सब कार्यकर्ता प्रसन्न हों वह कार्य करूँ। क्योंकि जो देव-

हितकर कर्म है वह सब से श्रेष्ठ है। जुष् धातु के दो अर्थ हैं। जुष् प्रीतौ सेवायाञ्च तु० गण। सो जड़ देवों के सम्बन्ध में प्रीति अर्थ न लेकर सेवा अर्थ लेना क्योंकि जड़ देव प्रसन्न नहीं हो सकते किन्तु सदुपयोग द्वारा उनकी सेवा हो सकती है।१८।

जो अस्वतन्त्र अर्थात् राज्य-सेवा में साक्षात् नियुक्त ब्राह्मण न हों, किन्तु स्वतन्त्र रूप से कार्य करते हों उन्हें प्रथम देव कोटि से पृथक् करके कहते हैं **"जुष्टां ब्रह्मभ्यः"**। इसका भाव यह है कि ऐसी बात कहूँ जो ब्राह्मणों के लिए प्रीतिकर हो क्योंकि ब्राह्मणों के लिए प्रीतिकर बात कहना बड़ा समृद्ध अर्थात् श्रेष्ठ है।१६।

आगे कहते हैं **"जुष्टां नराशंसाय"**। किसी विशेषज्ञ के कार्य की पूर्णता तभी है जब उसका दिया हुआ ज्ञान सावारण प्रजा तक पहुँच जावे। इसीलिए कहते हैं **"जुष्टां नराशंसाय"**। सो नर नाम प्रजा का है। सो यह सम्पूर्ण प्रजा के सम्बन्ध में कहा है। यह तो अत्यन्त प्रशंसा की बात है कि जो जानता है और जो नहीं जानता सब के मुख से बहुत अच्छा कह, बहुत अच्छा कह, इसी प्रकार की बातें निकलती हैं। होता का पद एक ऊँचा पद हैं। उस तक पहुँचने में मनुष्य में कुछ न कुछ त्रुटियें आ ही जाती हैं। इसलिए कहा **"यदद्य होतृवर्ये जिह्मं चक्षुः परापतत् पुनराभ्रियाज्जातवेदा विचर्षणिः।"**

सो जिस प्रकार पहले एक प्रकरण में (देखो पृ० ६३) तीन अग्नियों का वर्णन किया गया है जिन्हें होतृत्व के लिए वरण किया गया किन्तु वे मर गये। इसी प्रकार आज इस वरण में मेरा कोई अंश नष्ट हो गया हो वह फिर पूर्ण हो जाय। सो जो इस प्रकार अपने आपको कहता है उसका वह अंश पूर्ण हो जाता है।

तात्पर्य यह कि होता एक ऐसे उत्तरदायित्व पूर्ण आसन पर बैठता हुआ कहता है कि कहीं प्रमाद से, कहीं राज-भय से, कहीं लोक-भय से, कार्य में कोई न कोई त्रुटि आ ही जाती है। हे अन्तर्यामिन् आप ही इसमें मेरे रक्षक हैं। इस प्रकार सच्चे अन्तःकरण से अपनी त्रुटियों का आत्म-निरीक्षण द्वारा ज्ञान प्राप्त करके उनको दूर करने के लिए जो प्रभु की शरण में जाते हैं भगवान् अवश्य उनके सहायक होते हैं।२०।

अब इससे आगे सम्मर्शन-विधि आरम्भ होती है। विधि इस प्रकार है—

होता **"षण्मोर्नोरहंसस्पान्तु"** इत्यादि अगली कण्डिका में वर्ण्यमान, वाक्य (मन में) पढ़कर अपने आपको स्पर्श करे। पश्चात् आचमन करके **"इन्द्रमन्वारभामहे होतृवर्ये पुरोहितम् येनायन्नुत्तमं स्वर्देवा अङ्गिरसो दिवम्"** यह वाक्य उपांशु पढ़कर सामने खड़े अध्वर्यु और अग्नीध् के दाहिने कन्धों को अपने प्रदेश (बालिश्त) से स्पर्श करे। होता से स्पर्श किये जाने पर वह बैठ जावे।

अब कण्डिका की व्याख्या करते हैं—

फिर अध्वर्यु और अग्नीध् का सम्मर्शन (प्रादेश द्वारा स्पर्श) करता है। सो यज्ञ में होता वाणी है, और अध्वर्यु मन है, यह इन दोनों को संयुक्त करता है। यहां यहबात किञ्चित् विस्मयजनक होगी कि अध्वर्यु को, जो क्रिया-प्रधान है और होता के बताये मार्ग पर चलता है, मन क्यों कहा और होता को वाणी क्यों कहा? सो बात यह है कि अध्वर्यु यजमान के मन की बात अर्थात् अभिलाषा होता तक पहुँचाता है फिर होता विचार करके निर्देश करता है कि इस प्रकार चलो। सो अध्वर्यु के दो कर्तव्य हैं एक यजमान का मन होता तक पहुँचाना, दूसरे होतृ निर्दिष्ट मार्ग से चलना सो अध्वर्यु जिस अंश में यजमान का प्रतिनिधि है उस अंश में उसे मन कहा गया है।२१।

सो सम्मर्शन के समय वाक्य पढ़ता है ।

षण्मोर्वीरहंसस्पान्त्वग्निश्च पृथिवी चापश्च वाजश्चाहश्च रात्रिश्चेत्येता मा देवता आर्त्तेर्गोपायन्तु । सो यही कहता है कि जिसको यह देवता मार्गच्युत होने से बचाती हैं उसका रथ सीधा जाता है कहीं भटकता नहीं (ह्वृ गति कौटिल्ये)।

इस सम्मर्शनविधि का भाव यह है कि होता, अध्वर्यु और उसके सहायक अग्नीत् से कहता है कि तुम और मैं मिलकर चलेंगे तब ही यह संगठन अच्छा चल सकेगा। अन्यथा मैं कह-कहकर हार जाऊँगा । मेरे निर्देशों को कार्य में परिणत करने वाले तो तुम ही हो । इस समय जो वाक्य बोला जाता है उस का अर्थ यह है कि होता कहता है कि यह छः महाशक्तियां मुझे अंहस् से बचावें । अग्नि, पृथिवी, आपः, वाज, दिन-रात। पहले अंहस् का अर्थ समझना चाहिए। वेद में ही आता है, **"सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरोऽगात्"** (ऋ० १०।५।६) यहाँ मर्यादा व्यतिक्रम करने वाले को निश्चित मार्ग से चूक जाने वाले को अंहुर कहते हैं । बस अंहस् का अर्थ हुआ मार्ग से हटकर चलना । अब विशेषज्ञ होता कहता है कि यदि मैं इन छः शक्तियों को मर्यादा में रक्खूँ तो कार्य ठीक-ठीक चलता रहेगा ।

(१) अग्नि अर्थात् कार्य को पूर्ण रूप से करने का उत्साह ।
(२) पृथिवी अर्थात् कार्य-सिद्धि के लिए अपेक्षित द्रव्य सम्भार ।
(३) आपः (जल)
(४) वाज (अन्न) । कार्य करनेवालों के लिए उत्तम अन्न तथा जल ।
(५) दिन ।
(६) रात । अर्थात् कौन दिन में कार्य करेंगे, कौन रात्रि में, कितना समय कौन कार्य करेगा, यह समय का ठीक-ठीक विभाग ।

अब अध्वर्यु तथा अग्नीत् के साथ इसका यह सम्बन्ध है कि अग्नि का काम चलाना है, पृथिवी का काम चलना है। जब तक ये दोनों ठीक न मिलें कार्य ठीक नहीं चलता । इसी प्रकार अन्न और जल का जोड़ा है । जल बिना अन्न की गति नहीं, अन्न बिना जल निरर्थक है । इसी प्रकार दिन कार्य-काल और रात्रि विश्राम काल है। यदि कार्य न हो तो विश्राम असम्भव है। कार्य न करनेवालों को निद्रा नहीं आती । जो थका ही नहीं वह विश्राम क्या करेगा । दूसरी ओर जो विश्राम कभी नहीं करता वह कार्य क्या करेगा । सो यह भी जोड़ा है । जिस प्रकार ये जोड़े आपस में मिलकर कार्य करते हैं इसी प्रकार हमें भी परस्पर मिलकर कार्य करना चाहिए ।

फिर इन तीनों जोड़ों में सूक्ष्म भेद है—

अग्नि और पृथिवी के जोड़े में प्रेय प्रेरक भाव तथा प्रकाश्य प्रकाशक भाव है ।

अन्न और जल में परस्पर स्नेह तथा एक दूसरे के लिए आकांक्षा की भावना है ।

दिन और रात में एक दूसरे की कमी को पूरा करने का भाव है, अर्थात् श्रम और विश्राम दोनों मिलकर ही कार्य पूरा कर सकते हैं यह भाव है ।

इन तीनों दृष्टान्तों को सामने रखकर यज्ञ के सब कार्यकर्त्ता परस्पर सहयोग से चलें तब ही अह्वला (मार्ग से न भटकना) सम्भव है ।२२।

इसके पश्चात् होता के लिए नियतस्थान (होतृषदन) की ओर आता है । वहाँ

आकर खड़ा हुआ एक तृण को (अंगूठे और अनामिका से दबाकर) "निरस्तः परावसुः" यह वाक्य बोलकर होतृपदन से बाहर फेंकता है। परावसु नाम असुरों के होता का है। सो यह उसको होतृपदन से बाहर निकालता है। तात्पर्य यह कि वसु का अर्थ है बसाने वाला। किन्तु असुरों के विद्वान् होता लोग भी बसाने के स्थान पर उजाड़ने और नष्ट करने के उपाय ही सोचते रहते हैं। वह वसु को परे फेंकनेवाले परावसु हैं। आर्य होता अपने स्थान पर आते समय कहता है कि मैंने इस तिनके की भाँति परावसु को (बस्ती उजाड़ को) बाहर निकाल दिया। अर्थात् स्वार्थ को लोकघातिनी भावना को तृण के समान निकालकर फेंक दिया ॥२३॥

फिर होता के आसन पर बैठता है—"**इदमहमर्व्वावसोः सदने सीदामि।**" अर्व्वावसु देवों का होता है, सो वह उसी के आसन पर बैठता है।

देवों का होता सदा वसु को, बस्ती को, लोकहित को, सामने रखता है। इसलिए उसका नाम अर्व्वावसु है। सो वह कहता है कि मैं अर्व्वावसु के आसन पर बैठता हूँ। अर्थात् मैं भी लोक वृद्धिकर भावों को सामने रक्खूंगा। लोकक्षयकर भावों को नहीं ।२४।

वहाँ बैठकर जाप करता है—"**विश्वकर्म्मस्तनूपा असि मा मोदोषिष्टं मा मा हिꣳसिष्टमेष वो लोकः**" यह जप करके उत्तर की ओर मुख करके कांपता है। सो इसका भाव यह है कि वह आहवनीय और गार्हपत्य के ठीक बीच बैठा होता है। सो उन दोनों से उपलक्षित भावों के सामने अपनी तुच्छता प्रकट करता है। वाक्य बोलता है—"**मा मोदोषिष्टं मा मा हिꣳसिष्टम्**" ऐसा करने से वे उसे पीड़ा नहीं पहुँचाते।

गार्हपत्य को स्त्री का सहयोग और आहवनीय को यजमान का संकल्प पहले बता आए हैं (देखो पृ० ३०)। सो यहाँ यह भाव है कि होता को सब से अधिक ध्यान इस बात का रखना चाहिए कि यज्ञ के कार्यकर्ताओं को अपने परिवार में भी बैठने का ठीक समय मिलता है वा नहीं। यदि वे इस अधिकार से वंचित किये जावेंगे तो गार्हपत्याग्नि चिल्ला उठेगा। वर्तमान युग के पूंजीवाद में सब से बड़ा दोष यह है कि वह आहवनीय का तो पूरा ध्यान रखते हैं। किन्तु श्रमजीवियों के गार्हपत्य का बिलकुल ध्यान नहीं रखते। इसीलिए दोनों के ठीक बीच बैठकर वह कहता है कि हे कर्त्तव्यक्षेत्र में जलने वाले संकल्पाग्नि, तथा हे परिवार में देदीप्यमान कुटुम्ब सुख, तुम दोनों मुझे दग्ध न करना, मुझ पर प्रहार न करना। यह तुम्हारा लोक है। किन्तु इससे पहले परमात्मा से कहता है कि व्यक्ति और समाज के आपाततः इन दो परस्पर विरोधी हितों को एक करना, आहवनीय और गार्हपत्य दोनों की मार से बचना, अति कठिन कार्य है। भगवन् ऐसी उलझनों को आप जैसा विश्वकर्म्मा ही सुलझाए। आप ही मेरे 'तनूपाः'—शरीर रक्षक हैं ॥२५॥

फिर अग्नि की ओर देखता हुआ जपता है—"**(ओं) विश्वे देवाः शास्तन मा यथेह होता वृतो मनवै यन्निषद्य प्र मे ब्रूत भागधेयं यथा वो येन पथा हव्यमा वो वहानि।**"

सो यह इसी प्रकार है जैसे किसी के लिए कोई भोजन तैयार करे और उससे पूछे आप कहिये आसन कहाँ लगाया जाय। किस प्रकार के वर्त्तनों में किस क्रम से परोसूं, जो आपको अच्छा लगे। इसी प्रकार यहाँ देवों से मार्गदर्शन मांगता है। मुझे

अनुशासन कीजिये कि जिससे ठीक मार्ग से यथाविधि मैं हवि आप तक पहुँचाऊँ। इसीलिए ऐसा जपता है।

मन्त्र का अक्षरार्थ समझ लेने से बात स्पष्ट हो जायगी—

"हे देवो, आप मुझे शासन कीजिये। मैं होता वरण किया गया हूँ। इस आसन पर बैठकर मैं किस प्रकार मनन करूँ। आप में किस-किस का कितना भाग है यह आप ही मुझे बतावें। और यह भी बतावें कि आपका हव्य आप तक कैसे पहुँचाऊँ।"

होता अपना आसन स्वीकार करते हुए भगवान् की विश्वकर्म्मन् इस शब्द से स्तुति करके अब सम्पूर्ण कार्यकर्त्ताओं को सम्बोधन करके अपने अन्दर नम्रता धारण करता है। जिस प्रकार आजकल की भाषा में एक दूसरे को सिटिजन या कामरेड कहते हैं वैदिक भाषा में देव कहते हैं। सभा में कार्यारम्भ करते हुए Ladies and Gentlemen, Citizans ; Comerades ! आदि सम्बोधनों के स्थान में वैदिक सम्बोधन है विश्वेदेवाः ॥२६॥

इति पञ्चमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

अथ पञ्चमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

इसके पश्चात्—"अग्निर्होता वेत्वग्नेर्होत्रं वेत्तु प्रावित्रं साधु ते यजमान देवता" यह वाक्य सब को सुनाकर बोलता है। फिर मन में "योऽग्नि होतारमवृथाः" इतना वाक्य बोलता है। और फिर आगे "ओ३म् घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमास्यस्व देवयुवं विश्ववारामीडामहै देवां २॥ ईडेन्यान् नमस्याम नमस्यान् यजाम यज्ञियान्।" यह वाक्य उच्च स्वर से बोले। (यह वाक्य स्रुगादायन वाक्य कहलाता है क्योंकि इसको सुनकर अध्वर्यु जुहू तथा उपभृत् आदि ग्रहण करता है)। सो इसका भाव अगली दो कण्डिकाओं में है (यह विधि कातीयेष्टिदीपक से ली गई है)।

अब आसन पर बैठकर सबसे पहला कार्य भगवान् की स्तुति पूर्वक यजमान को साधुवाद और अध्वर्यु को मार्ग-निर्देश करता है। सबसे पहले कहता है—"अग्निर्होता वेत्त्वाग्नेर्होत्रम्।" सो वास्तव में अग्नि अर्थात् परमात्मा ही इस यज्ञ का होता है मैं तो उसका सेवक होकर ही यह यज्ञ करता हूँ इस अग्निहोत्र के पूर्णतत्त्व को वही जाने यही कहता है। "अग्निहोत्रम्" जो कहा सो यह उसी का यज्ञ है। इसीलिए वही जाने "वेत्तु प्रावित्रम्" सो प्रावित्र अर्थात् रक्षा करने वाला यज्ञ है। सो वही इस यज्ञ को जाने यही कहता है। आगे है—"साधु ते यजमान देवता।" सो जिसका स्वयं अग्नि होता बने उस की देवता क्यों न प्रसन्न हो। यही कहता है। आगे कहता है—घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमास्यस्व।" सो यह अध्वर्यु को सबसे पहली आज्ञा देता है। परन्तु प्रश्न यह है कि आगे जुहू और उपभृत् दो स्रुच् धारण करनी हैं फिर यहाँ 'स्रुचम्' यह दोनों को एक-सी करके एकवचन क्यों कहा॥ १॥ सो इसका भाव यह है कि यजमान जुहू के समान है अर्थात् जुहू यजमान की प्रतिनिधि है। और जो उसका विरोधी है उसे कुछ नहीं देना चाहता वह उपभृत् के समान है। सो यदि दो का नाम ले तो यह पता लगे कि यज्ञ में अब तक परस्पर संगठन नहीं, शत्रु की चढ़ बनी है, वह यजमान का सहयोगी नहीं प्रतियोगी है। अत्ता जुहू के समान है। आद्य उपभृत् के समान है। सो यदि दो का नाम ले तो अत्ता के सामन आद्य को प्रतियोगी बना दे। इसलिए दोनों को एक-सी करके कहता है भाव यह है कि जब तक विद्वानों की संगति न मिले सारा संसार मनुष्य का अराति है। वह उसे कुछ नहीं देना चाहता। उदाहरण के लिए धरती किसान की अराति है वह उसे कुछ नहीं देना चाहती। किन्तु जब यजमान जुहू का प्रयोग करता है, अपने श्रम और धन का व्यय करता है, तो धरती उसके लिए अराति से उपभृत्—पालन करने वाली हो जाती है। इसलिए यजमान को जुहू और आय को उपभृत् तथा अराति कहा। जुहू को अत्ता और उपभृत् को आद्य कहा।

जुहू (Investment) तो सदा खाई जाती है, उपभृत्—आय सदा आगे खाने के लिए होती है। जिसमें से कुछ अंश ध्रुवा में चला जाता है। सो सच्चे कार्यकर्त्ता का कार्य यह है कि यह जुहू और उपभृत् एक रूप-सी हों, परस्पर लड़ें नहीं, और कार्य सदा चलता रहे। जैसे, घर सदा सम्पन्न रहे, इसको पारिवारिक भाषा में 'तुम्हारा चूल्हा सदा जलता रहे' इस प्रकार कहा जाता है। इसी प्रकार कार्यशाला में कार्य सदा चलता रहे इसको याज्ञिक भाषा में यों कहा कि अध्वर्यो तू सदा घृतभरी स्रुक् भुका। तेरे स्रुवे में घृत सदा बना रहे। और कार्य इतना अधिक चले कि देखनेवाले को घृा दीखे जुहू—उपभृत् का भेद न दीखे। और साथ ही अध्वर्यु को यह आज्ञा दी कि क्षण भर भी लोग व्यर्थ न गंवावें। स्रुवा में घी बना रहे ॥२॥

आगे वाक्य बोलता है "देवयुवं विश्ववारान्" सो यह इस स्रुगुपलक्षित आय तथा विनियोग कर्म की स्तुति करता है। महिमा गाता है। इसीलिए कहता है "देवयुवं विश्ववाराम्" अर्थात् हमारे कार्य-भवन का कार्य देवों की ओर जानेवाला हो, स्वार्थ पूर्ण न हो किन्तु विश्व का कल्याण करनेवाला हो। आगे कहता है "ईडामहै देवाँ २॥ **ईडेन्यान् नमस्याम नमस्यान् यजाम यज्ञियान्**" सो इसका भाव यह है कि जो देव ईडेन्य हैं उन्हें ईडन करें। जो नमस्य हैं उनको नमन करें। जो यज्ञियों को यजन करें। सो साधारण मनुष्य ईडेन्य हैं। पितर नमस्य हैं। देव यज्ञिय हैं। सो इसका भाव यह है कि होता अध्वर्यु को बताता है कि हर प्रकार के श्रमजीवी की मनोवृत्ति के भेद को समझना चाहिए। जो साधारण लोग हैं वे अन्न तथा प्रशंसा की सदा चाह रखते हैं, उन्हें यह दोनों सदा मिलने चाहिएँ। इडा नाम अन्न का है। दूसरी ओर '**ईड स्तुतौ**' धातु है इससे पता लगता है कि इडा में भोजन तथा स्तुति दोनों सम्मिलित हैं। सो साधारण श्रमजीवी दो पदार्थ चाहता है। एक अन्न दूसरे शाबाशी। उन्हें अन्न से तृप्त रखना चाहिए और पीठ सदा ठोकते रहना चाहिए। केवल अन्नादि सुख सामग्री से उनका सन्तोष नहीं होता। फिर किसी भी बड़े कार्य में लगे हुए श्रमजीवियों को इस बात से भी उत्साह होता है कि इस यज्ञ के यजमान तथा ऋत्विक् पितरों के साथ अर्थात् जरा रोगाघातादि के कारण जो उनके भाई क्षीण हो जाते हैं, उनको भी सदा अन्न तथा आदर मिलता है वा नहीं। सो यह दोनों नमस् के अर्थ हैं। साधारण मनुष्य स्तुति चाहते हैं। वृद्ध लोग आदर चाहते हैं। किन्तु सबसे श्रेष्ठ देव लोग परोपकार चाहते हैं। उन्हें यह सन्तोष होना चाहिए कि उनके द्वारा कुछ लोक का भी कल्याण हो रहा है वा नहीं। वे यज्ञ चाहते हैं। सब देवों के देव परमात्मा की पूजा के लिए उसकी प्रजा के निमित्त दान कर्म में संगठित होना चाहते हैं। वे अपना भला नहीं माँगते, लोकहित माँगते हैं। सो होता कहता है कि हे अध्वर्यो आप इस प्रकार कार्य चलाइये जिससे हर एक को अपनी वृत्ति के अनुरूप कार्य मिल जावे। ३ ॥

इस प्रकार यज्ञ पूर्ण तब होता है जब संसार का कोई भी पदार्थ जो यज्ञोपयोगी हो यहाँ तक कि पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति, ईंट-पत्थर आदि यज्ञ में जहाँ उपयोगी हों, लगा लेने चाहिएँ। क्योंकि जो प्रजा यज्ञ में काम न आई वह अभागी है। सो इस प्रकार जो अभागी नहीं हैं उन्हें यज्ञ में काम लाता है। अब प्रश्न उठता है कि मनुष्य तो श्रम करके यज्ञ में काम आ जाते हैं किन्तु पशु-पक्षी वृक्ष-वनस्पति कहाँ काम आते हैं सो उसका उत्तर देते हैं कि मनुष्यों तथा देवों द्वारा घी, दूध अन्न आदि द्वारा पशुओं का उपयोग तो साधारण मनुष्य भी जानते हैं। और शेष पक्षी वनस्पति तथा अन्य द्रव्यों का उपयोग देव अर्थात् विद्वान् जानते हैं। और वे सब को किसी न किसी

प्रकार यज्ञ अर्थात् लोकसेवा में लगा ही लेते हैं। इस प्रकार यह सब जो कुछ विश्व दीखता है यज्ञ की सामग्री है।

अमेरिका के एक जिले में झील के कारण मच्छर बहुत थे। मलेरिया ज्वर उस भाग को छोड़ता ही न था। अन्त को किसी विद्वान् ने सुझाया कि यहाँ चिमगादड़ पालो। सो झील के किनारे सब वृक्षों पर चमगादड़ें पाली गईं। उन्होंने सब मच्छर खाकर समाप्त कर डाले और वह प्रदेश रोग रहित हो गया। इसी प्रकार देव लोग सब जीवों से यज्ञ में काम ले लेते हैं ।।४।।

"सो यह "(१) अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रम् (२) वेत्तु प्रावित्रम् (३) साधु ते यजमान देवता (४) घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमास्यस्व (५) देवयुवम् (६) विश्ववाराम् (७) ईडामहै देवाँ ३।। ईडेन्यान् (८) नमस्याम नमस्यान् (९) यजाम यज्ञियान्" यह नौ व्याहृतियां हुईं। सो पुरुष में भी ९ प्राण हैं। दो नासिका, दो कान, दो नेत्र, एक मुख, एक मूत्र, एक गुदा, ये ९ प्राण द्वार हैं। बस इन नौ व्याहृतियों से यहाँ भी यज्ञ रूप पुरुष में ९ प्राण उत्पन्न कर दिये, इसीलिए ९ व्याहृतियाँ हैं। तात्पर्य यह कि इन ९ व्याहृतियों पर आचरण करने से कार्य सर्वांग सम्पन्न हो जाता है। जब होता कार्य का निरीक्षण तथा सबकी रक्षा हो रही है वा नहीं यह देखता है, तो होत्र और प्रावित्र सम्बन्धी दो चक्षु हो गए। यजमान का लाभ हो रहा है वा नहीं, तथा लोकहित होता है वा नहीं, इसका यजमान के मुख से तथा उत्पन्न पदार्थों के व्यवहारकर्त्ताओं के मुख से श्रवण करके जानता है तो यह दो कान हो गये। जब वह यह देखता है कि अध्वर्यु के मुख से निरन्तर यह करो, यह न करो, ऐसे आदेश निकल रहे हों तो मुख हो गया। जब वह देखता है कि इससे संसार की जीवन-यात्रा में सुख लाभ होता है वा नहीं तथा विद्वानों को यथोचित कार्य मिला वा नहीं तो यह दो नासिका के प्राण हो गए। जब वह देखता है कि साधारण मनुष्यों के अन्नादि में कोई दोष तो नहीं यदि दोष हो तो उन दोषयुक्त पदार्थों को बाहर फिकवा देता है यह गुदा का कार्य हो गया। और जब वह माननीय पुराने सेवकों का कहीं-कहीं किसी ने अनादर किया हो तो दण्ड देकर इस दुर्गन्ध युक्त व्यवहार को कार्यालय से बाहर करता है तो उसने मूत्रयन्त्र का कार्य किया इस प्रकार यज्ञ सर्वांग पूर्ण हुआ ।।५।।

अब आगे प्रयाज की विधि होगी। तत्सम्बन्धी ५ व्याहृतियों का वर्णन करते हैं। विधि इस प्रकार है। जिस समय होता "घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमास्यस्व" यह वाक्य पढ़ रहा होता है उस समय अध्वर्यु दोनों हाथों से जुहू को पकड़कर उपभृत् के अग्रभाग के ऊपर रख कर "घृतवतीम्" इस शब्द के उच्चारण होते ही जुहू उपभृत् लिये हुए हवियों के उत्तर की ओर परिधियों के पीछे से बाएँ पैर से वेदि के दक्षिण भाग की ओर जाकर ईशानाभिमुख खड़ा होकर अग्नीध् के प्रति **'ओं श्रावय'** यह वाक्य कहे। उस पर अग्नीध् **'अस्तु श्रौषट्'** ऐसा कहे। फिर होता से **'ओं समिधो यज'** ऐसा कहे। और जिस समय **"ओं श्रावय"** ऐसी आज्ञा दे उस समय जुहू उपभृत् को नाभि के समीप धारण करे। फिर जुहू को पूर्व की ओर उतार कर जब होता **"ओं ये३ यजामहे समिधः समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौ३षट्"** इस प्रकार वषट्कार करे उस समय अध्वर्यु जुहू में पड़े घृत के तृतीयांश को जहाँ सबसे अच्छी अग्नि जल रही हो वहां हवन करे। उसके पश्चात् यजमान **"इदं समिद्भ्यो न मम"** इस वाक्य से जल में घृत छोड़कर **"एको ममैका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः। त्विषिमान् भूयासम्"** यह वाक्य बोले। यह प्रथम प्रयाज हुआ। अगले प्रयाज में **"ओं ये३ यजामहे तनूनपादाज्यस्य वेतु।"** इस प्रकार

समिधः के स्थान में तनूनपात् यह वाक्य बोले । त्याग-काल में **"इदं तनूनपाते न मम"** ऐसा बोले फिर **"द्वौ मम द्वे तस्य योऽस्मान्**···अपचितिमान् भूयासम् ।" यह वाक्य बोले । यहाँ त्विषिमान् के स्थान में अपचितिमान् इतना विशेष है । जितना घृत बचा था उसका आधा हवन करे । तीसरे प्रयाज में **"ये यजामहे इडो अग्न आज्यस्य वेतु इदमिड्भ्यो न मम त्रयो मम तिस्रस्तस्य योऽस्मान्**···यशस्वी भूयासम्" यह अनुमन्त्रण वाक्य है । शेष **"ओं श्रावय"** आदि पूर्ववत् । जुहू का सम्पूर्ण घृत हवन करे ।

फिर चतुर्थ प्रयाज में **"ये यजामहे बर्हिरग्न आज्यस्य वेतु इदं बर्हिषे न मम । चत्वारो मम चतस्रस्तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि**···ब्रह्मवर्चसी भूयासम्" इस प्रकार अनुमन्त्रण पढ़े । शेष पूर्ववत् (उपभृत् में से आधा घृत जुहू में डाल कर हवन करे) पञ्चम प्रयाज में होता **"ओं ये यजामहे स्वाहाग्नि स्वाहा सोमं स्वाहाग्नि स्वाहा (उपांशु) ऽग्नीषोमौ (उच्चैः)स्वाहाग्निषोमौ स्वाहा देवा आज्यपा जुषाणा अग्न आज्यस्य व्यन्तु३ वौ३षट्"** यह वाक्य बोले अध्वर्यु । शेष घृत को थोड़ा-सा बचाकर हवन कर दे ।

फिर यजमान **"ओं इदमग्नये सोमायाग्नये (उपांशु) अग्नीषोमाभ्याम् (उच्चैः) अग्नीषोमाभ्यां देवेभ्य आज्यपेभ्योऽग्नये स्विष्टकृते च न मम"** इस प्रकार जल में घृत छोड़कर **"पञ्च मम न तस्य किञ्चन योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः"** ऐसा कहे **"अन्नादो भूयासम्"** यह अनुमन्त्रण वाक्य बोले ।

इस प्रकार प्रयाजों में यह क्रम है ।

अध्वर्यु—ओं श्रावय

अग्नीध्—अस्तु श्रौषट्

अध्वर्यु—ओं समिधो यज

होता—ये यजामहे···वौषट्

यजमान—इदं समिद्भ्यो न मम एको ममैका तस्य योऽस्मान्० । त्विषिमान् भूयासम् ।

इसमें हमने देखा कि चाहे विद्या के कारण होता का स्थान सब से ऊँचा है परन्तु आज्ञा वह अध्वर्यु के द्वारा ही देगा । अध्वर्यु कहता है, कि हे अग्नीध् सबको आज्ञा सुना दो इससे स्पष्ट है कि होता को भी अपनी आज्ञा अध्वर्यु द्वारा ही देनी चाहिए । अब अग्नीध् कहता है **"अस्तु श्रौषट्"** अर्थात् सब सुनो तात्पर्य यह कि जब अध्वर्यु ने अग्नीध् को आज्ञा दे दी, तो उसका उत्तरदायित्व हट गया । अब जब तक वह आकर सूचना न दे कि आज्ञा सब को पहुँच गई उत्तरदायित्व अग्नीध् का है । फिर अग्नीध् जब सूचना दे दे तो फिर अध्वर्यु का उत्तरदायित्व हुआ । उसके पश्चात् फिर वह होता से कहता है कि देखिए आपकी इच्छानुसार कार्य हुआ कि नहीं ? बस अब फिर होता का उत्तरदायित्व हो गया । अब जो प्राप्ति होगी वह यजमान की । इसलिए त्याग उसका कर्त्तव्य है । त्याग का नियम यह है कि वह अपने विरोधियों तक को सन्तुष्ट कर सके, तब समझना चाहिए कि उसने त्याग ठीक किया । जिस सभा के हाथ में यह निर्णय करने का अधिकार हो कि यजमान ठीक त्याग कर रहा है वा नहीं, उसमें उसे सब अपने आदमी ही न भर लेने चाहिएं, परन्तु अधिक से अधिक विरोधी रखने चाहिएं केवल एक सम्मति अपनी अधिक रखनी चाहिए जिससे कार्य नष्ट न हो जावे । और जब बहुसम्मति उसके विरुद्ध न हो तो या तो वह बात छोड़ देनी चाहिए या वह पद छोड़ देना चाहिए ।

अब कण्डिका-क्रम से व्याख्या करते हैं, विशेष व्याख्या प्रसङ्गानुसार स्वयं आ जावेगी।

प्रथम आश्रावण विधि को लीजिये—

यज्ञ देवों से परे भाग गया। देव लोगों ने उसे पास बुलाया। हमारी बात सुन, हमारी ओर मुड़ आ। सो वह 'तथास्तु' कहकर देवों की ओर मुड़ आया जब वह मुड़ आया तो उस लौट कर आए हुए यज्ञ से देव-यजन करके वह यह बन गए अर्थात् देव बन गए।

तात्पर्य यह कि संगठन के मौलिक नियमों में से एक नियम यह है कि इसका पूर्ण निश्चय हो जाना चाहिए कि जिसको जो आज्ञा दी गई है वह उसे मिल गई है वा नहीं। तथा हर कार्य के आरम्भ में कार्यकर्त्ताओं का इस विषय में पूरा ध्यान होना चाहिए कि उन्हें क्या आज्ञा मिल रही है। जिस संगठन में इसका पूरा ध्यान नहीं रक्खा जाता वह अपने उद्देश्य में कभी सफल नहीं होता ॥६॥

सो वह जो "ओं श्रावय" ऐसा कहता है सो वह यज्ञ को निमन्त्रण देता है हमारी बात सुन, हमारी ओर लौट आ, फिर जो अग्नीध् "अस्तु श्रौषट्" ऐसा कहता है सो यज्ञ मानो निमन्त्रण पर लौट आता है। कहता है, अस्तु ऐसा ही होगा। बस वह जब लौट आता है तो उसी को वीर्य समझ कर उसी के बल पर ऋत्विज् लोग यज्ञ सम्प्रदायानुसार कार्य करते हैं सो यह सारा यज्ञ सम्प्रदाय वाणी अर्थात् आज्ञा-पालन पर आश्रित है। यजमान की इच्छा वाणी द्वारा ही आगे चलती है। वह हर स्थान पर स्वयं उपस्थित नहीं हो सकता। परन्तु इस आज्ञा-पालन के बल पर उसके परोक्ष में भी यथावत् काम होता रहता है। जिस प्रकार कूए से पूरा घड़ा भरकर घर में लाते हैं, वहां से बिना गिराये दूसरे पात्रों में डालते हैं, यदि वह घड़े का जल मार्ग में गिर जाय तो घर का काम कैसे चले। इसी प्रकार जो आज्ञा दी गई वह रास्ते में गिरकर कुछ न्यून हो जावे तो दूर पर जाकर गिरते-गिरते कुछ भी शेष न रहे। इसलिए जैसे पनिहारी कुए से जल भर कर पूरा उतना ही घर पहुँचाती है इसी प्रकार ऋत्विज् भी आज्ञाओं का न्यूनाधिक्य रहित हो कर पालन करते हैं, तब यज्ञ पूरा होता है। सो यह सारा यज्ञ-सम्प्रदाय वाणी द्वारा पूरा होता है यज्ञ है क्या, वाणी का ही तो सारा खेल है, वाणी ही यज्ञ का बल है। यदि आज्ञा-पालन ठीक न हो तो कोई संगठन क्षण भर भी नहीं चल सकता। जिस संगठन में जितनी विचार पूर्वक वाणी उच्चारण की जाती है और जितना पूर्णरूप से उस आज्ञा का पालन होता है उतना ही वह बलवान् होता है। इसीलिए कहा 'वागु हि रेतः' वाणी ही यज्ञ का वीर्य है। सो इसी के द्वारा सारा सम्प्रदाय पूरा करते हैं ॥७॥ सो "ओं श्रावय अनुब्रूहि" यह कहने के पश्चात् अध्वर्यु प्रत्याश्रावण तक और कुछ बातचीत न करे, जब वह "ओं श्रावय" ऐसा कहता है तो यज्ञ अग्नीध् के पास चला जाता है ॥८॥

जब अग्नीध् यथास्थान आज्ञा पहुँचाने के लिए कहता है "अस्तु श्रौषट्" और फिर आकर अध्वर्यु से कहता है कि आपकी आज्ञा सुना दी गई तो इस प्रत्याश्रावण के पश्चात् दायित्व फिर अध्वर्यु पर आ जाता है। सो जब तक प्रत्याश्रावण (Reporting Back) न हो तो अग्नीध् इधर-उधर की कोई बात न करे ॥९॥

सो अध्वर्यु भी जब तक होता से 'यज' ऐसा न कह ले इधर-उधर की कोई बात न करे। यज कहने के पश्चात् अध्वर्यु यज्ञ को होता के अर्पण कर देता है। यह एक

का दूसरे को देना ही सम्प्रदाय है। और यह वाणी और विश्वास पर ही अवलम्बित है।१०। सो होता वषट्कार तक इधर-उधर की कोई बात न करे। वषट्कार वह अवस्था है जैसे वीर्य योनि में डालने के समय। इससे पहले सब तय्यारी थी यह समाप्ति है। सो वषट्कार का अर्थ है परिपूर्णता की अवस्था। परन्तु इसकी समाप्ति कहीं नहीं। एक वषट्कार के पश्चात् दूसरा ओंकार आरम्भ होता है। भोजन तैयार हुआ, पाकशाला का वषट्कार हुआ, भोजनशाला का ओंकार हुआ, फिर वीर्य तैयार हुआ, शरीर शक्ति का वषट्कार हुआ, रतिशाला का ओंकार हुआ, फिर वीर्य-विसर्जन हुआ, रतिशाला का वषट्कार हुआ, गर्भावक्रान्ति का ओंकार हुआ, फिर प्रसूति हुई, गर्भशय्या का वषट्कार हुआ, शिशुशाला का ओंकार हुआ, फिर पाठशाला के लिए बच्चा चला, शिशुशाला का वषट्कार हुआ, पाठशाला का ओंकार हुआ, फिर ब्रह्मचारी स्नातक हुआ पाठशाला का वषट्कार हुआ, राष्ट्रयज्ञ का ओंकार हुआ, फिर स्नातक के जीवन के कर्मों से सन्तुष्ट होकर भगवान् ने उसे अपनी गोद में ले लिया, यह परम वषट्कार है। वहां पहुंचने के पीछे मर्यादानुसार संसार की भलाई के लिए संसार में आये तो भी सम्पूर्ण चक्र अति शीघ्र समाप्त कर के फिर वहीं लौट जाता है। इसीलिए यह परम वषट्कार है। सो होता जब किसी पदार्थ को वषट्कार तक पहुंचाता है तो वह 'प्रजायते' अर्थात् मानो जन्म लेता है। यह हविर्यज्ञ का प्रकार है। सोमयाग की विधि आगे कहते हैं।११। ग्रह अर्थात् सोमरस युक्त पात्र को लेकर अध्वर्यु उपाकरण तक इधर-उधर की कोई बात न करे। उपाकरण का अर्थ है उद्गाता द्वारा स्तोत्र-पाठ। सो उपाकरण के समय अध्वर्यु यज्ञ को उद्गाता को दे देता है।१२। फिर उद्गाता भी स्तोत्र पाठ की अन्तिम ऋचा तक अपव्याहरण अर्थात् तनिक भी ध्यान इधर-उधर करने वाली बात न करे। जब अन्तिम ऋचा का पाठ होता है तो उद्गाता लोग यज्ञ को होता के अधिकार में अर्पण कर देते हैं।१३। सो होता न बोले जब तक वषट्कार न हो तो वषट्कार पूर्वक अग्नि में हवन ऐसा हुआ मानो वीर्य योनि में पड़ा। फिर वह उत्पत्ति का कारण होता है निष्फल नहीं जाता।१४। सो यदि वह बोलने लगे तो वह इसी प्रकार है मानो किसी को जल का पात्र भर के रखवाली के लिए दिया गया और उसने बखेर दिया, बस यहां भी यजमान का हित रूपी जल बखेर दिया गया। सो जहां ऋत्विज् लोग एक-दूसरे के साथ उदारता पूर्ण सहयोग करते हुए चलते हैं, वहां सब कार्य सिद्ध होते हैं। कोई भूल नहीं करता। इसलिए यज्ञ का भरण इसी प्रकार करना चाहिए।

तात्पर्य यह कि संगठन का दूसरा मौलिक सिद्धान्त एकाग्रता है। जब जिसके कर्त्तव्य-पालन का समय हो उस समय उसे संसार भर में अन्य किसी बात का ध्यान न होना चाहिए।१५। सो यह पांच आहुतियां हुईं—(१) ओं श्रावय (२) अस्तु श्रौषट् (३) यज (४) ये यजामहे (५) वौषट्।

पांच यज्ञ-संख्या है—क्योंकि यज्ञ में अयुग्म संख्या होना आवश्यक है इसके बिना बहुमत का निर्णय नहीं हो सकता। इसीलिए ५ व्याहृति हैं। वषट्कार ५ वीं सम्मति से ही होता है। पशु मात्र में भी ५ संख्या प्रधान है (लोम त्वक्मांस अस्थिमज्जा शा० १।२।३।८)। संवत्सर में भी वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त ये पांच ऋतु हैं। यह ५ संख्या यज्ञ की एक विशेष मात्रा है एक सम्पत् है।१६।

इन सब व्याहृतियों के अक्षर मिलाने से १७ होते हैं।

ओं श्रावय=४
अस्तु श्रौषट्=४
यज =२
ये यजामहे =५
वौषट् =२

१७

संसार का सर्वश्रेष्ठ सङ्गठन संवत्सर भी १२ मास+५ ऋतु १७ संख्या वाला है। सो इस यज्ञ की यह एक विशेष मात्र एक विशेष शोभा हुई कि यह संवत्सर के तुल्य है।१७।

देखो इस विश्व के सूर्य्यादि देव भी पौर्णमास याग कर रहे हैं। पुरवा वायु चली मानो अध्वर्य्यु ने अग्नीध् को कहा "ओं श्रावय"। जब बादल आ खड़े हुए मानो अग्नीध् ने आकर सूचना दी कि सेवक हाजिर है, अब आप उनकी सुनिये अर्थात् "अस्तु श्रौषट्"। बिजली चमकने लगी मानो होता को यज्ञ की आज्ञा हुई। गर्जन सुनाई दी मानो होता ने कहा कि हम सब लोग यज्ञ कर रहे हैं। वर्षा आरम्भ हुई मानो होता ने आज्ञा दी "वौ३षट्"। १८। सो यदि यजमान वृष्टि-काम हो और इष्टि से यज्ञ करना चाहे तो दर्श पूर्ण मास में ही कह दे मैं वृष्टि चाहता हूँ। सो अध्वर्यु को कहे कि उन पदार्थों का मन से ध्यान कर अर्थात् प्राप्त करने की चिन्ता कर जिन से पुरवा वायु चले तथा बिजली चमके। अग्नीध् से कहे कि उन पदार्थों की चिन्ता कर जिनसे बादल आवें। होता से कहे कि उन उपायों को सोच जिनसे बादल टकरा कर गर्जें और वर्षा हो। और ब्रह्मा से कहे कि आप इन सबकी चिन्ता करें कि कहीं कोई त्रुटि न रह जावे। जहां ऋत्विज् इस प्रकार परस्पर सहयोग करें वहां अवश्य वर्षा होती है। वे पदार्थ कौन से हैं इसकी खोज आवश्यक है। इस सम्बन्ध में करीर का नाम सुना गया है करीर के बड़े-बड़े गट्ठर जला कर देखना चाहिए उन से वृष्टि होती है या नहीं।१६।

इसी प्रकार विद्वानों ने सदा इस विराट् अर्थात् मानव सृष्टि को दोहन किया। जब अध्वर्य्यु ने कहा "ओं श्रावय" तो इस गौ को बुलाया। जब वह सामने खड़ी हुई और विद्वानों ने कहा "अस्तु श्रौ३षट्" अच्छा अब हमारा आदेश सुनो, तो मानो बछड़ा छोड़ा गया और गौ दूध देने लगी। जब ऐसी आज्ञा पालक प्रजा को कार्य्य बताकर कहा कि अब इसे करो तो गौ वश में आई अर्थात् जीती गई। जब उन्होंने कार्य आरम्भ किया तो दोहन आरम्भ हुआ। कार्य सम्पन्न हुआ मानो दूध से बर्तन भर गया। यह प्रजा ही विराट् है। इसी का यह दोहन प्रकार है। जो इस विराट् के दोहन का मर्म जानता है उसे यह सब कमनाएं दुह कर देती हैं। तात्पर्य यह कि जहां एक कार्यक्रम तैयार करे, एक प्रजा के मन को वश में करे, फिर प्रजा विद्वानों की आज्ञा-पालन करे, वहाँ सब काम सिद्ध होते हैं इस प्रकरण में प्रजा अर्थ विराट् का किया है।२०।

इति पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम्।

पञ्चमाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम्

अब प्रयाज की व्याहृतियों का वर्णन करने के पश्चात् पांच प्रयाजों का परस्पर सम्बन्ध बताते हैं। प्रयाज का अर्थ है कार्यानुसार समय का विभाग करना, और उसका यथावत् पालन, अर्थात् यज्ञ में समय का ठीक उपयोग। सो यहाँ याज्ञवल्क्य ने एक इस प्रकार का समय-विभाग दिया है जो संसार भर में सब के लिए उपयोगी है। सो अब उसी की व्याख्या आरम्भ करते हैं।

ऋतवो ह वै प्रयाजाः। तस्मात् पञ्च भवन्ति पञ्च ह्यृतवः ।१। देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरऽएतस्मिन् यज्ञे प्रजापतौ पितरि संवत्सरेऽस्माकमयं भविष्यत्यस्माकमयं भविष्यतीति। २। ततो देवाः अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्त एतान् प्रयाजान् ददृशुस्तैरयजन्त तैर्ऋतून् संवत्सरं प्राजयन् ऋतुभ्यः संवत्सरात् सपत्नानन्तरायंस्तस्मात् प्रजयाः, प्रजया ह वै नामैतद् यत् प्रयाजा इति तथो एवैष एतैर्ऋतून्त्संवत्सरं प्रजयत्यृतुभ्यः संवत्सरात् सपत्नानन्तरेति तस्मात् प्रयाजैर्यजते। ३। ते वा आज्यहविषो भवन्ति। वज्रो वा आज्यमेतेन वै देवा वज्रेणाज्येनर्तून्त्संवत्सरं प्राजयन्नृतुभ्यः संवत्सरात् सपत्नानन्तरायंस्तथो एवैष एतेन वज्रेणाज्येन ऋतून्त्संवत्सरं प्रजयत्यृतुभ्यः संवत्सरात् सपत्नानन्तरेति तस्मादाज्यहविषो भवन्ति ।३। एतद्वै संवत्सरस्य स्वं पयः। यदाज्यं तत्स्वेनैवैनमेतत् पयसा देवाः स्वयकुर्वत तथो एवैनमेष एतत् स्वेनैव पयसा स्वीकुरुते तस्मादाज्यहविषो भवन्ति। ५। स यत्रैव तिष्ठन् प्रयाजेभ्य आश्रावयेत्। तत एव नापक्रामेत् संग्रामो वा एष सन्निधीयते यः प्रजाजैर्यजते यतरो वै संयत्तयो पराजयते ऽप वै संक्रामत्यभितरामु वै जयन्क्रामति तस्मादभितरामभितरामेव क्रामेदभितरामभितामाहुतीर्जुहुयात् ॥ ६ ॥ तदु तथा न कुर्यात्। यत्रैव तिष्ठन् प्रयाजेभ्य आश्रावयेत्तत एव नापक्रामेद्यत्रोऽएव समिद्धतमं मन्येत तदाहुतीर्जुहुयात्समिद्ध होमेन ह्येव समृद्धा आहुतयः ॥ ७ ॥ स आश्राव्याह। समिधो यजेति तद्वसन्तꣳ समिन्द्धे स वसन्तः समिद्धोऽन्यानृतून्त्समिन्द्धऽऋतवः समिद्धाः प्रजाश्च प्रजनयन्त्योषधीश्च पचन्ति तद्वेव खलु सर्व्वानृतून्निराहाथ यज यजेत्येवोत्तरानाहाजामितायै जामि ह कुर्याद्यत्तनूनपातं यजेडो यजेति ब्रूयात्तस्माद्यज यजेत्येवोत्तरानाह ॥ ८ ॥स वै समिधो यजति। वसन्तो वै समिद्वसन्तमेव तद्देवा अवृञ्जत वसन्तात्सपत्नानन्तरायन्वसन्तम्वेवैष एतद् वृङ्क्ते वसन्तात्सपत्नानन्तरेति तस्मात्समिधो यजति ।।९।। अथ तनूनपातं यजति। ग्रीष्मो वै तनूनपाद् ग्रीष्मो ह्यासां प्रजानां तनूस्तपति ग्रीष्ममेव तद्देवा अवृञ्जत ग्रीष्मात्सपत्नानन्तरायन् ग्रीष्मम्वेवैष एतद्वृङ्क्ते ग्रीष्मात्सपत्नानन्तरेति तस्मात्तनूनपातं यजति ॥ १० ॥ अथेडो यजति। वर्षा वा ऽइड इति हि वर्षा इडो यदिदं क्षुद्रꣳसरीसृपं ग्रीष्महेमन्ताभ्यान्निरयक्तं भवति तद्वर्षा ईडितमिवान्नमिच्छमानं चरति तस्माद्वर्षा इडो वर्षा एव तद्देवा अवृञ्जत वर्षाभ्यः

सपत्नानन्तरायन्वर्षा उऽएवैष एतद्वृङ्क्ते वर्षाभ्यः सपत्नानन्तरेति तस्मादिडो यजति ॥११॥ अथ बर्हिर्यजति । शरद्वै बर्हिरिति हि शरद् बर्हिर्या इमा ओषधयो ग्रीष्म-हेमन्ताभ्यां नित्यक्ता भवन्ति ता वर्षा वर्द्धन्ते ताः शरदि बर्हिषो रूपं प्रस्तीर्णा शेरे तस्माच्छरद् बर्हिः शरदमेव तद्देवा अवृञ्जत शरदः सपत्नानन्तरायंच्छरदम्वेवैष एत-द्वृङ्क्ते शरदः सपत्नानन्तरेति तस्माद् बर्हिर्यजति ॥ १२ ॥ अथ स्वाहा स्वाहेति यजति अन्तो वै यज्ञस्य स्वाहा स्वाहेति यजति । अन्तो वै यज्ञस्य स्वाहाकारोन्त ऋतूनाᳬ-हेमन्तो वसन्ताद्धि परार्द्धयोऽन्तेनैव तदन्तं देवा अवृञ्जतान्तेनान्तात्सपत्नानन्तरायन्नन्ते-नोऽएवैष एतदन्तं वृङ्क्तेऽन्तेनान्तात्सपत्नानन्तरेति तस्मात्स्वाहा स्वा हेति यजति ॥१३॥ तद्वाऽएतत् । वसन्त एव हेमन्तात्पुनरसुरेतसमादध्येष पुनर्भवति पुनर्ह वाऽअस्मिल्लोके भवति य एवमेतद्वेद ॥ १४ ॥ स वै व्यन्तु वेत्विति यजति । अजामितायै जामि ह कुर्याद्यद्वयन्तु व्यन्त्वित्येव वैव यजेद्वेतु वेत्विति वा व्यन्त्विति वै योषा वेत्विति वृषा मिथु-नमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्माद्व्यन्तु वेत्विति यजति ॥ १५ ॥ अथ चतुर्थे प्रयाजे समान-यति बर्हिषि । प्रजा वै बर्हिरेत आज्यं तत्प्रजास्वेवैतद्रेतः सिच्यते तेन रेतसा सिक्ते-नेमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्त्तं प्रजायन्ते तस्माच्चतुर्थे प्रयाजे समानयति बर्हिषि ॥ १६ ॥ संग्रामो वाऽएष सन्निधीयते । यः प्रयाजैर्यजते यतरं वै संयत्तयोर्मित्रमागच्छति स जयति तदेतदुपभृतोऽधि जुहूं मित्रमागच्छति तेन प्रजयति तस्माच्चतुर्थे प्रयाजे समानयति बर्हिषि ॥ १७ ॥ यजमान एव जुहूमनु । योऽस्माऽअरातीयति स उपभृतमनु यजमाना-यैवैतद्द्विषन्तं भ्रातृव्यं बलिᳬहारयत्यत्तैव जुहूमन्वाद्य उपभृतमन्वत्रऽएवैतदाद्यं बलिᳬ-हारयति तस्माच्चतुर्थे प्रयाजे समानयति ॥ १८ ॥ स वाऽअनवमृशन्त्समानयति । स यद्धावमृशेद्यजमानं द्विषता भ्रातृव्येनावमृशेदत्तारमाद्येनादमृशेत्तस्मादनवमृशन्त्समान-यति ॥१९॥ अथोत्तरां जुहूमध्यूहति । यजमानमेवैतद्द्विषति भ्रातृव्येऽध्यूहत्यत्तारमाद्ये-ऽध्यूहति तस्मादुत्तरां जुहूमध्यूहति ॥२०॥ देवा ह वाऽऊचुः । हन्त विजितमेवानु सर्वं यज्ञᳬसमस्थापयाम यदि नोऽसुररक्षसान्यासजेयुः सᳬस्थित एवनो यज्ञः स्यादिति ॥ २१ ॥ तऽउत्तमे प्रयाजे । स्वाहाकारेणैव सर्वं यज्ञᳬसमस्थापयन्त्स्वाहाग्निमिति तदाग्ने-यमाज्यभागᳬ समस्थापयन्त्स्वाहासोममिति तत्सौम्यमाज्यभागᳬसमस्थापयन्त्स्वाहा-ग्निमिति तद्य एष उभयत्राच्युत आग्नेयः पुरोडाशो भवति तᳬसमस्थापयन् ॥ २२ ॥ अथ यथादेवतᳬ । स्वाहा देवा आज्यपा इति तत्प्रयाजानुयाजात्समस्थापयन्प्रयाजा-नुयाजा वै देवा आज्यपा जुषाणोऽअग्निराज्यस्य वेत्विति तदग्निᳬ स्विष्टकृतᳬसम-स्थापयन्नग्निर्हि स्विष्टकृत्स एषोऽप्येतर्हि तथैव यज्ञः सन्तिष्ठते यथैवैनं देवाः समस्थापयं-स्तस्मादुत्तमे प्रयाजे स्वाहास्वाहेति यजति यावन्ति हवीᳬषि भवन्ति विजितमेवैतदनु सर्वं यज्ञᳬ सᳬस्थापयति तस्माद्यदत ऊर्ध्वं विलोम यज्ञे क्रियेत न तदाद्रियेत सᳬ स्थितो मे यज्ञ इति ह विद्यात्सहैष यज्ञो यातयामेवास यथा वषट्कृतᳬ हुतᳬस्वा हाकृतम् ॥२३॥ ते देवा अकामयन्त । कथंन्विमं यज्ञं पुनराप्याययेमायातयामानं कुर्याम तेनायातयाम्ना प्रचरेमेति ॥२४॥ स यज्जुह्वामाज्यं परिशिष्टमासीत् । येन यज्ञᳬस-मस्थापयंस्तेनैव यथापूर्वᳬहवीᳬष्यभ्यघारयन्पुनरेवैनानि तदाप्याययन्नयातयामान्य-कुर्वन्नयातयाम ह्याज्यं तस्मादुत्तमं प्रयाजमिष्ट्वा यथापूर्वᳬहवीᳬष्यभिघारयति पुनरेवैनानि तदाप्याययत्ययातयामानंकरोत्ययातयामं ह्याज्यं तस्माद्यस्य कस्य च हविषोऽवद्यति पुनरेव तदभिघारयति स्विष्टकृतऽएव तत्पुनराप्यायत्ययातयामं करोत्यथ यदा स्विष्टकृतेऽवद्यति न ततः पुनरभिघारयति नो हि ततः काञ्चन हविषोऽन्नावाहुति-ᳬहोष्यन्भवति ॥२५॥

इति पञ्चमाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ।

अथ पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम्

स वै समिधो यजति । प्राणा वै समिधः प्राणानेवैतत्समिन्धे प्राणैर्ह्ययं पुरुषः समिद्धस्तस्मादभिमृशेति ब्रूयाद्यद्युपतापी स्यात्स यद्युष्णः स्यादेव तावच्छऽँसेत समिद्धो हि स तावद्भवति यद्युशीतः स्यान्नाशऽँसेत तत्प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति तस्मात्समिधो यजति ॥१॥ अथ तनूनपातं यजति । रेतो वै तनूनपाद्रेत एवैतत्सिञ्चति तस्मात्तनूनपातं यजति ॥२॥ अथेडो यजति । प्रजा वा ऽइडा यदा वै रेतः सिक्तं प्रजायतेऽथ तदीडितमिवान्नमिच्छमानं चरति तत्प्रैवैतज्जनयति तस्मादिडो यजति।।३।। अथ बर्हिर्यजति । भूमा वै बर्हिर्भूमानमेवैतत्प्रजनयति तस्माद् बर्हिर्यजति ।।४॥ अथ स्वाहास्वाहेति यजति । हेमन्तो वा ऽऋतूनाऽँस्वाहाकारो हेमन्तो हीमाः प्रजाः स्वं वशमुपनयते तस्माद्धेमन्म्ला यन्त्योषधयः प्र वन स्पतीनां पलाशानि मुच्यन्ते प्रतितरामिव वयाऽँसि भवन्त्यधस्तरामिव वयांसि पतन्ति विपतितलोमेव पापः पुरुषो भवति हेमन्तो हीमाः प्रजाः स्वं वशमुपनयते स्वी ह वै तमर्धं कुरुते श्रियेऽन्नाद्याय यस्मिन्नर्द्धे भवति य एवमेतद्वेद ॥५॥ देवाश्च वा ऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ते दण्डैर्द्धनुर्भिर्न व्यजयन्त ते हाविजयमाना ऊचुर्हन्त वाच्येव ब्रह्मन्विजिगीषामहै स यो नो वाचं व्याहृतां मिथुनेन नानुनिक्रामात्स सर्व्वं पराजयाताऽअथ सर्व्वमितरे जयानिति तथेति देवा अब्रुवंस्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्व्याहरेति ।।६।। स इन्द्रोऽब्रवीत । एको ममेत्यथास्माकमेकेतीतरेऽब्रुवंस्तदु तन्मिथुनममेवाविन्दन्मिथुनऽँ ह्येकश्चैका च ।।७॥ द्वौ ममेतीन्द्रोऽब्रवीत् । अथास्माकं द्वे ऽ इतीतरेऽब्रुवंस्तदु तन्मिथुनमेवाविन्दन्मिथुनऽँ हि द्वौ च द्वे च ॥८।। त्रयो ममेन्द्रोऽब्रवीत् । अथास्माकं तिस्र इतीतरेऽब्रुवंस्तदु तन्मिथुनमेवविन्दन्मिथुनऽँ हि त्रश्चयतिस्रश्च ॥९।। चत्वारो ममेतीन्द्रो ऽब्रवीत् । अथ स्माकं चतस्र इतीतरे ऽब्रुवंस्तदु तन्मिथुनमेवाविन्दन्मिथुनऽँ हि चत्वारश्च चतस्रश्च ।।१०॥ पञ्च ममेतीन्द्रोऽब्रवीत् । तत इतरे मिथुनं नाविन्दन्नो ह्यत ऊर्ध्वं मिथुनमस्ति पञ्च पञ्चेति ह्येवैतदुभयं भवति ततोऽसुराः सर्व्वं पराजयन्त सर्व्वस्माद्देवा ऽअसुरानजयन्त्सर्व्वस्मात्सपत्नानसुरान्निरभजन् ।।११।। तस्मात्प्रथमे प्रयाज इष्टे ब्रूयात् । एको ममेत्येका तस्य यमहं द्वेष्मीति यद्यु न द्विष्याद्योस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति ब्रूयात् ।।१२॥ द्वौ ममेति द्वितीये प्रयाजे । द्वे तस्य योऽस्मान्द्वेष्टि यं चवयं द्विष्म इति ।।१३।। त्रयो ममेति तृतीये प्रयाजे । तिस्रस्तस्य योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति ॥१४॥ चत्वारो ममेति चतुर्थे प्रयाजे । चतस्रस्तस्य योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति ।।१५॥ पञ्च ममेति पञ्चमे प्रयाजे । न तस्य किंचन योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति स पञ्चपञ्चेत्येव भवन्पराभवति तयास्य सर्व्वऽँसं वृङ्क्ते सर्वस्मात्सपत्नान्निर्भजति य एवमेतद्वेद ।

इति पञ्चमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

अथ षष्ठाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

ऋतवो ह वै देवेषु यज्ञे भागमीषिरे। आ नो यज्ञे भजत मा नो यज्ञादन्तर्गतास्त्वेव नोऽपि यज्ञ भाग इति ।।१।। तद्वै देवा न जज्ञुः। तऽऋतवो देवेष्वजानत्स्वसुरानुपावर्तन्ताप्रियान्देवानां द्विषतो भ्रातृव्यान् ।।२।। ते हैतामेधतुमेधां चक्रिरे। यामेषामेतामनुश्रृण्वन्ति कृषन्तो ह स्मैव पूर्व्वे वपन्तो यन्ति लुनन्तोऽपरे मृणन्तः शश्वद्धैभ्योऽकृष्टपच्या एवौषधयः पेचिरे ।।३।। तद्वै देवानामाग आस। कनीय इन्वतो द्विषन् द्विषतेऽरातीयति किम्वेतावन्मात्रमुपजानीत यथेदमितोऽन्यथासदिति ।।४।। ते होचुः ऋतूनेवानुमन्त्रयामहाऽइति केनेति प्रथमानेवैनान्यज्ञे यजामेति ।।५।। स हाग्निरुवाच। अथ यन्मां पुरा प्रथमं यजथ क्वाहं भवानीति न त्वामायतनाच्च्यावयाम इति ते यदृतूनभिहयमाना अथाग्निमायतनान्न च्यावयंस्तस्मादग्निरच्युतो न ह वा ऽआयतनाच्च्यवते यस्मिन्नायतने भवति य एवमेतमग्निमच्युतं वेद ।।६। ते देवा अग्निमब्रुवन्। परे ह्येनांस्त्वमेवानुमन्त्रयस्वेति स हेत्याग्निरुवाचर्तवोऽविदं वै वो देवेषु यज्ञे भागमिति कथं नोऽविद इति प्रथमानेव वो यज्ञे यक्ष्यन्तीति ।।७। तऽऋतवोऽग्निमब्रुवन्। आवयं त्वामस्मासु भजामो यो नो देवेषु यज्ञे भागमविद इति स एषोऽग्निऋतुष्वाभक्तः समिधोऽ अग्ने तनूनपादग्न ऽ इडो ऽ अग्ने बर्हिरग्ने स्वाहाग्निमित्याभक्तो ह वै तस्यां पुण्यकृत्यायां भवति यामस्य समानो ब्रुवाणः करोत्यग्निमते ह वा ऽ अस्मा ऽ अग्निमन्त ऋतव ओषधीः पचन्तीदꣳ सर्वं य एवमेतमग्निमृतुष्वाभक्तं वेद ।।८।। तदाहुः। यदुत्तमान्प्रयाजानावाहयन्त्यथ कस्मादेनान्प्रथमान्यजन्तीत्युत्तमान्ह्येनान्यज्ञेऽवाकल्पयन्प्रथमान्वा यजामेत्यब्रुवंस्तस्मादुत्तमानावाहयन्ति प्रथमान्यजन्ति ।।९।। चतुर्थेन वै प्रयाजेन देवाः। यज्ञमाप्नुवंस्तं पञ्चमेन समस्थापयन्नथ यदत ऊर्ध्वमसꣳस्थितं यज्ञस्य स्वर्गमेव तेन लोकꣳ समाश्नुवत ।।१०।। ते स्वर्गं लोकं यन्तः। असुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्विभयाञ्चक्रुस्तेऽग्निं पुरस्तात् कुर्व्वत रक्षोहणꣳ रक्षसामपहन्तारमग्निं मध्यतोऽकुर्वत रक्षोहणꣳ रक्षसामपहन्तारमग्निं पश्चादकुर्वत रक्षोहणꣳ रक्षसामपहन्तारꣳ ।।११।। स यद्यैनान्पुरस्तात्। असुररक्षसान्यासिसंक्षन्नग्निरेव तान्यपाहन्रक्षोहा रक्षसामपहन्ता यदि मध्यत आसिसंक्षन्नग्निरेव तान्यपाहन्रक्षोहा रसामपहन्ता यदि पश्चादासिसंक्षन्नग्निरेव तान्यपाहन्रक्षोहा रक्षसामपहन्तात एवं सर्वतोऽग्निभिर्गुप्यमानाः स्वर्गं लोकं समाश्नुवत ।।१२।। तथोऽएवैष एतत्। चतुर्थेनैव प्रयाजेन यज्ञमाप्नोति तं पञ्चमेन सं स्थापयत्यथ यदत ऊर्द्धमसंस्थितं यज्ञस्य स्वर्गमेव तेन लोकं समश्नुते ।।१३।। स यदाग्नेयमाज्यभागं यजति। अग्निमेवैतत् पुरस्तात् कुरुते रक्षोहणं रक्षसामपहन्तारमथ यदाग्नेयः पुरोडाशो भवत्यग्निमेवैतन्मध्यतः कुरुते रक्षोहणं रक्षसामपहन्तारमथ यदग्निं स्विष्टकृतं यजत्यग्निमेवैतत् पश्चात् कुरुते रक्षोहणं रक्षसामपहन्तारम् ।।१४।। स यद्येनं पुरस्तात्। असुररक्षसान्यासिसंक्षन्त्यग्निरेव तान्य-

पहन्ति रक्षोहा रक्षसामपहन्ता यदि मध्यत असुररक्षसान्यासिसंक्षन्त्यग्निरेव तान्यपहन्ति रक्षोहा रक्षसामपहन्ता यदि पश्चादसुररक्षसान्यासिसंक्षन्त्यग्निरेव तान्यपहन्ति रक्षोहा रक्षसामपहन्ता स एवं सर्वतोऽग्निभिर्गुप्यमानः स्वर्गं लोकं समश्नुते ।।१५।। स यद्येनं पुरस्तात् । यज्ञस्यानुव्याहरेत्तं प्रतिब्रूयान्मुख्यामार्तिमारिष्यस्यन्धो वा बधिरो वा भविष्यसीत्येता वै मुख्या आर्त्तयस्तथा हैव स्यात् ।।१६।। यदि मध्यतो यज्ञस्यानुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयादप्रजा अपशुर्भविष्यसीति प्रजा वै पशवो मध्यं तथा हैव स्यात् ।।१७।। यद्यं ततो यज्ञस्यानुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयादप्रतिष्ठितो दरिद्रः क्षिप्रेऽमुं लोकमैष्यसीति तथा हैव स्यात् तस्मादु ह नानुव्याहारीव स्यादुत ह्येवं वित्परो भवति ।।१८।। संवत्सरं ह वै प्रयाजैर्जयं जयति । स ह न्वेवैनं जयति । योऽस्य द्वाराणि वेद किं हि स तैर्गृहैः कुर्याद्यानन्तरतो न व्यवविद्याद्यथास्य ते भवन्ति तस्य वसन्त एव द्वारं तं वाऽएतं संवत्सरं स्वर्गं लोकं प्रपद्यते सर्वं वै संवत्सरः सर्वं वाऽअक्षय्यमेतेन हास्याक्षय्यं सुकृतं भवत्यक्षय्यो लोकः ।।१९।।

तदाहुः । किं देवत्यान्याज्यानीति प्रजापत्यानीति ह ब्रूयादनिरुक्तो वै प्रजापतिरनक्तान्याज्यानि हैतानि तानि यजमानदेवत्यान्येव यजमानो ह्येव स्वे यज्ञे प्रजापतिरेतेन ह्यक्ता ऋत्विजस्तन्वते तं जनयन्ति ।।२०।। स आज्यस्योपस्तीर्य द्विर्हविषोऽवदायाथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयति सैषाज्येन मिश्राहुतिर्हूयते यजमानेन हैवैषैतन्मिश्रा हूयते यदि ह वाऽ अपि दूरे सन्यजते यद्यन्तिके यथा हैवान्ते सत इष्टꣳ स्यादेवꣳहैवैवं विदुष इष्टं भवति यद्यु हापि बह्ववपापं करोति नो हैव बहिर्द्धा यज्ञाद्भवति य एवमेद्वेद ।।२१।। इति षष्ठाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ।।

अथ पञ्चमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

जिस प्रकार वर्ष ऋतुओं में बँटा हुआ है इसी प्रकार मनुष्य को अपने सम्पूर्ण समय को ऋतुओं में बांट लेना चाहिए हर कार्य के लिए जिस मनुष्य ने कोई समय निश्चित किया है। वह उसकी दृष्टि में उस कार्य का ऋतु है सो यह ऋतु-विभाग ही इन प्रयाजों में बनाया गया है। इसीलिए आदर्श यज्ञ संवत्सर के पांच ऋतुओं के अनुसार ही पाँच प्रयाज यहाँ भी रक्खे गये हैं ।१।

इस पर एक आख्यायिका कहते हैं देवों और असुरों में प्रजापति की इन दोनों सन्तानों में एक समय स्पर्धा हुई (यह स्पर्धा सदा ही रहती है उस नित्य नियम को वहाँ भूत काल की भाषा में कह दिया गया है जैसे कहा जावे कि एक समय सूर्य और हिम में झगड़ा हुआ। हिम गल गया संसार ने मान लिया कि सूर्य बलवान् है) दोनों इस विषय में झगड़ने लगे यह जो संगठन का आदर्श प्रजा का पालक संवत्सर प्रजापति है यह हमारे वश में हो जावे। एक कहते थे यह हमारा होकर रहेगा दूसरे कहते थे यह हमारा होकर रहेगा ।२।

इस पर देवों ने भक्तिभावयुक्त परिश्रम करना प्रारम्भ किया और करते गए, तब उन्होंने संवत्सर की सफलता का रहस्य पा लिया। वह यह कि उन्होंने इन प्रयाजों को ढूंढ निकाला, फिर इनके सहारे अपने कार्य को संगठित किया, इससे उनके कार्यों में भी ऋतु और संवत्सर बन गए। (यदि कोई द्रव्य १५ दिन में तैयार होता है तो उसका १५ दिन का संवत्सर हुआ, उस के भिन्न-भिन्न अङ्गों की पूर्ति में जो नियत समय के भाग लगे वे ऋतु हुए। एक कम्बल बनाने में भेड़ मूंडना। ऊन साफ करना ऊन का कातना, रंगना, बुनना, इतने ऋतु हुए। और यदि एक मनुष्य ७ दिन में उस कम्बल को तैयार करे तो कम्बल का सात दिन का संवत्सर हुआ) सो इस प्रकार उन्होंने प्रथम-ऋतुओं को और फिर उन के द्वारा संवत्सर को जीत लिया फिर ऋतु और संवत्सर के विजय द्वारा शत्रुओं को तिरस्कृत कर दिया। इसीलिए इनका नाम "प्रजयाः" हुआ यह प्रयाजाः वास्तव में प्रजयाः ही हैं। सो इसी प्रकार इन को जानकर जानने वाला अपने अपने क्षेत्र के ऋतु और संवत्सर को जीत लेता है और इनका मर्म्म न जानने वालों, अस्तव्यस्त कार्य करने वालों, को ऋतु और संवत्सर के आनन्द से वञ्चित कर देता है। इसीलिए विजय कामना करने वाला प्रयाजों द्वारा संगठन करता है ।।३।।

इन प्रयाजों की मुख्य हवि आज्य है। अर्थात् समय-विभाग कितना भी अच्छा क्यों न बना हो कार्यकर्त्ताओं के परस्पर स्नेह के बिना यह ठीक ठीक व्यवहार में नहीं आ सकता। इसलिए इन देवताओं को बुलाने का मुख्य साधन (हवि) आज्य अर्थात्

कार्यकर्त्ताओं का परस्पर स्नेह और मिलकर एक उद्देश्य को पूर्ण करने की प्रबल अभिलाषा है। सो यह अभिलाषा बड़ी से बड़ी कठिनाइयों के पहाड़ों को काट गिराती है इसीलिए कहा कि आज्य वज्र है। इसी वज्र से देवों ने ऋतुओं और संवत्सर को जीता और ऋतु और संवत्सर के विजय द्वारा शत्रुओं को परास्त किया। इसी प्रकार यज्ञ करने वाला इस आज्य रूप वज्र के सहारे ऋतुओं और संवत्सर को जीतता है। और ऋतु और संवत्सर से शत्रुओं को परे रखता है। इसीलिए आज्य अर्थात् घृत इन की हवि है ॥४॥

संवत्सर रूप गाय का यह खास दूध है अर्थात् आज्य, अर्थात् जिस वर्ष संवत्सर खेती उत्पन्न करना—रूप कार्य अच्छी प्रकार करता है तो उससे पशुओं की पुष्टि द्वारा खूब घृत उत्पन्न होता है। फिर उस घृत के खूब हवन करने से अच्छी वृष्टि होती है। सो जिस प्रकार उत्तम घृत से संवत्सर और संवत्सर से घृत होता है इसी प्रकार परस्पर प्रेम से संगठन की सफलता होती है और फिर सफलता को देखकर परस्पर प्रेम खूब बढ़ता है। इसलिए जिस प्रकार आकाश के देव घृत द्वारा ही संवत्सर को स्वीकार करते हैं। अपने वश में करते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी उसके अपने ही दूध से स्वीकार करते हैं। इसलिए प्रयाज आज्य हवि वाले होते हैं ॥५॥

इसमें कई आचार्यों का मत है कि सो जहाँ खड़ा होकर प्रयाजों के लिए आश्रावण-विधि करता है वहाँ से पीछे न हटे क्योंकि यह जो प्रयाजों से यज्ञ करता है, यह वस्तुतः संग्राम का अभिनय किया जाता है। सो परस्पर युद्ध करनेवालों में (ययत्तयोः) जो हार जाता है वह पीछे हट जाता है। विजयी आगे ही आगे बढ़ता जाता है। इसलिए आगे ही आगे बढ़े। आगे आगे बढ़कर आहुति करे ॥६॥ (किन्तु याज्ञवल्क्य कहते हैं) कि सो वैसा न करे। जहाँ से खड़े होकर प्रयाजों के लिए आश्रावण-विधि की हो उस स्थान से पीछे न हटे, किन्तु आगे बढ़ने का कोई नियम नहीं। जिस स्थान पर यह देखे कि अग्नि प्रदीप्ततम है वहाँ आहुति का हवन करे। क्योंकि आहुतियों की समृद्धि इसी में है कि जहाँ प्रदीप्त अग्नि हो वहाँ हवन किया जावे।

तात्पर्य यह कि प्रबन्धकर्त्ताओं को किसी अंश तक कार्यकर्त्ताओं को स्वतन्त्रता भी देनी चाहिए। उदाहरण के लिए एक सेनापति ने संग्राम में एक छोटे दलपति को एक पहाड़ी जीतने को आज्ञा दी। अब यदि पग-पग पर एक छोटी बात के लिए बड़े सेनापति के शिविर से ही आज्ञा निकले तो फिर सैनिकों को कार्य करना असम्भव-कल्प है। अच्छी सेना वही है जिसमें एक बार उद्दिष्ट कार्यक्रम सैनिकों के सामने रख दिया जावे किन्तु साथ ही प्रत्येक सैनिक व्यक्ति भी इतना सधा हो कि उस पर विश्वास किया जा सके और छोटे-छोटे कामों की पूर्ति उन की बुद्धि पर छोड़ी जा सके। सो आश्रावण-विधि तो मूल रूपरेखा का चिह्न है जिसमें साधारण रूप से कर्त्तव्य-पथ का निर्देश कर दिया गया है और वह प्रत्येक कार्यकर्त्ताओं को सुना दिया गया है। अब अध्वर्यु का आगे आगे बढ़ना इस प्रकार है मानो प्रत्येक पग पग पर हर सैनिक के कार्य में हस्तक्षेप करना। कार्य-प्रणाली में मूल कार्यक्रम और समय-विभाग के पालन का ध्यान रक्खा जाय, और आगे जिससे कार्य सुचारु रूप से चले। वही क्रम युद्ध में भी है। मूल उद्देश्य विजय को याद रखना चाहिए, उससे नहीं टलना चाहिए। इसी का नाम है युद्धे 'चाप्यपलायनम्' और युद्ध में जिस स्थान पर प्रहार करने से विजय हो वही ठीक स्थान है। आगे बढ़ने पीछे हटने का कोई नियम नहीं। सेनापति को इस प्रकार के भावुकतामय बन्धनों में नहीं बंधना चाहिए। इसी-

लिए कहा जहां प्रदीप्ततम हो वहां आहुति करे। इस प्रकार परिणाम यह हुआ कि न तो कार्यक्रम विहीन समारम्भ में सफलता होती है और न अति मात्रा में क्रम बनाने में। मूल उद्देश्य को सामने रखकर कार्यकर्त्ताओं को उस मर्य्यादा में अधिक से अधिक स्वतन्त्रता देने में ही विजय लाभ है। इस प्रकार क्रम-बन्धन और मतिस्वातन्त्र्य इन दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का उचित समन्वय बता कर आगे बढ़ते हैं ।७।

सो आश्रावण के पश्चात् अध्वर्य्यु होता के प्रति प्रैष वाक्य बोलता है "ओं समिधो यज" सो यह वसन्त ऋतु का समिन्धन करता है। वह वसन्त समिद्ध होकर अन्य ऋतुओं का समिन्धन करता है। ऋतु समिद्ध होकर प्रजा और वृक्ष वनस्पति आदि हरयावल उत्पन्न करती है। सो यह सब ऋतुओं का निर्देश कर दिया। अब यहां थोड़ा भेद है। वसन्त के योग में 'समिधो यज" ऐसा कहा और अन्य प्रयाजों में केवल 'ओं यज' 'ओं यज' इसी प्रकार कह दिया। सो यह असमानता के लिए वसन्त को विशिष्टता देने के लिए किया। यदि अगले सब में भी 'तनूनपातं यज' 'इडो यज' इस प्रकार नाम निर्देश कर दे तो वसन्त को सब के जामि अर्थात तुल्य कर दे, कोई विशिष्टता उस की न रहे। इसलिए अगले प्रयाजों में यज इतना ही कहता है। सो वह पहले समिध नाम के प्रयाज का हवन करता है। समिध नाम ऋतुओं में वसन्त का है। सो देवों ने उसे वश में किया और शत्रुओं को वसन्त से वंचित कर दिया। बस इस मर्म्म को जानने वाला वसन्त को वश में कर लेता है और शत्रुओं को वसन्त से वंचित कर देता है। तात्पर्य यह कि होता को प्रत्येक समय-विभाग में यह ५ बातें क्रम में बांधनी हैं। सबसे प्रथम समिन्धन। सेना में सैनिकों को अपने कार्य के प्रति उत्साह समिध् है। यन्त्रशाला में यन्त्रों में कोयला, बिजली, पैट्रोल जो जिस यन्त्र की समिधा है वह पहुँचकर इंजिन गर्म हो गया वा नहीं यह देखना उसका प्रथम कर्त्तव्य है। पाठशाला में विद्यार्थियों को पाठ में रुचि है वा नहीं। यह देखना उसका कर्त्तव्य है। सैनिकों में उत्साह उत्पन्न हुआ, इंजिन गर्म होकर चलने लगे, विद्यार्थी पाठ के लिए उत्साह दिखाने लगे, मानो सैन्यशाला, यन्त्र-शाला तथा पाठशाला में वसन्त ऋतु आ गई। बस प्रत्येक विभाग के होता के कार्य, विभाग तथा समय-विभाग में सब से पहला कर्त्तव्य समिन्धन है इसी का नाम वसन्त है ।।८।

उसके पश्चात् दूसरे प्रयाज का हवन करता है। इसका नाम तनूनपात् है। इसकी व्याख्या से पहले तनूनपात् शब्द के अर्थ पर ध्यान देना होगा। यह शब्द तनू और नपात् इन दोनों से बना है। तनू का अर्थ शरीर प्रसिद्ध ही है। अब नपात् शब्द के अर्थ की ओर ध्यान देना है नपात् शब्द निघण्टु में अपत्य शब्द के पर्य्यायवाचियों में पढ़ा है। अपत्य शब्द की व्युत्पत्ति भगवान् यास्क ने ३। १। १। में इस प्रकार दी है। "अपत्यं कस्मात् अपततं भवति नानेन पततीति वा" इस में से "नानेन पततीति" इस भाग को ले लीजिए। इसका अर्थ है कि जिसके होने से कुल पतित न हो। जिस प्रकार एक योग्य शास्त्रपारङ्गत ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न होकर उसका पुत्र पिता के सब गुण यथावत् धारण कर ले तो उस से वह विद्वत्-परम्परा अविच्छिन्न हो गई। इसके विपरीत यदि पुत्र उत्पन्न न हो अथवा उत्पन्न होकर पिता के गुणों को धारण न करे तो वह पत्रपुष्प समन्वित पिता रूपी वृक्ष अपनी मृत्यु के साथ गिर पड़ता है। इसलिए अपत्य का अर्थ है योग्य उत्तराधिकारी। बस यही नपात् शब्द का अर्थ है 'नानेन पतति', भेद केवल इतना है कि अपत्य में नञ् के न का लोप हो गया है और नपात् में नहीं हुआ। नपात् शब्द

न+पात् इस प्रकार बना है यह पाणिनि मुनि को भी अभीष्ट है। इसीलिए उन्होंने "नभ्राण्नपात्" (६।३।७५) इस सूत्र में दूसरे ही स्थान पर इस नपात् शब्द का पाठ किया है।

अब प्रश्न हो सकता है कि यास्काचार्य ने नपात् शब्द की व्युत्पत्ति "निर्णततमा प्रजा" (निरुक्त ८।५) इस प्रकार की है सो वह इसलिए कि कई स्थानों पर नपात् शब्द का पोते अथवा नाती के अर्थ में भी प्रयोग हुआ है। उस अर्थ को दृष्टि में रखकर यह व्युत्पत्ति दी गई है। किन्तु जहाँ साधारण अपत्य अर्थ हो वहाँ अपत्य और नपात् दोनों की व्युत्पत्ति "नानेन पतति" ऐसी ही माननी चाहिए। ऋग्वेद १०। ३३। ७। में सायण ने भी नपात् का अर्थ पुत्र, ऐसा किया है। ऋग्वेद १। १४३। १। में अपांनपात् की व्युत्पत्ति 'न पातयिता' इस प्रकार दी है। फिर ऋ० १। १८८। २। में तनूनपात् की व्युत्पत्ति इसी प्रकार दी है। 'तनूनपात् यज्ञशरीरस्य न पातयिता'। ऋषि दयानन्द ने भी ऋ० १८८। में "यस्तनूनि शरीराणि न पातयति सः" ऐसी व्युत्पत्ति दी है। बस यही व्युत्पत्ति हमें यहाँ अभीष्ट है। जो शरीर को न गिरने दे अर्थात् जिस के सहारे शरीर खड़ा हो। अब समझ लीजिए कि एक कम्बल अथवा मोटर बनाने का कारखाना है। सो उस कम्बल अथवा मोटर का शरीर किस के सहारे खड़ा है, ऊन के अथवा लोहे के। बस यह ऊन अथवा लोहा तनूनपात् है। जिसे आजकल की भाषा में Raw-Meterial कहते हैं। बस अग्नि-समिन्धन के पश्चात् होता का काम है, कच्चे माल Raw-Meterial की परीक्षा कर के काम चालू कर देना। यन्त्र का (मानव अथवा प्राकृत किसी प्रकार के भी यन्त्र हों) समिन्धन हो चुका। अब तनूनपात् के आने पर काम चालू हो गया, मानो वसन्त के पश्चात् ग्रीष्म आ गई। अब खूब सरगरमी से काम होना चाहिए। बस यही तनूनपात् का प्रयाज अथवा Period है। इसी की कण्डिका में व्याख्या करते हैं ॥९॥

अब तनूनपात् नामक प्रयाज का यजन करता है। तनूनपात् ग्रीष्म है, ग्रीष्म प्रजा के शरीरों को उत्तप्त कर देता है। इसी प्रकार पूरे ध्यान लगाकर काम करना सारे कारखाने को गरम कर देता है। ग्रीष्म को ही देवों ने वशीभूत कर लिया। ग्रीष्म से शत्रुओं को परे कर दिया। बस यहाँ भी ग्रीष्म को ही अधिकार में करता है। शत्रुओं को ग्रीष्म से वञ्चित कर देता है जो इस तनूनपात् के अनुसार अपने कार्य क्षेत्र में समय का क्रम संगठित करता है।१०।

एक दिन को संवत्सर मानकर वसन्त वर्षादि ऋतुओं का वर्णन पृष्ठ २०४ पर तृतीयाध्याय पञ्चम ब्राह्मण की व्याख्या में पहले लिख आए हैं। वहाँ हमने दोपहर के समय सब कार्यालयों में छुट्टी होनी चाहिए यह दिखाया था। वह इस प्रकार कि ग्रीष्म के पश्चात् वर्षा आती है। सो कार्यालय में जब खूब कार्य चल रहा हो वह समय यदि ग्रीष्म है तो जब सूर्य मेघाच्छन्न हो वह वर्षा है। दिन भर में वह समय कौन सा होना चाहिए यह शतपथकार की सम्मति में मध्यन्दिन है। इसीलिए लिखा है 'यद मध्यन्दिनोऽथ वर्षाः' (श० २। २। ३। ९।) (देखो पृ० २०१) परन्तु यदि किसी कार्यालय में कोई अन्य समय भोजन तथा विश्राम का हो वह उन की वर्षा है। जसे आजकल दफ्तरों में भोजन के पश्चात् कार्य आरम्भ होता है सो यह प्रकृति नियम विरुद्ध है। प्रकृति का नियम है वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा। हमारे दफ्तरों का नियम है वर्षा, वसन्त, ग्रीष्म अथवा वर्षा, ग्रीष्म, वसन्त यह अनुचित है। सो इस वर्षाकाल में क्या होना

चाहिए यह इड नामक प्रयाज में बताते हैं। अब इडों का यजन करता है। वह शब्द वस्तुतः इड बहुवचनान्त स्त्रीलिंग है सो 'इडो यजति' में इडः द्वितीया का बहुवचन है जैसे अपः। यह इड क्या है ? सो कहते हैं कि इड वर्षा है। ये जितने छोटे छोटे जीव-जन्तु सरीसृपादि हैं ये भी ग्रीष्म और हेमन्त के प्रभाव से निस्सत्त्व से हो जाते हैं। किन्तु वर्षा की बूंदें पड़ते ही उन में जान सी आ जाती है और वे मानो अकड़े-अकड़े अन्न चाहते हुए विचरते हैं। इसीलिए वर्षा इडः है। सो देवों ने वर्षा को वश में कर लिया। वर्षा से शत्रुओं को वंचित कर दिया। सो जो इडों का हवन करता है वह वर्षा-ऋतु पर अधिकार कर लेता है शत्रुओं को वर्षा से वंचित करता है। इसीलिए इडों का हवन करता है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार ग्रीष्म से प्राणी निस्सत्त्व हो जाते हैं इसी प्रकार कुछ घण्टे लगातार पूरे वेग से कार्य करने के पश्चात् कार्यकर्ता थक जाते हैं। उस समय भोजन की छुट्टी होते ही उन्हें ऐसा उल्लास होता है जैसा ग्रीष्म के पश्चात् वर्षा की बूंदें पड़ने से इस चराचर विश्व को उल्लास होता है। उस समय उस छुट्टी के उल्लास में सब भोजन की इच्छा करते हैं और भोजन खाते हैं। बस यही इड प्रयाज अथवा भोजन विश्रामादि का Period है। तात्पर्य यह कि होता का एक प्रधान कर्तव्य यह भी है कि उस के कार्यकर्ता उल्लसित होकर भोजन और विश्राम पावें इस प्रयाज (Period) का वह ठीक पालन करावे।११।

इसके पश्चात् बर्हि नामक प्रयाज आता है। यह वह काल है जो किसी भी कार्यशाला अथवा वेदि में तैयार हुई वस्तुओं को अन्तिम परिपक्व रूप देना, बांधना क्रमबद्ध करना अर्थात् प्रयोग में लाने योग्य अवस्था में पहुँचाना है। जिस प्रकार शरद् ऋतु में सब फसलें पककर तैयार हो जाती हैं वही अवस्था पहुँचाना इस काल का काम है। यदि वस्तु दान योग्य है तो दान के लिए, विक्रय योग्य है तो विक्रय के लिए यदि उपयोग में आने वाली है तो उपयोग के लिए बिल्कुल परिपक्व (Finished and Packed) अवस्था में रखना इस काल का काम है। अब कण्डिका की व्याख्या आरम्भ करते हैं।

अब बर्हि नामक प्रयाज का यजन करता है। बर्हि नाम शरत् का है शरद् बर्हि अर्थात् इस कारण है कि यह जो औषधियाँ अर्थात् वृक्ष, वनस्पति आदि ग्रीष्म तथा हेमन्त में निढाल हो जाती हैं वे वर्षा में बढ़ती हैं। वे शरद् में इस प्रकार बिछ जाती हैं मानो आसन बिछा हो। इसीलिए शरद् बर्हि है। सो देवों ने शरत् को वश में कर लिया। शत्रुओं को शरत् से वंचित कर दिया। इस प्रयाज से यज्ञ करने वाला शरत् को वश में कर लेता है। शत्रुओं को शरत् से वंचित कर देता है। इसलिए बर्हि का यजन करता है।१२।

अब यह पंचम प्रयाज आया इसमें दान, विक्रय अथवा प्रयोग द्वारा पदार्थों को पाकर लोग स्वाहा स्वाहा अर्थात् वाह वाह करने लगे किन्तु इस समय उत्पत्ति का कार्य बन्द हो गया। इसलिए कार्यशाला में हेमन्त आ गई। संसार में इस प्रयाज के लोप से आज यह देखने में आ रहा है कि पदार्थ उत्पन्न होकर तैयार हैं, लोग भूखे मर रहे हैं, किन्तु दुष्ट लोग दाम बढ़ाने की भावना से उन्हें जला रहे हैं अथवा समुद्र में फेंक रहे हैं। सो उत्पन्न पदार्थों का प्रयोग में न आना मानो स्वाहाकार का लोप होना है।

अब अन्तिम प्रयाज का हवन करता है। उसमें बार बार स्वाहा शब्द का प्रयोग है। 'स्वाहाऽग्नि स्वाहा सोमम्' इत्यादि स्वाहा शब्द यज्ञ-समाप्ति का सूचक है। सो यह प्रयाज हेमन्त ऋतु का प्रतिनिधि है। हेमन्त भी ऋतुओं का अन्त है। सो अन्तिम ऋतु के लिए अन्तसूचक स्वाहा शब्द का प्रयोग है। वसन्त ऋतुओं का आदि का सिरा है हेमन्त परला सिरा, सो अन्तिम से अन्तिम को वश में किया। अन्तिम द्वारा शत्रुओं को अन्त से वंचित रक्खा। इस प्रकार यज्ञ की सुख समाप्ति को वश में करता है उत्तम अन्त से शत्रुओं को वंचित करता है।१३।

प्रकृति में यह नियम है कि हेमन्त में वृक्षों में पोषक तत्त्व का संचय होता रहता है। वसन्त की मधुर उष्णता पाते ही वह एकदम विकसित हो उठता है। जिस प्रकार निद्रा काल में दिन भर के काम काज की थकावट से उत्पन्न शरीर हानि पोषक द्रव्य द्वारा दूर होकर शरीर आप्यायित हो जाता है इसी प्रकार हेमन्त वानस्पत्य जगत् का शयन-काल है। बस इसी प्रकार जब तैयार पदार्थ प्रयोक्ताओं तक पहुँच जाता है तो उससे प्राप्त आय द्वारा फिर नये वसन्त का आगमन होता है। अर्थात् फिर नया उत्पत्ति कार्य प्रारम्भ होता है। यह पंचम प्रयाज वह अंग है जिसे पाश्चात्य अर्थशास्त्र की भाषा में Distribution कहते हैं। Distribution के पश्चात् फिर नया Production आरम्भ होता है। हेमन्त के पश्चात् फिर वसन्त आती है। यही प्राकृत नियम यहाँ कहा गया है। सो यह हेमन्त की महिमा है कि वसन्त भी हेमन्त के सहारे ही पुनर्जीवन प्राप्त करता है। इसीलिए जो इसके तत्त्व को जानता है वह फिर नया हो जाता है। और उस लोक अर्थात् वृद्धावस्था में भी पुनः इस कमाई का लाभ पाता है जो इसके तत्त्व को जानता है। तात्पर्य यह कि जिस कार्यशाला में जो कुछ भी बने उसकी सफलता उपयोग पर अवलम्बित है। यदि उपयोगकर्त्ताओं ने उसे पसन्द किया तो वह पदार्थ फिर भी बनेगा। हेमन्त के पश्चात् फिर वसन्त आयेगी किन्तु यदि पसन्द न किया तो वह पदार्थ फिर नहीं बनता। और यदि कोई मनुष्य इस लोक अर्थात् गृहस्थाश्रम में ऐसे पदार्थ बनाएगा जो उपयोगी हों चाहे वह उत्तम मनुष्य हों, उत्तम ग्रन्थ हों अथवा उत्तम जड़ पदार्थ हों तो वह उस लोक अर्थात् वानप्रस्थाश्रम में भी सुख पावेगा। और यदि उस लोक का अर्थ मृत्यु के अनन्तर नया जन्म ऐसा ही लेना हो तो भी कोई क्षति नहीं किन्तु इस प्रकरण में उस लोक का अर्थ वृद्धावस्था करना अधिक युक्ति सगंत है। जो युवावस्था में प्रजा के लिए उपयोगी सिद्ध होता है वृद्धावस्था में उतना सुखी होता है। इस प्रकार वसन्त की सफलता का तत्त्व हेमन्त के गर्भ में छिपा है।१४।

यहाँ प्रथम और अन्तिम प्रयाज में "समिधःअग्न आज्यस्य व्यन्तु" और "देवा आज्यपा जुषाणा आज्यस्य व्यन्तु" इस प्रकार का पाठ है। शेष प्रयाजों में "तनूनपादग्र आज्यस्य वेतु" इस प्रकार एकवचनान्त पाठ है। वी धातु यहाँ भोजन अर्थ में प्रयुक्त हुई है। सो इसका भाव यह है कि समिध् का अर्थ शक्ति है चाहे वह जड़ हो वा चेतन। जिस कार्यशाला में केवल मनुष्य श्रम करते हों वहाँ मनुष्य समिध् है। जहां यन्त्र मनुष्य दोनों कार्य करते हैं वहाँ दो प्रकार की समिध् हैं। सो वसन्त अर्थात् कार्यशाला के उत्पादन द्वारा कार्यकर्त्ता खाते हैं। और उत्पन्न पदार्थों को खाकर संसार जीता है। और बीच में कार्य चलाने वाला होता जीता है। होता अकेला होकर भी इनसे बड़ा है जहाँ एक सब का बड़ा न हो वहाँ कार्य सुन्दर रूप से नहीं चल सकता। इसीलिए व्यन्तु का समुदाय एक

ओर, और होता एक ओर, फिर भी वह बड़ा है। अथवा कच्चा माल = तनूनपात्, श्रमजीवियों को ठीक भोजन = इड, और सुसम्पन्नता = बर्हि, ये तीनों ऐसे हैं जिनके बिना यह वसन्त और हेमन्त कुछ नहीं कर सकते। इसलिए यह वेतु का एकवचन 'व्यन्तु' के बहुवचन से बड़ा है किन्तु कार्य दोनों मिलकर ही कर सकते हैं। अतः कहते हैं कि प्रथम और पचम प्रयाज में 'व्यन्तु' तथा अन्यों में 'वेतु' द्वारा यजन करता है। सो यह विशेषता उत्पन्न करने के लिए यदि सर्वत्र 'व्यन्तु व्यन्तु' कह दें तो सब को एक बराबर कर दें अथवा वेतु 'वेतु' ही कर दें। व्यन्तु स्त्री है वेतु पुरुष है। सो दोनों मिलकर ही उत्पत्ति कर सकते हैं इसलिए व्यन्तु और वेतु ये दो शब्द रखे।१५। चौथे प्रयाज में समानयन विधि होती है इसका वर्णन पहले विधिभाग में इसलिए नहीं दिया कि यहाँ फिर देना पड़ता। पहले विधि लिखते हैं फिर उसकी व्याख्या लिखेंगे विधि इस प्रकार है।

तीसरे प्रयाज की समाप्ति पर अध्वर्यु जुहू को उठाकर बांए हाथ में जुहू को लेकर दाहिने हाथ से उपभृत् को नीचे पकड़ी हुई जुहू के अग्रभाग की ओर ऊपर ऊपर लाकर उपभृत् और जुहू का परस्पर स्पर्श न करता हुआ उपभृत् में से आधा घृत जुहू में उलट दे, उसके पश्चात् उपभृत् को फिर नीचे करके फिर ओं श्रावय कहे। और अस्तु श्रौषट् कहने पर पूर्ववत् विधि करे। सो यह उपभृत् के घृत का जुहू में लाना समानयन कहलाता है। इसकी व्याख्या आगे करते हैं।

पहले कण्डिकाओं का शब्दार्थ करेंगे। वह इस प्रकार है—

अब चौथे प्रयाज में (उपभृत् के घृत को जुहू के घृत में) समानयन करता है। जिस प्रयाज का नाम बर्हि है। बर्हि नाम प्रजा का है। और घृत वीर्य है सो यह प्रजाओं में वीर्य का सेचन है इस शक्ति के सेचन से प्रजा फिर बारम्बार उत्पन्न होती हैं। इसलिए इस चौथे बर्हि नामक प्रयाज में समानयन करता है (उपभृत् के घृत को जुहू में डालता है) ॥१६॥ अथवा इसी क्रिया को एक और दृष्टान्त से भी समझ सकते हैं। यह समझ लीजिये कि यह जो प्रयाज से यज्ञ करता है यह एक प्रकार से संग्राम का नाटक किया जाता है। सो संग्राम में दो लड़ने वालों में से जिसको किसी मित्र की सहायता मिल जाती है वह जीत जाता है। सो यहाँ भी यह उपभृत् में से मित्र निकल कर जुहू के पास पहुँच जाता है। इसलिए जुहू की विजय होती है। इसीलिए चौथे बर्हि नामक प्रयाज में समानयन करता है।१७। यजमान जुहू के समान है और जो उसका विरोध करता है वह उपभृत् के समान है। सो यजमान के सामने इस क्रिया द्वारा उसके द्वेष करने वाले शत्रु से कर दिलवाता है, जुहू उपभोक्ता का प्रतिनिधि है। उपभृत् उपभोग्य का प्रतिनिधि है। सो यहाँ उपभोक्ता के सामने उपभोग्य द्वारा कर (टैक्स) दिलवाता है। इसीलिए चौथे प्रयाज में समानयन करता है।१८। समानयन के पश्चात् जुहू को उपभृत् से स्पर्श नहीं होने देता, यदि स्पर्श होने दे तो यजमान को द्वेष करने वाले शत्रु से स्पर्श करने दे। उपभोग्य को उपभोक्ता की बराबरी करने दे। ऐसा न हो इसलिए उपभृत् से जुहू को स्पर्श न करता हुआ समानयन करता है।१९। अब समानयन के समय जुहू को ऊपर रखता है (उपभृत् को नीचे)। इस क्रिया द्वारा यजमान को द्वेष करने वाले शत्रु से ऊंचा आसन देता है। उपभोक्ता को उपभोग्य से ऊंचा आसन देता है। इसीलिए जुहू को उपभृत् से ऊंचा रखता है ॥२०॥

इन कण्डिकाओं का मर्म समझने के लिए यह आवश्यक है कि यह चौथा बर्हि

नामक प्रयाज क्या है यह फिर याद कर लिया जाय। हम पहले कह आये हैं कि बर्हि नामक प्रयाज किसी कार्यशाला में उस समय का है जब कि उसमें तैयार किये हुए पदार्थ के बांधना, लपेटना आदि वे अनुसंस्कार किये जाते हैं जो कि किसी पदार्थ को उसके पास भेजने से पहले आवश्यक हैं, जिसके लिए वह तैयार किया जाता है। और जिन अनुसंस्कारों के बिना वह पदार्थ गुणसम्पन्न और सारवान् होते हुए भी अधूरा और निकम्मा प्रतीत होता है। शतपथकार कहते हैं कि इस समय चूकना ऐसा ही है जैसा युद्ध में ठीक विजय प्राप्ति के समय थोड़ी सी सेना भेजने में कंजूसी द्वारा विजय को पराजय में परिणत कर देना। विक्रेता और ग्राहक का युद्ध हो रहा है। उसने पदार्थ बड़ा उत्तम तैयार किया है। ग्राहक उस पदार्थ के गुणों पर मुग्ध हो गया परन्तु उस पदार्थ के लपेटने आदि में विक्रेता ने ऐसा भद्दापन दिखाया कि ग्राहक को ग्लानि उत्पन्न हो गई। हाथ में आई हुई विजय पराजय में परिणत हो गई। इसलिए शतपथकार कहते हैं कि यह चौथा समय बड़ा महत्त्व पूर्ण है। यहाँ तक कि पांच प्रयाजों के निमित्त घृत का आधा अंश यदि इसमें लग जाये तो भी अनुचित नहीं। हम पहले कह आये हैं कि जुहू व्यय और उपभृत्, आय की प्रतिनिधि है। तात्पर्य यह हुआ कि यदि पदार्थों के विक्रय से आशंसित आय एक लाख हो तो उसके पंचमांश का आधा अर्थात् दशमांश फलतः दस हजार रुपया तक इस अन्तिम सजावट और पदार्थों को आकर्षक बनाने के निमित्त अन्य अनुसंस्कारों में व्यय कर देना भी आपत्ति योग्य नहीं। साथ ही यह भी कहा गया है कि जीवात्मा को प्रकृति से कर वसूल करना है, कर देना नहीं। इसलिए कर वसूल करने की प्रक्रिया में क्षण भर के लिए प्रकृति का स्थान ऊंचा भी हो जाये तो भी जीवात्मा को यह नहीं भूलना चाहिए कि वह बड़ा है, उपभोक्ता है। प्रकृति उससे छोटी है, उसकी दासी है, उपभोग्या है और उसने लड़कर उसे विजय करना है। इन अनुसंस्कारों द्वारा वह पदार्थ और अधिक वीर्यवान् हो जाता है। पहले उसमें उपयोग शक्ति थी। अब उसमें आकर्षण शक्ति भी उत्पन्न हो गई। अब लोगों की इच्छा होती है कि ऐसा पदार्थ बारम्बार बने। रेतः सेचन से प्रजा उत्पन्न होती है परन्तु उत्पन्न प्रजा में रेतः सेचन विस्मयजनक है। परन्तु ऊपर वर्णित रहस्य को समझ लेने से 'प्रजास्वेवैतद्रेतः सिच्यते तेन रेतसा सिक्तेनेमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्तं प्रजायन्ते'' यह पंक्ति रहस्यमय नहीं रह जाती। इन अनुसंस्कारों का होना ऐसा है जैसा संग्राम में समय पर सहायता (Re-enforcement) का पहुँच जाना। १५-२०।

अब आगे पंचम प्रयाज की व्याख्या करते हैं! इसमें पहले कण्डिकाओं का अक्षरार्थ देंगे। किन्तु उससे पहले पंचम प्रयाज की विधि को एक बार दोहरा देना आवश्यक है जिसके बिना अगली कण्डिकाओं का समझना मुश्किल है। विधि इस प्रकार है—

होता "ओं ये यजामहे स्वाहाऽग्नि स्वाहा सोमं स्वाहाऽग्नि स्वाहा (मुख में बोले) ऽग्नीषोमौ (ऊंचे बोलकर) स्वाहाऽग्नीषोमौ स्वाहा देवा आज्यपा जुषाणा अग्न आजस्य व्यन्तु ३ वौ ३षट्" इस प्रकार पढ़े। और अध्वर्यु पहले की तरह जुहू को पूर्व की ओर उतार कर अवशिष्ट घृत को थोड़ा सा बचाकर हवन कर दे। और यजमान "ओम् इदमग्नये सोमायाग्नये (मुख में बोले) अग्नीषोमाभ्याम् (ऊंचे बोलकर) अग्नीषोमाभ्यां देवेभ्य आज्यपेभ्यो ऽग्नये स्विष्टकृते च" इस प्रकार जल में घृत छोड़

कर 'पंच मम न तस्य किञ्चन योस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः अन्नादो भूयासम्' इस प्रकार बोले। "अन्नादो भूयासम्" यह अनुमन्त्रण वाक्य बोले। इस प्रकार विधि दिखाकर कण्डिकाओं का अक्षरार्थ लिखते हैं। पांचवां प्रयाज ऋतुओं में हेमन्त और संग्राम में शत्रु की पराजय का सूचक है। उस समय युद्ध-क्षेत्र की दशा बिल्कुल हेमन्त के समान होती है। जिस प्रकार पराजय के पीछे युद्ध-क्षेत्र में कहीं लाश पड़ी है, कहीं रुण्ड मुण्ड कटे पड़े हैं, कहीं अंग कटे पड़े हैं। चारों ओर पतझड़ के समान अवसाद ही अवसाद दिखाई देता है। इसी को लक्ष्य करके इस प्रकार कहना आरम्भ करते हैं।

देव लोग कहने लगे! लो बस! इस विजय के साथ ही सारे यज्ञ को समाप्त कर दें जिससे यदि कहीं असुर राक्षस हम पर धावा कर बैठें तो भी हमारा यज्ञ उनके आक्रमण से पहले समाप्त हो जाये।२१।

इसीलिए अन्तिम प्रयाज में बारम्बार स्वाहा का शब्द उच्चारण किया गया है और इस स्वाहाकार से ही सारे यज्ञ को समाप्त किया गया है। उदाहरण के लिए "स्वाहाऽग्निम्" इस वाक्य से आग्नेय आज्यभाग की समाप्ति की गई। "स्वाहा सोमम्" इस वाक्य से सोम्य आज्य भाग की समाप्ति की गई। फिर दूसरी बार 'स्वाहाऽग्निम्' इस शब्द से दर्श और पौर्णमास इन दोनों में विद्यमान आग्नेय पुरोडाश की समाप्ति की गई।२२।

उसके बाद पौर्णमास में अग्नीषोमौ और दर्श के प्रयाज में इन्द्र अग्नि आदि देवताओं का नाम लेकर यज्ञानुकूल जिस जिस देवता का प्रकरण हो उसके नाम से तैयार होने वाले एकादश कपाल पुरोडाश की समाप्ति की गई। फिर 'स्वाहा देवा आज्यपाः' इस वाक्य से प्रयाजानुयाज की समाप्ति की गई। क्योंकि प्रयाजानुयाज का ही नाम आज्यपा देव है फिर "अग्निराज्यस्य वेतु" इस वाक्य से स्विष्टकृत् अग्नि की समाप्ति की गई क्योंकि अग्नि का ही दूसरा नाम स्विष्टकृत् है। सो आजकल भी यह यज्ञ ठीक उसी प्रकार समाप्त होता है जैसे (ब्रह्माण्ड महायज्ञ में) देव इसको समाप्त करते आये हैं इसलिए अन्तिम प्रयाज में जितनी हवियाँ होती हैं उन सब की ओर निर्देश करके स्वाहा, स्वाहा करते हुए यज्ञ करता है। बस विजय के साथ ही यज्ञ को समाप्त करता है। इसलिए इसके बाद यज्ञ में यदि कोई भूल भी हो जाय तो उसकी बहुत चिन्ता न करे। ऐसा ही समझे कि मानो मेरा यज्ञ समाप्त हो गया। इसके पश्चात् यज्ञ "यातयामा" अर्थात् सारहीन सा हो गया। जैसे वषट्कार के पश्चात् आहुति हो जाने के पश्चात् स्वाहा कर देने के पश्चात् सारहीनता आ जाती है। क्योंकि वषट् स्वाहा आदि शब्द समाप्ति-सूचक हैं। कार्य-समाप्ति पर थकावट सी आ ही जाया करती है)।२३। अब यह दिखाने के लिए कि यद्यपि यहाँ यज्ञ समाप्त सा हुआ प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः वह समाप्त नहीं हुआ। अगली कण्डिका लिखते हैं।

वे देवलोग विचारने लगे कि इस यज्ञ को कैसे फिर आप्यायित कर दें। अयातयामा अर्थात् सार युक्त कर दें।२४। और फिर उस सार युक्त यज्ञ से आगे चलें। सो यह जो जुहू में थोड़ा सा घी बचा हुआ था जिस घृत द्वारा यज्ञ-समाप्ति की उसी घृत में बचे हुए इस घृत से क्रमशः फिर हवियों का अभिघारण किया अर्थात् उनमें घी मिलाया। इस प्रकार इन हवियों को फिर आप्यायित कर दिया। सार युक्त कर दिया। घृत ही तो सबसे बड़ा सारहीनता को दूर करने वाला है। इसीलिए अन्तिम

प्रयाज का हवन करने के पीछे क्रमशः हवियों का फिर अभिघारण करता है। इन्हें फिर आप्यायित करता है, सार युक्त करता है। घृत ही सारहीनता का नाशक है। इसीलिए जिस किसी हवि में से आहुति करने के लिए कुछ टुकड़ा काटा जाता है उस स्थान को फिर फौरन ही अभिघारण (Lubricate) करता है। यह वास्तव में उन हवियों को स्विष्टकृत् आहुति के लिए फिर आप्यायित करता है, सार युक्त करता है। फिर जब स्विष्टकृत् के लिए हवि में से टुकड़ा काटा जाता है फिर उसका अभिघारण नहीं करता, क्योंकि फिर वह स्विष्टकृत् आहुति के बाद उस हवि में से फिर कोई आहुति अग्नि में हवन नहीं किया चाहता।२५।

इन कण्डिकाओं का भाव यह है कि पदार्थ की तैयारी के साथ किसी कार्यशाला में होने वाले कार्य का मुख्य भाग समाप्त हो जाता है। विद्या समाप्ति पर पाठशाला का कार्य समाप्त सा हो जाता है। मोटर तैयार होने पर मोटर के कार्यालय का मुख्य कार्य समाप्त सा हो जाता है। यज्ञ का सबसे मुख्य अंग निष्पाद्य पदार्थ को यथोचित रूप से निष्पन्न करना है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इसी के साथ यज्ञ समाप्त हो जाता है। अगली क्रियाओं द्वारा यज्ञ के जो अंग दिखाये जायेंगे वह इस निष्पत्ति की अपेक्षा गौण होने पर भी अपने आप में बड़े महत्त्व पूर्ण हैं। उदाहरण के लिए स्विष्टकृत् आहुति को ले लीजिये। यज्ञ में स्विष्टकृत् आहुति का अर्थ है निरीक्षण (Inspection) किसी मोटर के कारखाने में यदि उत्तम मोटर तैयार होकर ठीक प्रकार से विभक्त (Distribute) हो गई तो यज्ञ का मुख्य कार्य समाप्त हो गया। परन्तु इस कार्य में जो आय और व्यय हुए हों सामग्री में जो वृद्धि अथवा ह्रास हुआ हो उसका निरीक्षण कुछ कम महत्त्व पूर्ण अंग नहीं है। इसीलिए कहा कि सारा आज्य अर्थात् समय उत्साह, सामग्री आदि अन्तिम प्रयाज अर्थात् पदार्थ-निष्पत्ति के साथ ही समाप्त न कर देना चाहिए। अगले अंगों में व्यय करने के लिए भी कुछ बचा लेना चाहिए। इसी बात को उपलक्षित करने के लिए जुहू में थोड़ा सा घी बचा लिया गया था जिससे हवियों का अभिघारण किया गया।१६-२५।

इति पञ्चमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणं समाप्तम्।

अथ पञ्चमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्

अब जिस प्रकार ऋतुओं और संग्राम के दृष्टान्त द्वारा पांच प्रयाजों का वर्णन किया उसी प्रकार मनुष्य की उत्पत्ति में पांचों प्रयाजों का वर्णन करके दिखाते हैं। इस में कण्डिकाओं का अर्थ कर देना ही पर्याप्त होगा। स्पष्ट होने से अधिक व्याख्या की अपेक्षा नहीं होगी कण्डिकाओं का अर्थ इस प्रकार है—

वह (अध्वर्यु) समिध नामक प्रयाज का हवन करता है। (मनुष्य शरीर में) प्राण ही समिध हैं। (सो मनुष्य शरीर में प्रथम प्रयाज का हवन करते समय) वह प्राण का समिन्धन करता है क्योंकि प्राणों से ही यह पुरुष समिद्ध अर्थात् प्रदीप्त है। इस बात की सचाई की परख करने के लिए कि प्राण मनुष्य के शरीर की अग्नि का इन्धन है वा नहीं। यह घटना पर्याप्त है कि जब मनुष्य यह जानना चाहता है कि अमुक मनुष्य जीता है कि नहीं ? तो समझदार मनुष्य उससे कहता है कि इसे छूकर देख। यदि तापशेष है यदि अ·ी भी गरम है तो आशा करनी चाहिए कि वह जीएगा। जब तक उष्णता शेष है वह समिद्ध ही है। यदि ठंडा पड़ जाए तो फिर उसके जीने की आशा न करे। सो प्रथम प्रयाज द्वारा मनुष्य में प्राण का आधान करता है तात्पर्य यह है कि उत्तम सन्तान उत्पन्न करने के लिए प्रथम प्राणशक्ति की आवश्यकता है। मनुष्य जानदार होना चाहिए, महाप्राण होना चाहिए। इसीलिए समिध नाम प्रयाज का हवन करता है। महाप्राण होकर दम्पती का तीव्र अनुराग से एक दूसरे की ओर आकृष्ट होना दाम्पत्य क्षेत्र का वसन्त है।१। अब तनूनपात् का हवन करता है! (इसे पहले प्रसंग में ग्रीष्म से उपमा दे आए हैं सो अनुराग से उत्तप्त होकर वीर्य का सेचन करना तनूनपात् नाम का प्रयाज है। क्योंकि मनुष्य शरीर में वीर्य का नाम तनूनपात् है क्योंकि जब तक वह रहता है तनु अर्थात् शरीर का पतन नहीं होता, इसी बात को सूचित करने के लिए तनूनपात् नाम के प्रयाज का हवन करता है।२। अब इड नाम के प्रयाज का हवन करता है (इसकी पहले वर्षा से उपमा दे आये हैं) सन्तान का नाम इड है। जब सेचना के पश्चात् वीर्य सन्तान रूप होकर उत्पन्न हो जाता है तब वह उल्लसित सा होकर अन्न मांगता हुआ विचरता है तात्पर्य यह है कि गर्भाधान हो जाने के पश्चात् पूर्वोक्त सूर्य जिसकी कि पहले वसन्त और ग्रीष्म आ चुकी है मेघाच्छन्न रहना चाहिए और तब तक करना चाहिए जब तक पहली सन्तान अन्न अर्थात् दूध मांगती है और माता उस पर दूध की वर्षा करती है। इसलिए इस प्रयाज की वर्षा ऋतु से उपमा दी गई है। तो इस प्रयाज द्वारा सन्तति उत्पन्न करता है। इसलिए इड नामक प्रयाज का हवन करता है। ३। इसके पश्चात् बर्हि नामक प्रयाज का हवन करता है।

बर्हि भूमा अर्थात् ऐश्वर्य की सूचक है। किसी कुल में उत्तम सन्तान उत्पन्न हो गई तो उसमें भूमा आ गई, यह वह काल है जिसमें गुरुकुल जाने से पहले बच्चे को तैयार किया जाता है। यह दाम्पत्य धर्म की शरदृतु है, इसमें वात्सल्य रस की ठण्डक सारे घर को आनन्दमय बनाती है सो इस संस्कार द्वारा घर में भूमा अर्थात् ऐश्वर्य उत्पन्न करता है। इसलिए बर्हि नामक प्रयाज का हवन करता है।४। अब स्वाहा स्वाहा नाम के पांचवें प्रयाज का हवन करता है। हेमन्त ऋतुओं का स्वाहाकार है। हेमन्त संसार की समस्त प्रजा को अपने वश में ले आता है। इसीलिए हेमन्त में अन्नादि मुरझा जाते हैं। वृक्षों के पत्ते झड़ जाते हैं। पक्षी सिकुड़ से जाते हैं नीचा सिर किए से पड़े रहते हैं। पुरुष भी विपतितलोमा सा भद्दा बन जाता है। जो इस प्रयाज के इस मर्म को इस प्रकार जानता है वह जिस अर्द्ध अर्थात् भूखण्ड में उत्पन्न होता है उसे अपना बना लेता है। और उससे लक्ष्मी और अन्न प्राप्त करता है तात्पर्य यह है कि गुरुकुल के लिए तैयार की हुई सन्तान जब गुरुकुल में भेज दी जाती है तो घर में पतझड़ का अवसाद आ जाता है। परन्तु जो लोग इस अवसाद की महिमा को जानकर जी कड़ा करके इस पतझड़ से नहीं घबराते और बच्चों को गुरुकुल में भेज देते हैं। वे अपने संसार को वश में कर लेते हैं।५।

अब फलनिष्पत्ति अर्थात् पञ्चम प्रयाज की महिमा बताने के लिए एक आख्यायिका लिखते हैं। पहले आख्यायिका की कण्डिकाओं का अक्षरार्थ देंगे। उसके पश्चात् भावार्थ भी देंगे अक्षरार्थ इस प्रकार है।

देव थे और असुर थे। प्रजापति की ये दोनों सन्तानें आपस में झगड़ पड़ीं। उन्होंने आपस में एक दूसरे को लाठियों और धनुष से जीतना चाहा। परन्तु इस लड़ाई में किसी की जीत होती न देख वे बोले। चलो भाई! अब हम वाग्ब्रह्म के मैदान में एक, दूसरे को जीतने का यत्न करें। सो जो हम दोनों में से कही हुई पुल्लिंग बात का जोड़ा अर्थात् स्त्रीलिंग साथ लेकर मैदान में न आ सके वह सब कुछ हार जाए और दूसरे दल वाले सब कुछ जीत जायें। देवों ने स्वीकार किया ऐसा ही हो। देवों ने इन्द्र से कहा कि हमारी ओर से तू बोल।६। वह इन्द्र बोला "एको मम" अर्थात् मेरा एक दूसरे दल वाले बोले "अस्माकमेका" अर्थात् हमारी एक। सो यह जोड़ा ढूंढ निकाला। एक और एका मिलकर जोड़ा होता है।७। इस पर इन्द्र ने कहा कि "द्वौ मम" अर्थात् मेरे दो। दूसरे पक्ष वाले बोले "द्वे अस्माकम्" अर्थात् हमारी दो। सो यह भी जोड़ा ढूंढ निकाला। द्वौ और द्वे मिल कर जोड़ा होता है।८। इस पर इन्द्र ने कहा कि "त्रयो मम" अर्थात् मेरे तीन। विरोधी पक्ष वालों ने कहा कि तिस्रोऽस्माकम्" अर्थात् हमारी तीन। इस प्रकार यह भी जोड़ा ढूंढ निकाला गया। त्रयः तिस्रः यह जोड़ा बनता है।९। इन्द्र ने कहा कि "चत्वारो मम" अर्थात् मेरे चार, इस पर प्रतिवादियों ने कहा कि "चतस्रोऽस्माकम्" अर्थात् हमारी भी चार। इस तरह असुरों ने यह भी जोड़ा ढूंढ निकाला। चत्वारः चतस्रः यह जोड़ा बनता है।१०। इन्द्र बोला "पञ्च मम" अर्थात् मेरे पांच इस पर दूसरे पक्ष वाले जोड़ा न ढूंढ सके। क्योंकि संस्कृत में पञ्च का स्त्रीलिंग पञ्च ही होता है सो इससे ऊपर अर्थात् चार से परे जोड़ा है ही नहीं। दोनों ओर पञ्च पञ्च यही होता है। इस पर असुर सब कुछ हार गए। सब ओर से देवों ने असुरों को जीत लिया। सब कुछ से विरोधी असुरों को वञ्चित कर दिया।११।

इसलिए प्रथम प्रयाज के यज्ञ करने पर बोले "एको मम एका तस्य यमहं द्वेष्मि" और यदि उसका कोई द्वेषी न हो तो बोले "योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" ।१२। दूसरे प्रयाज में द्वौ मम द्वे तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" ।१३। तीसरे प्रयाज में "त्रयो मम तिस्रस्तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" ।।१४।। चतुर्थ प्रयाज में "चत्वारो मम चतस्रस्तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः"।१५। पांचवें प्रयाज में "पञ्च मम न तस्य किंचन योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" । सो वह पञ्च ऐसा बोले क्योंकि पांच होता हुआ वह विरोधियों को परास्त करता है । इस प्रकार उसका सब कुछ छीन लेता है । सर्वस्व से विरोधियों को वञ्चित कर देता है जो इस प्रकार इसके मर्म को जानता है ।।६।।

इस सारी आख्यायिका में दो मार्मिक बातें कही गई हैं, पहली बात तो यह है कि किसी बात का निर्णय लाठी और तलवार से करना मूर्खों का काम है, देवों का नहीं। देव लोग जिस विषय में उनका विरोध हो उसका निर्णय आपस की बातचीत से करते हैं जब तक एक पक्ष की सम्मतियों का जोड़ दूसरे पक्ष में भी होता है तब तक निर्णय नहीं होता । जब एक ओर सम्मति अधिक बढ़ जाती है तो निर्णय हो जाता है । दूसरी मार्मिक बात यह कही है कि बहुपक्ष को अपनी ओर करने का सबसे गहरा उपाय पंचम प्रयाज अर्थात् निष्पन्न फल का उपयोक्ताओं के हाथ में पहुंचकर परीक्षा द्वारा प्रमाणित होना है । जब तक फल प्रमाणित नहीं हो जाता, तब तक उत्साह, समारम्भ, विश्रान्ति, परिपाक इन चारों दिशाओं में सम्मति लक्षण दोनों ओर बराबर होती है । कार्यकर्त्ताओं की विजय सन्दिग्ध होती है । परन्तु फल के प्रयोग करनेवालों द्वारा प्रमाणित होने पर सन्देह का कोई अवकाश नहीं रहता और बहुपक्ष कार्यकर्त्ताओं के हाथ में आ जाता है । यही पंचम प्रयाज की महिमा है ।

अब अग्नि और प्रयाजों का परस्पर सम्बन्ध बताने के लिए एक आख्यान लिखते हैं । इस आख्यान का भाव समझने के लिए पहले अग्नि क्या है, यह समझ लेना चाहिए । शतपथ ब्राह्मण में अग्नि के दो प्रयोग कहे गए हैं । एक दैव प्रयोग एक आसुर प्रयोग ।

व्यक्तिगत स्वार्थ को पूरा करने के लिए हर एक का अपने लिए चावल पकाना, स्नान के लिए जल गरम करना आदि अग्नि के आसुर प्रयोग हैं । दूसरी ओर प्रजा के कल्याण के लिए अपने आपको आहुति करने के निमित्त हृदय में प्रबल स्वार्थ-त्याग की अग्नि जलाना अग्नि का दैव प्रयोग है । देखिए शतपथ में लिखा है कि—

"ते होचुः अथैनं वयं न्येव धास्यामहे अत्र तृणानि दह, अत्र दारुणि दह, अत्र ओदनं पच, अत्र मांसं पचेति । स ये तमसुरा न्यदधत तेन अनेन मनुष्या भुञ्जते । अथैनं देवा अन्तरात्मन्नादधत । श० २-२-२८—१४ ।

अर्थात्—(देवों के पूछने पर) वे (असुर) बोले, हम इसका (अग्नि का) निधान करेंगे इससे कहेंगे यहां तृण जला, यहां काष्ठ जला, यहां भात पका, यहां मांस पका । सो जिस अग्नि का असुरों ने निधान किया उससे मनुष्य भोजन करते हैं । दूसरी ओर देवों ने उसको अन्तरात्मा में आधान किया ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि असुर चूल्हे में अग्निनिधान करते हैं, देव आत्मा में

अग्न्याधान। वह आत्मा में जलने वाली अग्नि क्या करती है यह एक और वाक्य से स्पष्ट होता है—

असुराः···स्वेवास्येषु जुह्वतश्चेरुः श० । ११ । १ । ८ ।
देवाः अन्योऽन्यस्मिन्नेव जुह्वतश्चेरुः । श० । ११ । १ । ८ ।२ ।

"असुर अपने-अपने मुख में हवन करते विचरते रहे।" "देव एक दूसरे के मुख में हवन करते हुए विचरते रहे। इस प्रकार निस्वार्थ लोगों के हृदय में जलने वाली यह अग्नि ही संसार के कल्याण का कारण है। किन्तु यह अग्नि अपने कार्य में सफल नहीं हो सकती जब तक यह क्रमबद्ध न हो।

दूसरी ओर यह देखने में आता है कि मनुष्य स्वार्थपूर्ति के लिए संगठन झट बना लेते हैं। असुरों के संगठन संसार में झट बन जाते हैं। यह बात दूसरी है कि फल-प्राप्ति पर बंटवारे के लिए कलह उत्पन्न होकर इन यज्ञों का विध्वंस शीघ्र ही स्वयं हो जाता हो परन्तु प्रत्यक्ष तथा शीघ्र फलदायक होने के कारण ये झट उत्पन्न हो जाते हैं। और दृढ़प्रतिज्ञ, अपने विचारों के लिए मर मिटने वाले लोगों का संगठन करना बड़ा कठिन है, क्योंकि वे लोग निःस्वार्थ होने के कारण बिना तर्क के झट से दूसरे की बात मानने को तैयार नहीं होते। किन्तु उनका संगठन जैसा चिर साध्य है ऐसा ही चिरस्थायी भी होता है। यही बात यहां आख्यायिका द्वारा दिखाई गई है।

अग्नि का अर्थ स्पष्ट कर ही दिया गया है। ऋतु का अर्थ है क्रम। यह स्थूल फलाभिलाषी असुर लोगों में बहुत पाया जाता है। दो डाकुओं का संगठन बड़ा सुकर है, डाके का स्वार्थ उन्हें झट मिला देना है। दो निःस्वार्थ विद्वानों का मतभेद मिटाना कठिन है, क्योंकि उनमें द्वेष नहीं मतभेद है, और दोनों ही स्वार्थहीन हैं, किन्तु जब उनका भेद मिट जावे तो उनका संगठन भी अटल होता है। अब आख्यायिका सुनिए—

"जब देवों को यज्ञ में भाग मिलने लगा तो ऋतुओं ने भी भाग चाहा। वे कहने लगीं हमें भी यज्ञ में भागी बनाओ। हमें यज्ञ से बहिष्कृत न करो। हमारा भी यज्ञ में भाग होना चाहिए ॥१॥ परन्तु ऋतुओं की इस बात को देवों ने अनसुनी कर दिया, कुछ न जाना। इस पर ऋतु देवों के अनजाने ही देवों के अप्रिय, देवों के शत्रु असुरों से जा मिले ॥२॥ इससे उनमें समृद्धि बढ़ने लगी। वही समृद्धि जो देवों में सुनने में आती है। एक हल वाह रहे हैं, दूसरे बीज बो रहे हैं, तीसरे काटने जा रहे हैं, कोई पयारी (पंजाबी 'गाही') कर रहे हैं, किसी के घर बिना जोते खेती कट रही है ॥३॥ इस पर देवों के हृदय में बड़ी चोट लगी। वे सोचने लगे। यह तो हमारे लिए बड़ी छोटेपन की बात हुई जो शत्रु कल दबा हुआ था वह आज हमारा द्वेषी बनकर भाग देने से बचना चाहता है, हमें कुछ दिया नहीं चाहता, अराति हो रहा है। अब कोई ऐसी तरकीब सोच निकालो जिससे यह अवस्था बदल जावे ॥४। वे (देव) बोले चलो ऋतुओं को निमन्त्रण देकर अपने साथ मिला लो (प्रश्न हुआ) कैसे मिला लें? (उत्तर) यज्ञ में पहले इनके नाम की आहुति हो ॥५॥ इस पर अग्नि बोला अब तक जो यज्ञ में पहले मेरे नाम का यज्ञ होता था सो मेरा क्या बनेगा, मैं कहाँ जाऊँ? (देव बोले) हम तुझे भी अपने स्थान से भ्रष्ट न होने देंगे। सो ऋतुओं को निमन्त्रण देते समय, क्योंकि उन्होंने (देवों ने) अग्नि को अपने स्थान से च्युत नहीं होने दिया, इसलिए अग्नि का नाम अच्युत है जो इस प्रकार इस अच्युत अग्नि के मार्ग को जानता है वह

अपने स्थान में स्थित होता है जिस स्थान से च्युत नहीं होता है ॥६॥ (इस अग्नि को स्थान से च्युत न होते हुए ऋतुओं को निमन्त्रण देने की उलझन को सुलझाने के लिए) वे देव अग्नि से बोले, जा इनके पास जा कर तू ही इन्हें मना कर ला। इस पर अग्नि उनके पास जाकर बोला ऋतुओ ! मैंने तुम्हें यज्ञ में भाग दिलवा दिया है। वे बोले कैसे दिलवा दिया है ? वह बोला यज्ञ में तुम्हारे लिए ही यजन किया जायेगा ॥७॥ इस पर वे ऋतु अग्नि से बोले हम भी तुझे अपने में सहभागी बनाते हैं क्योंकि तूने हमें यज्ञ में भाग दिलवाया है। इसीलिए वह यह अग्नि ऋतुओं में (प्रजाओं में) सम्मिलित है। देखिये, १ समिधो अग्ने, २ तनूनपाद् अग्ने, ३ इडो अग्ने, ४ बर्हिर्अग्ने, ५ स्वाहा अग्निम् इन पांचों ऋतुओं के पांचों प्रयाजों में अग्नि का नाम है।

जो मनुष्य ऋतुओं के नाम के यज्ञ में इस प्रकार अग्नि का भाग भी है यह जानता है। उसके सामने जब मैं भी तेरे बराबर हूँ ऐसा कहने वाला कोई पौर्णमासादि यज्ञ कराता है, तो उस यज्ञ में इस अग्नि के भाग की बात जानने वाले को भी फल का भाग प्राप्त होता है। इस अग्नितत्त्व को जानने के कारण वह अग्निमान् कहलाता है और इस अग्निमान् के लिए ऋतु भी अग्निमान् बनकर संसार के सब पदार्थों को परिपक्व करके उसके सामने उपस्थित करते हैं ॥८॥ अब इसमें प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अवाहन विधि में—"अग्निमग्न आ३वह सोममा३वह अग्निमा३वह अग्नीषोमा वा३वह देवां २ आज्यपां २॥ आ३वह अग्निहोत्राया३वह स्वं महिमानमा३वह आ च वह जातवेदः यज देवान् आज्यपानावह" (देखो पृष्ठ २४०) इस वाक्य से प्रयाजों का आवाहन सबसे पीछे होता है। परन्तु मुख्य आहुतियों के प्रसंग में इनके नाम के भाग की आहुतियां सबसे प्रथम दी जाती हैं। इसका क्या कारण है? इसका उत्तर यह है कि यज्ञ में इनकी कल्पना पीछे हुई है इसलिए आवाहन पीछे होता है। परन्तु क्योंकि उनके साथ प्रतिज्ञा कर ली गई थी कि यज्ञ में तुम्हारी आहुति पहले होगी (देखो पृष्ठ २६० कं० ५) इसीलिए आहुति पहले दी जाती हैं। तात्पर्य यह है कि पहले उद्देश्य (अग्नि) है पीछे कार्य-क्रम (प्रयाज) है। परन्तु कार्य आरम्भ करने के समय कार्य-क्रम को सामने रख के उद्देश्य की शर्तें की जाती हैं। कार्य-क्रम बनाने के समय जो उद्देश्य उस कार्य-क्रम का जन्मदाता था कार्य आरम्भ करने के समय वह पीछे पड़ जाता है और कार्य-क्रम पहले आ जाता है। कार्यारम्भ में क्रम विपर्यास होता है।९। चतुर्थ प्रयाज से देवों ने यज्ञ को पाया, पंचम प्रयाज से उसको दृढ़ मूल कर दिया, उसके पश्चात् जो आज्यभाग, पुरोडाश भागादि होते हैं उनसे स्वर्ग लोक को प्राप्त होते हैं ॥१०॥ सो स्वर्गलोक को जाते समय उन्हें यह भय था कि असुर और राक्षस कहीं बीच में विघ्न न कर दें। इसीलिए उन्होंने राक्षसों को मारने में कुशल, राक्षस-विनाशक अग्नि को आगे कर लिया। राक्षस नाश-कुशल राक्षसनाशक अग्नि को बीच में कर लिया। राक्षस नाश-कुशल, राक्षस-विनाशक अग्नि को पीछे कर लिया ॥११॥ सो यदि उन पर सामने से राक्षसों ने आक्रमण करना चाहा तो राक्षस नाशकुशल, राक्षस विनाशक अग्नि ने ही उनका नाश कर डाला। यदि मध्य भाग पर राक्षसों ने आक्रमण करना चाहा तो राक्षस नाश-कुशल, राक्षस-विनाशक अग्नि ने ही उनका नाश कर डाला। यदि पीछे से राक्षसों ने आक्रमण करना चाहा तो राक्षस नाशकुशल राक्षस-विनाशक अग्नि ने ही ने उनका नाश कर डाला। इस प्रकार सम्मुख, मध्य और पीछे सब ओर से अग्नि द्वारा रक्षित होकर उन्होंने स्वर्ग लोक का उपभोग पाया ॥१२॥

सो यह वही बात यहां होती है। यजमान चतुर्थ प्रयाज को वश में करके यज्ञ को वश में करता है। और पांचवें प्रयाज से उसे दृढ़ मूल करता है। उसके पश्चात् जो कुछ क्रिया होती है उससे स्वर्गलोक का उपभोग करता है ॥१३॥ सो यह जो आग्नेय आज्य भाग का हवन किया जाता है यह राक्षस विनाश-कुशल, राक्षस विनाशक अग्नि को आगे करता है। यह जो आग्नेय पुरोडाश हवन किया जाता है यह राक्षस विनाश-कुशल राक्षस-विनाशक अग्नि को बीच में करता है। उसके पश्चात् स्विष्टकृत् अग्नि के नाम से जो हवन होता है यह राक्षस विनाश कुशल राक्षस-विनाशक अग्नि को पीछे करता है। सो यदि उस यजमान पर सामने से असुर-राक्षस आक्रमण किया चाहते हैं तो राक्षस विनाश-कुशल, राक्षस-विनाशक अग्नि ही उन्हें मार देता है। यदि मध्य में असुर-राक्षस आक्रमण किया चाहते हैं तो राक्षस विनाश-कुशल राक्षस-विनाशक अग्नि ही उन्हें मार देता है। यदि पीछे से असुर राक्षस आक्रमण किया चाहते हैं तो राक्षस विनाश-कुशल राक्षस-विनाशक अग्नि ही उन्हें मार देता है। इस प्रकार चारों ओर से अग्नि द्वारा सुरक्षित होता हुआ वह यजमान स्वर्ग लोक का उपभोग करता है ॥१५॥ सो यदि यज्ञ के प्रथम भाग में कोई यजमान का ध्यान यज्ञ से विक्षिप्त करने के लिए उससे बात-चीत छेड़ दे तो अध्वर्यु को चाहिए कि यजमान को समझा दे तू यज्ञ के आदि भाग में जो कि यज्ञ का मुख है ध्यान-च्युत होने लगा है सो तुझे मुख वाली व्याधि प्राप्त हो जावेगी। अन्धा या वहिरा हो जायगा। यही मुख की व्याधि में है और समय ध्यान च्युत होने से ऐसा ही होता है ॥१६॥ यदि यज्ञ के मध्य में कोई ध्यान-च्युत करने के लिए बाल पड़े तो अध्वर्यु यजमान से कहे कि इस की ओर ध्यान मत दे, नहीं तो प्रज्ञाहीन तथा पशुहीन हो जाएगा क्योंकि यही यज्ञ का मध्य है और ऐसा ही होता है अर्थात् अध्वर्यु का कहना न मानने वाले का यही फल होता है ॥१७॥ यदि यज्ञ के अन्तर्भाग में कोई यजमान से उसको ध्यान-च्युत करने के लिए वोले तो उसे कहना चाहिए कि तू प्रतिष्ठाहीन तथा दरिद्र होकर इस दुनिया से उस दुनिया में, धनियों की दुनिया से गरीबों की दुनिया में, कामयावों की दुनिया से नाकामयावों की दुनिया में चला जायेगा और सचमुच ऐसा ही होता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि कार्य की समाप्ति तक एकाग्रचित्त से अपने लक्ष्य में ही ध्यान रक्खे, इधर उधर की वात में उलझे नहीं। वस जो इस प्रकार जानता है वह वड़ा हो जाता है ॥१८॥

प्रयाजों को करने वाला संवत्सर को जीत (Trophy) लेता है। सो वही इसको जीतता है जो इसके दरवाजे को जानता है। भला जो आदमी घरों को अन्दर से न जानता हो कि कहाँ-कहाँ किस-किस प्रकार वने हुए हैं, वह उन घरों से क्या करेगा। सो इस संवत्सर रूपी घर का एक द्वार वसन्त है और दूसरा हेमन्त। सो इस बात को जानने वाला इस संवत्सर नाम सुखमय लोक को पहुँचता है। सव प्रकार के संवत्सर को और सव प्रकार के अक्षय पदार्थों को प्राप्त होता है। क्योंकि इस प्रकार चलने से उसके सभी शुभ कार्य अक्षय और उनसे प्राप्त होने वाली पदवी भी अक्षय हो जाती है। तात्पर्य यह है कि कई लोग तो कार्य को आरम्भ करना जानते हैं, निभाना नहीं जानते। यह स्पष्ट है कि हर एक कार्य के आरम्भ में वसन्त की बहार होती है—नया जोश और नई उमंगें होती हैं। वस जहाँ यह नयेपन का नशा ढीला हुआ और ये लोग खिसके। इन्हें हम वसन्ती लोग कह सकते हैं इनकी हालत उन लोगों सी है जो घर में घुसना जानते हैं पर निकलना नहीं जानते। उधर की दूसरी ओर कई लोग तो ऐसे होते हैं। जिन्हें बना बनाया दे दो तो उसे खूब संभालेंगे परन्तु वे कार्य को

आरम्भ करने की झंझट से घबराते हैं। कौन बुलाये कौन इकट्ठा करे हमसे यह झगड़ा नहीं होता। ये लोग हैं जिन्हें हम हेमन्ती पुरुष कह सकते हैं। इनमें धैर्य है उल्लास नहीं। Dash, Stamina ये दोनों अधूरे हैं। अक्षय यज्ञ उसी का होता है ।।१६।।

प्रश्न—अब प्रश्न करते हैं कि घृत की आहुतियों का देवता कौन है ?

उत्तर—तो इसका उत्तर देना चाहिए कि इनका देवता प्रजापति है। प्रजापति का कोई रंग रूप नहीं। वैसा घी का भी कोई निश्चित रूप नहीं। सो इसीलिए इनका देवता यजमान समझना चाहिए। क्योंकि यजमान ही अपने यज्ञ में प्रजापति होता है। इसी की आज्ञा से ऋत्विज् लोग यज्ञ का विस्तार करते हैं और उसी को उत्पन्न करते हैं ।।२०।।

सो वह अध्वर्यु पात्र में घी डालकर हवि में से थोड़ा सा दो बार काटकर उधर से घृत सेवन करता है। सो इस प्रकार यह आहुति घी के साथ मिलाकर यज्ञ में डाली जाती है। सो वास्तव में यह घी के रूप में यजमान के साथ मिली हुई आहुति यज्ञ में हवन की जाती है। इस प्रकार यजमान चाहे दूर रहकर यज्ञ करे या पास रहकर परन्तु इस बात को ठीक ठीक इस प्रकार जानने वाले का वह यज्ञ ऐसे ही होता है मानो बिल्कुल पास बैठकर किया हो। और जो इस प्रकार इस बात को ठीक जानकर यज्ञ करता है वह बहुत सी गड़बड़ भी करता हो तो भी यज्ञ से बाहर नहीं होता। तात्पर्य यह है कि हर एक उद्योगशाला में अनेक विभाग होते हैं और हर विभाग का अलग देवता होता है और हर एक देवता की अलग हवि होती है। किसी विभाग में अग्नि देवता के लिए कोयले की हवि दी जा रही है, कहीं अश्विदेवता के लिए चमड़े के पट्ठे की हवि दी जाती है, कहीं पूषा देवता के लिए सूत की हवि दी जा रही है परन्तु एक पदार्थ ऐसा है जिसकी हर विभाग में अत्यन्त आवश्यकता है वह है यजमान की ओर से स्नेह युक्त व्यवहार यदि कार्यकर्त्ताओं को यह मिल रहा हो तो यजमान दूर रहे या पास कोई चिन्ता नहीं। जब तक उनके साथ स्नेह युक्त व्यवहार हो रहा है तब तक यजमान परदेश में गया हुआ भी उनकी दृष्टि में पास ही खड़ा है और इसके विपरीत यदि व्यवहार कड़वा हो तो उनकी दृष्टि में वह पास खड़ा हुआ भी परलोक गया हुआ है। इसी प्रकार उद्योगशाला के कार्यकर्त्ता तथा ग्राहक यह नहीं पूछते कि व्यक्तिगत जीवन में क्या गड़बड़ करता है, यदि उनके साथ यजमान का व्यवहार स्नेह युक्त है तो उनकी दृष्टि में यज्ञ सफल है। बस १ घी का अर्थ स्नेह युक्त व्यवहार है। इतनी बात समझ लेने से सारा प्रकरण भली भाँति समझ में आ जाता है ।।२१।।

।। इति षष्ठाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ।।

अथ षष्ठाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

यज्ञेन ह वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्यैषामियं जितिस्ते होचुः कथन्न इदं मनुष्यै-रनभ्यारोह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथामधु मधुकृतो निर्धयेयर्युविदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम तद्वाऽऋषीणामनु-श्रुतमास ॥१॥

यह जो देवों की जीत है उस जीत को देवों ने यज्ञ से जीता । वे बोले कि हम ऐसा क्या उपाय करें कि यह हमारी पदवी साधारण मनुष्यों की चढ़ाई से बाहर हो जाये । सो जिस प्रकार भौंरे शहद पी जाते हैं उसी प्रकार यज्ञ का रस पीकर उसका बिल्कुल दोहन करके यज्ञ को यूप के साथ बांध कर आप गायब हो गए क्योंकि उन्होंने यज्ञ का यूप के साथ योपन (बन्धन) किया, इसलिए वह यूप कहलाया सो यह बात ऋषियों ने सुन रक्खी थी ॥१॥

यज्ञेन ह वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्यैषामियं जितिस्ते होचुः कथन्न इदं मनुष्यै रनभ्यारोह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्द्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरो ऽभवन्निति तमन्देष्टुं दध्रिरे ॥२॥

यह जो देवों की जीत है इस जीत को देवों ने यज्ञ से जीता । वे बोले कि हम ऐसा क्या उपाय करें कि यह हमारी पदवी साधारण मनुष्यों की चढ़ाई (पहुँच) से बाहर हो जाये । सो जिस प्रकार भौंरे शहद पी जाते हैं उसी प्रकार यज्ञ का रस पी कर उसका बिल्कुल दोहन करके यज्ञ को यूप के साथ बांधकर आप गायब हो गये । सो ऋषि लोगों ने उसको ढूंढने का निश्चय किया ॥२॥

तेऽर्च्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः श्रमेण । ह स्म वै तद्देवा जयन्ति यदेषां जय्यमास-ऽर्षयश्च तेभ्यो देवा वैव प्ररोचयाञ्चक्रुः स्वयं वैव दध्रिरे प्रेत तदेष्यामो यतो देवाः स्वर्गं लोकꣳ समाश्नुवतेति ते किं प्ररोचते किं प्ररोचतऽइति चेरुरेतपुरोडाशमेव कूर्म्मं भूत्वा सर्प्पन्तं ते ह सर्व्वऽएव मेनिरेऽयं वै यज्ञ इति ॥३॥

तब वह परमात्मा की पूजा करते हुए और पूरी मेहनत करते हुए विचरते लगे । वे यह जानते थे कि आज तक देवों और ऋषियों ने जिस वस्तु को जीतने का फैसला किया उसे मेहनत से ही जीता । सो उन्हें देवों ने प्रेरणा की और उन्होंने स्वयं भी यही निश्चय किया कि चलो उसके पास चलें जिससे देवों ने स्वर्ग लोक पाया । उधर पुरोडाश कछुआ बनकर सरक रहा था । उन सब ने यही जाना कि यही यज्ञ है । सो

वे पुरोडाश के चारों तरफ यह कहते हुए चक्कर काटने लगे कि तुझे क्या अच्छा लगता है ? तुझे क्या अच्छा लगता है ॥३॥

ते होचुः । अश्विभ्यां तिष्ठ सरस्वत्यै तिष्ठेन्द्राय तिष्ठेति स ससर्पैवाग्नये तिष्ठेति ततस्तस्थावग्नये वाऽअस्थादिति तमग्नावेव परिगृह्य सर्व्वहुतमजुहवुराहुतिर्हि देवानां तत एभ्यो यज्ञः प्रारोचत तमसृजन्त तमतन्वत सोऽयं परोऽवरं यज्ञोऽनूच्यते पितेव पुत्राय ब्रह्मचारिणे ॥४॥

तब वे पुरोडाश से बोले तू अश्वि देवताओं के नाम पर ठहर जा। सरस्वती के नाम पर ठहर जा। इन्द्र के नाम पर ठहर जा। परन्तु वह सरकता ही गया। फिर उन्होंने कहा, अग्नि के नाम पर ठहर जा। तब वह ठहर गया, क्योंकि वह अग्नि के नाम पर ठहर गया इसलिए उन्होंने उसे पकड़कर अग्नि में उसकी सर्वाङ्ग आहुति कर डाली। आहुति ही देवों का अंग है। तब उन्हें यज्ञ अच्छा लगने लगा। तब वह उस यज्ञ को करने लगे उसका विस्तार करने लगे सो वही यह यज्ञ है जिसका उपदेश पहला पिछले को अर्थात् पिता अपने पुत्र को ब्रह्मचारी बनाकर देता है ॥४॥

स वा ऽएभ्यस्तपुरोऽदाशयत् । य एभ्यो यज्ञं प्रारोचयत्तस्मात्पुरोदाशः पुरोदाशो ह वै नामैतद्यत्पुरोडाश इति स एष उभयत्राच्युत आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति ॥५॥

सो यह पुरोडाश ही था जिसने उनके सामने भेंट दिलवाई जिसने इनकी यज्ञ में रुचि कराई क्योंकि उसने उनके पुरः अर्थात् सामने दाश अर्थात् भेंट करवाई। इसलिए वह पुरोदाश हुआ और पुरोदाश का ही पुरोडाश बन गया। सो यह पुरोडाश दर्श और पूर्णमास दोनों आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश के नाम से उपस्थित है ॥५॥

स न पौर्णमास७ँ हविः । नामावास्यमग्नीषोमीय एव पौर्णमास७ँ हविः सान्नाय्यमामावास्यं यज्ञ एवैष उभयत्रावक्लृप्तो नेद्यज्ञादयानीति न्वेव पुरस्तात्पौर्णमासस्य क्रियतऽएवं वामावास्यस्यैतन्नु तद्यस्मादत्र क्रियते ॥६॥

सो यह पुरोडाश न पूर्णमासी की हवि है न अमावस्या की। पूर्णमासी की हवि अग्निषोमीय है। अमावस्या की हवि सान्नाय्य (दही की हवि) है। यह जो अग्नि के नाम का अष्टाकपाल पुरोडाश दर्श-पूर्णमास दोनों में रक्खा गया है। यह दोनों स्थानों पर यज्ञ को सजाया गया है। मैं यज्ञ से बाहर न रह जाऊँ इसीलिए पूर्णमास से पहले किया जाता है—इसीलिए अमावस्या के यज्ञ से पहले किया जाता है और यही कारण है कि यह विधि यहाँ की जाती है ॥६॥

यद्यु ऽ एनमुपधावेत् । इष्टचा मा याजयेत्येतयैव याजयेद्यत्कामा वाऽएतमृषयोऽजुहवुः स एभ्यः कामः समर्ध्यत यत्कामो ह वाऽएतेन यज्ञेन यजते सोऽस्मै कामः समृध्यते यस्यै वै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यतेऽग्नौ वै तस्यै जुह्वत्यग्नाऽउ चेद्धोष्यन्स्यात्किमन्यस्यै देवताया ऽ आदिशेत्तस्मादग्नयऽएव ॥७॥

यदि कोई मनुष्य यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण की शरण में न आवे और उससे बिना पूर्णमासी या अमावस्या के किसी और दिन इष्टि कराने का आग्रह करे और कहे कि मुझे यज्ञ कराओ तो उसे इसी अष्टाकपाल पुरोडाश द्वारा यज्ञ करावे। ऋषियों ने जिस किसी कामना को लेकर भी अग्नि का हवन किया वही उनकी पूरी हो गई। और भी जो कोई मनुष्य जिस कामना को लेकर इस यज्ञ को करता है उसकी वह कामना पूरी हो जाती है। जिस किसी भी देवता के नाम की आहुति देनी होती है

वह उसके नाम को देनी हो तब और किसका नाम लें। इसलिए अग्नि के नाम की ही आहुति दी जाती है ॥७॥

अग्निर्वै सर्वा देवताः। अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति तद्यथा सर्व्वा देवता उपधावेदेवं तत्तस्मादग्नयऽएव ॥८॥ शतम् ५०० ॥

अग्नि ही सब देवताओं का एक देवता है। सब देवताओं के नाम की आहुति अग्नि में ही देते हैं। इसलिए जो अग्नि के नाम की आहुति दी तो मानो एक बार ही सब देवताओं की शरण में पहुँच गए। इसलिए अग्नि के लिए पुरोडाश मुख्य हैं ॥८॥

अग्निर्वै देवानामद्धातमाम्। यं वाऽद्धातमां मन्येत तमुपधावेत्तस्मादग्नयऽएव ॥९॥

अग्नि सब देवों में सबसे अधिक प्रत्यक्ष देवता है। मनुष्य जिसे सबसे अधिक प्रत्यक्ष तथा निश्चित्त फल देने वाला समझें उसी की सेवा में जावे इसलिए अग्नि के नाम की ही आहुति उचित है ॥९॥

अग्निर्वै देवानां मृदुहृदयतमः। यं वै मृदुहृदयतमं मन्येत तमुपधात्तस्मादग्नयऽएव ॥१०॥

अग्नि सब देवों में सबसे अधिक मृदु हृदय वाला है। मनुष्य को चाहिए कि जिसे सबसे अधिक नरम दिल समझे उसी की शरण में जावे। इसीलिए अग्नि के नाम की ही आहुति दी जाती है ॥१०॥

अग्निर्वै देवानां नेदिष्ठम्। यं वै नेदिष्ठमुपसर्त्तव्यानां मन्येत तमुपधावेत्तस्मादग्नयऽएव ॥११॥

अग्नि देवताओं में सबसे समीप देवता है। मनुष्य को चाहिए कि शरण देने वालों में जिसे सबसे समीप समझे उसकी शरण में जावे। इसलिए अग्नि के नाम की ही आहुति दी जाती है ॥११॥

स यदीष्टिं कुर्व्वीत। सप्तदश सामधेनीरनुब्रूयादुपाꣳशु देवतां यजति तद्धीष्टिरूपं मूर्द्धन्वत्यौ याज्यानुवाक्ये स्यातां वार्त्रघ्नावाज्यभागौ विराजौ संयाज्ये ॥१२॥ ब्राह्मणम् ॥१॥ [६. २.] ॥

यदि वह ऋत्विज् कभी असमय इष्टि करावे तो उसमें निम्नलिखित बातें विलक्षण होंगी। पन्द्रह के स्थान पर सत्रह सामिधेनी होंगी। देवता के नाम की आहुति उपांशु (अर्धमौन) दी जावेगी। यही इस इष्टि का वास्तविक रूप है। याज्या और अनुवाक्या में ऐसे मन्त्र आने चाहिएँ जिनमें मूर्धा शब्द आता हो। आज्य भाग वृत्रहन् देवता के नाम पर दिये जाने चाहिएँ और दोनों संय्याज्या विराट् छन्द की होनी चाहिएं ॥१२॥

इन कण्डिकाओं का तात्पर्य यह है कि यज्ञ-भावना का मूल तत्त्व स्वार्थ को परार्थ में आहुति करने का दृढ़ संकल्प है। और यही अग्नि के नाम से कहलाता है। अब पुरोडाश में से अग्नि के नाम का प्रधान होम करने का समय आया है। अग्नि और सोम के नाम से जिन सूखे और रसीले दो परस्पर विरोधी गुणों का मस्तिष्क में समन्वय करना अभीष्ट है। उनके उस समन्वय का अन्तिम उद्देश्य भी तो परोपकार की अग्नि में आहुति करना ही है। इसलिए इस प्रकरण में सबसे पहले अग्नि और पुरोडाश की महिमा का वर्णन है।

सबसे पहले यूप और तिरोधान को लीजिये। यूप नाम उस कार्यक्रम तथा नियमों के समुदाय का है जो किसी कार्य की सिद्धि के लिए मिलाकर बहुत विचार और अनुभव के पश्चात् निर्धारित किया जाता है। जिसे अंग्रेजी में (Colde) कहते यह यज्ञ का रस अर्थात् Organisation का (Essence) है। इसके बनने के पश्चात् इसके बनाने वाले देवता आप गायब हो जाते हैं। फिर तो वह कानून उनको चलाता है। और बनाने वाले का व्यक्तित्व छिप जाता है फिर तो कोई बच्चा उसे चला ले, संगठन की प्रशंसा इसी में है। संगठन में नियम बनाने का उद्देश्य यही होता है कि हमें व्यक्तियों के व्यक्तित्व पर निर्भर न रहना पड़े। बल्कि उन व्यवस्थाओं के बल पर साधारण से साधारण व्यक्ति भी शासन की गाड़ी को आगे ले जा सके। और इस व्यवस्था को जाने विना साधारण मनुष्य देवों की पदवी तक नहीं पहुँच सकते। परन्तु प्रश्न यह है कि यदि सैकड़ों वर्षों की बनाई हुई पुरानी व्यवस्था कभी हाथ से नष्ट हो जाए तो उसे फिर कैसे पैदा किया जा सकता है। उसका उत्तर यह है कि पुरोडाश को अग्नि में हवन करके अर्थात् उत्तम मस्तिष्क को परोपकार की भावना रूप अग्नि के अर्पण करके दृढ़ ईश्वर विश्वास और गहरे परिश्रम द्वारा हम खोई हुई व्यवस्थाओं का पुनरुद्धार कर सकते हैं। आखिर जिन्होंने पहले व्यवस्थाएं बनाई थीं उनके पास भी तो यही चार सामग्री थी। (१) उत्तम मस्तिष्क (२) परोपकार की प्रबल भावना (३) गहरा परिश्रम (४) और दृढ़ ईश्वर विश्वास। अब प्रश्न यह है कि पुरोडाश को कछुवे की उपमा क्यों दी गई? सो उसका भाव है कि खाई हुई अवस्थाओं का उद्धार हरिण गति से नहीं हो सकता। वहाँ तो धीरे-धीरे सरक कर ही चलना पड़ता है। फिर इसमें और भी कई रहस्य हैं। प्रथम तो हम यह दिखा आये हैं कि "आपः" नाम प्रजा का है। तो कछुआ वे लोक हुए जो किनारे पर रहने की शक्ति रखते हुए भी अपने आप को नदी के तल में डुबो कर रख सकते हैं। अर्थात् साधारण प्रजा से बहुत ऊँचा उठने की शक्ति रखते हुए भी परोपकार की भावना से प्रेरित होकर अपने आपको उनमें मिलाकर रखते हैं। फिर जितेन्द्रियता का भी कछुवे से बढ़कर दृष्टान्त मिलना कठिन है। जिस प्रकार कछुवा हड्डियों में छिपा है इसी प्रकार मनुष्य का मस्तिष्क भी हड्डियों में छिपा है। जिस प्रकार कछुवे के अंग प्रत्यंग बाहर निकले रहते हैं इसी प्रकार मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर निकली रहती हैं। जिस प्रकार थोड़ा-सा भय होने पर कछुवा अपने अंग प्रत्यंग समेट लेता है उसी प्रकार काम क्रोधादि के उपस्थित होने पर जितेन्द्रिय मनुष्य अपनी बिखरी हुई शक्ति को समेट कर अन्दर कर लेता है। इसीलिए भगवान् वेदव्यास जी ने कहा है—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वतः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। गीता २।५८ ।।

अर्थात् प्रतिष्ठित बुद्धि उसकी समझनी चाहिए जो विषयों से इन्द्रियों को हटाकर ऐसे समेट लेता है जैसे कछुवा अपने अंगों को। अब तो यह समझ में आ गया कि मस्तिष्क की कछुवे से उपमा क्यों दी गई? परन्तु उसे पुरोडाश क्यों कहा गया यह भी समझना चाहिए। सो इसका भाव यह है कि हर एक मस्तिष्क यज्ञ के उपयोगी नहीं हो सकता चाहे उसमें कितनी ही तीव्र बुद्धि क्यों न भरी हो। यज्ञ के लिए उपयोगी मस्तिष्क वही है जो अपने आप को देवताओं के "पुरः" अर्थात् सामने "दाशयति" अर्थात् खुशी से भेंट करता है। और इस तरफ से वह भेंट करवाता है—ऐसा

उत्तम मस्तिष्क जब परोपकार की अग्नि में सर्वांग रूप से आहुति किया जाता है—तब यज्ञ में यह चमक पैदा होती है, जिससे वह सबको प्यारा होता है। यह आहुति ही देवताओं को प्यारी है।

दर्श और पूर्णमास दोनों की मुख्य आहुति दो पुरोडाश हैं। पूर्णमास में आग्नेय और अग्निषोमीय तथा दर्श में आग्नेय और ऐन्द्राग्नि। अग्निषोमीय और ऐन्द्राग्नि पारिवारिक सुख के पुरोडाश हैं, परन्तु आग्नेय शुद्ध सामाजिक सुख के लिए अपने आपको अर्पण करने की दहकती हुई भावना का प्रतिनिधि है। स्त्री पुरुष के अथवा अग्नषोम के जोड़े को भी वास्तविक सुख तभी मिलता है, जब उनका प्रेम इस पवित्र अग्नि से प्रदीप्त हो। यही बात दिखाने के लिए अग्नि के नाम का पुरोडाश दोनों यज्ञों में अलग दिया जाता है। इसीलिए इसको मुख्यता दी गई है। और इसीलिए असमय में आने वाली अर्थात् उन यजमानों के लिए जिनके विशेष आग्रह और विशेष योग्यता को देखकर पुरोहित भी अपने शरण में ले ले केवल अग्नि पुरोडाश बताया गया। अग्नि को सबसे प्रत्यक्ष और निश्चित देवता इसलिए कहा गया है कि अच्छे और बुरे सभी प्रकार के मनुष्यों को अपने कार्य की निश्चित सिद्धि के लिए दृढ़ संकल्प की सहायता अवश्य लेनी (चाहिए) पड़ती है। अग्नि को सबसे मृदुल हृदय इसलिए कहा क्यों कि अग्निवाला मनुष्य किसी भी पदार्थ को नष्ट करने से पहले दस बार सोचता है कि पदार्थ वा व्यक्ति किसी प्रकार से भी उसके संकल्प की पूर्ति के लिए साधन बनाया जा सकता है या नहीं। और जब तक उसे आशा की धीमी-सी झलक भी दिखाई देती है तब तक वह उसे नष्ट नहीं होने देता। यही कारण है कि प्रायः लोग महात्मा लोगों को धोखा देने में सफल होते हैं। महात्माओं की आँखें फूटी नहीं होतीं परन्तु वे अपने हृदय में बसने वाली अग्नि के प्रताप से मृदु-हृदयतम होते हैं। अग्नि को सबसे नेदिष्ठ इसलिए कहा है कि धन, स्त्र-पुस्तक सैनिकादिसामग्री बाहर रहती है और हर स्थान पर उठाकर ले जाई नहीं जा सकती। परन्तु दृढ़ संकल्प तो मन में रहता है। और अगले जन्म तक साथ रहता है। बेसमय इष्टि कराने के लिए पन्द्रह के स्थान में सत्रह सामिधेनी इसलिए रक्खी गई हैं क्योंकि उसमें याज्या और अनुवाक्या बढ़ा दी गई है। यह याज्या और अनुवाक्या मूर्धन्वती इसलिए है कि पुरोहित का कर्त्तव्य है कि यदि वह कभी असमय में आने वाले यजमानों को स्वीकार करे तो केवल उस अवस्था में जब कि वह मूर्धन्वान् हो अर्थात् विशेष अद्भुत प्रतिभाशाली सिर रखते हों। उनको देवता उपांशुयाज इसलिए होता है क्योंकि जब तक वे पूर्ण साधना न करलें और पुरोहित को उनकी दृढ़ता पर पूर्ण विश्वास न हो जाय तब तक उनका संकल्प मौन रहना चाहिए। उनके देवता की घोषणा लोक के सामने नहीं की जा सकती। आज्य भाग वृत्रहन् देवता के नाम पर इसलिए दिये जाते हैं कि पूर्णतया अपरोक्षित यजमान को कुछ काल के लिए विशेष तप कराना पुरोहित के लिए आवश्यक है और तप ही वृत्र अर्थात् भोगवाद को मारने वाला है। संयाज्यावों का विराट् छन्द इसीलिए है क्योंकि अब तक गायत्री त्रिष्टुभ जगती अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य किसी का भी रंग पूरी तरह उस पर चढ़ नहीं पाया।

॥ इति षष्ठाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

षष्ठाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

त्वष्टुर्ह वै पुत्रः । त्रिशीर्षा षडक्ष आस तस्य त्रीण्येव मुखान्यासुस्तद्यदवेँ रूप आस तस्माद्विश्वरूपो नाम ।।१।।

त्वष्टा के एक बेटा था। जिसके तीन सिर और छः आँखें थीं। उसके तीन ही मुंह भी थे। क्योंकि उसका ऐसा रूप था इसलिए उसे विश्वरूप कहते हैं ।।१।।

तस्य सोमपानमेवैकं मुखमास। सुरापाणमेकमन्यस्माऽअशनायैकं तमिन्द्रो द्विद्वेष तस्य तानि शीर्षाणि प्रचिच्छेद ।।२।।

उसका एक मुंह सोम पीने के लिए था। एक सुरा पीने के लिए और तीसरा अन्य सब प्रकार के साधारण भोजन के लिए। इन्द्र का त्वष्टा के पुत्र से द्वेष था उसने उसके वे तीनों सिर काट डाले ।।२।।

स यत्सोमपानमास। ततः कपिञ्जलः समभवत्तस्मात्स बभ्रुक—इव बभ्रुरिव हि सोमो राजा ।।३।

सो जो सोम पीने का मुख था उससे कपिञ्जल पैदा हुआ। इसलिए वह भूरा-सा होता है—राजा सोम भी भूरा सा ही होता है ।।३।।

अथ यत्सुरापाणमास। ततः कलविङ्कः समभवत्तस्मात्सोभि माद्यत्क—इव वदत्यभिमाद्यन्निव हि सुरां पीत्वा वदति ।।४।।

और जो सुरा पीने का मुख था उसमें से कलविङ्क पैदा हुआ। इसीलिए यह मदमाता-सा होता है। सुरा पीकर मदमाती सी बातें करने लगता है ।।४।।

अथ यदन्यस्माऽअशनायास। ततस्तित्तिरिः समभवत्तस्मात्स विश्वरूपतम—इव सन्त्येव घृतस्तोका इव त्वन्मधुस्तोका—इव त्वत्पर्णेष्वाश्चुतिता एवँ रूपँ हि स तेनाशनमावयत् ।।५।।

और जो दूसरे प्रकार के साधारण भोजन के लिए मुख था उससे तीतर पैदा हुए। इसीलिए उनका रंग बहुत मिला जुला सा होता है। उसका रंग ऐसा होता है मानो पत्तों पर कहीं घी के छींटे पड़े हों, कहीं शहद के छींटे पड़े हों। क्योंकि वह मुंह से इसी प्रकार का मिला जुला अन्न खाता था ।।५।।

स त्वष्टा चुक्रोध। कुविन्मे पुत्रमवधीदिति सोपेन्द्रमेव सोममाजह्रे स यथायँ सोमः प्रसुत एवमपेन्द्र एवास ।।६।।

इस पर त्वष्टा बिगड़ उठा कि इन्द्र ने मेरे बेटे को क्यों मारा वह इन्द्र से

परे परे ही सोम को ले आया। जैसे इस समय सोम का सेवन किया जाता है। यह सब उसने इन्द्र से छिपाकर ही किया ॥६॥

इन्द्रो ह वा ऽ ईक्षाञ्चक्रे। इदं वै मा सोमादन्तर्यन्तीति स यथा बलीयानबलीयस एवमनुपहूत एव यो द्रोणकलशे शुक्र आस तं भक्षयाञ्चकार स हैनं जिहिᳩस सोऽस्य विष्वङ्ङेव प्राणेभ्यो दुद्राव मुखाद्धैवास्य न दुद्रावाथ सर्वेभ्योऽन्येभ्यः प्राणेभ्योऽद्रवत्तददः सौत्रामणीतीष्टिस्तस्यां तद्व्याख्यायते यथैनं देवा अभिषज्यन् ॥७॥

इन्द्र ने देखा कि यह लोग तो मुझे सोम से वंचित किये डालते हैं। तब उसने वही किया जो वलवान् कमजोरों के साथ किया करते हैं अर्थात् कलश में जो सोम पड़ा था उसे विना निमन्त्रण के ही आप पहुँचकर खा गया। इस सोम ने इन्द्र को वहुत कष्ट पहुँचाया। सोम फूट-फूट कर उसकी सब इन्द्रियों से बहने लगा। वस, केवल एक मुख से न बहा और सब इन्द्रियों से वह निकला। वस। उसी के सम्वन्ध में सौत्रामणि है। उसी में इस बात की व्याख्या की जाती है कि देवों ने इन्द्र के इस रोग की किस प्रकार चिकित्सा की ॥७॥

स त्वष्टा चुक्रोध। कुविन्मेऽनुपहूतः सोममवभक्षदिति स स्वयमेव यज्ञवेशसं चक्रे स यो द्रोणकलशे शुक्रः परिशिष्ट आस तं प्रवर्त्तयाञ्चकारेन्द्रशत्रुर्व्वर्द्धस्वेति सोऽग्निमेव प्राप्य सम्बभूवान्तरेव सम्बभूवेत्यु हैकऽआहुः सोऽग्नीषोमावेवाभिसम्बभूव सर्व्वा विद्याः सर्व्वं यशः सर्व्वमन्नाद्यᳩ सर्व्वाᳩ श्रीम् ॥८॥

इस पर त्वष्टा बिगड़ उठा कि विना बुलाए मेरा सोम क्यों खा गया। इस प्रकार बिगड़कर उसने स्वयं अपना यज्ञ-विध्वंस कर डाला। कलशे में जो सोम बचा रह गया था उसे प्रेरणा की कि तू इन्द्र का शत्रु बनकर बढ़। सो वह अग्नि में घुस कर बढ़ने लगा। वह अग्नि ओर सोम से मिलकर वढ़ा और सब विद्यालयों में, सव प्रकार के यश में, सब प्रकार के उपभोग्य पदार्थों में, सव प्रकार की श्री में घुसकर वड़ा हो गया।

स यद्वर्त्तमानः समभवत्। तस्माद् वृत्रोऽथ यदपात्समभवत्तस्मादहिस्तं दनुश्च दनायूश्च मातेव च पितेव च परिजगृहतुस्तस्माद्दानव इत्याहुः ॥९॥

क्योंकि वह चक्कर काटता हुआ बढ़ा, इसलिए वृत्र (चक्कर काटना, दौर-गोष्ठी कहलाया) क्योंकि वह बिना पैरों के था इसलिए अहिः (बिना पैरों का आलसी) कहलाया। उसे दनु और दनायू माता पिता की तरह घेरे वैठे थे इसलिए उसे दानव कहते हैं ॥९॥

अथ यदब्रवीदिन्द्रशत्रुर्व्वर्द्धस्वेति। तस्मादु हैनमिन्द्र एव जघानाथ यद्ध शश्वदवक्ष्यदिन्द्रस्य शत्रुर्व्वर्द्धस्वेति शश्वदु ह स एवेन्द्रमहनिष्यत् ॥१०॥

अब क्योंकि त्वष्टा ने कहा था "इन्द्र शत्रुर्वर्धस्व" इसलिए उसके दोनों ही अर्थ हो सकते थे। इन्द्र जिसका शत्रु है "अथवा, "इन्द्र का शत्रु'। मतलब यही लिया गया कि इन्द्र जिसका शत्रु है। इसलिए इन्द्र ने उसे मार डाला। अगर त्वष्टा बराबर यह कहता कि "इन्द्र का शत्रु होकर बढ़े' तो बराबर वह इन्द्र को मार लेता ॥१०॥

अथ यदब्रवीद्वर्द्धस्वेति। तस्मादु ह स्मेषुमात्रमेव तिर्यङ् वर्द्धतऽइषुमात्रं प्राङ्क्सोऽवैवावरᳩ समुद्रं दधावव पूर्वᳩ स यावत्स आस सहैव तावदन्नाद आस ॥११॥

अब क्योंकि त्वष्टा ने कहा कि तू बढ़ इसलिए वह एक तीर की मार तक

टेढ़ा बढ़ा और एक तीर की मार पर्यन्त सामने । पर इतने में उसने पूर्व समुद्र को भी नीचे कर दिया और पश्चिम को भी । जहाँ तक उसका विस्तार था वहाँ तक वह अन्न खाने वाला बना (अर्थात् अन्न नहीं बना) ॥११॥

तस्मै ह स्म पूर्वाह्णे देवा अशनमभिहरन्ति मध्यन्दिने मनुष्या अपराह्णे पितरः ॥१२॥

दिन के पहले हिस्से में देव लोग उसके लिए भोजन वना कर हाजिर करते थे। दोपहर में मनुष्य और पिछले प्रहर में पितर लोग ॥१२॥

स वाऽ इन्द्रस्तथैवनुत्तश्चरन्। अग्नीषोमाऽउपमन्त्रयाञ्चक्रेऽग्नीषोमौ युवं वै मम स्थो युवयोरहमस्मि न युवयोरेष किञ्चन कं मऽइमं दस्युं वर्धयथ उप मावर्त्तेथामिति ॥१३॥

सो जब वह इन्द्र इस प्रकार खदेड़ा फिर रहा था तो उसने अग्नि और सोम को निमन्त्रण दिया कि तुम मेरे हो मैं तुम्हारा हूँ। यह तुम दोनों का कुछ भी नहीं लगता। भला तुम मेरे लिए यह कौन सा डाकू पाल रहे हो। तुम दोनों मेरी तरफ आ जाओ ॥१३॥

तौ होचतुः। किमावयोस्ततः स्यादिति ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पुरोडाशं निरवपत्तस्मादग्नीषोमीय एकादशकपालः पुरोडाशो भवति ॥१४॥

वह दोनों बोले इसमें हमें क्या मिलेगा। तब उनके लिए यह अग्निषोमीय एकादश कपाल पुरोडाश तैयार किया गया। बस इसी कारण से ग्यारह कपाल का अग्निषोमीय पुरोडाश तैयार किया जाता है ॥१४॥

तावेनमुपावर्तताम्। तावनु सर्वे देवाः प्रेयुः सर्वा विद्याः सर्वं यशः सर्वमन्नाद्यꣳ सर्वा श्रीस्तेनेष्ट्वेन्द्र एतदभवद्यदिदमिन्द्र एष उ पौर्णमासस्य बन्धुः स यो हैवं विद्वान्पौर्णमासेन यजत ऽ एताꣳ हैव श्रियं गच्छत्येवं यशो भवत्येवमन्नादो भवति ॥१५॥

तब दोनों इससे आ मिले। उनके पीछे सारे देवता चल पड़े। सब क्रियाएं, सब यश, सब अन्न सामग्री (उधर ही चल पड़े) इस पुरोडाश से यज्ञ करके ही इन्द्र यह बना। यह जो इन्द्र कहलाया यही पूर्ण मास का मूल कारण है। सो जो इस प्रकार जानकर पूर्णमास से यज्ञ करता है वह इस श्री को पहुँचता है। इस यज्ञ को पहुँचता है, इस अन्न सामग्री को भोगता है ॥१५॥

तद्वैव खलु हतो वृत्रः। स यथा दृतिर्निष्पीत एवꣳ संलीनः शिश्ये यथा निर्धूतसक्तुर्भस्त्रैवꣳ संलीनः शिश्ये तमिन्द्रोऽभ्यादुद्राव हनिष्यन् ॥१६॥

बस ! इस पर वृत्र मारा गया। अब वह इस प्रकार सिमटकर पड़ा था जैसे पानी निकल जाने पर मशक या सत्तू निकल जाने पर सत्तू की बोरी। तब इन्द्र उसे मारने के लिए उसकी तरफ बढ़ चला ॥१६॥

स होवाच। मा नु मे प्रहार्षीस्त्वं वै तदेतर्ह्यसि यदहं व्येव मा कुरु मामुया भूवमिति स वै मेऽन्नमेधीति यथेति तं द्वेधान्वभिनत्तस्य यत्सौम्यं न्यक्तमास तं चन्द्रमसं चकाराथ यदस्यासुर्य्यमास तेनेमाः प्रजा उदरेणाविध्यत्तस्मादाहुर्वृत्र एव तर्ह्यन्नाद आसीद् वृत्र एतर्हीतीदꣳ हि यदसावापूर्यतेऽस्मादेवैतल्लोकादाप्यायतेऽथ यदिमाः प्रजाः

अशनमिच्छन्तेऽस्माऽएवैतद्वृत्रायोदराय बलिꣳहरन्ति स यो हैवमेतं वृत्रमन्नादं वेदान्नादो हैव भवति ॥१७॥

तब वह वृत्र बोला तू मुझ पर प्रहार मत कर। तू इस समय वही है जो मैं हूँ मुझे विकृत कर दे। अर्थात् मेरा रूप बदल दे। ऐसा मत कर कि मैं बिलकुल परे हो जाऊँ। तब इन्द्र बोला तू मेरी अधीनता मान ले। उसने कहा बहुत अच्छा। उसका जो सोम वाला अंश धरती पर पड़ा था उससे चन्द्रमा को बनाया और जो उसका असुरों वाला भाग था, उससे इन तमाम जीवधारियों के पेट पर प्रहार किया। इसलिए कहते हैं कि तब भी वृत्र अन्न खाता था, अब भी वृत्र अन्न खाता है। यह जो चन्द्रमा पन्द्रह दिन में पूरा हो जाता है वह इसी लोक से तो रस लेकर ताजा हो जाता है। और जो यह प्रजाएँ भोजन करती हैं सो यह पेट में बैठे हुए वृत्रासुर को भेंट करती हैं। सो जो इस प्रकार वृत्र के अन्न खाने की बात जानता है वह अन्नाद हो जाता है ॥१७॥

ता उ हैता देवता ऊचुः। या इमा अग्नीषोमावान्वजग्मुरग्नीषोमौ युवं वै नो भूयिष्ठभाजौ स्थो ययोर्वामिदं युवयोरस्मानन्वा भजतमिति ॥१८॥

अब वह देवता लोग जो अग्नि और सोम के पीछे चले जा रहे थे बोले कि ऐ अग्नि और सोम सब कुछ तुम्हारा ही है। इस अपने हिस्से में कुछ भाग हमें भी दिलवाओ।१८।

तौ होचतुः। किमावयोस्ततः स्यादिति यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्निर्वपांस्तद्वां-पुरस्तादाज्यस्य यजानिति तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्निर्वपन्ति तत्पुरस्तादाज्य-भागावग्नीषोमाभ्यां यजन्ति तन्न सौम्येऽध्वरे न पशौ यस्यै कस्यै च देवतायै निर्वपा-निति ह्यब्रुवन् ।।१९॥

वे दोनों बोले इससे हमको क्या मिलेगा? देवताओं ने कहा कि जिस किसी देवता के नाम की हवि परोसी जाएगी उसे पहले तुम दोनों को घृत द्वारा आहुति दी जावेगी, इसलिए जिस किसी देवता के लिए हवि परोसी जाती है उससे पहले अग्नि और सोम के दो आज्य भाग अवश्य हवन किए जाते हैं। सो यह नियम केवल सोम-याग या पशुयाग में ही नहीं है बल्कि सब यज्ञों में है क्योंकि कहा है कि जिस किसी देवता के लिए भी हवि परोसी जाया करे ।।१९।।

स हाग्निरुवाच। मय्येव वः सर्वेभ्यो जुह्वतु तद्वोऽहं मय्याभजामिति तस्मादग्नौ सर्वेभ्यो जुह्वति तस्मादाहुरग्निः सर्वा देवता इति ॥२०॥

तब वह अग्नि बोली कि तुम्हें जो कुछ हवन करना है मेरे अन्दर करो। सो वह जो मेरे अन्दर होगा उसमें से तुम्हें भी भाग दूंगा। इसलिए सब देवताओं के लिए अग्नि में ही आहुति करते हैं। इसीलिए कहा है अग्नि ही सब देवताओं का रूप है।२०।।

अथ ह सोम उवाच। मामेव वः सर्वेभ्यो जुह्वतु तद्वोऽहं मय्याभजामीति तस्मा-त्सोमꣳ सर्व्वेभ्यो जुह्वति तस्मादाहुः सोमः सर्वा देवता इति ।।२१॥

इस पर सोम बोला सब देवताओं के लिए मुझे ही हवन करो उससे जो कुछ मिलेगा उसमें तुम्हारा भी भाग दूंगा। इसीलिए कहा है सोम ही सब देवताओं का रूप है ।।२१।।

अथ यदिन्द्रे सर्वे देवास्तस्थानाः। तस्मादाहुरिन्द्रः सर्वा देवता इन्द्रश्रेष्ठा देवा इत्येतद्ध वै देवास्त्रधकदेवत्या अभवन्त्स यो हैवमेतद्वेदैकधा हैव स्वाहाꣳ श्रेष्ठो भवति ॥२२॥

अब क्योंकि सब देवता इन्द्र के आश्रित हैं इसलिए कहा इन्द्र ही सब देवताओं का रूप है। इन्द्र सब देवों में श्रेष्ठ है। इस प्रकार से तीन प्रकार के देवताओं में एक को मुख्यता प्राप्त हुई। इसलिए जो इस बात के मन्त्र को इस प्रकार जानता है वह देवों में से कम से कम एक प्रकार से श्रेष्ठ हो जाता है। तीन प्रकार के हवि भोजनों में अग्नि श्रेष्ठ, हवियों में सोम श्रेष्ठ आश्रय दाताओं में इन्द्र सर्वश्रेष्ठ ॥२२॥

द्वयं वाऽइदं न तृतीयमस्ति। आर्द्रं चैव शुष्कं च यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यमथ यदिदं द्वयमेवाप्य किमेतावत्क्रियतऽ इत्यग्नीषोमयोरेवाज्यभागावग्नीषोमयो-रुपाᳩशु याजोऽग्नीषोमयोः पुरोडाशो यदत एकतमेनैवेदᳩ सर्वमाप्नोत्यथ किमेताव-त्क्रियतऽइत्यग्नीषोमयोर्हेवैतावती विभूतिः प्रजातिः ॥२३॥

इस संसार के सब पदार्थ दो भागों में बंटे हैं। तीसरा नहीं है। एक-सूखा, एक गीला, जो सूखा है वह आग्नेय है और जो गीला है वह सोम है। तब प्रश्न यह है जब ये दो ही हैं तो इतना सब क्यों किया जाता है। अग्नि-सोम के ही नाम से आज्य भाग हैं। अग्नि-सोम के ही नाम का उपांशुयाज है। अग्नि-सोम के ही नाम का पुरोडाश है। जब इनमें एक से ही सब कुछ प्राप्त हो सकता है तो फिर इतना क्यों किया जाता है। इसका उत्तर है कि अग्नि-सोम की इतनी विभूति, इतनी प्रजाति है ॥२३॥

सूर्य एवाग्नेयः। चन्द्रमाः सौम्योऽहरेवाग्नेयᳩ रात्रिः सौम्या य एवापूर्यतेऽर्द्धमासः स आग्नेयो योऽपक्षीयते स सौम्यः ॥२४॥

सूर्य आग्नेय है चन्द्रमा सोम है। दिन आग्नेय है रात सौम्य है उदय पक्ष अर्थात् शुक्लपक्ष आग्नेय, क्षयपक्ष अर्थात् कृष्णपक्ष सौम्य है ॥२४॥

आज्यभागाभ्यामेव। सूर्याचन्द्रमसावाप्नोतीत्युपाᳩशु याजेनैवाहोरात्रेऽआप्नोति पुरोडाशेनैवार्द्धमासावाप्नोतीत्यु हैकऽआहुः ॥२५॥

सो दोनों आज्य भागों से सूर्य और चन्द्रमा को प्राप्त होता है। उपाशुंयाज से दिन और रात को प्राप्त होता है। पुरोडाश से दोनों पखवाड़ों को प्राप्त होता है ॥२५॥

तदु होवाचासुरिः। आज्यभागाभ्यामेवातो यतमे वा यतमे वा द्वेऽआप्नोत्युपाᳩशु याजेनैवातो ऽहोरात्रेऽआप्नोति पुरोडाशेनैवातोऽर्धमासावाप्नोति सर्वं मऽआप्तमसत्सर्वं जितᳩ सर्वेण वृत्रᳩ हनानि सर्वेण द्विषन्तं भ्रातृव्यᳩ हनानीति तस्माहाऽ एताव-त्क्रियत ऽइति ॥२६॥

जो आसुरी ने कहा जो है। आज्य भागों द्वारा ही इनमें से जौनसे दो चाहे प्राप्त कर सकता है। उपाशुंयाज से ही इनमें से जौनसे दो चाहे प्राप्त कर सकता है। पुरोडाश से इनमें से जौनसे चाहे दो काम कर सकता है। किन्तु यजमान चाहता है कि मुझे सब (तीनों जोड़े सूर्य-चन्द्र, दिन-रात, शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष) ग्रस्त है। मैं सब कुछ जीत लूंगा। सम्पूर्ण शक्ति से वृत्र को मारूं। सम्पूर्ण शक्ति से शत्रु को मारूं। इसलिए यह सब किया जाता है ॥२६॥

तदाहुः। किमिदं जामि क्रियतेऽग्नीषोमयोरेवाज्यस्याग्नीषोमयोः पुरोडाशस्य यदनन्तर्हितं तेन जामीत्यनेन ह त्वेवाजाम्याज्यस्येतरं पुरोडाशस्येतरं तदन्यदिवेतरमन्यदि-वेतरं भवत्यृचमनूच्य जुषाणेन यजत्यृचमनूच्यऽर्चा यजति तदन्यदिवेतरमन्यदिवेतरं

भवत्यनेन ह त्वेवाजाम्युपाꣳश्वाज्यस्य यजत्युच्चैः पुरोडाशस्य स यदुपाꣳशु तत्प्राजापत्यꣳ रूपं तस्मात्तस्यानुष्टुभमनुवाक्यामन्वा ह वाग्ध्यनुष्टुब्वाग्घि प्रजापतिः ॥२७॥

इस पर प्रश्न उठता है कि यह दोनों क्रिया साथ-साथ और समान रूप से क्यों की जाती हैं? अग्नि सोम के नाम की ही घृताहुति होती है। अग्नि सोम के नाम का ही पुरोडाश होता है। इसके विषय में यह है कि दोनों क्रिया ठीक एक दूसरे के पश्चात् होती हैं। इसलिए साथ-साथ तो अवश्य ही कही जा सकती है, परन्तु बिल्कुल समान नहीं कही जा सकती। क्योंकि इनमें भेद है। प्रथम तो यही भेद है कि एक क्रिया घृत से की जाती है दूसरी पुरोडाश से। सो वह और हुआ और वह और। फिर उपांशुयाज की अनुवाक्या ऋचा की है—याज्याजुषाण की। पुरोडाश की अनुवाक्या भी ऋचा याज्या भी ऋचा है। सो वह और हुआ और वह और। और इस बात से भी भेद होता है घृत की आहुति उपांशु होती है पुरोडाश की बोलकर। सो यह जो उपांशु यज्ञ किया जाता है यह प्राजापत्य रूप है। इसकी अनुवाक्या अनुष्टुप् छन्द की होती है। अनुष्टुप् छन्द ही वाणी का प्रतिनिधि रूप है। प्रजापति अन्त में वाणी का ही रूप धारण करता है ॥२७॥

एतेन वै देवाः। उपाꣳशुयाजेन यं यमसुराणामकामयन्त तमुपत्सर्य वज्रेण वषट्कारेणाघ्नंस्तथोऽएवैष एतेनोपाꣳशुयाजेन पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यमुपत्सर्य वज्रेण वषट्कारेण हन्ति तस्मादुपाꣳशुयाजं यजति ॥२८॥

यह उपांशुयाज ही तो है जिसमें देवलोग असुरों में से जिस-जिस को चाहते हैं उसको वश में करके वषट्कार के वज्र से मार डालते थे। इसी प्रकार यह यजमान भी उपांशुयाज से पापी द्वेष करने वाले शत्रु को वषट्कार के वज्र से मारता है। इसीलिए उपांशुयाज से यज्ञ करता है ॥२८॥

स वा ऽ ऋचमनूच्य जुषाणेन यजति। तदन्विमा अन्यतरतोदन्ताः प्रजाः प्रजायन्तेऽस्थि ह्यृगस्थि हि दन्तोऽन्यतरतो ह्येतदस्थि करोति ॥२९॥

सो वह जो ऋचा की अनुवाक्या से अनुवचन करके जुषाण से यज्ञ करता है सो वह उस नमूने की वस्तु तैयार करता है जिस नमूने पर एक जबड़े वाले जानवर पैदा होते हैं। ऋक् हड्डी के समान है, दांत भी हड्डी हैं तो एक ओर ऋचा के होने से मानो एक ओर हड्डी अर्थात् दांत हुए ॥२९॥

अथर्चमनूच्यर्चा यजति। तदन्विमा उभयतोदन्ताः प्रजाः प्रजायन्तेऽस्थि ह्यृगस्थि हि दन्त उभयतो ह्येतदस्थि करोत्येता वाऽइमा द्वय्यः प्रजा अन्यतरतोदन्ताश्चैवोभयतो दन्ताश्च स यो हैवं विद्वानग्नीषोमयोः प्रजातिं यजति बहुर्हैव प्रजया पशुभिर्भवति ॥३०॥

पुरोडाश में जो ऋचा की ही अनुवाक्या ऋचा की याज्या होती है सो वह इस नमूने पर है जिस पर कि दोनों तरफ के जबड़े वाले जानवर पैदा होते हैं ऋचा हड्डी है और दांत भी हड्डी हैं। सो यह दोनों तरफ हड्डी अर्थात् दांत लगाता है। सो यह जीवधारी दो प्रकार के हैं। एक तो एक तरफ दांत वाले एक दोनों तरफ दांत वाले। सो जो इस प्रकार अग्नि और सोम के विस्तार को जानता हुआ यज्ञ करता है वह प्रजा और पशुओं से फूलने फलने वाला होता हैं ॥३०॥

स वै पौर्णमासेनोपवत्स्यन्। न सत्रा सुहित इव स्यात्तेनेदमुदरमसुयं क्लिनात्याहुतिभिः प्रातर्देवमेष उ पौर्णमासस्योपचारः ॥३१॥

सो वह यजमान जो पूर्णमासी के यज्ञ का उपवास करना चाहता हो वह इतना खाये जिसे सहारा भर हो। तृप्त होकर खाया हुआ न हो उससे इस पेट में रहने वाले असुर वृत्र को संतुष्ट करता है। और प्रातः काल की आहुति द्वारा देववर्ग को यही पूर्ण मास का शिष्टाचार है ॥३१॥

स वै सम्प्रत्येवोपवसेत् । सम्प्रति वृत्रꣳ हनानि सम्प्रति द्विषन्तं भ्रातृव्यꣳ हनानीति ॥३२॥

इस यज्ञ में पूर्णमासी दो कहलाती हैं। एक वह रात्रि जिसमें पूरा चाँद निकले उसका प्रातःकाल दूसरी प्रतिपदा का प्रातःकाल। इस पर विवाद है कि किस पर उपवास करे। इस पर एकमत है सम्प्रति अर्थात् पहले दिन उपवास करे जिस से जल्दी वृत्र को मारूं (यह भाव हृदय में हो) ॥३२॥

स वा ऽ उत्तरामेवोपवसेत् । समिव वा ऽ एष क्रमते यः सम्प्रत्युपवसत्यनद्धा वै सङ्क्रान्तयोर्यदीतरो वेतरमभिभवतीतरो वेतरमथ य उत्तरामुपवसति यथा पराञ्चमावृत्तꣳ सम्पिꣳष्यादप्रत्यालभमानꣳ सोऽन्यतोघात्येव स्यादेवं तद्य उत्तरामुपवसति ॥३२॥

दूसरा मत है पिछले प्रातःकाल अर्थात् प्रतिपदा के दिन उपवास करे। क्योंकि जो पहले उपवास करता है वह शत्रु से बराबर की मुठभेड़ में भिड़ता है। बराबर की मुठभेड़ वालों में यह नहीं कहा जा सकता कि इसको परास्त करेगा या यह उसको। परन्तु जो पिछले प्रातःकाल उपवास करता है वह ऐसा करता है कि लड़ाई में अपने तक पहुँचने की ताव न लाने वाले मुंह तोड़कर पीछे लौटने वाले पर झपटे सो वह निश्चय से ही दूसरे को मार कर रहेगा। इसलिए पिछले प्रातःकाल ही उपवास करे ॥३३॥

स वै सम्प्रत्येवोपवसेत् । यथा वा ऽ अन्यस्य हतꣳ सम्पिꣳष्यादेवं तद्य उत्तरामुपवसति सोऽन्यस्यैव कृतानुकरोऽन्यस्योपावसायी भवति तस्मादु सम्प्रत्येवोपवसेत् ॥३४॥

इस पर आचार्य याज्यवल्क्य का सिद्धान्त है कि पहले प्रातःकाल को ही उपवास करे। क्योंकि जो पिछली प्रातःकाल उपवास करता है वह ऐसा करता है जैसे कोई दूसरे के मारे हुए पर झपटे। सो वह दूसरे का पिछलगू और दूसरे का मुंह ताकने वाला होता है। इसलिए पहली प्रातःकाल ही उपवास करे ॥३४॥

प्रजापतेर्ह वै प्रजाः ससृजानस्य । पर्वाणि विसस्रꣳसुः स वै संवत्सर एव प्रजापतिस्तस्यैतानि पर्वाण्यहोरात्रयोः सन्धी पौर्णमासी चामावस्या चर्त्तुमुखानि ॥३५॥

प्रजापति जब सृष्टि बनाने लगा तब जोड़ ढीले हो गये। वह प्राजापत्य संवत्सर ही है और उसके जोड़ हैं दिन और रात की सन्धियां पूर्णमासी और अमावस ऋतुओं की सन्धियां ॥३५॥

स विस्रस्तैः पर्वभिः । न शशाक सꣳहातं तमेतैर्ह विर्यज्ञैर्देवा अभिषज्यन्नग्निहोत्रेणैवाहोरात्रयोः सन्धी तत्पर्वाभिषज्यंस्तत्समदधुः पौर्णमासेन चैवामावास्येन च पौर्णमासीं चामावास्यां च तत्पर्वाभिषज्यंस्तत्समदधुश्चातुर्मास्यैरेवर्त्तु मुखानि तत्पर्वाभिषज्यंस्तत्समदधुः ॥३६॥

जब उसके अपने जोड़ ढीले हो गये तो वह सृष्टि के जोड़ न जोड़ सका।

तब देवों ने उसके जोड़ की चिकित्सा इन हवियज्ञों से की। दिन-रात के जोड़ की चिकित्सा अग्निहोत्र से जिसे वह जोड़ जुड़ गया। पूर्णमास और दर्शेष्टि से पूर्णमासी और अमावस्या के जोड़ों की चिकित्सा की। इससे वह जोड़ जुड़ गया। चातुर्मासी यज्ञों से क्रतुओं के जोड़ों की चिकित्सा की जिससे वह जोड़ जुड़ गया ॥३६॥

स सꣳहितः पर्वभिः। इदमन्नाद्यमभ्युत्तस्थौ यदिदं प्रजापतेरन्नाद्यꣳ स यो हैवं विद्वान्त्सम्प्रत्युपवसति सम्प्रति हैव प्रजापतेः पर्व भिषज्यत्यवति हैनं प्रजापतिः स एवमेवान्नादो भवति य एवं विद्वान्त्सम्प्रत्युपवसति तस्माद्व सम्प्रत्येवोपवसेत् ॥३७॥

जब उसके जोड़ जुड़ गये तो वह अपने इन तमाम भोग्य पदार्थों के ऊपर अधिकारवान् होकर खड़ा हो गया। सो जो विद्वान् इस प्रकार समझकर पहले प्रातःकाल उपवास करता है वह तुरन्त ही प्रजापति की सन्धियों को जोड़ लेता है। जो इस प्रकार से मापकर उपवास करता है प्रजापति उसकी रक्षा करता है और वह भोग्य पदार्थों का स्वामी हो जाता है इसलिए पहले दिन उपवास करता है ॥३७॥

चक्षुषी ह वा एते यज्ञस्य यदाज्यभागौ। तस्मात्पुरस्ताज्जुहोति पुरस्ताद्धीमे चक्षुषी तत्पुरस्तादेवैतच्चक्षुषी दधाति तस्मादिमे पुरस्ताच्चक्षुषी ॥३८॥

यह जो दो यज्ञ के आज्य भाग हैं यह यज्ञ की चक्षु हैं इसलिए इनका हवन पहले होता है। हाँ। यह शरीर में भी पहले अर्थात् सामने है। इस प्रकार आंखों से पहले रखता है। इसलिए आँखें सामने हैं ॥३८॥

उत्तरार्धपूर्वार्धे हैके। आग्नेयमाज्यभागं जुह्वति दक्षिणार्धपूर्वार्धे सौम्यमाज्यभागमेतत्पुरस्ताच्चक्षुषी दध्म इति वदन्तस्तद्ध तदाविज्ञान्यमिव हवीꣳषि ह वाऽआत्मा यज्ञस्य स यदेव पुरस्ताद्धविषां जुहोति तत्पुरस्ताच्चक्षुषी दधाति यत्रो ऽ एव समिद्धतमं मन्येत तदाहुतीर्ज्जुहुयात्समिद्धहोमेन ह्येव समृद्धा आहुतयः ॥३९॥

कई लोग अग्नि के आज्य भाग को उत्तरार्द्ध और पूर्वार्द्ध में सोम के आज्य भाग को दक्षिणार्द्ध और पूर्वार्द्ध में बाँटते हैं। वे कहते हैं कि हम इस प्रकार आज्यों को सामने रखते हैं। परन्तु यह उनका अनाड़ीपन-सा है। यज्ञ का आत्मा है हवि। बस, जब हवि के यज्ञ से पहले हवन करता है इतने ही आँखों को पहले रख देता है। जहाँ देखे कि अग्नि सबसे अधिक चमक रही है वहीं आहुति का हवन करे क्योंकि आहुतियों की समृद्धि इसी में है कि उनका हवन सबसे अधिक दहकती अग्नि में किया जाय ॥३९॥

स वा ऽ ऋचमनूच्य जुषाणेन यजति। तस्मादिमेऽअस्थन्वत्यनस्थिके चक्षुषी ऽ आश्लिष्टे ऽ अथ यदृचमनूच्यऽर्चा यजेदस्थि हैव कुर्यान्न चक्षुः ॥४०॥

सो वह ऋचा की अनुवाक्या पढ़के जुषाण से यज्ञ करता है। इसीलिए ये आँखें—हड्डियों पर खड़ी हुई भी स्वयं विना हड्डियों की हैं और आपस में मिली हुई हैं। अब अगर ऋचा की अनुवाक्या पढ़के ऋचा से ही यज्ञ करता तो हड्डियों ही हड्डियाँ बनतीं आखें न बनतीं ॥४०॥

ते वाऽएते। अग्नीषोमयोरेव रूपमन्वायत्ते यच्छुक्लं तदाग्नेयं यत्कृष्णं तत्सौम्यं यदि वेतरथा यदेव कृष्णं तदाग्नेयं यच्छुक्लं तत्सौम्यं यदेव वीक्षते तदाग्नेयꣳ रूपꣳ शुष्के ऽ इव हि वीक्षमाणस्याक्षिणी भवतः शुष्कमिव ह्याग्नेयं यदेव स्वपिति तत्सौम्यꣳ रूपमार्द्रे ऽ इव हि सुषुपुषोऽक्षिणी भवत आर्द्र इव हि सोम आजरसꣳ ह वाऽअस्म-

ल्लोके चक्षुष्मान्भवति सचक्षुरमुष्मिंल्लोके सम्भवति य एवमेतौ चक्षुषी ऽआज्यभागौ वेद ॥४१॥ ब्राह्मणम् ॥२॥ [६. ३,] ॥

सो बस, दोनों (आखें) अग्नि के और सोम के ही नमूने पर बनी हैं जो सफेद है वह अग्नि का और जो काला है वह सोम का। या इससे उलटा समझ लो। जो काला है वह अग्नि का जो सफेद है वह सोम का। जब आंखें देख रही होती हैं वह अग्नि का रूप है क्योंकि देखने वालों की आँखें सूखी हुई होती हैं और आग्नेय पदार्थ सूखे हुए से ही होते हैं। जब सोता है वह आखों का सोमारूप है। सोकर उठने वाले की आखें गीली सी होती हैं और सोम भी गीला सा होता है। जो मनुष्य इन आज्य भागों को दो आखें जानता है। वह बुढ़ापे तक आंखों वाला होकर रहता है और परलोक में भी अच्छी आँखें लेकर जाता है ॥४१॥

इस प्रकार इन ४१ कण्डिकाओं का अक्षरार्थ हुआ। अब इनका वास्तविक रहस्य सुनिये। यह छठे अध्याय का तीसरा ब्राह्मण आरम्भ होता है। इस ब्राह्मण में अग्नि, सोम सम्बन्धी आज्यभाग उपांशुयाज और पुरोडाश की आहुतियों का वर्णन है। यह तीनों आहुतियां अग्नि और सोम देवता के नाम पर दी जाती हैं। इसलिए इसमें अग्नि और सोम की महिमा बताई गई है। इसमें यह बताया गया है कि इन्द्र अर्थात् समाज का प्रतिनिधि राजा, त्वष्टा अर्थात् व्यक्ति के देवताओं को किस प्रकार इन देवताओं की सहायता से अपने लिए उपयोगी बना सकता है। अग्नि और सोम के इसमें तीन जोड़े बताये गये हैं। सूर्य-चन्द्र, दिन-रात, शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष। इससे तात्पर्य इस प्रकार है। सूर्य तथा चन्द्र का अर्थ विज्ञान तथा ललितकला है। दिन रात से तात्पर्य स्त्री पुरुष से है। तथा शुक्ल और कृष्ण पक्ष से तात्पर्य है कि बच्चे के गर्भाधान से प्रसूति तक शुक्लपक्ष तथा प्रसूति से दूसरे बार गर्भाधान तक कृष्णपक्ष। इस तीनों जोड़ों द्वारा राजा व्यक्तियों को समाज की सेवा में प्रेरित करता है। अब यह किस प्रकार होता है। अब कण्डिका छः से इस सारे प्रकरण की व्याख्या करते हैं।

सबसे प्रथम कण्डिका त्वष्टा के नाम से आरम्भ होती है। त्वष्टा का अर्थ हम इसी ग्रन्थ में ९५ से ९७ तक समझा आये हैं, त्वष्टा व्यक्ति का देवता है। उसका पुत्र श्रम है जिसे अंग्रेजी भाषा में (labour) लेबर के नाम से पुकारते हैं। प्रत्येक व्यक्ति तीन प्रकार का श्रम करता है। कुछ वस्तुएँ वह दूसरों के लिए उत्पन्न करता है। चाहे यह काम वह निष्काम भाव से करे या वेतन के लिए। यह उसका सोमपान करने वाला मुख है। कुछ काम प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत आनन्द के लिए करता है। जिसमें खेल-कूद, गाना-बजाना आदि सम्मिलित हैं। यह श्रम का सुरापान करने वाला मुख है। कुछ श्रम प्रत्येक व्यक्ति अपनी जीवन-यात्रा चलाने के लिए करता है। जैसे चूल्हा जलाना, पानी भरना, थाली परोसना तथा भोजन खाना। परन्तु यह तीनों प्रकार का श्रम व्यक्ति से जन्म पाता है। इसलिए इसको त्वष्टा का तीन सिर वाला पुत्र कहा। राज्य नहीं चाहता कि व्यक्ति का किसी भी श्रम पर अधिकार रहे। जब राज्य को व्यक्ति के अधिकारों पर छापा मारने की यह प्रबल अभिलाषा सीमा को लांघ जाती है और अति तक पहुँच जाती है तो वह बेगार और गुलामी की अवस्था तक पहुँच जाता है। गुलाम को यह भी अधिकार नहीं होता था कि क्या खायें और किससे विवाह करें।

व्यक्ति के अधिकारों पर इस प्रकार छापा मारकर समाज यह समझ लेता है कि अब हमारा पूरा कन्ट्रोल हो गया परन्तु शासक लोग यह भूल जाते हैं कि इस प्रकार

की जकड़ बन्दी से व्यक्ति झुंझला उठते हैं और क्रमशः उनका विकास बन्द हो जाता है। जिसका फल यह होता है कि सामूहिक शक्ति दुर्बलतर हो जाती है। क्योंकि समाज अन्ततोगत्वा व्यक्तियों का ही तो समूह है।

इसलिए आदर्श समाज व्यवस्था वही है जिसमें व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता दी जा सके। क्योंकि दूसरी ओर समाज का अंकुश बिलकुल न रहे और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अति तक पहुँच जाए तो भोगवाद का वृत्रासुर अपना मुंह फैलाता है और सहस्रों नरनारी उसका ग्रास बनते हैं। सो समाज को व्यक्ति के अधिकारों पर छापा मारने की अधिक प्रवृति को यहाँ इस प्रकार कहा गया है कि त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप अर्थात् व्यक्तित्व के पुत्र परिश्रम के तीनों सिर इन्द्र ने काट डाले। अर्थात् राष्ट्रीय हितकारी व्यक्ति के लिए रसदायक तथा व्यक्ति के लिए आलम्बन स्वरूप तीनों प्रकार के परिश्रम का सिर इन्द्र ने काट डाला। अर्थात् तीनों प्रकार के श्रम पर व्यक्ति का अधिकार नष्ट करके समाज ने अपना अधिकार जमा लिया। यह प्रथम दो कण्डिकाओं की व्याख्या हुई। तीसरी, चौथी और पाँचवी कण्डिका में इन तीनों कटे हुए सिरों से क्रमशः कपिञ्जल, कलविङ्क और तीतर पैदा होने का वर्णन है। इनमें से पहले दोनों पक्षी कौन हैं यह हम अभी पूर्ण रूप से निश्चय नहीं कर पाये। तीतर तो स्पष्ट ही है। परन्तु इससे प्रसंग को समझने में कोई बाधा नहीं होती। यह तो तीन भावों के प्रतिनिधि हैं। आप किसी भी उपयोगी काम करने वाले पक्षी को कपिञ्जल कह सकते हैं तथा कलविङ्क किसी भी मस्त होकर गाने वाले पक्षी को कह सकते हैं। कपिञ्जल, कलविङ्क और तीतर न कहिए कोयल तथा तीतर कह लीजिए। फिर यह आवश्यक है कि कपिञ्जल और कलविङ्क क्या हैं यह ठीक पता लगाया जावे। क्योंकि उपयोगी श्रम तथा विलासी श्रम के आदर्श प्रतिनिधि जानकर ही याज्ञ-वल्क्य ने उन दोनों को उन कार्यों के लिए चुना है। आशा है कि विद्वान् लोग कपिञ्जल और कलविङ्क के जानने में मेरी सहायता करेंगे। इस प्रकार पाँच कण्डिकाओं की व्याख्या हुई।

अब इस प्रकार अपने बेटे का सिर काटने पर त्वष्टा फिर बिगड़ उठा। और सोम को इन्द्र से चुराने लगा। तात्पर्य यह है कि जब समाज व्यक्ति के अधिकारों को बिल्कुल छीन लेता है तो व्यक्ति उपयोगी कार्य करना ही बन्द कर देते हैं। अर्थात् पूरे जोर से काम नहीं करते ॥६॥

तब राज्य यह यत्न करता है कि जबरदस्ती उनसे मार पीटकर कार्य लिया जाय और उनके श्रम के परिणाम को उनसे छीन लेता है। इस पर राष्ट्र विद्रोह बच जाता है। परन्तु यदि कभी आपत्काल में प्रजा से जबरदस्ती काम लेना पड़े, तो कैसे लेना चाहिए यह सौत्रामणि यज्ञ में बताया गया है। वहाँ यह बताया गया है कि इस प्रकार के विद्रोह से राष्ट्र नष्ट हो जाता है। परन्तु यदि सौभाग्य से उस राज्य में मुख के समान विचारशील त्यागी और तपस्वी लोग बच रहे तो वह ऐसे उपाय करते हैं कि सोम में सुरा मिला देते हैं अर्थात् उपयोगी श्रम में ऐसे मनोविनोद के साधन मिला देते हैं अथवा श्रमजीवियों ऐसे श्रम की भावना और ऐसा जोश भर देते हैं कि उन्हें उपयोगी श्रम ही विलासी श्रम प्रतीत होने लगता है ॥७॥

उधर जहाँ विद्रोह नहीं होता वहां व्यक्तिवादी लोग भोगवाद का प्रचार कर देते हैं। लोग कहने लगते हैं कि जब सब कुछ राज्य ने छीन लेना है तो क्यों न इसे

भोग ही डालें। यह भावना जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रवेश कर जाती है। और यह भावना स्वाभाविक होने के कारण इतनी तीव्र गति से फैलती है कि पल भर में एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल जाती है। ऐसे ही समय कला-कला के लिए है इस सिद्धान्त का प्रचार होता है। कुशल है तो इतनी कि इस वाक्य के दो अर्थ होते हैं। कुछ लोग तो इसका अर्थ यह समझते हैं कि कला बाजार में वेचने की वस्तु नहीं। कलाकार को अपनी कला को पैसे के बदले स्वार्थी लोगों की वासना की तृप्ति में नहीं लगानी चाहिए। किन्तु उसके द्वारा अपनी आत्मा की आवाज प्रजा तक पहुँचानी चाहिए। परन्तु भोगवाद रूपी वृत्रासुर के मारे वहुत लोग यह भी समझने लगते हैं कि कला तो है ही विनोद का साधन। उस पर धर्म सदाचार, सुरुचि आदि किसी भी अन्य शास्त्र का वन्धन नहीं होना चाहिए। मनोविनोद होना चाहिए चाहे उससे गन्दगी क्यों न फैले। कुशल है तो इतनी कि इस प्रकार का प्रचार (हुल्लम हुल्ला) खुलम-खुल्ला करने साहस वहुत का कम लोग करते हैं और किसी राज्य में करने लगें तो वह राज्य अवश्य नष्ट हो जावेगा।।८।।

भोगवाद का नाम वृत्रासुर इसलिए है क्योंकि वह चक्कर काटता है। इसका भाव यह है कि भोगवाद का पूरा प्रचार हुआ तब जानो जब भोगी लोग टोली वना वैठते हैं और दौर चलता है। उसको अहि इसलिए कहते हैं कि उसके पैर नहीं होते अर्थात् भोगी लोग विल्कुल आलसी होते हैं। हिलना-डुलना विल्कुल पसन्द नहीं करते। उसे दानव इसलिए कहते हैं क्योंकि वह दनु और दनायु से पैदा हुआ है। दनु और दनायु उन पुरुषों और स्त्रियों का नाम है जो धर्म, अर्थ, मोक्ष तीनों को छोड़कर केवल काम की उपासना करना अपने जीवन का परम लक्ष्य समझते हैं।।९।।

दशवीं कण्डिका में 'इन्द्रशत्रुः वर्धस्व' इस वाक्य द्वारा कला-कला के लिए है। उसे किसी की परवाह नहीं, इस दो अर्थ वाले वाक्य की कथा कही गई है। अच्छे कलाकार तो यह समझते हैं कि कला यदि पूंजीपतियों की इन्द्रियों की गुलाम नहीं तो होनी चाहिए तो कलाकार के इन्द्रियों की ही गुलाम क्यों हो ? कला का कलापन स्वतन्त्रता है गुलामी में नहीं। और यह इन्द्रियों की गुलामी ही है चाहे अपनी इन्द्रियों की या पराई। सच्चे कलाकार की इन्द्रियां आत्मा की आवाज बोलती हैं। दूसरी ओर झूठे कलाकार की आत्मा इन्द्रियों की आवाज बोलती है। यही दोनों में पगड़ी रख-कर खाना है। एक ने तो पगड़ी का अर्थ इज्जत समझा और अपने पुरुषार्थ से पिता की खूब इज्जत वढ़ाई। पर दूसरे वेटे ने तो तभी दम लिया जब की जमीन जायजाद आभूषण सब गिरवी रखते-रखते पिता भी वहुमूल्य पगड़ी भी गिरवी रखने की नौवत आ गई। कुशल इसी में है कि सभी वेटे ऐसे चतुर भाष्यकार नहीं होते। यही बात "इन्द्रशत्रुः" में है। कुछ लोग समझते हैं कि इन्द्र शत्रु है जिसका और कुछ लोग इन्द्र का शत्रु। जिस राष्ट्र में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अर्थ "इन्द्रस्य शत्रु" होता है वह अवश्य नष्ट होता है।।१०।।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि भोगवाद स्वाभाविक होने के कारण अति शीघ्र फैलता है। क्योंकि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कौन नहीं चाहता और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की अति का ही नाम भोगवाद है। अव इसमें अपनी-अपनी रुचि के अनुसार समय का भेद है। सवसे ऊंची प्रकृति के लोग तो यह कहते हैं कि हमारे भोजन और आराम में चाहे राज्य नियम बना दे जो वन जाएगा खा लेंगे। आराम न मिला तो न सही, रात को सो लेंगे। परन्तु हमारे प्रातः काल के ईश्वर भजन और स्वाध्याय में कोई बाधा न डाले। साधारण मनुष्य कहते हैं हमें दोपहर की रोटी तो आराम से खा लेने दो, उस

समय हम जो चाहेंगे खायेंगे। पितर लोग कहते हैं माई ? हमसे तो दुपरवाद सेवा हो सकती है। सो उसमें हमें स्वतन्त्र छोड़ दो। और भोग लो। हमने संसार के सभी भोग भोग लिए हैं। निशाचर लोग रातदिन चौबीसों घण्टे और उसमें भी विशेषकर रात्रि में छुट्टी मांगते हैं ।।११।१२।।

व्यक्तियों की इस प्रकार की दुर्बलता से राज्य भी दुर्वल हो जाता है। यदि राज्य फिर वलवान् वनना चाहे तो उसे व्यक्तियों को कुछ न कुछ स्वतन्त्रता अवश्य देनी पड़ेगी। वह स्वतन्त्रता कौन सी हो यह आगे चलकर सत्रहवीं 'कण्डिका में वत-लायेंगे। किन्तु इससे पहले उन्हें दो दलों को अवश्य अपने साथ लेना होगा। एक वैज्ञानिकों का दल दूसरा कलाकारों का। इन्हीं को अग्नि और सोम के नाम से कहा गया है। ऊँची उड़ान लेने की और स्वार्थ-त्याग की भावना यदि सबसे अधिक किसी में आ सकती है तो इनमें। इसलिए कहा कि इन्द्र खदेड़ा जा कर भोगवाद से लड़ने के लिए इन्हीं से सहायता माँगता है। अग्नि और सोम का अर्थ संकल्प और स्नातक भी किया जा सकता है। उस समय इस कण्डिका का अर्थ यह होगा कि जो राज्य भोग-वाद से छूटना चाहे, उसे पवित्र संकल्पों में उत्तम स्नातक रूपी सोम हवन करने होंगे। अर्थात् वे वैज्ञानिक और कलाकार राष्ट्र के सहायक होंगे जो दीक्षा की अग्नि में अपने आपको हवन कर सकेंगे ।।१३।।

अग्नि सोम ने इन्द्र से पूछा यदि हम तेरे साथ मिल जायें तो तू हमें क्या देगा ? उसने कहा कि तुम्हें अग्नि और सोम के नाम का ग्यारह कपाल का पुरोडाश दिया जायेगा। शरीर-शास्त्र के अध्ययन से पता लगता है बालक का कपाल प्रसूत के समय ग्यारह अस्थियों में बंटा होता है। क्योंकि वह एक हड्डी कपाल (पृष्ठास्थि) प्रसूत के समय चार अशों में बंटी होती है। किन्तु छः वर्ष पश्चात् चारों को मिलकर एक हड्डी बन जाती है। अतः इसका भाव यह हुआ कि जब तक कपाल ग्यारह हैं तब तक वह अग्नि सोम अर्थात् स्त्री पुरुष के सुपुर्द हैं। किन्तु आठ कपाल बनने के समय अर्थात् छठे वर्ष के पश्चात् वह अग्नि के अर्पण अर्थात् उनका यज्ञोपवीत हो सकता है। किन्तु वस्तुतः देखें तो छठे वर्ष में भी ललाटास्थि में भी दो भाग की रेखा पड़ी रहती है जो आठवें वर्ष में लुप्त होने लगती है। इसलिए वस्तुतः उपनयन आठवाँ वर्ष है। इसलिए कहा है **"ब्रह्मवर्चस्कामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्य-स्येहार्थिनोऽष्टमे"** इस प्रकरण के अध्ययन से इन पंक्तियों पर कैसा प्रकाश पड़ता है। सारी कण्डिका का भाव यह हुआ कि जिस राष्ट्र में हर दम्पती विज्ञान और कला के प्रतिनिधि बनकर इन्द्र (परमात्मा अथवा राष्ट्रपति) के भाग देने के लिए शिक्षा दें। वह राष्ट्र भोगवाद में नहीं फँसता और उसी में पूर्णिमा के चन्द्र का उदय होता है। अग्नि और सोम के राज्य के साथ मिल जाने से सब विद्याएँ, सब यश और सब शक्तियाँ इन्द्र के साथ अर्थात् राजा के साथ आ मिलती हैं। और उसकी प्रजा की सन्तानें पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान शोभा पाती हैं ।।१४-१५।।

उधर जब भोगवाद बढ़ता है वहाँ अन्त में सन्तान पैदा होनी ही बन्द हो जाती है। क्योंकि विलासी लोग सन्तान पैदा करना नहीं चाहते। उस समय राष्ट्र की अवस्था ऐसी होती है जैसे पानी निकल जाने से मशक की ।।१६।।

अन्त में समाजवाद और व्यक्तिवाद का समन्वय होता है। वे दोनों एक दूसरे से कहते हैं कि हम भी तो एक ही हैं। व्यक्तियों से ही मिलकर समाज बनता है।

समाज व्यक्ति के लिए है। समाज के नियम तो व्यक्ति को सुख देने के लिए ही हैं। क्योंकि वे खड़े तभी रह सकते हैं जब एक-एक व्यक्ति उसके लिए बलिदान करने के लिए तैयार हों। इनमें दो क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें व्यक्ति अधिक से अधिक स्वतन्त्रता चाहता है और कम से कम परतन्त्रता। एक सन्तान उत्पन्न करने में और दूसरा भोजन में। इनसे भी समाज का सम्बन्ध बहुत गहरा है। समाज तो इस बात की स्वतन्त्रता ता दे सकता है कि सन्तान कब और किस प्रकार उत्पन्न की जाये। यदि कोई बुरी सन्तान उत्पन्न करके समाज का भार बढ़ाने लगेगा तो समाज उसमें अवश्य हस्ताक्षेप करेगा। इस प्रसंग में चन्द्रमा का अर्थ हमने सन्तान किया है। सो इसकी विशेष व्याख्या पृष्ठ २४२-२४३ में कर आये हैं, वहाँ देखिये। जहाँ भोगवाद से राष्ट्र की अवस्था जलहीन मशक के समान हो जाती है। वहाँ समाजवाद और व्यक्तिवाद के ठीक समन्वय से भोजन द्वारा तो व्यक्तियों के शरीर आप्यायित होते हैं और उत्तम सन्तान द्वारा रोग, युद्ध आदि के कारण उत्पन्न होने वाले राष्ट्र की जनसंख्या के ह्रास की निवृत्ति से राष्ट्र का शरीर आप्यायित होता है ॥१७॥

अब यह दिखलाते हैं कि अग्नि और सोम को हर यज्ञ में क्यों प्रधानता दी जाती है। इनकी आवश्यकता क्यों होती है ॥१८-१९॥

यदि अग्नि का अर्थ वैज्ञानिक और सोम का अर्थ कलाकार लें तब तो अर्थ स्पष्ट है और यदि अग्नि का अर्थ संकल्प लें तो भाव यह होगा जिससे हवन होता है। उसमें सर्वश्रेष्ठ दर्जा अग्नि अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रियादि की दीक्षा का है ॥२०॥

सोम नाम स्नातक का है। इसकी विशेष व्याख्या हमारे "सोम" नामक ग्रन्थ में देखिये ॥२१॥

इन्द्र नाम यजमान का है। उसी के वाक्य से यज्ञ चलता है। इसलिए यज्ञ के कार्यकर्त्ताओं में उसका स्थान सबसे बड़ा है ॥२२॥

पढ़ने वालों को आश्चर्य होगा कि अग्नि का अर्थ कहीं हम विज्ञान कर देते हैं और कहीं संकल्प। इसी प्रकार कहीं सोम का अर्थ स्नातक करते हैं तो कहीं कलाकार। यह क्या गड़बड़ है? इसका उत्तर यह है कि यह क्षेत्र भेद से अर्थ भेद है। मस्तिष्क में अग्नि और सोम का अर्थ विज्ञान और कला है। यज्ञ में संकल्प और स्नातक है। शरीर में कफ और पित्त है। यह बात शतपथ ने स्वयं स्पष्ट कही है। कहा है—जगत् में दो हैं तीसरा नहीं, एक सूखा एक गीला। सूखा आग में है गीला सोम में है। बस यही इस सारे प्रकरण की कुञ्जी है ॥२३॥

सूर्य आग्नेय है चन्द्रमा सौम्य है। यदि अग्नि और सोम कहा होता तो हम इसका अर्थ संकल्प और स्नातक करते। यहाँ तीन जोड़े गिनाये गये हैं—सूर्य-चन्द्र, दिन-रात, शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष। सो सूर्य-चन्द्र का अर्थ विज्ञान और कला है। दिन-रात का अर्थ स्त्री-पुरुष है। शुक्ल पक्ष का अर्थ गर्भाधान से लेकर सन्तान होने तक का काल है। अष्टमी तथा शिक्षा-समाप्ति तक पूर्णमासी है। कृष्ण पक्ष का अर्थ प्रसूति के पश्चात् नये गर्भाधान तक का काल है ॥२४॥

आज्य भागों में संकल्प, स्नातक तथा वैज्ञानिक और कलाकार की महिमा बताई गई है। उपांशु भाग में स्त्री पुरुष के व्यवहार का वर्णन है। पुरोडाश में बच्चे की शिक्षा-समाप्ति तथा राष्ट्र की सेवा में लगने तक का वर्णन है।

भाव यह कि यदि राजा चाहे कि राज्य के मस्तिष्क के सूर्य, चन्द्र अर्थात् वैज्ञा-

निक कलाकार उसके वश में हों अथवा राष्ट्रीय पुरुषों में अग्नि तथा सोम अर्थात् नेता लोग तथा नवीन स्नातक लोग उसके साथ हों तो उसे उन्हें आज्य भाग देना चाहिए अर्थात् उनसे खूब प्रेम करना चाहिए। जिसके वश में ये दो आ गये उसके वश में सब आ गये। जो राष्ट्र परिवारों को वश में करना चाहे वह दिन रात के समान सदा एक साथ चलने वाले दम्पतियों को राष्ट्रीय भावना से उतना अधिक भर दे कि उनके अंहकार-तत्त्व में भी वही भावनाएँ भरी हों। मनुष्य की सन्तान में वही गुण संक्रान्त होते हैं जो अभ्यास वश उसके अहंकार में सम्मिलित हो जायें। प्रश्न होगा इसका नाम अहंकार क्यों है? सो इसलिए कि जब मनुष्य विवेक पूर्वक किसी कार्य को करते समय कहता है कि अहम् इदं करोमि। मैं यह करता हूँ उस समय सांस लेना, पलक मारना आदि क्रिया करने वाला सारा चेतन पुरुष (अहम्) में सम्मिलित होता है। सो इस अहंकार की चेष्टाएँ अवश्य अहंकार में संक्रान्त होती हैं। इसीलिए उसे प्राजापत्य कहा है। इसे यज्ञ में मौन द्वारा दिखाया गया। क्योंकि यह मौन पुरुष है। अब रही सन्तान सो उसे शुक्ल पक्ष का चन्द्र कहा है और जब उसका जन्म आया तो माता के सोम लोक अर्थात् गर्भाशय में कृष्ण पक्ष आ गया। जब बालक दूध पीना छोड़ देता है तो पिछला चन्द्र भी अलग हो गया। और नया गर्भाधान नहीं हुआ सो नया सामने नहीं है। यह अमावस्या का काल है। इस काल में पुष्टिकारक औषधि रसादि द्वारा सम्पूर्ण शक्ति इस लोक अर्थात् स्त्री के शरीर में लाई जा सकती है। सो यह पुरोडाश यज्ञ द्वारा उसके सामने रक्खा जाता है। और जिस राजा के राज्य में इस प्रकार दम्पतियों की ज्ञान-वृद्धि की जाती है तथा स्त्री पुरुषों की न्यूनता पूर्ण करके नई सन्तान उत्पन्न की जाती है, उस राष्ट्र में सदा ही सुख की वृद्धि होती है।।२५।।

इस विषय में आसुरि कहते हैं कि यदि कोई राष्ट्रपति, इन तीनों जोड़ों में से एक जोड़े पर भी पूर्णाधिपत्य प्राप्त कर ले तो उसका भी कल्याण हो जाता है। परन्तु यदि कोई तीनों पर कर ले तब तो राष्ट्र के मस्तिष्क में से भी भोगवाद निकला, दम्पतियों में से भी निकला तथा सन्तान भी ठीक बनी ।।२६।।

अब छब्बीसवीं कण्डिका के बाद यह दिखाते हैं कि जब आज्य भाग उपांशुयाग तथा पुरोडाश तीनों ही अग्नि तथा सोम के नाम पर किये जाते हैं। तो फिर इन तीन क्रियाओं का क्या लाभ? केवल एक ही क्रिया क्यों नहीं की जाती। इनमें परस्पर भेद क्या है? सो आज्य भागों का भाव यह है कि यदि राजा वैज्ञानिक तथा कलाकारों को अथवा प्रजा के नेताओं तथा नौजवानों को अपने साथ ले ले तभी वह राष्ट्र का स्वामी हो सकता है। और वृत्रासुर को अर्थात् भोगवाद को मार सकता है किन्तु इसके लिए उसको इन दोनों के लिए आज्य भाग देना होगा। अर्थात् इनके साथ अत्यन्त प्रेम करना होगा। जिसका फल यह होगा कि राष्ट्र के हित की भावना दम्पतियों के अहंकार में रच जाएँ। जिससे फिर वही सन्तान के रूप में प्रकट हो। जैसे चुपचाप गम्भीर मनन के पश्चात् पकाई हुई सलाद ही अंत में कार्य रूप में फल लाती है। इसीलिए उपांशुयाग को प्राजापत्य आहुति कहा गया है। क्योंकि सन्तान के रूप में वही भाव प्रकट होते हैं जो अहंकार में घर कर चुके होते हैं क्योंकि अहंकार चुपचाप काम करता है इसीलिए उसके नाम की आहुति चुपचाप दी जाती है। यही उपांशुयाग का तात्पर्य है फिर पुरोडाश तो परिपक्व होकर उत्पन्न होने वाली सन्तान में परिपक्व मस्तिष्क कैसे आवे, इस बात को बताने वाला है। सो उसकी आहुति बोलकर

दी जाती है। क्योंकि संतान का गर्भ से बाहर आ जाना इसी प्रकार है। मानो वाणी का मौन से बोलने में आ जाना। प्रसूति के पश्चात् बच्चे के प्रति क्या कर्तव्य है और परिपक्व होने पर स्नातक की शक्तियों का कितना-कितना भार किसके हिस्से में आ जाना चाहिए यह पुरोडाश के द्वारा बताया गया है। सो अनुष्टुप् छन्द वाणी का प्रतिनिधि है इसलिए पुरोडाश की अनुवाक्या अनुष्टुप की होती है ।।२७।।

उपांशुयाग करके फिर पुरोडाश (याग) करना ऐसा ही है मानो जैसे शत्रु को चुपचाप दबाकर फिर उस पर प्रहार करना। तात्पर्य यह है कि जो लोग पहले अहंकार की शुद्धि करके फिर मन की शुद्धि करते हैं उन्हें पूरी सफलता होती है। जो लोग संकल्प के अनुकूल वायु-मण्डल पैदा करके फिर संकल्प की पुष्टि करते हैं। उन्हें काम, क्रोधादि वृत्रासुर को सेना के साथ लड़ने में अवश्य विजय लाभ होता है। उदाहरण के लिए यदि कोई अपने बालक के हृदय में ब्राह्मणत्व का संकल्प बिठाना चाहे उसे बालक के खिलौने, उसके देखने के चित्र, खेलने के साथी, सिखाने वाला गुरु, सब पहले ऐसे ढूंढ़ने चाहिए जो उसके अन्दर ब्राह्मणत्व की भावना पैदा कर सके। यह चुपचाप ब्राह्मणत्व की भावना पैदा करना ऐसा है मानो दबे पांव सोये हुए शत्रु का गला दबाना। उसके पश्चात् दीक्षा की घोषणा करना ऐसा है मानो सोये हुए शत्रु के गले को झटके से काट डालना। उपांशुयाग के मुकाबले में यहाँ पुरोडाश को वषट्कार कहा गया है। वषट् का अर्थ है ले जाओ। सो चतुर शिल्पकार वह है जो जब तक वस्तु तैयार नहीं हो जाती तब तक एकाग्रचित्त से उसकी तैयारी करने में लगा रहता है। और तब मुंह खोलता है जब वह वस्तु इतनी पूर्णता तक पहुँच जाती है कि फिर उसमें और कुछ करना शेष नहीं रह जाता। और वह कह सकता है कि यह वस्तु बिल्कुल तैयार हो गई। अब इसे (ले जाओ) इसलिए कहा कि देव लोग असुरों में से जिसको मारना चाहते हैं उसे उपांशुयाग से वश में करके वषट्कार के वज्र से मार देते हैं ।।२८।।

वैदिक परिभाषा में ऋग्वेद ज्ञान का वेद है और यजुर्वेद अर्थात् जुषाण वेद कर्म का वेद है। ज्ञानकाण्ड में मनुष्य वही काम करता है जो भोजन में दांत करते हैं अर्थात् हर एक बात को परखना उसकी काट-छांट करवाना और पीस के सात्त्विकीकरण के योग्य बनाना है। बिना पड़ताल की हुई बात को स्वीकार करना ऐसा ही है जैसे बिना चबाये भोजन करना और ऐसा करने वालों के विचारों में वैसी ही गड़बड़ रहती है जैसे बिना चबाए खाने वाले के पेट में। इसीलिए ऋग्वेद की दांतों से उपमा दी गई है। हमारे शरीर में अहंकार द्वारा होने वाले कर्मों को ऐसे जानवर से उपमा दी जा सकती है जिनके एक तरफ दांत हों। क्योंकि अहंकार की क्रियाओं को जब चाहें रोका जा सकता है। परन्तु चलती हैं वे अपने आप। इसलिए उनके एक ही तरफ दांत हैं अर्थात् रुकने में। क्योंकि अहंकार पर पड़ने वाले प्रभाव को रोका तो जा सकता है किन्तु पैदा होने में वे स्वतन्त्र हैं। क्योंकि अहंकार का क्षेत्र ही है स्वयं कार्य करते रहना। इसलिए अहंकार को एक ओर दांत वालों से उपमा दी गई है। इससे हानि भी है और लाभ भी। हानि तो यह है कि इसमें पशुओं की तरह कार्य करने की शक्ति है विवेक शक्ति नहीं। दूसरी ओर लाभ यह है कि जो काम इसे सौंप दिया जाय उसे कोल्हू के बैल की तरह दिन रात अपने आप किया करता है। इसलिए उपांशुयाग की इससे उपमा दी गई है ।।२९।।

पुरोडाश के आदि और अन्त दोनों में अर्थात् अनुवाक्या और याज्या दोनों में ऋचा है अर्थात् किसी बात की दीक्षा लेने से पहले अपने संकल्प को सबके सामने प्रकाशित करने से पहले उसे दोनों ओर के दांतों से चबा लेना चाहिए। अर्थात् ज्ञान द्वारा। उसके फल क्या होंगे यह पहले भी विचारना चाहिए। अर्थात् उसे क्रिया में लाकर देख लेना चाहिए कि हमने अपनी रुचि और योग्यता का कहीं गलत अन्दाजा तो नहीं कर लिया। इसीलिए आरम्भ और अन्त दोनों में ऋचा रक्खी गई है। इस प्रकार दोनों जबड़ों में पीसकर सिद्ध हुआ व्रत ही दीक्षा द्वारा घोषणा के योग्य होता है। यही उपांशुयाग और पुरोडाश का भेद है। पशु के एक ओर ही दांत होते हैं मनुष्य के दोनों ओर। इस प्रकार जिस मनुष्य के अहंकार और विवेक या बुद्धि दोनों में अग्नि सोम का राज्य हो वह प्रजा पशु आदि से फूलता फलता है।

अब अपनी कण्डिकाओं को समझने के लिए हमें एक बार सारे ही पौर्णमास यज्ञ पर दृष्टिपात करना होगा। हम दिखा चुके हैं गर्भाधान शुक्ल पक्ष की प्रसूति अष्टमी है। प्रसूति से स्नातक बनने का काल शुक्ल पक्ष का उत्तरार्द्ध है। और समावर्त्तन पूर्णमासी है। क्योंकि इस काल में मस्तिष्क परिपूर्ण हो जाता है। जो विद्या-प्राप्ति द्वारा मस्तिष्क का परिष्कार नहीं करते वे सारी आयु अष्टमी के चन्द्र ही रहते हैं। अब यहां इस प्रश्न का निर्णय आरम्भ हुआ है कि पौर्णमास याग का उपवास पौर्णमास के दिन करना या कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन। इस प्रश्न में सबसे पहली बात यह देखनी है कि उपवास शब्द का अर्थ क्या है? उसकी कुछ-कुछ व्याख्या हम ग्रन्थ के आदि में कर आये हैं। परन्तु यहां एक ऐसा प्रसंग आ गया है। जहां उस पर विशेष प्रकाश डालने की आवश्यकता है। उपवास शब्द का अर्थ प्रायः 'भोजन न खाना' ऐसा समझा जाता है। परन्तु वस्तुतः देखा जाय तो उपवास शब्द के साथ इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं। न तो उप का अर्थ भोजन है न वास का अर्थ न करना है। उपवास का सीधा अर्थ है पास रहना (उप=पास, वास=रहना) गुरु शिष्य का उपनयन करता है। अर्थात् अपने पास रखता है। शिष्य उपवास करता है अर्थात् उसके पास रहता है। जब कोई किसी के पास रहता है और छोटा होकर रहता है तो उसका कर्तव्य होता है कि पहले बड़े को खिलाकर आप खावे, खावे भी उतना जितना बड़ा इजाजत देवे। क्योंकि वह बड़ा होने के कारण हित अहित को छोटे की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझता है। सो गृहस्थ के लिए भी यह नियम है कि वह जब तक अतिथि पितर आदि अपने बड़ों को न खिला ले तब तक उनके पास रहे। अर्थात् उनकी सेवा में रहे। और जब तक इस उपवास में रहे तब तक स्वयं न खावे। इस प्रकार न खाने का सम्बन्ध उपवास के साथ पैदा हुआ। अब प्रश्न उठता है कि ब्रह्मचारी पर यह बन्धन क्यों और कब तक के लिए लगाया गया है। इसका उत्तर यह है कि बच्चा सदा वृत्रासुर की मार में रहता है। वृत्रासुर बच्चे पर तीन तरह से मार करता है। हीन, मिथ्या और अतियोग से अर्थात् कभी तो खेलकूद के शौक में बच्चा खाना बिल्कुल ही छोड़ बैठता है। फिर जब उसे पढ़ने बैठाया जाय तो वृत्रासुर गड़बड़ मचाने लगता है। और अनेक विद्यारूपी देवताओं के अन्न बालक के मस्तिष्क को स्वयं खाने लगते हैं। यह भोजन का हीन योग है। कभी-कभी बालक रसना के पंजे में आकर भूख से अधिक भोजन कर लेता है और तब भी उसका मस्तिष्क देवताओं के योग्य नहीं रहता। यह भोजन का अति योग है। और कभी-कभी वह शराब अफीम आदि

किसी ऐसे पदार्थ का सेवन कर लेता है जो थोड़ी-सी मात्रा में भी देवताओं के योग्य नहीं रहने देता। इसे भोजन का मिथ्या योग कहते हैं। जब तक बालक इन तीनों से अपने आप को बचाने के योग्य नहीं हो जाता। तब तक उस पर बन्धन आवश्यक है। जिस दिन गुरु ने यह समझ लिया कि बालक का मस्तिष्क परिपूर्ण हुआ। उसने वृत्रासुर को मार लिया, वह पूर्णमासी का चाँद बन गया। अब यह स्वयं वृत्रासुर को मार सकता है। अब यह आवश्यकता नहीं रही कि उसके बदले कोई और वृत्रासुर को मारे। अब वह स्वयं वास कर सकता है। उसे उपवास की जरूरत नहीं। जिन नियमों को गुरुकुल में रहकर गुरु के उपवास में विद्यार्थी सीख आया है उनको अच्छी तरह याद दिलाने के लिए, ये अमावस्या और पूर्णमासी के यज्ञ रक्खे गये हैं। इसीलिए इन यज्ञों का भी उपवास से सम्बन्ध हो गया। और इसीलिए गृहस्थ को इन दिनों ब्रह्मचर्य के नियम पालने होते हैं। क्योंकि वह एक बार फिर उपवास गुरुकुल वास करते हैं। भेद केवल इतना है कि यहाँ गुरु के स्थान पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि की अग्नि है। अथवा उसका रक्षक पुरोहित है। और उस पुरोहित के पास रहना ही उपवास है। ब्रह्मचर्य काल में न तो विद्यार्थी को भूखा रक्खा जाता है न ऐसा भोजन दिया जाता है जिससे निद्रा आदि दोष उत्पन्न हों। बस यही बात यहाँ भी उपवास के सम्बन्ध में कही गई है। पूर्णमासी को उपवास वाला इतना भोजन करे कि जिसमें वह बिल्कुल तृप्त हो गया है, ऐसा न कहा जा सके। इस प्रकार वह असुर का पेट भर देता है। और दिन में जो प्रातःकाल आहुति दी जाती है उससे देवों का पेट भर देता है। यही पौर्णमास यज्ञ का शिष्टाचार है ॥३१॥

अब उपवास अर्थात् हल्का भोजन पूर्णमास के दिन करना था अगले दिन-प्रतिपदा को इस विषय पर विचार आरम्भ करते हैं। इसमें एक मत है कि पूर्णमासी के दिन ही करे। क्योंकि ऐसे पुण्य कर्म के आरम्भ में ही वृत्रासुर को मार डालूं—अपने द्वेष करने वाले को मार डालूं (यही इच्छा उचित है) ॥३२॥

दूसरों का मत यह है कि उत्तर पूर्णमासी अर्थात् अगले दिन करो। उनका कहना है कि जो उपवास करता है वह वृत्रासुर से युद्ध छेड़ता है। जब दो का युद्ध छिड़ता है तो निश्चय से यह नहीं कहा जा सकता कि यह चन्द्रमा उनको जीतेगा या वह इसको। पूर्णमासी के प्रातःकाल चन्द्रमा वृत्रासुर का वध पूरा नहीं किया होता। परन्तु अगले दिन वृत्रासुर का वध हो चुकता है। इसलिए अगले दिन उपवास करना निश्चित रूप से शत्रु को मार डालना है। इसलिए उत्तर पूर्णमासी के दिन ही उपवास होना चाहिए ॥३३॥

अब आचार्य याज्ञवल्क्य अपना मत कहते हैं कि पूर्णमासी के दिन ही उपवास करना चाहिए। क्योंकि उपवास तो दूसरे के अधीन रहकर शिक्षा प्राप्त करने का चिह्न है। यह शिक्षा वृत्रासुर के वध के लिए और पूर्णमासी के चन्द्रोदय के लिए ही तो दी जाती है। पूर्णमासी के चन्द्र के उदय होने के पीछे उपवास करने का भाव यह होगा कि मनुष्य सदा नाबालिग रहे। सदा उसके वृत्रासुर कोई अन्य मारा करे। वह कभी अपने पैरों पर खड़ा हो ही नहीं। सदा दूसरों का पिछलग्गू और परमुखापेक्षी बना रहे। अतः उपवास पूर्ण चन्द्र के उदय से अर्थात् मस्तिष्क के परिपाक से पहले ही होना चाहिए। इसलिए पूर्णमासी के दिन ही उपवास करे ॥३४॥

अब प्रश्न उठता है कि वह विशेष यज्ञ कब किये जाते हैं? इसका उत्तर है

सन्धिकाल में। उदाहरण के लिए बच्चे का नौजवान होकर गृहस्थ में प्रवेश करना एक आश्रम से दूसरे में संक्रान्ति है। यह सन्धिकाल है। यह विशेष संस्कार की अपेक्षा करता है। स्त्री-पुरुष परस्पर मिलकर गर्भाधान करते हैं। यह सन्धि-काल है। यह संस्कार की अपेक्षा करता है। विद्यार्थी पितृकुल से गुरुकुल में प्रवेश करता है यह गुरु-शिष्य का सन्धि-काल है। मनुष्य का सारा जीवन सन्धियों का बना हुआ है। इसमें स्त्री-पुरुष के विवाह की अहोरात्र की सन्धि से उपमा दी गई है। बालक की प्रसूति के पश्चात् उसका समावर्तन होना तथा दूसरे का गर्भाधान होना यह कृष्ण पक्ष तथा शुक्ल पक्ष की सन्धियाँ हैं। फिर एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाना चातुर्मास्य सन्धि है। बाल्यावस्था संग्रह के कारण शरत् कही गई। यौवन वसन्त है, वानप्रस्थ तपोप्रधान ग्रीष्म है। फिर ज्ञान-वर्षा का प्रारम्भ होता है। सो सन्धिकाल में जो क्रिया जिनकी द्योतक है उसका समाप्ति के पीछे उसका अभिनय शोभा नहीं देता। पूर्णमासी का चन्द्र समावृत्त स्नातक का प्रतिनिधि है। इधर व्रतोपायन उसे गृहस्थाश्रम में भी पुराने ब्रह्मचर्य काल का स्मरण दिलाने के लिए ही है। इसलिए व्रतोपायन पूर्णमासी के चन्द्र से पहले ही होना चाहिए। यही बातें अगली कण्डिकाओं में कही गई हैं।

इन अगली कण्डिकाओं का तात्पर्य देखने से पहले एक शब्द का अर्थ और समझ लेना चाहिए। वह है संवत्सर। संवत्सर शब्द अर्थ है "छत" या "शामियाना" जिसके नीचे लोग सम्वसन्ति' अर्थात् मिलकर वास करते हैं। जिन्होंने कभी वड़े तथा सुन्दर शामियाने देखे हैं वे लोग जानते हैं कि उनमें बहुत से टुकड़े इकट्ठे कर एक शामियाना बनाया जाता है। मण्डल अथवा छत में भी कड़ियाँ आदि सन्धियाँ होती हैं। इसी प्रकार मनुष्य जीवन भी एक संवत्सर है। और उसमें अहोरात्र अर्थात् पति-पत्नी की सन्धि वर्ष रूपी शामियाने की शरद्, ग्रीष्म, वर्षादि की सन्धि के समान है। अब कण्डिकाओं का अर्थ इस प्रकार है।

जीवन का संवत्सर अर्थात् शामियाना किस प्रकार का बनाना चाहिए, यह समझाने के लिए परमपिता परमात्मा ने संवत्सर रूपी शामियाना हमारे सिर पर तान दिया है। एक वर्ष में वह जितने भिन्न रूप धारण करता है वे मानो इस शामियाने की भिन्न-भिन्न रंगों की धारियाँ हैं। जिनमें स्थान-स्थान पर सन्धियाँ हैं। जो जीवन की सन्धियों का परिचय देती हैं। जिस प्रकार संवत्सर दिन रात से बना है इसी प्रकार गृहस्थ जीवन स्त्री-पुरुष के जोड़े से बना है। जिस प्रकार रात्रि की गोद में चन्द्रमा आता है उसी प्रकार स्त्री की गोद में बालक आता है, या कभी-कभी वह पिता की गोद में भी चला जाता है। पुत्र चन्द्र कभी दिन को भी दिखाई देता है, किन्तु उसका मुख्य स्थान माता की गोद है। वह जन्म वहीं से लेता है। जिस प्रकार दिनपति की ही एक रश्मि चन्द्र को प्रकाशित करती है इसी प्रकार गृहपति के वीर्य रूपी सूर्य की एक रश्मि ही बालक रूपी चन्द्र को जन्म देती है। बालक का गर्भाधान शुक्ल पक्ष का आरम्भ है। प्रसूति अष्टमी का चन्द्र है तथा शिक्षा पाकर स्नातक बनना पूर्णमासी है। प्रसूति के पश्चात् कृष्ण पक्ष आरम्भ होता है। जब तक बालक दूध पीना छोड़ नहीं देता तथा नया गर्भाधान नहीं होता तब तक कृष्ण पक्ष है। फिर सम्पूर्ण जीवन पर दृष्टिपात करने से ब्रह्मचर्य काल संग्रह-काल होने से शरत् काल है। स्नातक बनने के लिए घोर परिश्रम करना होता है। वह हेमन्त है। उसके पश्चात् वसन्त का रूप गृहस्थाश्रम का काल है। वानप्रस्थ तपःप्रधान होने से ग्रीष्म है। उसके पश्चात् वर्षा संन्यास है। जब

पुरुष जीवन भर के संचित ज्ञान को मेघ वृत्ति धारण कर देश देशान्तर में बरसता है। सो इन सन्धिकालों में तथा इनके सम्बन्ध में विशेष शिक्षा देने के लिए ये यज्ञ बनाये गये हैं। विशेष जीवन के कार्यों में लगे मनुष्य को जब तक समय-समय पर स्मरण न दिलाया जाय तो उसमें शिथिलता आ जाती है यही बात ३५वीं कण्डिका में कही गई है। प्रजापति जब प्रजा उत्पन्न करने में लगा रहा तो उसके पर्व ढीले हो गये। सो वह प्रजापति संवत्सर ही है। उसकी सन्धि दिन-रात, दर्श पूर्णमास तथा ऋतु-सन्धियाँ हैं ॥३५॥

वह ढीली सन्धियों से सन्धान कार्य में असमर्थ हो गया तो पौर्णमासादि यज्ञों से उसकी सन्धियाँ फिर कस दी गईं। अग्निहोत्र से दिन रात की, दर्श पौर्णमास से पक्षों की और चातुर्मास्यों से ऋतुओं की ॥३६॥

तब सन्धियाँ कसी जाने पर वह इस सम्पत्ति का अधीश्वर हो गया ॥३७॥

आज्य भाग स्नेह के प्रतिनिधि हैं। यजमान का कर्त्तव्य है कि अपने एक-एक कार्यकर्त्ता को स्नेह भरे चक्षु से देखे। इसलिए आज्य भागों को चक्षु कहा। हर कार्य का आरम्भ स्नेह से होना चाहिए इसलिए नेत्रों के समान सबसे आगे रखता है ॥३८॥

स्नेह करना एक ओर से नहीं होता जो स्नेह को पहचानें। उन्हें ही स्नेह करने से यज्ञ सफल होता है। इसलिए कहा कि उत्तरार्द्ध पूर्वार्द्ध का कोई नियम नहीं। जहाँ अग्नि सबसे अधिक प्रदीप्त हो अर्थात् स्नेह की ज्वाला बनाने की प्रकाश तथा ताप का पुंज बनाने की सबसे अधिक शक्ति हो वहीं आहुति करें ॥३९॥

स्नेह का आधार ज्ञान है। अज्ञान पूर्वक झूठ के आधार पर खड़ा स्नेह कच्चा है। यदि आपके मित्र में मद्यपान का दोष है, परन्तु इस दोष को जानते हुए भी उसके अन्य गुणों के कारण उससे आप स्नेह करते हैं तो यह स्नेह अटल है। आप उसका मद्यपान एक दिन छुड़ा देंगे। किन्तु उसने यदि अपना दोष छिपा रक्खा है तो इस चोरी के प्रकट होते ही इतना धक्का लगेगा की स्नेह की आँख बन्द हो जायेगी। इसलिए ऋचा जो ज्ञान का प्रतिनिधि है। उसे एक ओर रक्खा और जुषाण जो कर्म जुष्टता का प्रेम तथा सेवा का प्रतिनिधि है उसे दूसरी ओर। एक याज्या में दूसरी अनुवाक्या में। यदि दोनों ऋचा हों तो सूखा ज्ञान ही ज्ञान हड्डी के समान होगा। उसमें आँख नहीं होगी। यदि केवल प्रेम ही प्रेम है तो मानो आँख है—किन्तु वे हड्डियाँ नहीं हैं जिनमें आँखें जड़ी होती हैं ॥४०॥

फिर स्नेह के भी दो अङ्ग हैं। एक हित की इच्छा दूसरा पास रखने की इच्छा। ये दोनों आँखों की सफेदी तथा पुतली के समान हैं। एक नहीं तो स्नेह मानो सफेदी ही सफेदी आँखों में रह गई है। दूसरा न हो तो मानो सब काला ही काला है। हितेच्छा तथा सन्निकर्षेच्छा में से किसे काला तथा श्वेत कहें—किसे अग्नि तथा किसे सोम कहें यह इच्छा पर है। चाहे जैसा मान लीजिए। हाँ हितेच्छा की जाग्रत् आँखों से उपमा दी जा सकती है और सन्निकर्षेच्छा को सोम से। उसमें शुष्कता-सी होती है और इसमें आर्द्रता सी है। दोनों अवस्था, प्रेम के ही रूप अर्थात् ज्ञान के समान बड़ी नहीं अपितु दोनों आँखों के समान नरम हैं ॥४१॥

॥ इति षष्ठाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ षष्ठाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्

इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार। सोऽबलीयान्मन्यमानो नास्तृषीतीव बिभ्यन्निलयांचक्रे स पराः परावतो जगाम देवा ह वै विदांचक्रुर्हतो वै वृत्रोऽथेन्द्रो न्यलेष्टेति ॥११॥

तमन्वेष्टुं दध्रिरे। अग्निर्देवतानाꣳ हिरण्यस्तूप ऋषीणां बृहती छन्दसां तमग्निरनुविवेद तेनैताꣳ सहाजगाम स वै देवानां वसुर्वीरो ह्येषाम् ॥२॥

अब आगे दर्शेष्टि में व्रतोपायन में जो क्रिया पौर्णमास से भिन्न की जाती हैं, उनका वर्णन करते हैं। यद्यपि इन क्रियाओं का वर्णन यज्ञ के वर्णन से पहले आना चाहिए था किन्तु के सामान्य रहस्य को समझे विना इनका समझना असंभव है। इसलिए इनका वर्णन पीछे किया। अब वर्णन को समझने के लिए सुर-असुर, सवन तथा वृत्रासुर को समझना पड़ेगा। जिसे आजकल की भाषा में श्रम कहते हैं वैदिक भाषा में उसे सवन कहते हैं। यह शब्द है भी बड़ा सुन्दर। सवन का अर्थ है सार निकालना।

यह सारा संसार श्रमजीवी की दृष्टि में सोया पड़ा है। बढ़ई की दृष्टि में लकड़ी ऊखल-मूसल, मेज कुर्सी आदि पदार्थ अपने अन्दर छिपाये पड़ी है। खान खोदने वाले की दृष्टि में धरती लोहा, कोयला, सोना, पैट्रोल आदि छिपाये पड़ी है। वह (सुषुप्ति) की अवस्था में है। कोई शक्तिमान् जब तक अपनी शक्ति का कोई शचीपति .जब तक अपनी शची का उस पर प्रयोग न करे तब तक वह सार को बाहर आने को इन्कार करती है। वह सवन नहीं करती है। इसलिए असुर है। क्योंकि उसने अपने अन्दर सार को छिपाया हुआ है। इसलिए वृत्रासुर (वृत्र आच्छादने) है। जब शचीपति सवन आरम्भ करता है तो इस वृत्रासुर से लड़ता है। और सवन द्वारा सोम उत्पन्न करता है। फिर इस सोम की धारा व्यापार-केन्द्रों में बहने लगती है और वह इस सवन के कारण सुर कहलाता है। बस वस्तुतः कर्महीनता का नाम वृत्रासुर है। इसके अनेक रूप हैं। जो असुर नाम से पुकारे जाते हैं। जिनको इन्द्र मारता है। इन सवनों में सबसे श्रेष्ठ सवन सन्तान का उत्पन्न करना है। क्योंकि इससे माता पिता पर पालन, पोषण, शिक्षादि का भार जीवन भर के लिए आ पड़ता है। जो उनके अन्दर कर्महीनता बिल्कुल नहीं रहने देता। इसलिए वृत्रासुर का शत्रु होने के कारण यह सर्वश्रेष्ठ सवन है। और आलसी मनुष्य लोग इसलिए सन्तान उत्पन्न करने से बड़ा घबराते हैं। और इस से बचते फिरते हैं कि कहीं सन्तान न उत्पन्न हो जाय। फिर पालन पोषणदि का भार आ पड़ेगा। परन्तु जिनके अन्दर ब्राह्मण क्षत्रियादि की अग्नि होती

है वे इससे उल्टे होते हैं। वे तो विद्या प्रचार न्याय-रक्षादि कार्यों में अपनी शक्ति न्यून देखकर सदा सन्तान तथा शिष्य के रूप में सहायकों की आकांक्षा करते हैं। अतः एक सन्तान के बाद फिर दूसरों की भी प्रार्थना करके भगवान् से भिक्षा करके सन्तान प्राप्त करते हैं। सो इस श्रमभीरुता की ओर इस कथा में निर्देश किया गया है।

जब यजमान ने गर्भाधान किया तो वह निश्चेष्ट सा पड़ा रहा। उसे सन्देह वश वेदना हुई कि मैंने अपनी शक्ति व्यय करदी। न अस्तृषि इति(इव अर्थात् मैं इसे नहीं मार पाया हूँ, इस सन्देह के कारण) वह अपने आपको निर्बल समझ कर छिपा-छिपा फिरता था। हर संगठित उद्योग में उद्योगकर्त्ता अपनी शक्ति का विनियोग कर देता है तो जब तक वह कार्य सफल न हो जाय तब तक वह अपने को इसी अवस्था में पाता है। इसीलिए कहा है कि जब इन्द्र ने वृत्रासुर का आघात किया तो उस पर शक्ति-क्षयजन्य तथा सन्तान के पालन पोषण की चिन्ताजन्य दुर्बलता सवार हुई। वह परले पार जा निकला अर्थात् कहीं छिप गया। परन्तु तीन जने उसे ढूंढने निकले। १ अग्नि देव, २ हिरण्यस्तूप ऋषि, ३ बृहती छन्द। भाव यह कि तीन प्रकार के लोग तथा तीन प्रकार के भाव हैं। जो मनुष्य को सन्तान-पालन या अन्य किसी प्रकार का उत्पादन का कष्ट सहने के लिए तैयार करते हैं। एक तो किसी महान् संकल्प की तन्तु को टूटने ना देने वाली प्रबल भावना जिसे अग्नि देव कहा गया है। दूसरे सन्तान के उत्पन्न होने पर नाना प्रकार के बच्चे (अथवा उत्पादन) के खेल कूद तथा बड़ा होने पर उसके द्वारा की जाने वाली सेवाओं की तथा उसके विवाह तथा पुत्रवधू और पौत्रादि की सुनहरी कल्पना, इसे हिरण्यस्तूप ऋषि कहा गया है। हिरण्यस्तूप इसलिए कि मनुष्य इस प्रकार की भावनाओं का एक पर्वत खड़ा कर लेता है। जिसके हर शिखर पर मधुर स्वप्नों की सुनहरी धूप पड़ी होती है। ऋषि इसलिए कहा कि यह मनुष्य मात्र में कल्पना एक ज्ञानवर्धक साधन है और ज्ञानवर्धक साधनों को वैदिक साहित्य में ऋषियों का नाम दिया गया है।

तीसरी बृहती छन्द अर्थात् राष्ट्र को बृहत् देखने की अभिलाषा अर्थात् राष्ट्रीय संख्या वृद्धि की इच्छा।

इनमें हिरण्यस्तूप ऋषि को भोगों का प्रत्यक्ष अनुभव शीघ्र दबा सकता है। और जब तरह-तरह के भोग की कल्पना अपना जाल बिछाती है तो हिरण्यस्तूप ऋषि का काल्पनिक पर्वत लुप्त हो जाता है।

इसी प्रकार बृहती छन्द अपनी यात्रा पूरी करते ही समाप्त हो जाता है। जो राष्ट्र की केवल संख्या-वृद्धि चाहते हैं। वे संख्या की एक विशेष मात्रा के पश्चात् कृत्रिम उपायों द्वारा सन्तान-निग्रह की भी खोज में निकल पड़ते हैं। केवल अग्नि वाले जो जानते हैं कि उनकी सन्तान तो अपने बल से संसार में स्थान बना लेगी। इसलिए प्रथम तो उन्हें सन्तान की चिन्ता नहीं होती और हो भी तो वे ब्रह्मचर्य द्वारा सन्तान-निग्रह करते हैं। जो बिल्कुल अपने हाथ में है जब चाहे सन्तान हो जब चाहें न हो। इसलिए कहा तीन इन्द्र को ढूंढने निकले। परन्तु पता अग्नि को ही था कि वह क्यों छिपा है? सो वह अग्नि अमावस्या के काल में अर्थात् चिन्ताजन्य दुर्बलता में इन्द्र के पास गया और उसे पकड़कर ले आया। वह इनका बस्ती बसाने वाला वीर है इन्द्र ।।२।।

ते देवा अब्रुवन् न। अमा वै नोऽद्य वसुर्वसति यो नः प्रावात्सीदिति ताभ्यामेतद्यथा ज्ञातिभ्यां वा सखिभ्यां सहागताभ्या७ समानमोदनं पचेदजं वा तदह मानुष७

हविर्द्देवानामेवमाभ्यामेतत्समान१७ हविर्निरवपन्नैन्द्राग्नं द्वादशकपालं पुरोडाशं तस्मादैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति ॥३॥

देव लोग कहने लगे लो(आज अग्नि की कृपा से)हमारा वसु जो हमसे निकल भागा था हमारे पास बसता है। (और अग्नि इसे साथ लेकर आया है) सो जिस प्रकार घर में दो मित्र अथवा सगे सम्बन्धी आये हों तो उनके लिए एक सा भात तथा एक सा पुलाव तैयार करते हैं, यह मनुष्यों का व्यवहार है। यहाँ हमने अज का अर्थ पुलाव किया है सो ओदन उस भात को कहते हैं जिसके साथ दाल आदि व्यंजन की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर पुलाव में व्यंजन भी उसी में मिला होता है। अज भी एक प्रकार के चावल ही हैं। इसके प्रमाण निम्नलिखित हैं।

अजसंज्ञानि बीजानि नो छागं हन्तुमर्हथ (महाभारत) अजाः सप्त वार्षिका व्रीहय उच्चन्ते। पंचतन्त्र ॥

स इन्द्रोऽब्रवीत्। यत्र वै वृत्राय वज्रं प्राहरं तद्वचस्मये स कृश इवास्मि न वै मेदं धिनोति यन्मा धिनवत्तन्मे कुरुतेति तथेति देवा अब्रुवन् ॥४॥

अज का अर्थ पुलाव इसलिए किया कि साधारण चावल तो ओदन में आ गये। पुलाव का अर्थ फूले हुए चावल है, सो पुलाव बनाने के लिए बढ़िया विशेषकर पुराने चावलों की आवश्यकता होती है। इसीलिए अज कहा गया साधारण भात तो व्यंजन के सहारे भी स्वादु बन जाता है, परन्तु पुलाव का चावल तो बढ़िया होना ही चाहिए। इसी प्रकार यह दो देव जो घर आये हैं उनके लिए इन्द्राग्नि नाम का द्वादश कपाल पुरोडाश तैयार किया जाता है। भाव यह कि गर्भाधान से पहले पिता का यह कर्त्तव्य है कि वह इस बात की पूर्ण तैयारी करे कि बच्चे में १२ के १२ कपाल पूरे हों। अर्थात् उनका मस्तिष्क बिल्कुल ठीक बने। प्रसूति के पश्चात् तो अग्नि सोम का हो जाएगा। अर्थात् माता तथा पुरोहित का हो जाएगा। किन्तु गर्भाधान से पूर्व मुख्य तैयारी पिता को करनी है। वह तैयारी दो प्रकार की है एक तो यजमान दिन रात पूर्ण अग्निमय होकर पूर्ण ब्रह्मचारी बने। दूसरे तरह-तरह के पुष्टिकारक पदार्थ का संग्रह अपने तथा पत्नी के लिए करके पूर्ण चन्द्र बने। इसलिए द्वादश कपाल पुरोडाश अर्थात् गर्भ स्थित परिपक्व बालक इन्द्र और अग्नि के अर्पण है। एक और गम्भीर रहस्य है जिसके कारण इसे द्वादश कपाल पुरोडाश कहा गया है। मनुष्य शरीर बारह धातुओं से बना है। अतः गर्भाधान में उनके ठीक परिपाक के लिए पिता के यह १२ के १२ धातु ठीक अवस्था में पिता में होने चाहिए। और पत्नी में जिनकी न्यूनता पाई जाय, वह उनको पहुँचाई जानी चाहिए। वह १२ धातु इस प्रकार हैं। १ केल्केरिया फ्लोर, २ केल्केरिया फ़ास, ३ केल्केरिया सल्फ, ४ फेरम फ़ास, ५ काली मूर, ७ काली फ़ास, ७ काली सल्फ, ८ मेग्नेशिया फ़ास, ९ नेट्रम नूर, १० नेट्रम फ़ास, ११ नेट्रम सल्फ, १२ सिलोसिया। इस उत्पत्ति के पश्चात् वृशता तथा पुनरुत्पादन से ग्लानि को केवल सम्बन्ध में हीन समझना चाहिए। यह सन्तान तो सब उत्पत्तियों में हरेक में मुख्य होने के कारण यहाँ उपलक्षण रूप से आया है। सवन मात्र में श्रम द्वारा किसी भी पदार्थ के उत्पादन में उत्पन्न करने वाले कार्यकर्त्ता तथा उपकरण सब में कुछ क्षीणता आती है। जिसके सम्बन्ध में कहा गया है कि इन्द्र ने कहा मैंने वृत्र पर प्रहार किया है। उससे मैं खिन्न हो गया हूँ (विस्मय शब्द यहाँ खेदार्थक है जैसे भाषा में हैरान होना)

सो मैं अत्रवृश सा हो गया हूँ। इस पुरोडाश से मुझे पुष्टि नहीं होती। मेरे लिए ऐसा पदार्थ तैयार करो जिससे मुझे कुछ सहारा मिले। देवों ने कहा ऐसा ही करेंगे ॥४॥

ते देवा अब्रुवन्। न वाऽइममन्यत्सोमाद्धिनुयात्सोममेवास्मै सम्भरामेति तस्मै सोमꣳ समभरन्नेष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः स यत्रैष एताꣳ रात्रिं न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृशे तदिमं लोकमागच्छति स इहैवापश्चौषधीश्च प्रविशति स वै देवानां वस्वन्नꣳ ह्येषां तद्यदेष एताꣳ रात्रिमिहामा वसति तस्मादमावास्या नाम ॥५॥

तब देवों ने कहा कि इसे सोम के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ से सहारा नहीं मिलेगा। इसलिए इसे अब सोम ही लाकर दें। सो उसे सोम लाकर दिया। वह सोम राजा यही तो है। यह जो चन्द्रमा है। यही देवों का अन्न है। सो जिस रात यह सामने न दीखे, न पीछे, उस दिन यह इस लोक में आ जाता है। और क्योंकि वह इस लोक में जल तथा औषधियों में प्रवेश कर जाता है। और वही देवों का अन्न वसु है। और क्योंकि यह उस रात्रि हमारे पास बसता है इसीलिए इस रात्रि को अमावस्या कहते हैं ॥५॥

तं गोभिरनुविष्ठाप्य समभरन्। यदोषधीराश्नंस्तदोषधिभ्यो यदपोऽपिबंस्तदद्भ्यस्तमेवꣳ सम्भृत्यातच्य तीव्रीकृत्य तमस्मै प्रायच्छन् ॥६॥

अब जो इन्द्र को भूख लगी तो सोम का गौ से सम्मिश्रण करके इन्द्र को खाने के लिए लाकर दिया। सो इसलिए कि वे जो औषधियाँ खाता है उतना अंश औषधियों से और जल पीता है उतना अंश जल से लेकर उसे तीव्र करके तथा जामन लगाकर फिर उसे दे दिया ॥६॥

इस प्रसंग को समझने के लिए इस अलंकार को पूरा समझिए। 'गौ' शब्द का बहुवचनान्त दूध के अर्थ में प्रयोग हुआ है। वैसे गौ के तीन अर्थ हैं सूर्य—किरण, गाय, तथा वाणी तीनों ही अलंकार को समझने में अपेक्षित हैं। भाव यह है कि दिन भर चलने फिरने से सूर्य थक जाता है। वह चन्द्रमारूपी एक दही का कुण्डा जो उसकी गौ अर्थात् किरण रूपी दूध का ही रूपान्तर है, प्रतिदिन खाता है। दिन में दही का कुण्डा समाप्त हो जाता है फिर वह भरता है और फिर खाया जाता है।

अब स्थूल लोक में लीजिये। सोम नामक औषधि को अथवा तत्सदृश अन्य बलकारक औषधि को मिलाकर उसका जमा दही खाने से शरीर में सन्तानोत्पत्ति आदि द्वारा उत्पन्न क्षीणता दूर होकर नया वीर्य उत्पन्न हो जाता है।

उधर जिस भावना वाली सन्तान उत्पन्न करनी हो, उस भावना वाला रसीला साहित्य ज्ञान रूपी दूध में मिलाकर जमा हुआ दधिरूप पढ़ने से यजमानों के हृदय में अग्नि प्रज्वलित होती है। जो सच्ची सन्तान कामना उत्पन्न करती है।

जिस प्रकार औषधि अर्थात् गर्मी का खजाना (उष् दाहे धि=औषधि) सूर्य की किरणें ठण्डे चन्द्रमा से मिलकर एक दही का कुण्डा बना देती हैं। जिसे सूर्य और पृथिवी आस्वादन करके पुष्ट होते हैं, और १५ दिन में नये बन जाते हैं।

इसी प्रकार जो भावना बालक में भरनी हो उसी प्रकार के ज्ञान रूपी "गोभिः" अर्थात् वाणियों के साथ सोम अर्थात् रसमय साहित्य को मिलाकर बनाया हुआ दही का कुण्डा यजमान रूप चन्द्र के हृदय में ऐसी प्रबल भावना उत्पन्न करता है जिससे वह फिर नया श्रम करने को तैयार हो जाता है।

इसी प्रकार सोम सर्व रोग निवारक महौषधि अथवा अन्य जो भी रोग शरीर में हो या जिस प्रकार की क्षीणता शरीर में हो, उसको निवारण करने वाली औषधि—दूध में मिलाकर बनाया हुआ दही शरीर की क्षीणता को दूर करता है। इसीलिए उदुम्बर में मन्थ पकाया जाता है जिसकी प्रशंसा शतपथ १४ काण्ड ९ अध्याय ब्राह्मण ३ क १५ तथा २० में कही गई है। इसका नाम चतुरौन्दुम्बर मन्थ रखा गया है। इस में चार वस्तु उदुम्बर की होती हैं। १ उदुम्बर का चमस, २ उदुम्बर का स्रुव, उदुम्बर का इदम् और उदुम्बर की उपमन्थनी और उदुम्बर का फल तो प्रथम कण्डिका के उल्लसन अन्य फलों के साथ पड़ेगा ही।

वाणी के प्रकरण में सोम नाम उस रस विशेष का है जो साहित्य में भरना हो। गौ नाम वाणी का है। ओषधि नाम उन शिक्षणालयों का है जिनमें ज्ञानवर्धक साहित्य उत्पन्न होता है तथा आपः नाम प्रजा प्रिय कथानकों तथा इतिहासों का है जिन्हें पीकर वाणी रूप गाय दूध देती है।

भाव यह कि यदि हम चाहते हैं कि राष्ट्र में उत्तम सन्तान की वृद्धि होती रहे तो हमें यजमानों का शरीर सोमादि औषधि द्वारा तथा मन रसमय साहित्य द्वारा उमंग भरे बना कर रखने चाहिए तभी उत्तम सन्तान उत्पन्न होती है। इसीलिए कहा कि नु विष्ठाप्य समभरन् (गौ=दूधादि पदार्थ) अर्थात् उसे गौओं में (नाना प्रकार के गव्य पदार्थों से) मिलाकर सुसज्जित किया। यद्यपि गम्भीर साहित्य औषधि है, गर्मी का खजाना है, परन्तु वह श्रम से खिन्न मनुष्यों में नवीन उत्पादन की उमंग उत्पन्न नहीं कर सकता। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि राष्ट्र के हर प्रजाजन के लिए प्रत्येक नवीन सन्तान उत्पन्न करने के लिए कुछ दिन की छुट्टी देनी चाहिए। जिससे हर एक सन्तान ऐसी उमंग भरी तथा प्रसन्न चित्त हो जैसी प्रथम यौवन की सन्तान होती है। कुछ भी हो सन्तान के लिए उमंग आवश्यक है। खिन्न मन से उत्पन्न की हुई सन्तान अधूरी-भीरु तथा मरियल होती है। अमावस्या वही काल है जब पिछली सन्तान दूध पीना छोड़ दे और नव गर्भाधान न किया गया हो। इस काल में उत्तम भोजन से साहित्य के अध्ययनादि द्वारा यजमान को तथा पत्नी को फिर पुष्ट हो जाना चाहिए। इसीलिए इस काल में सोम उस पुरुष की-आपः अर्थात् रस-वाहक नाड़ियों में तथा ओषधि अर्थात् वीर्य-वर्धक अंगों में आ जाता है। अर्थात् आ जाना चाहिए यही इस प्रसंग की व्याख्या है ॥६॥

सोऽब्रवीत्। धिनोत्येव मेदं नेव तु मयि श्रयते यथेदं मयि श्रयातै तथोपजानीतेति तꣳ शृतेनैवाश्रयन् ॥७॥

फिर इन्द्र बोला कि यह सोम मिला दूध मुझे प्रसन्न तो करता है पर मेरे अन्दर टिकता नहीं। जिससे यह मेरे अन्दर टिक जाय—ऐसा उपाय करो। इसीलिए उसे गरम किये दूध का दही दिया गया।

भाव यह कि शुष्क साहित्य दूध के समान प्रायः लोगों को हजम नहीं होता। विशेषकर श्रम से थके हुए लोगों को। इसलिए उन्हें दही देना चाहिए परन्तु दूध का पहले अग्नि से उबाल लेना चाहिए अर्थात् साहित्य को काम क्रोधादि के दूषणों से विद्वान् ब्राह्मणों की अग्नि परीक्षा द्वारा परिष्कृत करा लेना चाहिए। वह रसीला हो पर विषैला न हो।

जिनको दूध नहीं हजम होता उन्हें भी दही हजम हो जाता है यह तो लोक

विदित ही है। सो भाव यह है जो साहित्य नित्य बदलता रहे तथा जिसकी कोई परीक्षा न हो वह क्षणिक प्रभाव उत्पन्न करता है। स्थायी प्रभाव उत्पन्न करना और प्रजा में उसके लिए विश्वास तथा श्रद्धा उत्पन्न करना आवश्यक है। इसलिए साहित्य को प्रजा के हाथ में देने से पूर्व विद्वानों द्वारा परीक्षित और प्रमाणित करवा लेना चाहिए जिससे वह केवल रोचक ही न हो पोषक भी हो। विद्वान् देख लें कि उसमें वर्णित बातें झूठी नहीं हैं तभी उन ग्रन्थों का स्थायी प्रभाव पड़ सकता है ॥७॥

तद्वाऽएतत्। समानमेव सत्पय एव सदिन्द्रस्यैव सत्तत्पुनर्नानेवाचक्षते यदन्नवीद्धि-नोति मेति तस्माद्दध्यथ यदेनꣳ शृतेनैवश्रयंस्तस्माच्छृतꣳ ॥८॥

सो यह पदार्थ तो एक ही है। यह दूध ही है और कुछ नहीं। यह दही भी दूध ही है। और है भी इनका ही भाग। पर यहीं इसके नाम अनेक हो जाते हैं। क्योंकि यह धिनोति अर्थात् रोचक है इसलिए दधि कहलाता है। क्योंकि पका कर बनाया गया है इसलिए इसका नाम शृत है। तात्पर्य यह है कि प्रजा में सन्तानोत्पत्ति की कामना उत्पन्न करने वाले साहित्य में दूध का गुण सच्चाई, दही का गुण रोचकता और सुपचता और उसका देवता इन्द्र होने से राष्ट्र की उन्नति में सहायकत्व ये तीन गुण अवश्य होने चाहिए ॥८॥

स यथाꣳशुराप्यायेत। एवमाप्यायताप पाप्मानꣳ हरिमाणमहतैष उऽ आमावा-स्यस्य वन्धुः स यो हैवं विद्वान्त्सन्नयत्येवꣳ हैव प्रजया पशुभिराप्यायतेऽप पाप्मानꣳ हते तस्माद्वै सन्नयेत् ॥९॥

अमावास्या यज्ञ का दूसरा नाम सान्नाय्य यज्ञ है सान्नाय का अर्थ है मेल से पैदा होने वाला अर्थात् जिसमें दो चीजों का समन्वय किया जाय। इस यज्ञ का मुख्य हवि दही है, दूध का दही बनाने के लिए उसमें दही का जामन लगाया जाता है। इस प्रकार दूध और जामन का समन्वय साथ मिलाना किया जाता है। यदि कोई पुष्टि-कारक औषधि खिलानी हो वह भी इसी में मिला देनी चाहिए। इसके साथ मिलाने के कारण इस यज्ञ का नाम सान्नाय्य यज्ञ है। याज्ञवल्क्य की सम्मति में सन्तान-उत्पत्ति कर्म में शरीर में जो क्षीणता आनी है। उस को दूर करने का सर्वोत्तम उपाय यही है। किन्तु वह दही जिसमें से मलाई दूर न की गई हो। विना किसी पुष्टकारक औषधि के मेल के दही अकेला ही इस कार्य में समर्थ है। दूसरी ओर मस्तिष्क के प्रसंग में दही नाम उस साहित्य का है जिसे हम ललित साहित्य के नाम से पुकारते हैं। प्रथम सन्तान की उत्पत्ति तथा पालन-पोषण द्वारा उत्पन्न होने वाली मानसिक क्षीणता को काव्य, नाटक, उपन्यासादि, जीवन-चरित्र, सरीखा, रसीला साहित्य ही दूर कर सकता है। व्याकरण, गणित, विज्ञान, आदि सूखे विषय मस्तिष्क को शुद्ध तो कर सकते हैं परन्तु उसमें उमंग पैदा नहीं कर सकते। इसलिए सान्नाय्य यज्ञ दही से किया जाता है। यदि पराधीन राष्ट्र में स्वतन्त्रता की भावना विलासी राष्ट्र में तप की भावना आदि कोई विशेष भावना भावी माता-पिताओं के हृदय में भरनी हो तो वह भी इसी साहित्य में मिला देनी चाहिए। इस प्रकार हमने देखा कि सान्नाय्य यज्ञ में दही से दो काम लिए जा रहे हैं। और एक पन्थ दो काज की कहावत पूरी की जा रही है। एक तो शारीरिक क्षीणता की निवृत्ति, दूसरे मान-सिक क्षीणता को दूर करने वाले साहित्य का प्रतिनिधित्व। इसीलिए इस प्रसंग में इसे सोम नामक औषधि की उपमा दी गई है। अब कण्डिका का अर्थ सुनिये। इस यज्ञ में दही इसलिए प्रयोग किया गया है क्योंकि वह शरीर की उसी प्रकार क्षति-पूर्ति

करता है जैसे सोम का अंश तन्तु । दही ने भी इसी प्रकार क्षति-पूर्ति की है । और कष्ट-दायक रुधिर शोष नामक रोग को दूर किया । यह रुधिर शोष को दूर करना ही अमावस्या के यज्ञ के करने का कारण है । इन बातों का तत्त्व समझ कर जो सान्नाय्य यज्ञ करता है, वह प्रजा पशु आदि से फला फूला करता है और कष्टों को दूर कर देता है। इसलिए सान्नाय्य यज्ञ करे ॥९॥

तदाहुः । नासोमयाजी संनयेत्सोमाहुतिर्वाऽएषा सानवरुद्धा सोमयाजिनस्तस्मान्नासोमयाजी संनयेदिति ॥१०॥

इस विषय में कई लोग कहते हैं कि सान्नाय्य यज्ञ करने का अधिकार उसी को है जो सोम से यज्ञ करता है । उनका कहना है यह सोम की आहुति है । जो सोम से यज्ञ न करता हो उसके वश की नहीं । इसलिए जो सोमयाजी न हो वह सान्नाय्य न करें ॥१०॥

तदु समेव नयेत् । नन्वत्रान्तरेण शुश्रुम सोमेन नु मा याजयताथ मऽएतदाप्यायनꣳ सम्भरिष्यथेत्यब्रवीदिति न वै मेदं धिनोति यन्मा धिनवत्तन्मे कुरुतेति तस्माऽएतदाप्यायनꣳ समभरंस्तस्मादप्यसोमयाजी समेव नयेत् ॥११॥

इस पर आचार्य याज्ञवल्क्य का मत है सोमयाजी हो या न हो सान्नाय्य यज्ञ अवश्य करे । भला अभी थोड़े अन्तर पर ही तो सुन चुके हैं कि इन्द्र ने कहा कि मुझे सोम से यज्ञ कराओ पर साथ कोई ऐसी चीज हो जिससे मुझमें रुचि उत्पन्न हो जाए । और नई शक्ति उत्पन्न हो जाए । यह सोम मुझे रुचिकारक नहीं होता । मुझे ऐसी चीज दो जो रुचिकारक भी हो और पुष्टिकारक भी । इस पर देव लोग इन्द्र के लिए आप्यायन के रूप में दही लाए । इसलिए स्पष्ट है कि इस यज्ञ का मुख्य पदार्थ दही है सोम नहीं । इसलिए सोमयाजी हो या न हो सान्नाय यज्ञ तो करे ही । भाव यह है कि सान्नाय यज्ञ का मुख्य उद्देश्य उस घबराहट को दूर करना जो है शारीरिक हानि तथा बच्चों के पालन-पोषणादि परिश्रम के नाम से लोगों को सन्तान उत्पन्न करने से दूर करती है तथा वह उमंग उत्पन्न करना है जो उत्तम सन्तान करने के लिए प्रेरणा करती है । दही नाम इसी प्रकार के साहित्य का है । सोम नाम उस विशेष साहित्य का है जो किसी समय में राष्ट्र में पाई जाने वाली विशेष त्रुटियों को दूर करता है । बहुत अच्छा हो कि प्रजा में सन्तान उत्पन्न करने की उमंग उत्पन्न करने वाले साहित्य में ही यह साहित्य में मिला दिया जाय । अर्थात् सोम को दही में ही मिला दिया जाय, परन्तु यह तो कोई बुद्धिमत्ता नहीं कि जो कोई रोग विशेष की दवा न खाता हो वह रसायन का प्रयोग भी बन्द कर दे । सान्नाय्य यज्ञ तो करना ही चाहिए । चाहे साधारण दही से चाहे सोम मिले दही से ॥११॥

वार्त्रघ्नं वै पौर्णमासम् । इन्द्रो ह्येतेन वृत्रमहन्नथैतदेव वृत्रहत्यं यदामावास्यं वृत्रꣳ ह्यस्माऽएतज्जघ्नुष ऽ आप्यायनमकुर्वन् ॥१२॥

अगले प्रकरण में दर्श और पौर्णमास का अर्थात् अमावस और पूर्णमासी के यज्ञ का भेद बताते हैं । पौर्णमास यज्ञ वृत्रासुर के मारने का यज्ञ है । इन्द्र ने उसी के सहारे वृत्र को मारा और अमावस्या का यज्ञ जो है वह वृत्र की हत्या के पीछे का यज्ञ है । जब इन्द्र वृत्र को मार चुका तो उसकी थकावट दूर करने के लिए यह यज्ञ तैयार किया गया ॥१२॥

तद्वाऽएतदेव वार्त्रघ्नम् । यत्पौर्णमासमथैष एव वृत्रो यच्चन्द्रमाः स यत्रैष एताꣳ

रात्रिं न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृशे तदेनमेतेन सर्वꣳ हन्ति नास्य किं चन परिशिनष्टि सर्वꣳ ह वै पाप्मानꣳ हन्ति न पाप्मानः किं चन परिशिनष्टि य एवमेतद्वेद ।।१३।।

सो यह पौर्णमास यज्ञ ही वृत्र को मारने का यज्ञ है। इस यज्ञ में चन्द्र ही वृत्रासुर है। सो जिस रात को यह सामने न दीखता है, न पीछे उस दिन वृत्रासुर का पूर्ण वध हो गया। उसका कुछ शेष न रहा। जो इस मर्म को इस प्रकार जान लेता है वह अपने दुष्ट विरोधी को पूर्णतया मार देता है। या यूं कहिए कि पूर्णतया अपने पाप काट देता है। पाप का कोई अंश शेष नहीं छोड़ता। यहाँ पढ़ने वालों को अनेक शंकाएँ सतायेंगी। हम अब तक यह सिद्ध कर आए हैं कि चन्द्रमा नाम सन्तान का है। आज उसे इन्द्र के शत्रु वृत्रासुर के रूप में देखकर अत्यन्त आश्चर्य होगा कि क्या इन्सान अपनी सन्तान को अपना शत्रु समझे। परन्तु यहाँ एक सुन्दर रहस्य बड़े सुन्दर शब्दों में वर्णन किया गया है। मनुष्य के लिए उसकी सन्तान शत्रु भी है और उस शत्रु भाव को समझने से पिता मनुष्य का और सन्तान दोनों का बड़ा उपकार होता है। वह रहस्य इस प्रकार है। एक पुत्र उत्पन्न करके उसे पूर्ण विद्वान् बनाकर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट करा दिया और उस दिन उसके सिर पर एक प्रण का बोझ लाद दिया। अब जब तक वह नई सन्तान उत्पन्न करके उसे उतना ही या उससे कुछ अधिक योग्य नहीं बना देता तब तक यह सन्तान एक पाप का ढेर बनी उसकी छाती पर चढ़ी है। और जिस दिन वह सन्तान पूर्णतया योग्य होकर पूर्ण रूप से स्वतन्त्र और स्वावलम्बी हो जाए उसी दिन मानो उसके पाप कटें। भाव यह है कि बालक जब छोटा होता है तब उसे हर प्रकार से माता-पिता की आवश्यकता होती है। परन्तु माता-पिता का कर्त्तव्य है कि धीरे-धीरे उसे अपने से दूर करते जाएँ जिससे वह पूरी तरह से अपने पैरों पर खड़ा रह सके और उसे माता-पिता की सहायता की आवश्यकता न रहे। यह दूर करने की भावना ही शत्रु के नाम से पुकारी गई है। एक और दृष्टि से भी सन्तान शत्रु है। जब प्रथम सन्तान दूध पीने की अवस्था से निकल जाये और माता-पिता को नई सन्तान के लिए तैयारी करनी हो तो उन्हें कुछ समय के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्याश्रम में धारण करना चाहिए और उसने समय के लिए सन्तानोत्पत्ति की भावना को ऐसे ही अपना शत्रु समझना चाहिए जैसे वे ब्रह्मचर्याश्रम में समझते थे।।१३।।

तद्धैके। दृष्ट्वोपसन्ति श्वो नोदेतेत्यदो हैव देवानामविक्षीणमन्नं भवत्यथैभ्यो वयमित उपप्रदास्याम इति तद्धि समृद्धं यदक्षीणऽएव पूर्वस्मिन्नन्नेऽथापरमन्नमागच्छति स ह बह्वन्न एव भवत्यसोमयाजी तु क्षीरयाज्यदो हैव सोमो राजा भवति ।।१४।।

अब यहाँ चतुर्दशी के उपवास का निषेध करते हैं। यहाँ अलंकार यह बांधा गया है कि अमावस्या के दिन चन्द्र जो नहीं दीखता सो उस दिन वह इस लोक में आ जाता है। इससे पूर्व दिन में औषधियों में चन्द्रमा का रस कम होता है क्योंकि उन दिनों में वह आकाश में भी रहता है। परन्तु अमावस्या के दिन तो सम्पूर्ण कला आकाश से धरती पर उतर आती है। वहाँ से औषधियों में, वहाँ से गो दुग्ध में और फिर वहाँ से अग्नि द्वारा आकाश में पहुँच जाती है। उससे फिर प्रतिदिन एक कला बढ़ते-बढ़ते पूर्ण चन्द्र का उदय हो जाता है। सो कई लोग उपवास चतुर्दशी के दिन आरम्भ करते हैं। उनका कहना है कि बड़ा भाग्यशाली वह कहलाता है जिसका पहला अन्न समाप्त न हो कि नये की तैयारी आरम्भ हो जाय। किन्तु याज्ञवल्क्य इससे सहमत नहीं। उन

का कहना है कि चतुर्दशी के दिन उपवास करने से चन्द्र की सम्पूर्ण कला दूध में नहीं आयेगी क्योंकि एक कला आकाश में रहेगी। भाव यह है कि वीर्य-शक्ति स्त्री तथा पुरुष में सन्तान उत्पन्न करती है तो मानो वह देव कार्य के निमित्त देवलोक को चली किन्तु गर्भाधान के पश्चात् मनुष्य का कर्त्तव्य है कि धीरे-धीरे ब्रह्मचर्य की ओर बढ़े तथा जब तक एक बालक प्रसव हो चुका हो तथा दूध पीता बालक दूध पीना बन्द कर दे, उस समय नये गर्भाधान के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य पूर्वक तैयारी आरम्भ करे। यद्यपि इससे पहले भी ब्रह्मचर्य अपेक्षित है। किन्तु उस समय में शारीरिक शक्ति में दुर्बलता के कारण ब्रह्मचर्य-पालन सुगम है। परन्तु ज्यों-ज्यों माता-पिता की शक्ति उनके शरीर में वापस आती जाती है त्यों-त्यों ब्रह्मचर्य पालन कठिन हो जाता है। इसलिए उसके साधन दर्शेष्टि में बताए जायेंगे। अब चतुर्दशी में उपवास का अर्थ है पहले बालक के दूध छूटने के अन्तिम दिन से उसी समय नये गर्भाधान की तैयारी करने से शक्ति दो स्थानों में बंटी होने के कारण एक कलाहीन होगी अतः अमावस्या में ही उपवास करें। अर्थात् सन्धिकाल में ही नये गर्भाधान की तैयारी करें। इसलिए चतुर्दशी में उपवास न करें।

अब अक्षरार्थ इस प्रकार हुआ। सो कोई-कोई लोग चतुर्दशी के दिन का चन्द्रमा देखकर उपवास करते हैं। आज देख लो कल तो उदय ही नहीं होगा। आज दर्शन कर के उपवास करने से देवों का अन्न अवछिन्न रहेगा। आज के देखे हुए में से हम उन्हें अन्न-दान कर देंगे भला यही तो समृद्धि का लक्षण है कि पहला अन्न समाप्त न हुआ हो कि नया अन्न उपस्थित हो जाय। ऐसे ही मनुष्य को तो बह्वन्न अर्थात् बरकत वाला कहते हैं। अब जो सोम से यज्ञ नहीं करता वही तो दूध से हवन करता है। उसके लिए दूध ही सोम होता है ॥१४॥

अथ यथैव पुरा। केवलीरोषधीरश्नन्ति केवलीरपः पिबन्ति ताः केवलमेव पयो दुहऽएवं तदेष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः स यत्रैष एताꣳ रात्रिं न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृशे तदिमं लोकमागच्छति स इहापश्चौषधीश्च प्रविशति तदेनमद्भ्यश्च ओषधिभ्यः सम्भृत्याहुतिभ्योऽधि जनयति स एव आहुतिभ्यो जातः पश्चाद्ददृशे ॥१५॥

सो उपाय ऐसा करना चाहिए कि दूध सोम हो जाय। सो उसका उपाय यह है कि जब चन्द्रमा आकाश में होता है तो उसका अमावस्या के दिन से पहले हवन करने से तो केवल दूध का ही हवन होगा। उसमें सोम का प्रवेश तो होगा ही नहीं केवल दूध ही दूध का हवन होगा, क्योंकि सोम तो आकाश में होता है। सो दूध देने वाली गाय केवल घास खाती है और जल पीती है सो केवल दूध मात्र देती है उसमें सोम नहीं होता। किन्तु जिस दिन यह सोम राजा अर्थात् चन्द्रमा न आगे दीखता है न पीछे, उस अमावस्या के दिन यह इस लोक में आ जाता है और जल तथा वनस्पतियों में प्रवेश कर जाता है। सो उस दिन इसे गौवों के द्वारा जल तथा वनस्पतियों में से खेंचकर आहुतियों से फिर जन्म देता है। इस प्रकार वह फिर नया होकर पीछे से प्रकट हो जाता है ॥१५॥

तद्वाऽएतत्। अविक्षीणमेव देवानामन्नाद्यं परिप्लवतेऽविक्षीणꣳ ह वाऽअस्यास्मिंल्लोकेऽन्नं भवत्यक्षय्यममुष्मिंलोके सुकृतं य एवमेतद्वेद ॥१६॥

सो इस प्रकार देवों के अन्न का चन्द्र अविक्षीण होकर परिप्लवन करता है अर्थात् घूमता रहता है और जो इस तत्त्व को जान लेता है उसका इस लोक में भी अन्न नहीं

क्षीण होता तथा परलोक में भी ।

तात्पर्य यह है कि पूर्णिमा अर्थात् पूर्वानन्द पूर्वक गर्भाधान के पश्चात् वीर्य को पूर्णतया अन्तर्मुख कर लेता है उसके शरीर में अंग-अंग रूपी वनस्पतियाँ (औषधियाँ ओष + धि) रुधिर रूप आप: सोमयुक्त अर्थात् वीर्य सम्पन्न हो जाती है। तब उनसे फिर नये चन्द्र का उदय होता है। इस प्रकार यह चन्द्र घूमता रहता है। अथवा अन्न भण्डार ऊपर तक भरकर प्रवाहित होने लगता है परिप्लवन का यह दूसरा अर्थ है ॥१६॥

तद्वाऽएताꣳ रात्रिम्। देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रच्यवते तदिमं लोकमागच्छति ते देवा अकामयन्त कथं नु न इदं पुनरागच्छेत्कथं नऽइदं परागेव न प्रणश्येदिति तद्यऽएव संनयन्ति शꣳसन्तऽएतऽएव नः सम्भृत्य प्रदास्यन्तीत्याह ह वा अस्मिन्त्स्वाश्च निष्टचाश्च शꣳसन्ते य एवमेतद्वेद यो वै परमतां गच्छति तस्मिन्नाशꣳसन्ते ॥१७॥

जो इस प्रकार साधनापूर्वक वीर्य सम्पन्न होते हैं उन्हीं में सन्तान उत्पन्न करने की वास्तविक कामना होती है। अन्य लोगों में तो अनिच्छापूर्वक घुणाक्षर न्याय से सन्तान हो जाती है यही बात यहाँ इन शब्दों में कही गई है। सो भाई इस बात (अमावस्या) को अन्न भाग देवलोक से छूटकर इस लोक में आ जाता है। तब देव लोग सोचने लगते हैं कि क्या उपाय करें कि फिर यह हमारे पास आ जावें। हमसे पराङ्मुख होकर नष्ट न हो जाये भाग न जाये सो यह सान्नाय्य यज्ञ (दधिभोजनादि द्वारा क्षीण शक्ति के पुनः संचय का यज्ञ) है जो लोग करते हैं उनसे देव लोग आशा लगाए बैठे रहते हैं। यही हमें बटोर कर अन्न देंगे। सो जो इस तत्त्व को जान लेते हैं उस पर अपने पराये सब आशा लगाए रहते हैं। जो बड़ा बनता है उसी पर तो सब आशा लगाते हैं ॥१७॥

तद्वाऽएष एवेन्द्रः। य एष तपत्यथैष एव वृत्रो यच्चन्द्रमाः सोऽस्यैष भ्रातृव्यजन्मेव तस्माद्यद्यपि पुरा विदूरमिवोदितोऽथैनमेताꣳ रात्रिमुपैव न्याप्लवते सोऽस्य व्यात्त-मापद्यते ॥१८॥

सो बस यहाँ इन्द्र है। यह जो आकाश में तपता है और यह चन्द्रमा ही वृत्र है। इसीलिए उनमें शत्रुता सी है। इसीलिए पहले दूर भागा हुआ-सा था परन्तु अन्त को अमावस्या के दिन समीप आ गया और यहाँ तक समीप आ गया कि उसके ग्राम में आ गया ॥१८॥

तं ग्रसित्वोदेति। स न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृशे ग्रसते ह वै द्विषन्तं भ्रातृव्यमयमे-वास्ति नास्य सपत्नाः सन्तीत्याहुर्य एवमेतद्वेद ॥१९॥

अब सूर्य उसे ग्रास करके उदय होता है। सो उस समय वह पहले या पीछे कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। बस जो इस मर्म को जान लेता है वह अपने द्वेष करने वाले शत्रु को ग्रस लेता है। संसार में वही वह रहता है। उसके शत्रु कहीं के नहीं रहे ऐसा लोग कहते हैं ॥१९॥

यहाँ ध्यान देने योग्य शब्द 'इव' है। इन्द्र अर्थात् सूर्य अर्थात् वीर्य तथा चन्द्रमा अर्थात् सन्तान में वैर सा है। वस्तुतः वैर नहीं। यदि सन्तान कार्य में उच्छृङ्खल प्रकृति हो तो निःसन्देह वीर्य-नाश का दुःख प्राप्त होता है। अतएव बुद्धिमान् मनुष्य को एक बार काम को पूर्ण रूप से जीत लेना चाहिए, ग्रास कर लेना चाहिए। फिर वह पूर्ण रूप से ग्रास किया हुआ काम स्वेच्छापूर्वक प्रजा के कल्याण के लिए उदय होता है। तब वह वृत्रासुर नहीं रहता नहीं तो वह वृत्रासुर ॥१९॥

तं निर्धीय निरस्यति । स एषऽधीतः पश्चाद्दृशे स पुनराप्यायते स एतस्यैवान्नाद्याय पुनराप्यायते यदि ह वाऽअस्य द्विषन्भ्रातृव्यो वणिज्यया वा केनचिद्वा संभवत्येतस्य हैवान्नाद्याय पुनः सम्भवति य एवमेतद्वेद ।।२०।।

(अमावस्या के दिन प्रतिपदा के दिन सूर्य) उस चन्द्र को निगलकर चूसकर उगल देता है । वह चूसकर निगला हुआ दृष्टिगोचर होता है । अब वह फिर बढ़ने लगता है । सो वह सूर्य का अन्न बनने के लिए ही फिर बढ़ता है । बस जो इस मर्म को जान लेता है उसके सब शत्रु यदि व्यापार, कृषि आदि द्वारा किसी उपाय से बढ़ने भी दें तो उसका अन्न बनने के लिए बढ़ते हैं ।।२०।।

तद्धैके । महेन्द्रायेति कुर्वन्तीन्द्रो वाऽएष पुरा वृत्रस्य वधादथ वृत्रँ हत्वा यथा महाराजो विजिग्यान एवं महेन्द्रोऽभवत्तस्मान्महेन्द्रायेति तद्विन्द्रायेत्येव कुर्यादिन्द्रो वाऽएष पुरा वृत्रस्य वधादिन्द्रो वृत्रं जघ्निवांस्तस्माद्विन्द्रायेत्येव कुर्य्यात् ।।२१ ।। ब्राह्मणम् ।।३।। [६, ४] ।।६।।

तात्पर्य यह है कि बुद्धिमान् मनुष्य को काम-क्रोध, लोभ, मोहादि को नष्ट करने का यत्न नहीं करना चाहिए किन्तु उन्हें प्रजनमन्यु-संग्रह-वात्सल्य आदि का रूप देकर लोकोपयोगी बनाना चाहिए ।

यहाँ मुद्राराक्षस का एक श्लोक स्मृतिगोचर होता है ।

स हि भृशमभियुक्तो यद्युपेयाद् विनाशम्,
ननु वृषलवियुक्तस्तादृशेनापि पुंसा ।
अथ तव बलमुख्यान् घातयेत् सापि पीडा
वनगज इव तस्मात् सोऽभ्युपायैर्विनेयः ।।

जो बात यहाँ चाणक्य के मुख से राक्षस के सम्बन्ध में कही गई है । वह काम, क्रोध आदि सब शत्रुओं के सम्बन्ध में कही जा सकती है काम को नष्ट नहीं करना किन्तु वनगज इव तस्मात् सोऽभ्युपायैर्विनेयः ।

इसीलिए जल भरे पात्र से उसे ढकता है तात्पर्य यह कि उस साहित्य के अध्ययन काल में काम-वासना से बचने के लिए उसे पवित्र बूढ़ी स्त्रियों में बैठकर उनसे उपदेश लेना चाहिए क्योंकि ऐसी वृद्धाओं की संगति में वात्सल्य बढ़ता है तथा काम का शमन होता है ।।२०।।

जलभरा ढकना रखते समय वह मन्त्र पढ़ता है, "विष्णो हव्यं रक्षा ।" सो विष्णु नाम यज्ञ का है सो यह हवि को यज्ञ के अर्पण करता है कि वह उसकी रक्षा करें । इसलिए कहा विष्णो हव्यं रक्ष ।

भाव यह कि पुरुषों को नवीन सन्तान की तैयारी कराने में जहाँ विद्वानों का तथा कुल पुरोहित का विशेष हाथ हो वहाँ प्रजा द्वारा चुनी हुई विष्णु स्त्रियाँ ही यदि यहाँ सविता का नाम होता तो वह राजा द्वारा नियत समझी जाती हैं क्योंकि यहाँ विष्णो तुम हवि की रक्षा करो ऐसा कहा गया है अतः प्रजा द्वारा नियत स्त्रियाँ पुरोहित की सहायता करें यह भाव हुआ । सन्तान सम्बन्धी कार्यों में राज्य जहाँ तक हो कम हस्ताक्षेप करे वहाँ तक भला है इसीलिए ऐसा कहा गया ।।२१।।

इति षष्ठाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

अथ सप्तमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

स वै पर्णशाखया वत्सानपाकरोति । तद्यत्पर्णशाखया वत्सानपाकरोति यत्र वै गायत्री सोममच्छापतत्तदस्याऽआहरन्त्या ऽ अपादस्ताभ्यायत्य पर्णं प्रचिच्छेद गायत्र्यै वा सोमस्य वा राज्ञस्तत्पतित्वात्पर्णोऽभवत्तस्मात्पर्णो नाम तद्यदेवात्र सोमस्य न्यक्तं तदिहाप्यसदिति तस्मात्पर्णशाखया वत्सानपाकरोति ॥१॥

अब दर्शेष्टि के विशेष मन्त्रों का आरम्भ होने लगा है, यहाँ वह (अध्वर्यु) वर्णशाखा अर्थात् पलाश (ढाक) वृक्ष की शाखा से बछड़ों को गाय से पृथक् करता है। पलाश को ब्राह्मण वृक्ष कहा है क्योंकि उसमें से लाल रंग का रस निकलता है जो कि रुधिर के रंग का होता है। सो ब्राह्मण वह है जो दूसरों के कल्याण के लिए अपना मांस तथा रुधिर दान करता है। शतपथ का वाक्य इसमें प्रमाण है, मांसेभ्य एवास्य(प्रजापतेः)पलाशः समभवत् तस्मात् स वहुरसो लोहितमिव मांसम्।१३।४-४-८। यह जो पलाश की शाखा से बछड़ों का अपवकरण करता है इस पर एक उपाख्यान है। जब गायत्री सोम को लेने गई थी और वहाँ से सोम को उड़ाकर ला रही थी उस समय एक अपादत्रा अर्थात् बलपूर्वक छीनने वाले ने आक्रमण करके एक पत्ता उससे तोड़ लिया। गायत्री का पत्ता छीन लिया अथवा गायत्री के अधिकार में स्थित सोम का पत्ता छीन लिया। चाहे जैसे भी कह लो वही गिरकर पलाश वृक्ष बन गया। क्योंकि गिरकर फिर उठ आया। इसलिए अपनी पालन अथवा पूरण शक्ति के कारण पर्ण कहलाया। सोम का जो भाग छिपकर अलग जा पड़ा था वह भी यज्ञ में सम्मिलित हो जावे इसलिए पलाश की शाखा से बछड़ों को दूर करता है। भाव यह है कि यज्ञोपयोगी समिधाओं के कारण पलाश वृक्ष ब्राह्मण वृक्ष कहलाता है। सो यहाँ सोम लोक अर्थात् आचार्य के आश्रम का प्रतीक हुआ सो किसी मनुष्य की मस्तिष्क-शक्ति का जो भाग गौण कार्यों में लगा होता है वह भी मुख्य कार्य में सहायक होना चाहिए। पलाश के ब्राह्मण वृक्ष होने के इतने प्रमाण और हैं। ब्राह्मणो वै पलाशः।१-३-६-१९ शत० ५-२-४ १२, शत० ६-६-३-७ तेजो वै ब्रह्मवर्चसम्। वनस्पतीनां प्रकाशः। ऐ० २-१९।ब्रह्म वै पलाशस्य पलाशम्। शत०२-६-२-८।पलाशम्(शुद्धाम)पुराक्तान् ब्रह्म पलाशः शत० १३-२-४-१। अब यहाँ कहा गया है कि पलाश वृक्ष की शाखाओं से बछड़ों को हटाता है। यहाँ पलाश तो ब्राह्मणों का प्रतीक है यह जानकर अब बछड़ा किस का प्रतीक है यह जानने से वाक्य ठीक समझ में आ जायेगा। मनुष्य की शक्ति अथवा वीर्य दो स्थान पर काम में आते हैं। विचार के समय इन्द्रिय में तथा सन्तानोत्पत्ति के समय उपस्थेन्द्रिय में। ये दोनों ही बछड़े हैं जिस समय विचार में एकाग्रता करनी होती है उस समय

उपस्थेन्द्रिय बछड़े से मन को हटाना होगा और जब सन्तानोत्पत्ति करनी हो तो गम्भीर चिन्तन से मन को हटाना होगा। इसी प्रकार किसी वृक्ष में किसी विशेष शाखा को या फल को विशेष पुष्टि देनी हो तो अन्य सब पुष्टि-दोहक स्थानों से उसे हटाना होगा। यह नियम सर्वत्र लागू है। अब प्रकरण चल रहा है दर्शेष्टि का। जब सन्तानोदय सन्तान चन्द्रमा न दीखने के पश्चात् अर्थात् पिछला बच्चा दूध न पीता हो नया गर्भाधान न हुआ हो यहीं स्त्री-पुरुष के शरीरों की खूब देखभाल करके जहाँ न्यूनता आ गई हो उसे पुष्टि देने का समय है। मन को सब ओर से हटाकर पुष्टि की तरफ लगावे, किन्तु हटावे पलाश शाखा से अर्थात् उत्तम स्वाध्याय तथा विद्वान् ब्राह्मण की संगति में रहकर नये गर्भाधान के लिए शरीर को पुष्ट करे यही दर्शेष्टि है। किसी कारखाने में काम बन्द होने पर नया काम चालू होने तक दर्शेष्टि काल है। यह नियम सर्वत्र लगा लेना चाहिए परन्तु चित्त कहाँ से हटाना और कहाँ लगाना इन दोनों विषयों का मार्ग-दर्शन ब्राह्मण करें इसीलिए पलाश शाखा से बछड़ों को हटाता है॥१॥

तमाछिनत्ति। इषे त्वोर्ज्जे त्वेति वृष्टयॅ तदाह यदाहेषे त्वेत्यूर्जे त्वेति यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह॥२॥

पलाश शाखा को काटने के समय कहता है, इषे त्वा ऊर्जे त्वा। सो यह जो कहा कि इषे त्वा इसका अर्थ है हम वृष्टि के लिए तेरी शरण आये हैं जिससे हमें हरी शाखा मिले और हम भी वर्षा कर सकें और यह जो कहा, ऊर्जे त्वा। इसका अर्थ यह है कि वृष्टि से जो रस उत्पन्न होता है तथा उस रस के पीने से जो बल उत्पन्न होता है। उसके लिए तेरी शरण में आये हैं जब कि हर यजमान अपनी क्षति-पूर्ति के लिए पुष्टि प्राप्त करने के निमित्त ब्राह्मण से यह कहे कि हे ब्राह्मण हम अन्नादि की वृष्टि से तुझे सदा इस पलाश-शाखा के समान हरा रक्खेंगे और तू हमें ज्ञान-वृष्टि से सदा हरा रख और ज्ञान भी हमें इस प्रकार प्रदान कर जिससे वह हमारे काम रस मात्र को तृप्त न करे किन्तु हमारे अन्दर ऊर्ज पैदा करे॥२॥

अथ मातृभिर्वत्सान्त्समवार्जन्ति। स वत्सँ शाखयोपस्पृशति वायव स्थेत्ययं वै वायुर्योऽयं पवतऽएष वाऽइदँ सर्वं प्राप्याययति यदिदं किं च वर्षत्येष वाऽएतासां प्राप्याययिता तस्मादाह वायव स्थेत्युपायव स्थेत्यु हैकऽआहुरुप हि द्वितीयोऽयतीति तदु तथा न ब्रूयात्॥३॥

इस प्रकार शाखा ग्रहण करने के पश्चात् बछड़ों को माँ के साथ जोड़ते हैं (यह हटाने की व्याख्या है कि पहले लगावे पश्चात् पलाश-शाखा से हटावे) फिर एक बछड़े को शाखा से स्पर्श करता है उस समय वाक्य पढ़ता है, वायवस्थ वायु नाम इसका है जो यह पवन वहता है। यह पवन सारे जगत् को आप दम से ताजा कर देता है। और जो बरसता है वह इसके सहारे ताजगी पैदा करता है। यह इन गोवों को नवीन घास देकर ताजा करता है। इसलिए कहा कि तुम भी गतिशील बनो सदा दूध पीते रहोगे तो मन्द हो जावोगे, ताजा नहीं बनोगे, स्वावलम्बी नहीं बनोगे और माता को भी दुःख दोगे। कई लोग यहाँ उपायव स्थ जब कहा जाय तब दूसरा दूसरे के पास जाता है। यहाँ तो हटना अभीष्ट है॥३॥

अथ मातृणामेकाँ शाखयोपस्पृशति। वत्सेन व्याकृत्य देवो वः सविता प्रार्पय-

त्विति सविता वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूता। यज्ञॅं सम्भरानिति तस्मादाह देवो वः सविता प्रार्पयत्विति ।।४।।

फिर उन बछड़ों की माताओं में से एक को शाखा से स्पर्श करता है। उस समय वाक्य पढ़ता है। देवो वः सविता प्रार्पयतु। सविता है देवों में शासन चलाने वाला। सविता की आज्ञा से ही हम यज्ञ के लिए सामग्री जुटाते हैं। इसलिए कहा, देवो वः सविता प्रार्पयतु। भाव यह कि माता का अधिकार है कि वह फिर माता बनने से पहले अपनी दर्शोष्टि करे अर्थात् शरीर को खूब देखभाल कर पुष्ट करे और इसमें उसे कानून से रक्षा प्राप्त होनी चाहिए और उस कानून का प्रयोग पलाश शाखा अर्थात् ब्राह्मणों के मार्ग-निर्देशिका में होना चाहिए ।।४।।

श्रेष्ठतमाय कर्मणऽइति। यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म यज्ञाय हि तस्मादाह श्रेष्ठतमाय कर्मण ऽ इति ।।५।।

आगे कहता है श्रेष्ठतमाय कर्मणे सो श्रेष्ठतम कर्म नाम यज्ञ का है अर्थात् यह शासन लोक मात्र के हित की भावना को शासित होना चाहिए, जिससे हर किसी के शरीर का श्रेष्ठतम उपयोग हो सके ।।५।।

आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागमिति। तद्यथैवादो देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशत्येव-मेवैतद्देवतायाऽआदिशति यदाहाप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागमिति ।।६।।

आगे पढ़ता है, आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागम्। सो जिस प्रकार हवि ग्रहण के समय देवता का नाम लेता है उसी प्रकार यह भी देवता का नाम लेता है। हे अघ्न्या स्त्री, वाणी, इन्द्रिय, गाय, तुम इन्द के लिए भाग सुसज्जित करो। भाव यह कि यह क्रिया यजमान, राष्ट्रपति तथा परमेश्वर इस सारी इन्द्रपरम्परा के निमित्त की जाती है ।।६।।

प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा इति। नात्र तिरोहितमिवास्ति मा व स्तेन ईशत माघशॅंस इति मा वो नाष्ट्रा रक्षाॅंसीशतेत्यैवैतदाह ध्रुवा अस्मिन्गोपतौ स्यात बह्वी-रित्य नापक्रमिण्योऽस्मिन्यजमाने बह्वचः स्यातेत्येवैतदाह ।।७।।

आगे वाक्य है, प्रजावतीः अनमीवा अयक्ष्माः अर्थात् तुम आम सन्तान वाली रोग रहित विशेषकर यक्ष्मा रहित बनो सो यह अति स्पष्ट है, इसमें कुछ छिपा हुआ नहीं है। आगे कहा, मा वः स्तेन ईशत माघशंसः सो विनाशकारी राक्षस हमें दबा न सकें यह कहा। फिर कहा, ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीः इस यजमान से कभी दूर न हो सको सदा फूलो-फलो यह कहा ।।७।।

अथाहवनीयागारस्य वा पुरस्तात्। गार्हपत्यागारस्य वा शाखामुपगूहति यज-मानस्य पशून्पाहीति तद्ब्रह्मणैवैतद्यजमानस्य पशून्परिददाति गुप्त्यै ।।८।।

अब न आहवनीयागार अथवा गार्हपत्यागार के सामने पलाश शाखा का उपगूहन अर्थात् स्थापन करता है उस समय मन्त्र पढ़ता है। यजमानस्य पशून् पाहि अर्थात् हे परमात्मन् अथवा तत्सदृश विद्वान् कुल पुरोहित आप इस यजमान के पशुओं (सन्तान तथा जानवरों) की रक्षा कीजिए कि इन पर पलाश शाखा की अर्थात् परहितार्थ अपना प्राण तक दे देने वाले ब्राह्मणों की कृपा सदा बनी रहे, इसलिए यजमान के पशुओं की मन्त्र पूर्वक ब्राह्मणों की रक्षा में परिदान करता है ।।८।।

तस्यां पवित्रं करोति। वसोः पवित्रमसीति यज्ञो वै वसुस्तस्मादाह वसोः पवित्र-मसीति ।९।।

फिर कुशा का बना पवित्र उस शाखा में बाँधता है उस समय मन्त्र पढ़ता है वसोः पवित्रमसि वसु नाम यज्ञ का है सो यह पवित्रोपलक्षित तप सम्पूर्ण यज्ञ का पवित्र करने वाला है यह भाव प्रकाशित करता है। कुशा तप का प्रतीक है यह पहले दिखा आये हैं। 'सो पलाश जहाँ त्याग का चिह्न है वहाँ तप भी आवश्यक है, इसलिए उस शाखा में तप का प्रतीक कुशा बाँध दिया गया ॥९॥

अथ यवाग्वैताᳬं रात्रिमग्निहोत्रं जुहोति। आदिष्टं वा एतद्देवतायै हविर्भवति यत्पयः स यत्पयसा जुहुयाद्यथान्यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं तदन्यस्यै जुहुयादेवं तत्तस्माद्यवाग्वैताᳬं रात्रिमग्निहोत्रं जुहोति जुह्वत्यग्निहोत्रमुपक्लृप्तोखा भवत्यथाहोपसृष्टां प्रब्रूतादिति यदा प्राहोपसृष्टेति ॥१०॥

इस रात को जो अग्निहोत्र करना वह यवागू द्वारा करना क्योंकि जो दूध है वह तो दर्शेष्टि के निमित्त है। दर्शेष्टि देवता का नाम लेकर पृथक् करके रख दिया गया है। भाव यह है कि जब किसी विशेष कार्य के निमित्त कोई समय अथवा सामग्री पृथक् कर दी जाय तो वह अन्य सामान्य कार्यों के प्रयोग में नहीं आनी चाहिए। इसलिए यदि दूध से हवन करेगा तो ऐसा होगा मानो एक देवता के नाम के हवि का हवन अन्य देवता के निमित्त कर दिया। इसलिए इस दिन यवागू अर्थात् ढीले पके हुए चावलों से जिसमें जल का अंश अधिक हो हवन करे अर्थात् मुख्य कार्य की अपेक्षा नित्य कार्य को गौणोदय प्रधान करे। उसका अन्न ढीला हो जब यवागू द्वारा अग्निहोत्र का हवन हो रहा हो उसी समय उखा अर्थात् गो-दोहन पात्र प्रस्तुत कर लिया जाता है। फिर अध्वर्यु गो-दोहन करने वाले से कहे कि बछड़ा गाय के स्तनों से लगाकर मुझे सूचना दो (उपसर्जन का अर्थ है बछड़े को गाय के स्तन के पास ले जाकर लगा देना)। जब दोहन का कर्त्ता सूचना दे कि उपसृष्टा अर्थात् गाय बछड़े के साथ लगादी तो ।१०॥

अथोखामादत्ते। द्यौरसि पृथिव्यसीत्युपस्तौत्येवैनामेतन्महयत्येव यदाह द्यौरसि पृथिव्यसीति मातरिश्वनो घर्मोऽसीति यज्ञमेवैतत्करोति यथा धर्म प्रवृञ्ज्यादेवं प्रवृणक्ति विश्वधा असि परमेण धाम्ना दृᳬंहस्व मा ह्वारिति दृᳬंहत्येवैनानेतदशिथिलां करोति मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीदिति यजमानो वै यज्ञपतिस्तद्यजमानायैवैतदह्वलामाशास्ते ॥११॥

फिर उखा को ग्रहण करता है अर्थात् दूध गरम करने के लिए विशेष प्रकार के निर्मित बर्तन को ग्रहण करता है। उस समय मन्त्र पढ़ता है—द्यौरसि पृथिव्यसि सो यह उस बर्तन की प्रशंसा करता है। अर्थात् जब सन्तानोत्पत्ति से मन हटाकर विद्या में लगाना हो तो मस्तिष्क की स्तुति हुई—द्यौरसि पृथिव्यसि और जब सन्तानोत्पत्ति की तरफ मन एकाग्र करना हो तो जननेन्द्रिय की स्तुति हुई— द्यौरसि पृथिव्यसि। यज्ञवृद्धि के साधन भूत मस्तिष्क अथवा जननेन्द्रिय तुम ज्ञान अथवा वीर्य से द्यौः अर्थात् देदीप्यमान हो। तुम्हारी इच्छा ही से इस यज्ञ का विस्तार होना है, इसलिए तुम पृथिवी हो। वीर्यवान् अथवा ज्ञान-तत्त्व का ही विस्तार होना है। इसलिए द्यौः पहले कहा और पृथिवी पीछे। जहाँ ज्ञान अथवा वीर्य नहीं वहाँ विस्तार काहे का। फिर कहता है मातरश्विनो घर्मोऽसि माता के सहारे बढ़ने वाला मातरिश्वा अर्थात् द्यावापृथिवी का परस्पर व्यवहार जैसे द्यावापृथिवी के बीच वर्तमान वायु। इसी प्रकार समाज में मातरिश्वा गृहस्थाश्रम हुआ, उसका तू घर्म अर्थात् दूध गरम करने का घर्म अर्थात् कटाह है इसलिए सोम पात्र में जैसे घर्म आग पर चढ़ाया जाता है। इसी प्रकार इस दूध के पात्र को भी प्रवृञ्जन आग पर चढ़ाया करता है सो यही यज्ञ करता है। भाव यह कि मस्तिष्क अथवा

जननेन्द्रिय अथवा प्रकरणानुसार जो भी पदार्थ बनाने का पात्र होता है उसे ठीक कर लिया तो मानो सारा यज्ञ कर लिया। इसीलिए कहा विश्ववा असि यह परिपाक पात्र ही सारे विश्व का धारण करने वाला है। हे मुख्य द्रव्य-सम्पादन करने के साधन तुझमें कहीं टेढ़ापन न आ जावे। यथास्थान दृढ़ रूप से जमे रहो जिससे तुम्हारा यज्ञपति भी जमा रहे, डिगने न पावे, यज्ञपति का अर्थ है यजमान। सो यह यजमान के लिए आह्लाद का अडिग होने का आशीर्वाद माँगता है ॥११॥

अथ पवित्रं निदधाति। तद्वै प्राङ्निदध्यात्प्राची हि देवानां दिगथो ऽ उदगुदीची हि मनुष्याणां दिगयं वै पवित्रं योऽयं पवते सोऽयमिमांल्लोकांस्तिर्यङ्ङनुपवते तस्मादुदङ् निदध्यात् ॥१२॥

तद्यथैवादः। सोमꣳ राजानं पवित्रेण सम्पावयन्त्येवमेवैतत्सम्पावयत्युदीचीनदशं वै तत्पवित्रं भवति येन तत्सोमꣳ राजानꣳ सम्पावयन्ति तस्मादुदङ्निदध्यात् ॥१३॥

फिर उस उखा में पवित्र (शाखा पवित्र) का स्थापन करता है उसे इस प्रकार रखता है कि उस पलाश शाखा का शिरोभाग पूर्व की ओर हो क्योंकि यह देवों की दिशा है अथवा ऊपर की ओर हो क्योंकि यह मनुष्यों की दिशा है। भाव यह कि देवों की पवित्रता आदर्श है इसलिए पूर्व की ओर रक्खे अथवा पवित्रता मानव मात्र तक पहुँचानी है इसलिए ऊपर की ओर रक्खे। इसमें सार है यह पवन जो पवित्र करता हुआ बहता है। यह एक छोर से दूसरी ओर बहता हुआ स्वच्छता उत्पन्न करता है इसलिए ऊपर की ओर रक्खे। अर्थात् पलाश शाखा (ब्राह्मणों की विद्या) भी पवन के समान बहती हुई मनुष्य मात्र का कल्याण करती है, तब सन्तान भी पवित्र बनती है और सन्तानोत्पत्ति में सहायक मानव देह तथा मस्तिष्क की क्षीणता भी दूर हो जाती है जो कि उदीची होकर मनुष्य मात्र में से दूर होनी चाहिए। पवित्र को दूध में रखते हुए मन्त्र पढ़ता है—वसोः पवित्रमसि। सो मनुष्य मात्र इस धरती पर बसने वाले मानव मात्र के संगठन रूप यज्ञ का है। तपस्वी ब्राह्मण उसके ज्ञान तथा वीर्य को पलाश-शाखा से अर्थात् सदुपदेश से दूर करता है ॥१३॥

तन्निदधाति। वसोः पवित्रमसीति यज्ञो वै वसुस्तस्मादाह वसोः पवित्रमसीति शतधारꣳ सहस्रधारमित्युपस्तौत्येवैनदेतन्महयत्येव यदाह शतधारꣳ सहस्रधार-मिति ॥१४॥

सो जिस प्रकार वहाँ अर्थात् सोम भाग में सोम राजा को वस्त्र से छानते हैं इसी प्रकार यहाँ दूध को इस पवित्र छनने से छानते हैं। और उसकी प्रशंसा में शतधार सहस्रधार यह जो कहा सो इस पवित्र की स्तुति करता है। यह ब्राह्मण के उपदेश की महिमा का गान करता है कि वह छनना छने हुए दूध की सैकड़ों तथा सहस्रों धारा यजमान के यज्ञ की पवित्रता के लिए प्रदान करता है ॥१४॥

अथ वाचंयमो भवति। आ तिसृणां दोग्धोर्वाग्वै यज्ञोऽविक्षुब्धो यज्ञं तनवा-ऽइति ॥१५॥

फिर अध्वर्यु मौन धारण करता है जब तक तीनों गौओं का दोहन नहीं हो जाता यह कार्य अत्यन्त अति क्षुब्ध मन से होना चाहिए। इसलिए वाणीमय यज्ञाङ्ग का सेवन करता है ॥१५॥

तदानीयमानमभिमन्त्रयते। देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वेति तद्यथैवादः सोमꣳ राजानं पवित्रेण सम्पावयन्त्येवमेवैतत्सम्पावयति ॥१६॥

फिर दोहना न लाए जाते समय दूध के सम्बन्ध में मन्त्र पढ़ता है देवस्य त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वाः। सो जिस प्रकार सोमयाग में सोम भाग को पवित्र छानने के वस्त्र से छानते हैं उसी प्रकार यहाँ दूध को छानता है, भाव यह है कि सोमयाग में सोम नाम आचार्य का है जो गुरुकुल में आचार्य के उपदेश का स्थान है वह गृहस्थ कुल में गृहस्थ के पुरोहित का स्थान है। वहाँ यह कहा गया कि सविता देव अपने शतधार अति सूक्ष्म (सु० पू०) छानने के द्वारा जो कि यज्ञ का पवित्र करनेहारा है मुझे पवित्र करे। इससे स्पष्ट है कि पुरोहित पदवी हर किसी को नहीं दी जानी चाहिए और वह सविता देवराज या राजेश्वर परमात्मा की छलनी में से छनकर आनी चाहिए। इसलिए राज्य द्वारा सुपरीक्षित सहस्रधार ब्राह्मण ही पुरोहित हों और उनकी खूब कड़ी छानबीन होनी चाहिए (सुप्वा) ॥१६॥

अथाह कामधुक्ष इति। अमूमिति सा विश्वायुरित्यथ द्वितीयां पृच्छति कामधुक्ष इत्यमूमिति सा विश्वकर्मेत्यथ तृतीयां पृच्छति इत्यमूमिति सा विश्वधाया इति तद्यत्पृच्छति वीर्य्याण्येवास्वेतद्दधाति तिस्रो दोग्धि त्रयो वाऽइमे लोका एभ्य एवैनदेतल्लोकेभ्यः सम्भरत्यथ कामं वदति ॥१७॥

फिर दोहन कर्मा तथा अध्वर्यु में इस प्रकार विवाद होता है। अध्वर्यु कामधुक्षः—तूने किस गाय का दोहन किया। दोहनकर्त्ता—गाय का नाम लेता है। उदाहरणार्थ नन्दनीम्। अध्वर्यु—सा विश्वायुः वह विश्व को आयु देने वाली हो। फिर इसी प्रकार दूसरी गाय को दोहन के समय अध्वर्यु कहता है—सा विश्वकर्मा। फिर तीसरी गाय के बारे में कहता है—सा विश्वधायाः। इस सारे प्रकरण को समझने के लिए पहले गाय को समझना चाहिए। इस गाय का यथार्थ स्वरूप सप्तदश अध्याय के ७४ वें मन्त्र में इस प्रकार दिया गया।

सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामाऽहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम्।

पामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनीं सहस्रधारां पयसा महीम्। मैं परम वसनीय सविता देवी की उस विश्वजन कल्याणकारिणी सुमति को वरण करता हूँ। जिस दूध से भरी सहस्रधारा बरसाने वाली गाय को लोग सदा दोहन करते आए हैं। बस दर्शेष्टि के समय पूछा गया कि दोहनकर्त्ता तूने किस गाय का दोहन किया। तो उत्तर मिला कि इसका यह नाम है। अध्वर्यु कहता है, नहीं यह गाय तो प्रतीक मात्र है दर्शेष्टि में क्षति-पूर्ति के यज्ञ में उस भगवान् रूपी गाय का दोहन करके सबसे पहले उन उपायों का पता लगाओ जो आयुवर्धक हो और शारीरिक क्षीणता को दूर करे फिर यह भावना प्राप्त करो कि जिस प्रकार वह भगवान् प्राणी मात्र के कल्याण के लिए भंगी (सूर्य की किरणों द्वारा), कहार (वर्षा के जलं हरतीति कहारः) आदि किसी कर्म से घृणा नहीं करता। उसी प्रकार तुम भी लोक-हितार्थ किसी कर्म से घृणा मत करो और सब का ज्ञान प्राप्त करो। तीसरी गाय का नाम विश्वधाया है। जिस प्रकार उस सविता सुमतिरूप गाय का हर कर्म विश्व के धारण तथा पोषण के लिए है। इसी प्रकार तुम भी विश्व भर के धारण तथा पोषणार्थ विश्वायु तथा विश्वकर्मा बनो, स्वार्थ वश नहीं। जिस प्रकार पृथिवी विश्व को आयु देने वाली है, अन्तरिक्ष प्राणी मात्र का कर्म क्षेत्र है तथा द्यौ वृष्टि द्वारा प्राणी मात्र का धारण पोषण करती है, इसी प्रकार तीनों लोकों से तीन गुण सिखाने के लिए तीन गाय प्रतीक बनकर आई हैं। यही इन तीन लोकों का साभरणीय पदार्थ हैं जिन का इतने शब्दों से इस यज्ञ में साभरण किया जाता है। इसके बाद मौन भंग कर देता

है अर्थात् यह तीनों प्रकार की पुष्टि प्राप्त हुई या नहीं यह देख-रेख अतिक्षुब्ध एकाग्र मन से करे उस समय अन्य विषय की बात न करे ॥१७॥

अथोत्तमां दोहयित्वा । येन दोहयति पात्रेण तस्मिन्नुदस्तोकमानीय पल्यङ्‌य प्रत्यानयति यदत्र पयसोऽहायि तदिहाप्यसदिति रसस्थो चैवं सर्वत्वायेदꣳ हि यदा वर्षत्यथौषधयो जायन्तऽओषधीर्ज्जग्ध्वापः पीत्वा तत एष रसः सम्भवति तस्मादु रसस्यो चैव सर्वत्वाय तदुद्वास्यातनक्ति तीव्रीकरोत्येवैनदेतत्तस्मादुद्वास्यातनक्ति ॥१८॥

फिर अन्तिम गाय का दोहन समाप्त करके जिस पात्र में दोहन किया था, उस में थोड़ा-सा जल मिलाकर फिर हिला कर उसे दूध में मिला देता है कि दूध का जो अंश पात्र में लगा रह गया था वह भी यहाँ सम्मिलित हो जाय जिससे इसकी परिपूर्णता हो। यह देखो जब गगन मण्डल बरसता है तब अन्न उपजते हैं फिर उन अन्नों को खाकर और पानी पीकर यह रस उत्पन्न होता है, इसलिए इसकी परिपूर्णता के लिए धोवन मिलाता है। भाव यह है कि ब्राह्मण केवल मन्त्र पाठ न सुनाये स्वाख्या अपनी व्याख्या मिलाकर ज्ञान को इस योग्य बना दे कि यजमानों को पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाय। कोई धोवन भी शेष न रह जाय फिर गरम करके उस गरम किये हुए दूध को उद्वास्य अर्थात् उजार कर उससे आचमन करता है। जामन लगाना है यह उसमें तीव्रता उत्पन्न करना है इसलिए उजार कर आचमन करता है। भाव यह है कि पुरोहित का कर्त्तव्य है कि यजमानों को जो ज्ञान दे वह दही के समान रुचिकारक हो दूध शास्त्र ने दिया, गुरुओं ने दिया, गुरुओं की इन्द्रिय रूप गौओं ने नाना पदार्थों को चरके तथा कान द्वारा नाना शास्त्रों का रस ग्रहण करके शिष्य को यह दूध दिया। अब वह इसमें रोचकता का जामन लगाकर इसे दही के समान रुचिकर बनाये। परन्तु पहले सत्य की भट्ठी पर खूब अच्छी तरह तपा ले तब आचमन करे ॥१८॥

स आतनक्ति । इन्द्रस्य त्वा भागꣳ सोमेनातनच्मीति तद्यथैवादो देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशत्येवमेवैतद्देवतायाऽआदिशति यदाहेन्द्रस्य त्वा भागमिति सोमेनातनच्मीति स्वदयत्येवैनदेतद्देवेभ्यः ॥१९॥

आचमन के समय मन्त्र पढ़ता है 'इन्द्रस्य त्वा भागं सोमेनातनच्मि सो जिस प्रकार पौर्णमास यज्ञ में अग्नि, अग्नीषोम तथा विष्णु के नाम पर हवि बनाकर आहुति देते हैं तथा दर्शेष्टि में अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा इन्द्राग्निभ्यां स्वाहा कहकर हवि देवता का निर्देश किया जाता है इसी प्रकार आचमन में इन्द्र देवता का नाम लिया जाता है अर्थात् क्षति पूर्ति पूर्वक यजमान को पूर्ण इन्द्र बनाने के लिए यह आचमन करता हूँ। सो यह उस ज्ञान को स्वादु बनाता है जिससे वह सब विद्वानों का प्रिय लगे अर्थात् पुरोहित को ज्ञान को रोचक बनाना दूध की दही बनाना भी आना चाहिए ॥१९॥

अथोदकवतोत्तानेन पात्रेणापिदधाति। नेदेनदुपरिष्टान्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यवमृशानिति वज्रो वाऽआपस्तद्वज्रेणैवैतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यतोऽपहन्ति तस्मादुदकवतोत्तानेन पात्रेणापिदधाति ॥२०॥

सोऽपिदधाति । विष्णो हव्यꣳ रक्षेति यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञायैवैतद्धविः परिददाति गुप्त्यै तस्मादाह विष्णो हव्यꣳ रक्षेति ॥२१॥ ब्राह्मणम् ॥४॥ [७. १.] ॥

फिर एक पात्र में जिसका मुख ऊपर की ओर जल भर कर उस पात्र से दूध को ढकता है जिससे नाशकारी राक्षस कहीं इसे नष्ट न कर दें (आपः) वज्र है इस लिए इस वज्र द्वारा नाशकारी राक्षसों को मार भगाता है इसलिए जल भरकर उत्तान

पात्र से ढकता है। आपः नाम साधारण प्रजा का है, मनुष्या वा आपः। शत० ७।२। १-२० ॥ भाव यह कि इस प्रकार का लोकहित साहित्य जैसे (रामायण) प्रतिक्षण तैयार नहीं होता उसकी रक्षा मनुष्य मात्र को करनी चाहिए क्योंकि वह मनुष्य मात्र के हित के लिए है। लोकमत इतना जाग्रत होना चाहिए। इस ज्ञान में कहीं स्वार्थ अश्लीलता आदि दोष न घुसने पाये। विद्वान् ज्ञान को रोचक तो बनाए परन्तु लोक-रुचि को अपनी तरफ खींचे। स्वयं लोक रुचि की तरफ न भागे इसीलिए यह ढककर रखता है। ढकना रखते समय मन्त्र पढ़ता है, विष्णो हव्यं रक्ष। विष्णु नाम यज्ञ का अर्थात् संगठित मानव समाज का है। सो वह हवि को यज्ञ की रक्षा में परिदान करता है फिर सारा यज्ञ अर्थात् संगठित लोकमत इसकी रक्षा करे इसलिए कहा विष्णो हव्यं रक्ष।

ये यजामहे अग्रेजुषाणो अग्निराज्यस्य वेत्तु ३ वौ३षट्। यह या यहाँ कई लोग सान्नाय के लिए जो हवि ग्रहण करते हैं। उसे महेन्द्राय कहकर महेन्द्र के नाम पर ग्रहण करते हैं। उनकी युक्ति यह है कि वृत्र के वध के पूर्व वह साधारण इन्द्र होता है परन्तु जिस प्रकार एक साधारण राजा युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् महाराज के नाम से विख्यात होता है। इसी प्रकार काम, क्रोध, लोभादि को प्रजा मन्यु संग्रह आदि आह्लादकारक चन्द्र रूप देने। पश्चात् हर जीवात्मा रूप यजमान महेन्द्र पद के योग्य हो जाता है इसलिए सान्नाय यज्ञ में इन्द्राय के स्थान पर महेन्द्राय कह कर हवि ग्रहण करना चाहिए, इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि नहीं इन्द्राय कहकर ही क्रिया करनी चाहिए। क्योंकि काम, क्रोधादि विकारों को वृत्र से चन्द्र बनाती हुई कहीं उन्माद और तज्जन्य प्रमाद का शिकार न हो जावे वृत्र को चन्द्र बनाने में जो शक्ति व्यय होती है। उसकी पूर्ति करना न भूल जावे इसलिए इन्द्र का इन्द्र ही बना रहे विजयोल्लास की मस्ती में फूलकर महेन्द्रव नने में इतराने न लगे इसलिए इन्द्राय ही कहे ॥२१॥

इति सप्तमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्।

सप्तमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

अब आज्य भाग उपांशुभाग तथा पुरोडाश भाग नामक कार्य आरम्भ होते हैं इसकी व्याख्या तब ही ठीक समझ में आ सकती है जब विधि को समझ लें इसलिए पहले विधि देते हैं। विधि इस प्रकार है—

अध्वर्यु अग्नये अनुब्रूहि ऐसा कहकर होता को अनुवचन की आज्ञा दे तब होता ओम् अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया समिद्ध शुक्र आहुतीम। यजु० ३।३६। ऋ० ६।१६।३३॥ यह पुरोऽनुवाक्या पढ़े और अध्वर्यु ध्रुवों में से स्रुचा द्वारा घृत लेकर जुहू में चुपचाप चार वार डाले और प्रत्येक वार आज्यस्थाली स चुपचाप घृत लेकर ओम् आप्यायतां ध्रुवा हविषा घृतेन यज्ञं-यज्ञं प्रति देवयड्भ्यः सूर्याया उधो आदित्या उपस्थ उरुधारा पृथिवी यज्ञे अस्मिन् पढ़ के ध्रुवा में डाल दिया करे तब अध्वर्यु उठकर यथास्थान यजति स्थान में पहुँचकर ओं श्रावय ऐसा वचन कहे तब अग्नीत् अस्तु श्रौ३षट् ऐसा वचन कहे। तब अध्वर्यु अग्रे यज्ञं ऐसा कहे। तब होता यह याज्या पढ़े उत्तर पूर्वार्ध में हवन करे तथा प्रणीता जल में इदमग्नये इदं न मम कहकर सब भाग छोड़े। इस प्रकार अग्नि याज्य भाग के पश्चात् अध्वर्यु दाहिने पग से हविष्य के समीप आकर बैठकर सौम्य आज्य भाग के लिए होता को सोमायान्तु ब्रूहि ऐसी आज्ञा दे। तब होता—

त्वं सोमासि सत्पतिस्त्वं राजोत वृत्रहा त्वं भद्रो असि क्रतो३म्॥ ऋ० १।६१। ५॥ यह पुरोनुवाक्या पढ़े फिर पूर्ववत् चार वार ध्रुवाभिघारण तथा पंचपात्रियों का पांच वार अभिघारण हो तत्पश्चात् अध्वर्यु उठकर यथास्थान जाकर ओ३म् श्रावय ऐसा वचन कहे तब अग्नीत् वौ ३षट् ऐसा वचन कहे तब अध्वर्यु सोमं यज ऐसा कहे। तब होता अस्तु ये३ यजामहे सोमं जुषाणः सो याज्यस्य हविषा वेत्तु ३ वौ३ षट् यह याज्या पढ़े, तब अध्वर्यु दक्षिण पूर्वार्द्ध हवन करे इदं सोमाय इदं न मम कहके त्याग करे। यह आज्य भाग समाप्त हुए।

अब प्रधान याग अर्थात् पुरोडाश याग आरम्भ होता है। उसकी विधि इस प्रकार है। अध्वर्यु अपने स्थान पर लौटकर बैठकर होता को अग्नये ऽनुब्रूहि ऐसी आज्ञा दे, तब होता अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् अपां रेतांसि जिन्वतो३म्। ऋ० ८।४४।१६॥

यह पुरोनुवाक्या पढ़े और पढ़कर ध्रुवा से स्रुवा द्वारा घृत लेकर जहू में डाले। इसे उपस्तरण कहते हैं फिर ओ३म् आप्यायताम्। यह पूर्वोक्त आप्यायन मन्त्र पढ़ के ध्रुवा का अभिघारण करे अर्थात् उससे आज्यास्थाली में से घृत लेकर जितना जुहू में उपस्तरण किया था उतना फिर ध्रुवा में डाल दे फिर प्रथम पुरोडाश अर्थात्

आग्नेय पुरोडाश के मध्य तथा पूर्वार्द्ध में से शृतावदान पात्र में अंगुष्ठ पर्व मात्र भाग टेढ़ी रेखा में क्रम से तोड़कर फिर ध्रुवा में से स्रुवा भरके इस पुरोडाश के ऊपर अभिधारण करे। पश्चात् फिर ओ३म् आप्यायताम् बोलकर ध्रुवा का आप्यायन करे और आज्यस्थाली में से स्रुवा भरकर जहाँ से पुरोडाश में से भाग तोड़ा था उसपर घी डाले (पंचावर्तियों में तीसरा भाग सीधे की ओर तोड़ना) फिर यजति स्थान पर पहुँचकर अध्वर्यु ओ३म् श्रावय ऐसा कहे। अग्नीत् ओ३म् श्रौषट् ऐसा कहे। तव अध्वर्यु अग्नि यज ऐसा कहे। फिर होता 'ये यजामहे अग्नि भुवो यज्ञस्य रजश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचते शिवाभिः। दिवः मूर्द्धा दक्षिणे स्वर्षा जिह्वामग्ने चक्रिषे हव्यवाहं ३, वौ३षट् ऋ० १०।८।६ यह मन्त्र पढ़कर आहुति दे इदमग्नये इदन्न मम कहकर त्याग करे, यह प्रथम आग्नेय पुरोडाश हुआ। अब दोनों पुरोडाशों के बीच में घृत द्वारा अग्नीषोमा के नाम का उपांशुयाज आरम्भ होता है। उसकी विधि इस प्रकार है कि फिर अपने स्थान पर आकर बैठकर अध्वर्यु हविष्य के समीप जाकर 'अग्नि-षोमाभ्यामहं उपांशु अर्थात् मुख ही मुख में कहकर अनुब्रूहि को ऊँचे स्वर से बोले फिर होता अग्निषोमाविमे सु मे शृणुत वृषणा हवम्।

प्रति सूक्तानि हर्यतं भवतं दाशुषे मयो३म्॥ ऋ० १।९३।१। यह पुरोनुवाक्य मन्त्र उच्च स्वर से बोले। फिर ध्रुवा में से स्रुवा द्वारा चार वार घृत लेकर पूर्ववत् जुहू में डाले तथा पूर्ववत् ध्रुवा का आप्यायन करे। पंचावर्तियों को मन्त्र में पाँच वार लेवे। फिर अपने स्थान से उठकर यथास्थान पहुँचकर अध्वर्यु ओं श्रावय ऐसा कहे तब अग्नीत् अस्तु श्रौ३षट् ऐसा कहे। तब अध्वर्यु अग्नीषोमौ यज यह वाक्य बोले किन्तु अग्नीषोमौ इतना अंश उपांशु अर्थात् मुख ही मुख में बोले यज इतना ऊँचे स्वर से। तब होता—

ये ३ यजामहे अग्नीषोमावाज्यस्य वीतां वौ३षट्॥ इस मन्त्र से आज्याहुति समिद्‌घृतम् भाग में करे तथा इदमग्नीषोमाभ्यां इदन्न मम इस वाक्य से त्याग करे। यह उपांशुयाग हुआ। फिर अपने बैठने के स्थान पर लौटकर अध्वर्यु अग्नीषोमाभ्या-मनुब्रूहि, इस प्रकार उच्चारण करे। तव होता "अग्नीषोमा स्ववेदसा सहती वनतं गिरः। सं देवत्रा बभूवथो३म्। ऋ० १।९३।९॥ यह पुरोवाक्या पढ़े। पश्चात् ध्रुवा से स्रुवा द्वारा जुहू में घृत का उपस्तरण फिर ध्रुवाभिधारण (आप्यायन) फिर द्वितीय अर्थात् अग्नीषोमीय पुरोडाश में से पूर्ववत् शृतावदान में अगुष्ठ पर्व मात्र भाग लेना जामदग्न्यो तीन बार लेना। फिर ऊपर से अभिधारण क्षत्ताभ्यंग को पश्चात् अध्वर्यु ओं श्रावय ऐसा कहे तब होता ये ३ यजामहे अग्नीषोमौ युवमेताग्नि दिवि रोचना-न्यग्निश्च सोम सक्रतू अधत्तम्। युवं सिन्धूरभिशस्तेरवद्यादग्नीषोमावमुञ्चतं गृभीतान् वौ३षट्॥१।९३.५

यह पुरोवाक्य पढ़े तथा आहुति करे। इदमग्नीषोमाभ्यां इदन्न मम। यह कह कर त्याग करे। यह अग्नीषोम पुरोडाश के भाग की विधि हुई। सो यह क्रम हुआ, प्रथम आग्नेय आज्य भाग, फिर सौम्य आज्य भाग, फिर आग्नेय, पुरोडाश, फिर उपांशु फिर अग्नीषोमीय पुरोडाश।

इनमें जो ध्रुवा में से जुहू में चार बार घृत लेते हैं वे चतुरवत्ती कहलाते हैं और जो पांच बार घृत लेते हैं वे पंचावत्ती कहलाते हैं इतना समझ लेने के पश्चात् शतपथ की इस सम्बन्ध की व्याख्या समझ में आयेगी।

संसार भर की सम्पूर्ण उद्योगशालाओं में आग्नेय आज्य भाग, सौम्य आज्य भाग, आग्नेय पुरोडाश, उपांशु पुरोडाश अग्नीषोमीय पुरोडाश यह पांच सन्धिकार्य में सफलता देंगी किन्तु आदर्श मस्तिष्क को उत्पत्ति रूप सर्वश्रेष्ठ उद्योग में इसका समन्वय करके दिखाते हैं। पुरोडाश का मुख्य अर्थ है भी आदर्श मस्तिष्क। यह सर्वश्रेष्ठ उद्योग है इसीलिए इसे सम्पूर्ण उद्योग धन्धों के उपलक्षण रूप से यहाँ स्वीकार किया गया है। अब आदर्श मस्तिष्क की उत्पत्ति के लिए आवश्यक है कि प्रथम अग्नि तथा सोम अर्थात् पुरुष तथा स्त्री अपने आपको पृथक-पृथक् संतान उत्पन्न करने के योग्य बनावें अर्थात् अपने आपको स्वास्थ्य से ऐसा प्रयत्न करें कि उनमें सन्तान उत्पन्न करने की स्वाभाविक उमंग हो। उन्हें सन्तान से घबराहट न हो किन्तु स्नेह हो इस क्रिया को आग्नेय तथा सोम आज्य भाग के नाम से पुकारा गया। फिर आग्नेय पुरोडाश है अर्थात् स्त्री पुरुष दोनों पृथक्-पृथक् अपने अन्दर वर्ण धर्म की अग्नि प्रदीप्त करें। तथा इसके लिए अपने चुने हुए ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्ण के संकल्प को दृढ़ तथा प्रदीप्त करने वाला साहित्य पढ़ें। अपना पुरोडाश अर्थात् मस्तिष्क अग्नि में हवन करें। यह आग्नेय पुरोडाश हुआ फिर दोनों परस्पर मिलकर आदर्श मस्तिष्क में आग्नेय तथा सौम्य दोनों गुणों का किस प्रकार समन्वय होना चाहिए इस विषय का दिन-रात मनन तथा अभ्यास करें। यहाँ तक अभ्यास करें कि उपांशु याज में भी उन्हें यह समन्वय ही दृष्टिगोचर हो स्वप्न भी इसके ही आवें यह उपांशुयाज हुआ।

जब उन्हें स्वप्न में भी इस पवित्र समन्वय के अतिरिक्त कुछ न दीखे तब वे अग्नीषोमीय पुरोडाश की आहुति करें अर्थात् गर्भाधान करें।

इन पांचों अंगों में से कोई अंग अकेला पूरा नहीं हो सकता। हर एक अंग की पूर्ति के लिए परम देव परमात्मा तथा उत्तम औषधि अन्न आदि जड़ देवों की पूजा करनी होगी। परमात्मा की पूजा, स्तुति, प्रार्थना, उपासनादि से तथा अन्न ओषधि आदि जड़ देवों की पूजा साफ करना कूटना, छानना, मिलाना आदि क्रियाओं से होगी। फिर आर्ष ग्रन्थों का स्वाध्याय तथा ऋषियों का सत्संग करना होगा फिर वृद्धजनों का आशीर्वाद पाना होगा। यही नहीं साधारण से साधारण मनुष्य से सहायता लेनी होगी, इसलिए प्रत्येक आहुति के लिए हवि चार वार लिया जाता है। प्रश्न हो सकता है कि पुरोडाश में तो चार वार नहीं लिया जाता तो वहाँ भी आदि अन्त में घृत तथा मध्य में दो बार पुरोडाश में से भाग लें यह चार अवदान होते हैं। कहा जा सकता है कि वैश्वदेव में कौवे, कुत्ते तक इस में सम्मिलित कर लिए गए हैं, सो वे गृहस्थाश्रम के साधारण व्यवहार में उपयोगी हैं। किन्तु जब सन्तानोत्पत्ति को विशेष रूप से सामने रक्खा तो वैश्वदेव को मनुष्य में ही अन्तर्भाव कर लिया है।

अब यदि मनुष्य इन सम्पूर्ण अंगों का ठीक सम्पादन करना चाहे तो यज्ञ, स्वाध्याय-प्रवचन, पितृपूजा तथा अतिथिपूजा द्वारा देव, ऋषि, पितर तथा मनुष्यों चारों की ही सेवा करे तब ही कार्य सम्पन्न करके वह चारों के ऋण से मुक्त हो सकेगा। अब कण्डिकाओं का अक्षरार्थ इस प्रकार है।

ऋण१७ ह वै जायते योऽस्ति। स जायमान एव देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः॥१॥

इस संसार में जो भी जीता है वह जन्म से कुछ ऋण लेकर जन्म लेता है। वह ऋण चार प्रकार का है। देवों के प्रति ऋण, ऋषियों के प्रति ऋण, पितरों के प्रति

ऋण, मनुष्यों के प्रतिऋण ।

स यदेव यजेत । तेन देवेभ्य ऋणं जायते यद्धचेभ्य एतत्करोति यदेनान्यजते यदेभ्यो जुहोति ॥२॥

सो जो यज्ञ करे । सो उसका कारण यह है कि वह देवों के प्रतिऋण लेकर जन्म लेता है सो वह जो उनके लिए यज्ञ करता है, उनके लिए आहुति करता है वह इनके प्रति ऋण से छूटने के लिए करता है ॥२॥

अथ यदेवानुब्रुवीत । तेनर्षिभ्य ऋणं जायते तद्धेचेभ्य एतत्करोत्यृषीणान्निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः ॥३॥

सो जो अपना पढ़ा हुआ अपने पीछे किसी दूसरे को पढ़ावे सो इसका कारण यह है कि विद्या पढ़ने से उस पर ऋषियों का ऋण हो जाता है, सो यह जो अपने पीछे दूसरों को पढ़ाता है, यह उसी ऋण से छूटने के लिए करता है, इसीलिए विद्या पढ़ाने वालों को ऋषियों का निधिगोप कहते हैं ॥३॥

अथ यदेव प्रजामिच्छेत । तेन पितृभ्य ऋणं जायते तद्धेचेभ्य एतत्करोति यदेषाᳪ सन्तताव्यवछिन्ना प्रजा भवति ॥४॥

सो यह जो सन्तान की कामना करे । सो इसका कारण यह है कि मनुष्य पितरों का ऋण लेकर पैदा होता है । यह जिनकी सन्तान-परम्परा अविच्छिन्न रहती है यह कार्य वे पितृ-ऋण से छूटने के लिए करते हैं ॥४॥

अथ यदेव वासयेत । तेन मनुष्येभ्य ऋणं जायते तद्येभ्य एतत्करोति यदेनान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति स य एतानि सर्वाणि करोति स कृतकर्म्मा तस्य सर्वमाप्तᳪ सर्वं जितम् ॥५॥

सो यह जो घर में आये हुए को अपने घर में बसाये (आतिथ्य करे) सो इसका कारण यह है कि मनुष्य का मनुष्य मात्र पर ऋण है (वस्तुतः मनुष्य प्राणी मात्र का उपलक्षण है इसलिए वैश्वदेव यज्ञ का इसी में अन्तर्भाव जानना इति मौद्गल्यः) से । सो यह उन्हें अपने घर वास देता है, उन्हें भोजन देता है, सो वह इन चारों ऋणों से छूटने के लिए ही यह सब कर्म करता है । वह कृतकर्मा कहलाता है जो यह कर्म करता है उसने सब कुछ पा लिया, सब कुछ जीत लिया ॥५॥

स येन देवेभ्य ऋणं जायते । तदेनांस्तदवदयते यद्यजतेऽथ यदग्नौ जुहोति तदेनांस्तदवदयते तस्माद्यत्किञ्चाग्नौ जुह्वति तदवदानं नाम ॥६॥

सो यह जो देवों के प्रति ऋण लेकर पैदा होता है, सो यह जो यज्ञ करता है, यह जो अग्नि में आहुति करता है यह सब आहुति किया हुआ, इन यजमानों की रक्षा करता है (देङ् रक्षणे) इसलिए अग्नि में जो आहुति की जाती हैं वे सब अवदान कहलाती हैं ।

इस कण्डिका का बड़ा महत्त्व है । शंकराचार्यादि ने "हृदयादवदानानि" इस वाक्य में अवदान शब्द की उत्पत्ति दो अवखण्डने से मानी है, किन्तु यह उनकी भूल है । हृदयावदान का अर्थ है लक्ष्य को बलवान् बनाने के लिए पुष्टि पहुँचाने के लिए ग्रहण किया हुआ हविर्भाग । कहा जा सकता है कि वहाँ भी तो हृदयस्याग्नेऽव्द्यति ऐसा पाठ है सो इस अवद्यति से उत्पन्न होने वाले भ्रम को निवारण करने के लिए ही तो यह कण्डिका लिखी गई है । इस प्रकार हृदयस्याग्रेऽवद्यति का अर्थ हुआ कि हृदय को पुष्टि करने वाले हविर्भाग को हविर्धान से ग्रहण करता है ॥५-६॥

तद्वै चतुरवत्तं भवति। इदं वाऽअनुवाक्याथ याज्याथ वषट्कारोऽथ सा देवता चतुर्थी यस्यै देवतायै हविर्भवत्येवꣳ हि देवता अवदानान्यन्वायत्ता अवदानानि वा देवता अन्वायत्तान्यतिरिक्तꣳ ह तदवदानं यत्पञ्चमं कस्माउ हि तदवद्येत्तस्माच्चतुरवत्तं भवति ॥७॥

यह अवदान हवि में चार बार लिया जाता है (किन्तु कोई पाँच बार भी ग्रहण करते हैं। उसी पक्ष का यहाँ व्याख्यान है) यह जो क्रिया की जाती है इसमें पहले अनुवाक्या है, फिर याज्या है, फिर वषट्कार है और एक देवता है जिसके नाम की आहुति है सो इन चार अंगों की पूर्ति के लिए चार वार हवि ली जाती है। इस प्रकार देवता अवदानों के पीछे आश्रित होती है और अवदान देवताओं के आश्रित होते हैं। (दोनों में सामंजस्य स्थापित होता है, सो पांचवां अवदान तो अतिरिक्त है (व्यर्थ है) वह क्यों किया जाय। इसलिए चतुरस्र होना चाहिए। भाव यह है कि चार ही ऋण हैं उनके द्योतक याज्यानुवाक्या देवता वषट्कार के चार ही अंग हैं पांच के अवदान का आधार कोई नहीं ॥७॥

उतो पञ्चावत्तमेव भवति। पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्चर्त्तवः संवत्सरस्यैषो पञ्चावत्तस्य सम्पद्बहुर्हैव प्रजया पशुभिर्भवति यस्यैवं विदुषः पञ्चावत्तं क्रियतऽएतद्ध न्वेव प्रज्ञातं कौरुपाञ्चालं यच्चतुरवत्तं तस्माच्चतुरवत्तं भवति ॥८॥

अब पंचापर्वतियों का पक्ष उपस्थित करते हैं। जिसकी रक्षा करनी है, वह पुरुष रूप पशु तो पाङ्क्त अर्थात् पांच अंगों वाला है। संवत्सर के ऋतु भी पाँच हैं। सो पंचावदान का यह लाभ होगा जो इस मर्म को जानकर पंचावदान करता है उसके खूब प्रजा तथा पशु होते हैं। वह इनसे वहु अर्थात् फला फूला होता है। परन्तु याज्ञवल्क्य कहते हैं कुरु तथा पंचाल देश में यही प्रख्यात पद्धति है कि चार अवदान हों इसलिए चार ही अवदान होने चाहिए ॥८॥

स वै यावन्मात्रमिवैवावद्येत्। मानुषꣳ ह कुर्याद्यन्महदवद्येद्व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद्व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्माद्यावन्मात्रमिवैवावद्येत् ॥९॥

सो वह हवि में से थोड़ा सा भाग ले। यदि वह बहुत बड़ा भाग तोड़ लेवे तो तुच्छ मनुष्यों का सा व्यवहार होगा। यज्ञ में साधारण मनुष्यों का व्यवहार करना हीनता उत्पन्न करना है। मैं यज्ञ में कोई हीनता उत्पन्न न करूँ इसलिए थोड़ा सा ग्रहण करे।

भाव यह कि सारा का सारा एक ही जगह डाल देना अनुपात बुद्धि की न्यूनता दिखाना है। यह अनुपात बुद्धि ही देवों को साधारण मनुष्य से पृथक् करती है इसलिए अग्नि में आहुति के लिए जितना अपेक्षित है उतना ही लेना न कि सारा पुरोडाश एकदम अग्नि में डालकर अग्नि ही बुझा दे ॥९॥

स आज्यस्योपस्तीर्य। द्विर्हविषोऽवदायाथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयति द्वे वाऽआहुती सोमाहुतिरेवान्याज्याहुतिरन्या तत एषा केवली यत्सोमाहुतिरथैषाज्याहुतिर्यद्धविर्यज्ञो यत्पशुस्तदाज्यमेवैतत्करोति तस्मादुभयत आज्यं भवत्येतद्वै जुष्टं देवानां यदाज्यं तज्जुष्टमेवैतद्देवेभ्यः करोति तस्मादुभयत आज्यं भवति ॥१०॥

अब पुरोडाश में चार अवदानों की संख्या कैसे पूरी होती है। यह बतलाते हैं। प्रथम घृत डाले उस पर पुरोडाश में से दो बार लिया भाग रक्खे फिर उस पर घृत डाले। इस प्रकार आदि अन्त में दो घृत के, दो हवि के ये चार अवदान हुए। वस्तुतः आहुति दो ही हैं सोमाहुति अथवा घृताहुति। सो सोमाहुति तो परिपूर्ण आहुति है,

उसमें घृत मिलाने की कोई आवश्यकता नहीं, किन्तु सोमाहुति से अतिरिक्त अन्य आहुतियाँ भी वस्तुतः आज्याहुति हैं। ये जो हवि यज्ञ अथवा पशु यज्ञ कहलाते है वे वस्तुतः घृत यज्ञ हैं। सो इसे भी आज्याहुति बनाता है। इसलिए दोनों ओर (आदि तथा अन्त में) घृत का अभिघारण करता है। यह जो घृत है सो देवों का प्रिय है (जल प्रीतौ, सो यह देवों के लिए प्रीति उत्पन्न करता है। इसलिए दोनों ओर आज्या मिश्रण करता है।

भाव यह है कि यज्ञ का तात्पर्य है स्वार्थ रहित कर्म, स्वार्थ रहित होने का ही दूसरा नाम प्रेम है। सो प्रेम का चिह्न यज्ञ में घृत है। इसलिए हर आहुति घृत मिश्रित दी जाती है। किन्तु सोम स्वयं स्निग्ध पदार्थ होने से उसमें घृताहुति नहीं करनी पड़ती ॥१०॥

असौ वाऽअनुवाक्येयं याज्या। तेऽउभे योषे तयोर्मिथुनमस्ति वषट्कार एव तद्वाऽएष एव वषट्कारो य एष तपति स उद्यन्नेवामूमधिद्रवत्यस्तं यन्निमामधिद्रवति तदेतेन वृष्णेमां प्रजातिं प्रजायेते यैनयोरियं प्रजातिः ॥११॥

अब अगली कण्डिकाओं में वषट्कार की महिमा का गान करते हैं। द्यौः और पृथिवी को वैदिक वाङ्मय में दम्पती अथवा मातापितरौ कहा है। द्यौः बरसती है और पृथिवी उपजाती है। पृथिवी द्यौः की पतिव्रतावत् अनुवर्तिनी है, किन्तु वषट्कार की दृष्टि से ये दोनों पतिव्रता पत्नी की तरह अनुवर्ती हैं। वषटकार का अर्थ है परि-पूर्णता सो यज्ञ के हर एक अंग में यह आवश्यक है। क्या द्यौः क्या पृथिवी सब अंगों को वषट्कार तक पहुँचना आवश्यक है। किसी उद्योगशाला में नेता द्यौः है और शेष सब अनुवर्ती पृथिवी हैं) किन्तु वषट्कार की दृष्टि से नेता भी अनुवर्ती है। यही बात यहाँ कही अनुवाक्या असौ अर्थात् वह द्यौः है और याज्या यह अर्थात् पृथिवी है और यह सूर्य यह आदित्य है। यह जो जपता है सो यह उदय होने के समय द्यौः पर अधि-कार जमाता है, अस्त होने के समय इस पृथिवी पर अधिकार जमाता है, और दोनों में जो नई सृष्टि होती है सो इसी वर्षक के संयोग से होती है। अर्थात् प्रत्येक उद्योग धन्धे में जो चमत्कार उत्पन्न होता है, वह वषट्कार से ही होता है। ११।

सोऽनुवाक्यामनूच्य। याज्यामनुद्रुत्य पश्चाद्वषट्करोति पश्चाद्वै परीत्य वृषा योषामधिद्रवति तदेनेऽउभे पुरस्तात्कृत्वा वृष्णा वषट्कारेणाधिद्रावयति तस्माद्‌ सह वैव वषट्कारेण जुहुयाद्वषटकृते वा ॥१२॥

सो वह अध्वर्यु पहले अनुवाक्या का अनुवचन करता है फिर याज्या का उच्चा-रण करता है फिर वषट्कार करता है। सो वृषा योषा पर पीछे से अनुगमन करके अधिकार जमाता है इसलिए इन्हें दोनों को आगे करके पीछे वृषा वषट्कार से अधिकार जमवाता है। इसलिए वषट्कार के साथ आहुति करे अथवा वषट्कार के पीछे, वषट्-कार से पहले नहीं।

तात्पर्य यह कि यद्यपि वृषा अर्थात् पति योषा अर्थात् पत्नी से बड़ा है परन्तु वह उन पर अधिकार जमाने के लिए सामने से रोब नहीं डालता किन्तु पृष्ठ-पोषक बनता है। उन्हें अपनी छत्र-छाया में लेता है तथा उनके लिए सच्चे अर्थों में शरण-धाम बनता है यही उसका अधिकार जमाने का मार्ग है सो जो शरण-धाम है उसीका नाम अन्त में है ॥१२॥

देवपात्रं वाऽएष यद्वषट्कारः तद्यथा पात्रऽउद्धृत्य प्रयछेदेवं तदय यत्पुरा वषट्-

काराज्जुहुयाद्यथाधो भूमौ निदिग्धं तदमुया स्यादेवं तत्तस्मादु सह त्वैव वषट्कारेण जुहुयाद्वषट्कृते वा ।।१३।। शतम् ६०० ।।

अथवा इसी बात को एक और प्रकार से कहते हैं। वषट्कार देवों के रस पीने का पात्र है अर्थात् अधूरी वस्तु देवों को प्रिय नहीं है सो यह वषट्कार के साथ अथवा वषट्कार को अन्त में रखकर आहुति करना ऐसा हुआ मानो रस को पात्र में ढरका दिया किन्तु यदि वषट्कार से पहले आहुति करे तो ऐसा हुआ कि मानो रस को गिराकर ऊपर कटोरा रखना। यह व्यर्थ जावेगा, इसलिए वषट्कार के साथ आहुति करे अथवा वषट्कार के पश्चात् ।।१३।।

तद्यथा योनौ रेतः सिञ्चेत्। एवं तदथ यत्पुरा वषट्काराज्जुहुयाद्यथा योनौ रेतः सिक्तं तदमुया स्यादेवं तत्तस्मादु सह वैव वषट्कारेण जुहुयाद्वषट्कृते वा ।।१४।।

यह वषट्कार के साथ हवन करना ऐसा हुआ मानो गर्भाशय में वीर्य का आधान करे। अब यदि वषट्कार से पहले आहुति करे तो ऐसा हो मानो योनि से बाहर वीर्य गिरा दिया सो व्यर्थ जावे। इसलिए वषट्कार के साथ हवन करे अथवा वषट्कार के पश्चात् ।।१४।।

असौ वाऽअनुवाक्येयं याज्या। सा वै गायत्रीयं त्रिष्टुबसौ स वै गायत्रीमन्वाह तदमूमनुब्रुवन्नसौ ह्यनुवाक्येमामन्वाहेयꣳ हि गायत्री ।।१५।।

पहले कह आए हैं ब्रह्म गायत्री क्षत्रं त्रिष्टुप्। इस वाक्य को स्मरण रख लेने से अगली कण्डिका स्पष्ट हो जाएगी। वह द्यौः अनुवाक्या है। यह पृथिवी याज्या है। सो वह द्यौः गाय भी है और यह याज्या त्रिष्टुप् है। इसलिए वह जो अनुवाक्या का अनुवचन करता है वह गायत्री का अनुवचन करता हुआ इस द्यौः का अनुवचन करता है क्योंकि यही गायत्री है।

भाव यह कि जहाँ यज्ञ के प्रत्येक अंग की परिपूर्णता के लिए निर्देश्य लोग निर्देष्टा के निर्देश का ऐसा पालन करते हैं जैसे क्षत्रिय ब्राह्मण के निर्देश का पालन करते हैं वहीं कल्याण है ।।१५।।

अथ त्रिष्टुभा यजति। तदनया यजन्नियꣳ हि याज्यामुष्या अधि वषट्करोत्यसाऽउ हि त्रिष्टुब्देने सयुजौ करोति तस्मादिमे सम्भुञ्जातेऽनयोरनु सम्भोगमिमाः सर्वाः प्रजा अनु सम्भुञ्जते ।।१६।।

याज्या के समय त्रिष्टुप् से यज्ञ करता है सो जिस प्रकार ब्रह्माण्ड में द्यौः से वर्षा की आहुति पृथ्वी में होती है इसी प्रकार यहाँ भी याज्या त्रिष्टुप् छन्द से की जाती है इसके पश्चात् वषट्कार करता है। इसीलिए गायत्री तथा त्रिष्टुप् से उपलक्षित ब्राह्मण तथा क्षत्रिय परस्पर मिलकर इस धरती का उपभोग करते हैं और इन्हीं के परस्पर सम्भोग के पीछे-पीछे सम्पूर्ण प्रजा को भोजन मिलता है ।।१६।।

स वाऽअङ्खयन्निवैवानुवाक्यामनुब्रूयात्। असौ ह्यनुवाक्या बृहद्वचसौ बार्हतꣳ हि तद्रूपं क्षिप्रऽएव याज्ययया त्वरेतेयꣳ हि याज्या रथन्तरꣳ हीयꣳ राथन्तरꣳ हि तद्रूपꣳ ह्वयति वाऽअनुवाक्या प्रयच्छति याज्यया तस्मादनुवाक्यायै रूपꣳहुवे हवामहऽआगच्छेदं बर्हिः सीदेति यद्ध्वयति हि तया प्रयच्छति याज्यया तस्माद्याज्यायै रूपं व्रीहि हविर्जुषस्व हविरावृषायस्वाद्धि पिब प्रेति यत्र हितया यच्छति ।।१७।।

सो अनुवाक्या का उच्चारण ठहर-ठहर कर विलम्बित लय में करे, यह अनुवाक्या द्यौः का रूप है द्यौः बृहती छन्द के समान है। सो बृहती के बोलने का रूप

वह विलम्बित रूप है। याज्या के समय जल्दी-जल्दी आगे बढ़े याज्या पृथ्वी है। सो पृथ्वी रथन्तर की चाल चलती है। यह द्रुत चाल रथन्तर की चाल है। अनुवाक्या निमन्त्रण देती है। याज्या से प्रदान करता है। इसलिए अनुवाक्या में हुवे, हवामहे, आगच्छ इदं बर्हिः सीद ये शब्द बहुधा पाये जाते हैं। जिनका अर्थ है बुलाता हूँ, बुलाते हैं। आओ इस आसन पर बैठो, यह बुलाती है बुलाना है उस याज्या से प्रदान करता है। इसीलिए याज्या में व्रीहि हविर्जुषस्व, हविरावृषायस्व आपिब प्र, ये शब्द अधिक पाए जाते हैं, जिनका अर्थ है सेवन कर, यह हवि स्वीकार कर, इस हवि पर अधिकार कर, यह प्रदान करता हूँ, इसीलिए याज्या से प्रदान करता हूँ, है ॥१७॥

सा या पुरस्ताल्लक्षणा। सानुवाक्या स्यादसौ ह्यनुवाक्या तस्या अमुष्या अवस्ताल्लक्ष्म चन्द्रमा नक्षत्राणि सूर्यः ॥१८॥

जिसके लक्षण अर्थात् चिह्न सामने लक्ष्य कपट हों वह अनुवाक्या है। वह द्यौः अनुवाक्या है इसलिए उसके ये क्षण (चिह्न) सामने लटके हुए चन्द्रमा नक्षत्र और सूर्य हैं ॥१८॥

अथ योपरिष्टाल्लक्षणा। सा याज्या स्यादियꣳ हि याज्या तस्या अस्या उपरिष्टाल्लक्ष्मौषधयो वनस्पतय आपोऽग्निरिमाः प्रजाः ॥१९॥

जिसके लक्षण लक्ष्य पदार्थ के ऊपर रक्खे हों अर्थात् ओषधि वनस्पति, जल, अग्नि और यह सब प्रजा। इन सब कण्डिकाओं में याज्यानुवाक्या का निर्देश्य निर्देशक भाव सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है, सो स्पष्ट है ॥१९॥

सा ह न्वेव समृद्धानुवाक्या। यस्यै प्रथमात्पदाद्देवतामभिव्याहरति सोऽएव समृद्धा याज्या यस्याऽउत्तमात्पदाद्देवताया अधि वषट्करोति वीर्यं वै देवताऽच्चंस्तदुभयत एवैतद्वीर्येण परिगृह्य यस्यै देवतायै हविर्भवति तस्यै प्रयच्छति ॥२०॥

सो वह अनुवाक्या सुन्दर है जिसका आरम्भ देवता के नाम के साथ होता है। वह याज्या सुन्दर है जिसके अन्तिम पद में देवता का नाम हो और वषट्कार हो सो देवता का नाम बताने वाली ऋचा कर्मकाण्ड का प्राण है। शक्ति है, और आदि अन्त दोनों ओर से शक्ति-सम्पन्न करता है। तात्पर्य यह कि हर कार्य के आरम्भ में जो उपक्रमार्थ प्रक्रिया निर्धारित की गई है। ठीक-ठीक उसी रूप में उपसंहार होना प्रक्रिया के ठीक अनुकूल होना ही कर्मकाण्ड का सौन्दर्य है ॥२०॥

स वै वौगिति करोति। वाग्वै वषट्कारो वाग्रेतो रेत एवैतत्सिञ्चति षडित्यृतवो वै षट् तदृतुष्वेवैतद्रेतः सिच्यते तदृतवो रेतः सिक्तमिमाः प्रजाः प्रजनयन्ति तस्मादेवं वषट्करोति ॥२१॥

वषट्कार का उच्चार वौषट् इस प्रकार करता है। वषट्कार वाणी का कर्म है। वाणी शक्ति है, सो यह वीर्याधान के समान है। तात्पर्य यह कि कार्य-समाप्ति पर ही यह घोषणा की जाती है कि ठीक हो गया, जब तक कार्य ठीक हो गया, यह घोषणा न की जाय तब तक वह ठीक नहीं हुआ, सो इस घोषणा का ही नाम वषट्कार है। जिस प्रकार मैथुन कार्य की समाप्ति वीर्य-निषेक से होती है। इसी प्रकार हर उद्योग की समाप्ति तब जाननी जब आप्त पुरुषों के मुँह से वषट्कार की घोषणा हो जावे। वौषट् में प्रथम भाग वौः है दूसरा भाग षट्, सो वस्तुतः तो यह शब्द वौषट है। जिसका अभिधेयार्थ है वहन करो, सब ठीक है परन्तु वौ३ तथा षट् इस प्रकार उच्चारण करने में व्यंजना-शक्ति से षट् शब्द द्वारा ६ ऋतुओं की समाप्ति की ध्वनि भी निकलती है।

६ ऋतु हैं। छठी ऋतु की समाप्ति पर ही फिर नया संवत्सर आरम्भ होता है और ठीक ऋतुचर्या होने से आधान किए हुए वीर्य द्वारा यह प्रजा उत्पन्न की जाती है। यह बात षट् शब्द से ध्वनित की गई है ।।२१।।

देवाश्च वाऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दायमुपेयुरेतावेवार्ध-मासौ य एवापूर्य्यते तं देवा उपायन्योऽपक्षीयते तमसुराः ।।२२।

अब आगे दर्श पूर्णमास की महिमा कहते हैं। देव तथा असुर दोनों को पिता प्रजापति से दाय भाग मिला। वह दाय भाग यह दो पखवाड़े थे, अर्थात् शुक्ल पक्ष तथा कृष्ण पक्ष। यह जो चढ़ता पक्ष है, यह देवों को मिला, जो उतरता अर्धमास है यह असुरों को मिला ।।२२।।

ते देवा अकामयन्त । कथं न्विममपि संवृञ्जीमहि योऽयमसुराणामिति तेऽर्च्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तऽएतᳬ हविर्यज्ञं ददृशुर्यद्दर्शपूर्णमासौ ताभ्यामयजन्त ताभ्यामिष्ट्वैतमपि समवृञ्जत ।।२३।।

तब देव सोचने लगे कि ऐसा क्या उपाय करें कि यह जो असुरों का भाग है इसे भी हम वश में कर लें। तब वे परिश्रम करते हुए, भगवान् का भजन करते हुए, विचरने लगे। तब उन्होंने हविर्यज्ञ को देखा, अर्थात् दर्शपूर्ण मास को, इन दो इष्टियों से यज्ञ किया, तब वे इस कृष्णपक्ष को भी पा गये ।।२३।।

य एषोऽसुराणामासीत् । यदा वाऽएताऽउभौ परिप्लवेतेऽथ मासो भवति मासशः संवत्सरः सर्वं वै संवत्सरः सर्वमेव तद्देवा असुराणाᳬ समवृञ्जत सर्वस्मात्सपत्नानसुरान्निरभजन्त्सर्वं वेवैष एतत्सपत्नानाᳬ संवृङ्क्ते सर्वस्मात्सपत्नान्निर्भजति य एवमेतद्वेद ।।२४।।

यह जो असुरों का भाग था। जब यह दोनों चक्कर काटते हैं तो मास पूरा हो जाता है। मास-मास करके संवत्सर हो जाता है। संवत्सर नाम सम्पूर्ण चक्र का है। सो देवों ने असुरों का सब कुछ पा लिया और पतन के अभिलाषी सम्पूर्ण अपने शत्रुओं को सब कुछ से वंचित कर दिया। जो इस तत्त्व को जान लेता है वह शत्रुओं के सर्वस्व को अपने वश में कर लेता है और शत्रुओं को सर्वस्व से वंचित कर देता है

तात्पर्य यह है कि देव लोग सुख-समृद्धि का लाभ उठाते हैं और उदीयमान मनुष्यों की उमंग के बल को अपने साथ करते हैं किन्तु असुर लोग मनुष्यों की हीन दशा का दुरुपयोग करके उनकी विवशता का लाभ उठाते हैं किन्तु यह बुद्धिमत्ता नहीं। देवों को चाहिए कि वे दुर्बलों को सहायता पहुँचा कर उन्हें पुष्ट करके कृतज्ञता तथा प्रेम बल से वश में करें तथा उन्हें असुरों की धृष्टता का शिकार न होने दें। जो राष्ट्र अपने कमजोर भाग की उपेक्षा करके असुरों को दे देता है वह असुरों से मार खाता है। इसीलिए अपने कमजोर से कमजोर अंग की उपेक्षा न करे किन्तु बलवान् बनावे और उसे काम में लावे। नहीं तो भूख, भय आदि के कारण उत्पन्न उसकी विवशता का लाभ उसके शत्रुओं को मिलेगा ।।२४।।

स यो देवानामासीत् । स यवायुवत हि तेन देवा योऽसुराणाᳬसोऽयवा न हि तेनासुरा अयुवत ।।२५।।

सो इस कृष्ण पक्ष के वश में करने के वृत्तान्त को याविहोत्र कहते हैं क्योंकि वह शुक्ल पक्ष जो देवों का था उसका नाम यवा है। (यवन् प्रथमा एकवचन) क्योंकि उसके साथ देव मिश्रित थे (यु मिश्रणामिश्रणयोः), जो असुरों का कृष्ण पक्ष था वह

अयवा था, उसके साथ देव नहीं मिले किन्तु असुर मिले ॥२५॥

अथोऽइतरथाहुः । य एव देवानामासीत्सोऽयवा न हि तमसुरा अयुवत यो ऽसुराणाᳮ स यवायुवत हि तं देवाः सब्दमहः सगरा रात्रिर्यव्या मासाः सुमेकः संवत्सरः स्वेको ह वै नामैतद्यत्सुमेक इति यवा च हि वाऽअयवा यवेतीवाथ येनैतेषाᳮ होता भवति तद्यावित्रमित्याचक्षते ॥२६॥ ब्राह्मणम् ॥५॥ [७. २.] ॥ पञ्चमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या ॥२११॥

अथवा उलटा कह सकते हैं जो देव पक्ष था वह अयवा था क्योंकि उसे असुर नहीं पा सके किन्तु जो असुर पक्ष था उसे सुर पा गये। इसलिए वह यवा कहलाया और इस याविहोत्र में दिन का नाम सब्द हुआ, रात्रि का नाम सगरा हुआ, महीनों का नाम यव्य हुआ, क्योंकि मास यवों का बल हुआ है। संवत्सर का नाम सुमेक हुआ सो सुमेकः का अर्थ स्वेकः अर्थात् बहुत सों का मिलकर एक सुन्दर समुदाय और जो अयवा था वह यवा बना अयवा यवा जिसमें अयवा का होता अर्थात् बुलाने वाला बना। इसलिए इस वृत्तान्त को याविहोत्र कहते हैं। अर्थात् जिस समुदाय में यह शक्ति हो कि वे अपने दुर्बल अंगों को अपने वश में रक्खें तथा उनकी दुर्बलता की उपेक्षा न करें। उनका शोषण न करें अपितु पोषण द्वारा अपने वश में करें उस राष्ट्र को उस समुदाय को याविहोत्रविद् कहेंगे। इस प्रकरण में सारे ही शब्द इस भावना को व्यक्त करने वाले हैं। दिन सब्द अर्थात् ध्वनि युक्त है, रात्रि सगरा अर्थात् शब्द को निगल जाने वाली है। दोनों से मिलकर दिवस बना। कृष्ण-शुक्ल पक्ष से मास, वह यवन अर्थात् मिश्रण करने वाला है अतः यव्य है। बारह मास ६ विरोधी ऋतुओं को एक करने वाले हैं। इसलिए संवत्सर का नाम सुमेक है। यही दुर्बल के प्रति सहानुभूति तथा उसके साथ सहयोग की भावना याविहोत्र प्रकरण का तात्पर्य है।

इति सप्तमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्।

अथ सप्तमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

यज्ञेन वै देवाः। दिवमुपोदक्रामन्नथ योऽयं देवः पशूनामीष्टे स इहाहीयत तस्माद्वास्तव्य इत्याहुर्वास्तौ हि तदहीयत ॥१॥

अब आगे स्विष्टकृत् आहुति का वर्णन होगा। स्विष्टकृत् का अर्थ है सु+इष्ट =उत्तम प्रकार यज्ञ किया गया। इसकी व्याख्या है यदस्य कर्मणो ऽत्यरीरिचम् यद्वा न्यूनमिहाकरम् अग्निष्टत् स्विष्टकृद्विद्यात् अर्थात् स्विष्ट वह है जो न्यून न हो, न अतिरिक्त। जितना निर्धारित नाप है। ठीक-ठीक उतना ही हो। सो प्रत्येक उद्योग धन्धे में एक भाग ऐसा होना चाहिए, जिसका काम किए हुए काम की पड़ताल करना हो तथा जो भल हो गई हो उसे दूर करना हो। उद्योग-धन्धों में इस विभाग का काम सबसे कड़वा है, यह न जाने कितनों को सताता है, इसलिए निरीक्षण करने वाले विभाग का नाम स्विष्टकृत् विभाग है। इसका काम है न्यूनता की पूर्ति, अतियोग तथा मिथ्यायोग की निवृत्ति। इसलिए इसे रुद्र विभाग कहा है। इसके लिए मनुष्य भी ऐसे चाहिए जो कल्पना की उड़ान लेने वाले न हों किन्तु वास्तविकता में रहते हों। इसीलिए रुद्र को वास्तव्य कहा है। वह देवलोक में उड़ता नहीं फिरता, किन्तु यज्ञ के वास्तु में—भवन में पृथ्वी लोक पर चक्कर काटता है, परन्तु उसका अधिकार है कि सब देवों की चलती गाड़ी को रोक दे। यही बात अगली कण्डिकाओं में कही गई है, देव लोग यज्ञ के सहारे द्यौः पर जमे। परन्तु यह जो देव पशुओं पर राज्य करता है यह पीछे इस लोक में ही रह गया। इसीलिए उस ब्राह्मण कहते हैं, क्योंकि वह वास्तु में (यज्ञ के भवन में) ही रह गया ॥१॥

यहाँ रुद्र को पशुपति कहा गया है। यह शब्द बड़ा मार्मिक है, पशु का अर्थ है द्रष्टा अर्थात् मनन-शक्ति नहीं किन्तु दर्शन-शक्ति से चलने वाला। सो निरीक्षण करने वाले को मनुष्यों की दर्शना का अध्ययन करना पड़ता है, क्योंकि मनुष्य अपनी त्रुटियों को उसी समय दिखाता है जब वह सोच विचार कर मननपूर्वक कार्य न कर रहा हो, किन्तु स्वेच्छया कार्य कर रहा हो। मनुष्य अपने आलस्य, प्रमाद धूर्तता आदि को मन के आवरण में छिपाता है। किन्तु दर्शना कहीं न कहीं फूट पड़ती है और वहाँ वह पकड़ा जाता है। इसीलिए रुद्र को पशुओं का राजा कहा है। जो लोग चाहते हैं कि उनके कार्य में भूलें न हों उन्हें चाहिए कि वे ठीक कार्य करने का इतना अधिक अभ्यास करें कि उनसे ठीक कार्य होने लगें। तब वे पशुपति की मार से बच जायेंगे। क्योंकि पशुपति को देवलोक की काल्पनिक गप्पों में नहीं बहलाया जा सकता। वह तो यज्ञ के सबसे ठोस भाग यज्ञ के वास्तु (भवन) में रहता है। संस्कृत में अब तक कल्पना

के विरोध में वस्तु-स्थिति का प्रयोग होता है। यह तो हुई कल्पना की बात, किन्तु वास्तु स्थिति इस प्रकार है सो वास्तु तथा वस्तु की एक ही धातु है, केवल एक मात्रा का भेद है। अब कण्डिका का अर्थ स्पष्ट है कि उमंग और जोश में लोग कार्य करते जाते हैं अपनी भूल न देख सकते हैं, न देखना चाहते हैं। किन्तु प्रत्येक संगठन में कुछ मनुष्य ऐसे होने चाहिएँ जिनका काम निरीक्षण हो। ये लोग बड़े बेदर्द होने चाहिए तथा वस्तु स्थिति से चिपटने वाले तथा मनुष्यों की पशुता के सूक्ष्म मर्मज्ञ होने चाहिएं यही बात प्रथम कण्डिका में कही गई है ॥१॥

स येनैव देवा दिवमुपोदक्रामन् । तेनोऽएवार्च्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुरथ योऽयं देवः पशूनामीष्टे य इहाहीयत ॥२॥

अब देव लोग जिसके सहारे देवलोक में अधिकार जमाने में समर्थ हुए थे, उसी के सहारे प्रभु-आराधना तथा श्रम करते हुए विचरने लगे। परन्तु यह देव जो पशुओं का अधीश्वर है यहीं पिछड़ा रहा ॥२॥

स ऐक्षत । अहास्य हान्तर्यन्त्यु मा यज्ञादिति सोऽनूच्चक्राम स आयतयोत्तरत उपोत्पेदे स एष स्विष्टकृतः कालः ॥३॥

तब वह सोचने लगा, भाई मैं तो पिछड़ गया। मुझे ये लोग यज्ञ में भाग ही नहीं देंगे। मैं यज्ञ भाग से वंचित किया जा रहा हूँ। सो वह भी लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ उत्तर दिशा से उनके पीछे ही पहुँचा और उस समय पहुंचा जब स्विष्टकृत् का समय था ॥३॥

यहाँ की उत्तर दिशा का भाव यह है कि साधारण जनता की विचारधारा क्योंकि कहा, "प्राची देवानां दिगुदीची मनुष्याणां शतः।" सो इस प्रकार के यथार्थवादी लोग भी संगठन के आवश्यक अंग हैं। परन्तु उनका लाभ तभी है जब वे किसी उत्तम संगठन के अंग बनें। देवों का भी लाभ ऐसे मनुष्यों को संगठन में रखने में है। यदि उन्हें साथ रक्खेंगे तो उन्हें वे त्रुटियों के गढ़े में गिरने से बचाते रहेंगे। नहीं तो साधारण जनता में विरोध की अग्नि भड़काकर न काम करने देंगे, न करेंगे। यही बात अगली कण्डिका में कही गई है ॥३॥

ते देवा अब्रुवन् । मा विस्रक्षीरिति ते वै मा यज्ञान्मान्तर्गताहुतिं मे कल्पयतेति स समबृहत्स नास्यत्स न कं चनाहिनत् ॥४॥

जब पशुपति उनके मार्ग में खड़ा हुआ तो वे देव लोग बोले, तू हमारे यज्ञ का विध्वंस मत कर। तब वह बोला, मुझे यज्ञ से बहिष्कृत मत करो। मेरे लिए भी भाग बनाओ। तब वे बोले, तथास्तु; तब वह फूल गया और तब उसने किसी को नहीं सताया ॥४॥

ते देवा अब्रुवन् । यावन्ति नो हवीꣳषि गृहीतान्यभूवन्त्सर्वेषां तेषाꣳ हुतमुपजानीत यथास्माऽआहुतिं कल्पयामेति ॥५॥

तब वे देव लोग बोले, हम अब जितने हवि उपयोग में ला चुके हैं उन्हीं में से कोई उपाय ढूँढ़ो, जिससे इसे भी दी जाय ॥५॥

इसका स्पष्ट भाव यह है कि यह भी निरीक्षण-विभाग है। इसका खर्च थोड़ा-थोड़ा सब विभागों पर उनके महत्त्वानुसार बाँट दिया जाना चाहिए ॥५॥

तेऽध्वर्युमब्रुवन् । यथापूर्वꣳ हवीꣳष्यभिघारयैकस्माऽअवदानाय पुनराप्यायायातयामानि कुरु तत एकैकमवदानमवद्येति ॥६॥

तब वे अध्वर्यु से बोले, पूर्ववत् हवियों का घृत से अभिघारण करो अर्थात् सब विभाग वालों को प्रेम से मनाओ कि एक-एक अवदान सब में लिया जाएगा फिर ध्रुवा का आप्यायन तथा हवि का क्षत्ताभ्यंग करे। और इस प्रकार हवि में से स्विष्टकृत् भाग लो ॥६॥

सोऽध्वर्युः। यथापूर्वꣳ हवीꣳष्यभ्यघारयदेकस्माऽअवदानाय पुनराप्याययद्यातयामान्यकरोत्तत एकैकमवदानमवाद्यत्तस्माद्वास्तव्य इत्याहुर्वास्तु हि तद्यज्ञस्य यद्धुतेषु हविःषु तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते सर्वत्रैव स्विष्टकृदन्वाभक्तः सर्वत्र ह्येवैनं देवा अन्वाभजन् ॥७॥

सो अध्वर्यु ने एक अवदान और करने के लिए पूर्ववत् फिर हवि का अभिघारण किया। फिर ध्रुवा का आप्यायन किया, फिर क्षत्ताभ्यंग किया। फिर सब में से एक-एक भाग तोड़ा, इसीलिए रुद्र को वास्तव्य कहते हैं। यह यज्ञ का वास्तव्य है कि जब यज्ञ की हवि हवन हो चुकती होती हैं, भाव यह है कि जो भाव वस्तुतः हो चुका वह अब कल्पना के क्षेत्र से निकल गया। वह वास्तविक हो गया। सो इसीलिए स्विष्टकृत् में बारम्बार अयाट् (यज्ञ किया जा चुका) शब्द का प्रयोग हुआ। आज्य भाग पुरोडाश उपांशु याज में यज्ञं यज था। यक्ष्ये था किन्तु अयाट् नहीं था। अब क्योंकि स्विष्टकृत् भाग हवि यज्ञ कर चुकने के पश्चात् लेते हैं इसीलिए जिस किसी देवता के नाम पर भी हवि लिया जाय स्विष्टकृत् का भाग सब में है, क्योंकि उसके लिए देवों ने सब हवियों में से भाग लिया।

सब विभागों से इस विभाग का व्यय बढ़ाना चाहिए, यह स्पष्ट कर चुके हैं। यही इस कण्डिका का अर्थ है ॥७॥

तद्वाऽअग्नयऽइति क्रियते। अग्निर्वै स देवस्तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते भव इति यथा वाहीकाः पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति तान्यस्याशान्तान्येवेतराणि नामान्यग्निरित्येव शान्ततमं तस्मादग्नयऽइति क्रियते स्विष्टकृतऽइति ॥८॥

यह आहुति ये यजामहेऽग्निं स्विष्टकृतम्" इस प्रकार की जाती है। पशुपतये रुद्राय, आदि नामों से नहीं की जाती क्योंकि इस विभाग का उद्देश्य निष्काम भाव से किसी को रुलाना तो नहीं है, किन्तु जिस संकल्प रूप अग्नि के लिए यज्ञ हो रहा है उसकी रक्षा ही है। इसलिए आहुति अग्नि के नाम पर ही होती है। और वह देव वस्तुतः अग्नि देव ही तो है। उसी के ये सब नाम हैं। प्राच्य लोग इसे शर्व्य कहते हैं। वाहीक लोग भव कहते हैं। पशुपति, रुद्र, अग्नि ये सब नाम उसके हैं परन्तु अन्य नाम अशान्त हैं। अग्नि यह नाम ही शान्ततम है, इसलिए अग्नये स्विष्टकृते इस प्रकार की आहुति की जाती है ॥८॥

ते होचुः। यत्त्वय्यमुत्र सत्ययक्ष्महि तन्नः स्विष्टं कुर्विति तदेभ्यः स्विष्टमकरोत्तस्मात्स्विष्टकृतऽइति ॥९॥

सो वे देव लोग कहते हैं कि हमने जो तुझ में हवन किया है उसे तू स्विष्ट (अन्यूनातिरिक्त) कर दे। तब वह उन सबको स्विष्टकृत् कर देता है। इसलिए अग्नि स्विष्टकृत् इस प्रकार यज्ञ में बोला जाता है ॥९॥

अब अगली कण्डिका को समझाने से पूर्व यहाँ विधि देते हैं। इस स्विष्टकृत् आहुति की विधि इस प्रकार है।

अध्वर्यु फिर दक्षिण पैर आगे रखकर हविः स्थान पर आकर बैठकर "अग्नये

स्विष्टकृतेऽनुब्रूहि" इस प्रकार का होता के प्रति प्रैष वाक्य बोले, तब होता प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरा नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ। त्वां शश्वन्त उपयान्ति वाजो३म्।।(ऋ० ७।१।३।) यह पुरोऽनुवाक्या पढ़े, तब अध्वर्यु जुहू में स्रुव द्वारा श्रृतावदान में एक बार घृत का उपस्तरण करे। आग्नेय तथा अग्नीषोमीय पुरोडाश के उत्तरार्ध में से (दर्शेष्टि में ऐन्द्राग्न पुरोडाश से)दो बार भाग तोड़कर दो बार आज्यस्थाली में क्षत्ताभ्यंग करे। उसके पीछे उठकर बायें पग से यजति स्थान पर जाकर ईशानाभिमुख हो खड़ा होकर "ओं श्रावय" इस प्रकार प्रैष वाक्य अग्नीध्र के प्रति बोले, फिर अग्नीत् अस्तु श्रौषट् यह वाक्य बोले, तब "अग्निं स्विष्टकृते यज" यह प्रैप होता के प्रति बोले, तब होता ये३यजामहे अग्निं स्विष्टकृतं मा या अग्निरग्नेः प्रिया धामान्ययाट् सोमस्य प्रिया धामान्ययाट्" (उपांशु) अग्नीषोमयोः (दर्शे विष्णोः) (उच्चः) प्रिया धामान्ययाट् अग्नीषोमयोः (दर्शेन्द्राग्न्योः) प्रिया धामान्ययाट् देवानामाज्यपानां प्रिया धामानि। यक्षदग्नेः होतु प्रिया धामानि यक्षत् स्वं महिमानमयजतामेज्या इषः कृणोतु सो अध्वरा जातवेदा जुषतां हविरितो अग्ने वीततमानि हव्याजस्रो वक्षि देवतातिमच्छ प्रति नई सुरभीणि व्यन्तु ३ वौषट्। यह निगद याज्या पढ़े और अन्य आहुतियों से बचाकर स्विष्ट कृत् आहुति करे फिर ओम् इदमग्नये स्विष्टकृते इदन्न मम। यह कह यजमान जल में त्याग करे। तब प्रणीता का उपस्पर्श करें।

सोऽनुवाक्यामनूच्य सम्पश्यति। ये तथाऽग्निꣳ स्विष्टकृतमयाडग्निरग्नेः प्रिया धामानीति तदाग्नेयमाज्यभागमाहायाट् सोमस्य प्रिया धामानीति तत्सौम्यमाज्यभाग-माहायाडग्नेः प्रिया धामानीति तद्य एष उभयत्राच्युत आग्नेयः पुरोडाशो भवति तमाह ।।१०।।

सो इस विधि में प्रेद्धो अग्निं दीदिहि, इस पुरोऽनुवाक्या के पाठ के पश्चात् याज्या के आरम्भ में ये यजामहे अग्निं स्विष्टकृतं मयाग्निरग्नेः प्रिया धामानि यहाँ से आरम्भ करके सम्पूर्ण मुख्य आहुतियों पर परिगणन पूर्वक दृष्टिपात किया गया, यहाँ यह स्पष्ट है कि यह यज्ञ भाग सारे पूर्व कृत यज्ञ भाग का निरीक्षण है, इसीलिए कहा कि अनुवाक्या बोलकर सम्पश्याति सारे यज्ञ का निरीक्षण करता है सो किस वाक्य में किस यज्ञांग का निर्देश है। यह आगे दिखाते हैं। जब कहा अयाग्नेः प्रिया धामानि, वह आग्नेय आज्य भाग का परिगणन किया। जब कहा अयाट् सोमस्य प्रिया। यह सौम्य आज्य भाग का परिगणन किया जो फिर कहा, अयाग्नेः प्रिया धामानि। तो यह जो दर्श पूर्णमास दोनों में न छूटने वाले आग्नेय पुरोडाश का परिगणन किया ।।१०।।

अथ यथादेवतम्। अयाड्देवानामाज्यपानां प्रिया धामानीति तत्प्रयाजानुयाजा-नाह प्रयाजानुयाजा वै देवा आज्यपा यक्षदग्नेर्होतुः प्रिया धामानीति तदग्निꣳ होतार माह तदस्माऽएतां देवा आहुतिं कल्पयित्वाथैनेनैतद्भूयः समशाम्यन्प्रियऽएनं धामन्नु-पाह्वयन्त तस्मादेवꣳ सम्पश्यति ।।११।।

फिर तो स्पष्ट ही है "अग्नीषोमयोः प्रिया धामानि" यह उपांशु यज्ञ का परि-गणन किया। इसीलिए इसका प्रयोग उपांशु होता है, फिर अयाग्नीषोमयोः प्रिया धामानि, यह अग्नीषोमीय पुरोडाश का परिगणन किया। (दर्शेष्टि में इन्द्राग्न्योः) इनमें स्पष्ट देवता का नाम-निर्देश है। इसलिए कहा, यथादेवतम्; फिर कहा, अयाड् देवानामाज्य-पानां प्रिया धामानि यह प्रयाजानुयाजों का नाम है, ये दोनों आज्यपा देव कहलाते हैं क्योंकि कार्य के आरम्भ में प्रेम द्वारा उत्तेजना की तथा अन्त में पारितोषिक द्वारा

प्रोत्साहन की आवश्यकता विशेष होती है। झाड़ झरट जो रुद्र कर्म है वह बीच में ही लेना चाहिए। फिर कहा, यक्षदग्नेर्होतुः प्रिया धामानि, यह होता अग्नि (सामिधेनी) का परिगणन किया। इस आहुति से देवों ने अग्नि को और अधिक सान्त्वन किया। उसके सब प्रिय धामों का वर्णन करके उसे वहाँ बुलाया। यह परिगणन का भाव है। तात्पर्य यह है कि निरीक्षण ऐसे ढंग से हो कि अग्नि और प्रदीप्त हो। यह नहीं कि परस्पर कलह से लड़कर मुख्य संकल्पाग्नि का नाश हो जाय ॥११॥

तद्धैके। देवतां पूर्वां कुर्वन्त्ययाट्कारादग्नेरयाट् सोमस्यायाडिति तदु तथा न कुर्याद्विलोम ह ते यज्ञे कुर्वन्ति ये देवतां पूर्वां कुर्वन्त्ययाट्कारादिदंꣳ हि प्रथममभिव्याहरन्नयाट्कारमेवाभिव्याहरति तस्मादयाट्कारमेव पूर्वं कुर्यात् ॥१२॥

इस क्रिया में कई लोग अयाट् से पहले देवता का उच्चारण करते हैं। अग्नेरयाट् सोमस्यायाट् इत्यादि किन्तु वैसा नहीं करना चाहिए। वे लोग उल्टा करते हैं जो अयाट् से पहले देवता का नाम लेते हैं, यहाँ नामोल्लेख में यही उचित है। अयाट्कार पहले बोला जाए, इसलिए अयाट् पहले बोला जाए। तात्पर्य यह है कि काम पहले नाम पीछे, यही देवों की पद्धति है। वह भी दूसरे के मुख से ॥१२॥

यक्षत्स्वं महिमानमिति। यत्र वाऽअदो देवता आवाहयति तदपि स्वं महिमानमावहयति तदतः प्राङ् नैव किं चन स्वाय महिम्नऽइति क्रियते तदत्र तं प्रीणाति तथो हास्यैषोऽमोघायावाहितो भवति तस्मादाह यक्षत्स्वं महिमानमिति ॥१३॥

उसके पश्चात् कहा, रक्षत स्वं महिमानम्। सो पहले अयाट्कारों में दूसरे देवताओं का परिगणन किया गया यद्यपि वह भी अग्नि का ही हवन है परन्तु स्विष्टकृत् अग्नि के नाम की आहुति अभी तक नहीं आई। सो यहाँ स्पष्ट कहा, "यजत स्वं महिमानम्।" इस प्रकार उसके कार्य अमोघ होते हैं और उनके लिए सावधान रहता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य को दूसरे की भलाई में अपने आपको बिल्कुल ही नहीं भूल जाना चाहिए क्योंकि अपनी उपेक्षा का अन्तिम परिणाम यह होता है कि मनुष्य दूसरों की भलाई के योग्य ही नहीं रहता। वृक्ष मुरझा जाएगा तो न दूसरों को छाया मिलेगी न फल ॥१३॥

आ यजतामेज्या इष इति। प्रजा वाऽइषस्ता एवैतद्यायजूकाः करोति ता इमाः प्रजा यजमाना अर्चन्त्यः श्राम्यन्त्यश्चरन्ति ॥१४॥

एज्या यज्ञ में सहायक इषः को यजन करो और इषः नाम प्रजाओं का है। सो इस वाक्य से उन्हें यायजूक बनाता है। तभी तो ये सब प्रजा यज्ञ कर्म में लगी हुई हैं। प्रभु-आराधना तथा श्रम में लगी हुई विचरती हैं। तात्पर्य यह है कि छोटे से छोटे प्रजाजनों की भी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। जहाँ तक यज्ञ में सहायक हैं सब ही यजनीय हैं। सभी पूजनीय हैं ॥१४॥

सोऽध्वरा जातवेदा जुषताꣳ हविरिति। तद्यज्ञस्यैवैतत्समृद्धिमाशास्ते यद्धि देवा हविर्जुषन्ते तेन हि महज्जयति तस्मादाह जुषताꣳ हविरिति ॥१५॥

सो हमारा यह अध्वर जिसमें किसी देवता, यज्ञ व किसी प्रजा की हिंसा नहीं होती, हर प्रकार के पदार्थ को प्राप्त हो और हवि से प्रीति को प्राप्त हों। सो यह जो कहा, सो अध्वरा जातवेदा जुषतां हविः। यह यज्ञ की समृद्धि के लिए आशीर्वचन है। जब देवों को ठीक हवि मिलती है तो उससे यजमान बहुत जीत को प्राप्त होता है। इसलिए कहा, "जुषतां हविः" ॥१५॥

तद्यदेतेऽत्र । याज्यानुवाक्ये ऽअवक्लृप्ततमे भवतस्तृतीयसवनं वै स्विष्टकृद्वैश्व-देवं वै तृतीयसवनं पिप्रीहि देवां २॥ ऽउशती यविष्ठेति तदनुवाक्यायै वैश्वदेवमग्ने यदद्य विशोऽध्वरस्य होतरिति तद्याज्यायै वैश्वदेवं तद्यदेतेऽएवꣳरूपे भवतस्तेनोऽएते तृतीय-सवनस्य रूपं तस्माद्वाऽएतेऽत्र याज्यानुवाक्येऽ अवक्लृप्ततमे भवतः ॥१६॥

सो इस स्विष्टकृत् याग में जो याज्यानुवाक्या है वे अत्यन्त उपयुक्त हैं। यह स्विष्टकृत् याग सोम याग के तृतीय सवन के समान महत्त्व रखता है। तृतीय सवन के देवता 'विश्वे देवा' हैं जो यहाँ भी अनुवाक्या में "पिप्रीहि देवां उशती यविष्ठेति" यह देवान् बहुवचन पढ़ा है, यदद्य विशो अध्वरस्य होतः में विशः बहुवचन पढ़ा है। यह याज्या का वैश्वदेव रूप हुआ। सो दोनों सोमयाग के तृतीय सवन के समान हुईं और यह तृतीय सवन का रूप हुआ। इसीलिए यह याज्याऽनुवाक्या यहाँ उपयुक्त हुई। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार सोमयाग के तृतीय सवन में यह दिखाया है कि हर एक स्नातक शिक्षा के पश्चात् जब तक विनय में से नहीं गुजर ले तब तक परिपूर्ण नहीं होता। इसी प्रकार यहाँ पूर्व देवताओं का याग जब तक स्विष्टकृत् की पड़ताल से न गुजर ले परिपूर्ण नहीं होता और जैसे विनयन हर विभाग के लिए आवश्यक है। इसलिए ये दोनों वैश्वदेव हैं ॥१६॥

ते वै त्रिष्टुभौ भवतः। वास्तु वा ऽ एतद्यज्ञस्य यत्स्विष्टकृदवीर्य्यं वै वास्त्वि-न्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुबिन्द्रियमेवैतद्वीर्यं वास्तौ स्विष्टकृति दधाति तस्मात्त्रिष्टुभौ भवतः ॥१७॥

वे दोनों (याज्या तथा अनुवाक्या) त्रिष्टुप् छन्द से की जाती हैं क्योंकि स्विष्ट-कृत् जो है वह यज्ञ का निवास स्थान है, निवास-स्थान निर्वीर्य है अर्थात् जब तक उस में कोई रहने वाला न हो तब तक निरर्थक है। बसने वाले के बिना उसकी कोई सत्ता नहीं। सो इन्द्रिय अर्थात् इन्द्रशक्ति वीर्य का रूप है और त्रिष्टुप् इन्द्र का छन्द है। सो इस प्रकार स्विष्टकृत् रूप निर्वीय निवास-स्थान है। इन्द्रिय रूप वीर्य की स्थापना करता है। इसलिए दोनों त्रिष्टुप् होती हैं। तात्पर्य यह कि जो हर कार्य के लिए निर्धारित उपक्रम हो उसी के अनुसार उसका उपसंहार होना चाहिए। और त्रिष्टुप् छन्द से अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार हर इन्द्रिय गोलक की बनावट उसके उद्देश्य पूर्ति के लिए ठीक बनी होनी है, इसी प्रकार हर विभाग के निर्धारित कार्यक्रम तथा उसके कार्य में परस्पर सम्बन्ध होना चाहिए। जिससे वह हर विभाग के निर्धारित उपक्रम के पालन करने तथा व्यतिक्रम न करने का आदेश दे सके तो यह अधिकार यहाँ त्रिष्टुप् छन्द से सूचित किया गया है। इसलिए याज्या अनुवाक्या दोनों त्रिष्टुप् हैं ॥७॥

उतो ऽ अनुष्टुभावेव भवतः। वास्त्वनुष्टुब्वास्तु स्विष्टकृद्वास्तावेवैतद्वास्तु दधाति पेसुकं वै वास्तु पिस्यति ह प्रजया पशुभिर्यस्यैवं विदुषोऽनुष्टुभौ भवतः ॥१८॥

अथवा दोनों में अनुष्टुप् छन्द भी प्रयोग किया जा सकता है। अनुष्टुप् छन्द का भाव है वाणी द्वारा सलाह देना (वाग्या अनुष्टुप्) सो निरीक्षण विभाग के विषय में दो मत हैं। कइयों की सम्मति में निरीक्षण-विभाग को उपक्रम, उपसंहार दोनों विभागों को आदेश देने का अधिकार होना चाहिए। कइयों का मत है कि आदेश नहीं केवल निर्देश देने का अधिकार होना चाहिए। सो इसमें जिसको जिसमें सुविधा हो वैसा करें अनुष्टुप् भी वास्तु अर्थात् निवास-स्थान है। स्विष्टकृत् भी निवास-स्थान है। सो

निवास-स्थान की ठीक एक पर दूसरी मंजिल बनाता है। सो इसका मर्म जानने वाले जिस यजमान की याज्यानुवाक्या दोनों अनुष्टप् होती हैं। पर वह प्रजा पशु आदि से सुशोभित (पेसुक) रहता है।

भाव यह कि निरीक्षण-विभाग चाहे तो आज्ञा द्वारा दोनों विभागों का संचालन करे, चाहे घरेलू (वास्तु) जैसी भावना से यह कार्यकर्त्ताओं की मानसिक अवस्था पर निर्भर है। जहाँ साधारण कार्यकर्त्ता हों तथा शीघ्र कार्य करना हो वहाँ त्रिष्टुप् छन्द (क्षत्रं त्रिष्टुप्) से काम ले। जहाँ बहुत सुशिक्षित कार्यकर्त्ता हो वहाँ अनुष्टुप् से ॥१८॥

तदु ह भाल्लवेयः। अनुष्टुभमनुवाक्यां चक्रे त्रिष्टुभं याज्यामेतदुभयं परिगृह्णामीति स रथात्पपात सपतित्वा बाहुमीपि शश्रे स परिममृशे यत्किमकरं तस्मा दिदमापदिति स हैतदेव मेने यद्विलोम यज्ञेऽकरमिति तस्मान्न विलोम कुर्य्यात्सछन्दसावेव स्यातामुभे वैवानुष्टुभाऽउभे वा त्रिष्टुभौ ॥१६॥

किन्तु एक ध्यान रखना चाहिए याज्यानुवाक्या दोनों में एक-सा व्यवहार होना चाहिए। चाहे त्रैष्टुप चाहे आनुष्टुप इसी पर एक ऐतिहासिक प्रमाण देते हैं। सो वह जो भाल्लवेय था उसने अनुवाक्या में अनुष्टुप् (भाई चारा घरेलू व्यवहार) का प्रयोग किया। याज्या में त्रिष्टुप् का। एक में दोनों विधियों का संग्रह कर लूँ, यह उसका भाव था। सो वह रथ से गिर पड़ा किन्तु उसने गिरते-गिरते बांह के सहारे अपने आपको संभाल लिया। सो वह सोचने लगा, मैंने कहाँ भूल की जिससे यह बुरा परिणाम आ पड़ा। तब उसकी समझ में आया कि मैंने विलोमता कर डाली। इसलिए विलोमता न करे। याज्यानुवाक्या दोनों का एक छन्द हो या दोनों त्रिष्टुप् हों या अनुष्टुप् भाव यह है कि भुजा के बल से भाल्लवेय ने कार्यकर्त्ताओं को दबा तो लिया किन्तु उसे अपनी शक्ति नष्ट करनी पड़ी। अगर अनुवाक्या वालों जैसा व्यवहार याज्या वालों के साथ होता तो झगड़ा क्यों होता। इसलिए याज्यानुवाक्या दोनों का एक छन्द होना चाहिए। चाहे दोनों त्रिष्टुप् हो चाहे दोनों अनुष्टुप् हों ॥१६॥

स वा ऽ उत्तरार्धादवद्यति। उत्तरार्धे जुहोत्येषा ह्येतस्य देवस्य दिक्तस्मादुत्तरार्धादवद्यत्युत्तरार्धे जुहोत्येतस्यै वै दिश उदपद्यत तं तत एवाशमयंस्तस्मादुत्तरार्धादवद्यत्युत्तरार्धे जुहोति ॥२०॥

सो स्विष्टकृत् के लिए अवदान उत्तरार्ध में से लेता है और उत्तरार्ध में ही इसका हवन करता है। यही इस देव स्विष्टकृत् अग्नि की दिशा है। इसी दिशा से यह उत्पन्न हुआ। वहीं से उसे शान्त किया। इसलिए उत्तरार्ध में से लेकर उत्तरार्ध में हवन करता है। पहले कह आए हैं कि प्राची वै देवानां दिगुदीची मनुष्याणाम् सो उत्तर दिशा का भाव हुआ लोकमत और कण्डिका का भाव यह हुआ कि निरीक्षण-विभाग वालों को वस्तुस्थिति का सबसे अधिक ज्ञान साधारण लोगों से मिलेगा। और लोकमत की संतुष्टि के लिए ही यह विभाग कार्य करता है। जब किसी विभाग में कोई गड़बड़ी होती है तो धीरे-धीरे उसके विरुद्ध लोकमत में आन्दोलन होता है और इसलिए निरीक्षण-विभाग बनाना पड़ता है और जब पड़ताल करके निष्पक्षपात निरीक्षक किसी कार्य को प्रमाणित कर दें तो लोकमत शान्त हो जाता है। यही इस कण्डिका का भाव है।

सो वह अध्वर्यु इस स्विष्टकृत् आहुति को अन्य आहुतियों से बचाकर आहुति

करता है। क्योंकि अन्य आहुतियों से पशु उत्पन्न होते हैं, किन्तु स्विष्टकृत् रुद्र की आहुति है। सो पशुओं को रुद्र की मार मे डाल दें, यदि वह अन्य आहुतियों से सटाकर हवन करे। तब इसके घर से पशु मुरझाये हुए भाग निकलें। इसलिए इस आहुति को अन्य आहुतियों से परे हटाकर आहुति करे।

स वा ऽ अभ्यर्धऽ—इवेतराभ्य आहुतिभ्यो जुहोति। इतरा आहुतीः पशवोऽनुप्रजायन्ते रुद्रियः स्विष्टकृद्रुद्रियेण पशून्प्रसजेद्यदितराभिराहुतिभिः सꣳसृजेत्तेऽस्य गृहाः पशव उपमूर्य्यमाणा ईयुस्तस्मादाभ्यर्धऽइवेतराभ्य आहुतिभ्यो जुहोति ॥२१॥

भाव यह कि निरीक्षण-विभाग वाले बड़ी निर्दयता से दोनों को ढूंढ़ निकालते हैं। यह उनका कर्त्तव्य ही है, किन्तु उन्हें वच्चे से तथा कार्यकर्त्ताओं से दूर रखना चाहिए नहीं तो उनकी कठोर आलोचना सुनकर सव की उमंगें मर जायेंगी और वे भाग निकलेंगे। यजमान का कार्य है कि स्विष्टकृत् विभाग की वताई बातों को इस रूप से उपस्थित करे कि उससे अग्नि की वृद्धि हो। इसीलिए स्विष्टकृत् को रुद्र न कहकर अग्नि इस शान्ततम नाम से याद किया है ॥२१॥

एष वै स यज्ञः। येन तद्देवा दिवमुपोदक्रामन्नेष आहवनीयोऽथ य इहाहीयत स गार्हपत्यस्तस्मादेतं गार्हपत्यात्प्राञ्चमुद्धरन्ति ॥२२॥

यह यज्ञ जिससे देव लोग द्योः तक पहुँचे वह यही है। यह आहवनीय ही वह यज्ञ है और यहाँ रह गया था सो गार्हपत्य है। इसलिए इसे अर्थात् आहवनीय को गार्हपत्य से पूर्व दिशा में गार्हपत्य से अंगारा लेकर स्थापित करते हैं।

भाव यह है कि गार्हपत्य अर्थात् कुल परम्परा का काम तो इतिहास के रूप में मार्ग दिखाना तथा जोश उत्पन्न करना है वह भूतकाल का प्रतिनिधि है। किन्तु देव लोक तक पहुँचाने की सामर्थ्य तो आहवनीय में है जो वर्तमान उद्योग का प्रतिनिधि है जिसके विना केवल भूतकाल का गीत गाने वाला जहाँ का तहाँ ही पड़ा रह जाता है तनिक भी आगे नहीं वढ़ पाता है ॥२२॥

तं वा ऽ अष्टासु विक्रमेष्वादधीत। अष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्र्यैवैतद्दिवमुपोत्क्रामति ॥२३॥

सो कई लोग कहते हैं कि उसे गार्हपत्य से आठ पग पूर्व की ओर रक्खे क्योंकि गायत्री के आठ अक्षर हैं, सो गायत्री केवल से देवलोक तक पहुँचता है ॥२३॥

एकादशस्वादधीत। एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्त्रिष्टुभैवैतद्दिवमुपोत्क्रामति ॥२४॥

कोई कहते हैं ग्यारह कदमों पर रक्खे क्योंकि त्रिष्टुप् ग्यारह अक्षरों का होता है। सो यह त्रिष्टुप् द्वारा देव लोक तक उठता है ॥२४॥

द्वादशस्वादधीत। द्वादशाक्षरा वै जगती जगत्यैवैतद्दिवमुपोत्क्रामति नात्र मात्राऽस्ति यत्रैव स्वयं मनसा मन्येत तदादधीत स यद्वाऽअप्यल्पकमिव प्राञ्चमुद्धरति तेनैव दिवमुपोत्क्रामति ॥२५॥

कई लोग कहते हैं कि वारह कदमों पर क्योंकि जगती छन्द वारह अक्षरों वाला होता है सो यह जगती छन्द के सहारे देवलोक की ओर उठता है। सो याज्ञवल्क्य का मत है कि इसमें मात्रा कोई नहीं। जहाँ उचित समझे आधान कर दें। अगर वह थोड़ा सा भी पूर्व की ओर ले जाता है। जाने से ही देवलोक तक पहुँच जाता है।

तात्पर्य यह कि यद्यपि स्विष्टकृत् भी जातविद्यां वदति भूतकाल का निरीक्षण है, फिर भी वह इतिहास के समान केवल निर्देश मात्रोपयोगी नहीं। उसका उपयोग तो

वर्तमान पुरुषों के निग्रह तथा अनुग्रह में होता है। इसलिए उसे गार्हपत्य से पृथक् मात्र करना अभीष्ट हे। इसमें मात्रा कोई नहीं ॥२५॥

तदाहुः। आहवनीये हवी७ँषि श्रपयेयुरतो वै देवा दिवमुपोदक्रामंस्तेनोऽएवार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तस्मिन्हवी७ँषि श्रपयाम तस्मिन्यज्ञं तनवामहाऽ इत्यपस्खल—इव ह स हविषां यद्गार्हपत्ये श्रपयेयुर्यज्ञ आहवनीयो यज्ञे यज्ञं तनवामहाऽइति ॥२६॥

अव हविः पाक कहाँ करना इस विषय में विचार करते हैं। कई लोगों का मत है आहवनीय में ही पाक करे। यहाँ से ही देव लोग देवलोक तक उठ पहुँचे और उससे ही पुरुषार्थ करते हुए तथा भगवान् की अर्चना करते हुए विचरते रहे। इसमें ही हविः पकावें, इसमें ही यज्ञ करें, किन्तु यह तो यज्ञ का कुछ मार्ग स्खलित करना सा होगा कि गार्हपत्य में हवि पाक करें, आहवनीय स्वय यज्ञ रूप है सो यज्ञ में ही यज्ञ करेंगे ॥२६॥

उतो गार्हपत्यऽएव श्रपयन्ति। आहवनीयो वाऽएष न वाऽएष तस्मै यदस्मिन्नश्रृत७ँ श्रपयेयुस्तस्मै वाऽएष यदस्मिञ्छृतं जुहुयुरित्यतो यतरथा कामयेत तथा कुर्यात् ॥२७॥

फिर कई लोग गार्हपत्य में ही हविः पाक करते हैं। उनका कहना है कि यह जो आहवनीय है सो इस काम के लिए नहीं कि यहाँ अपक्व को पकावें। यह तो इसलिए है कि इसमें पक्व को हवन करें, इसमें याज्ञवल्क्य का मत है कि इसमें कोई बन्धन नहीं जैसा उचित समझें कर लें॥

भाव यह कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि, जिस अग्नि का चुनाव बालक करता है वह घर में हो अथवा यह चुनाव भी गुरुकुल में हो। याज्ञवल्क्य कहते हैं, जैसी सुविधा हो वैसा कर लें, हविः पाक (चुनाव आवश्यक है) घर में हो, वा गुरुकुल में इसमें कोई बन्धन नहीं ॥२७॥

स हैष यज्ञ उवाच। नग्नताया वै बिभेमीति का तेऽनग्नतेत्यभित एव मा परिस्तृणीयुरिति तस्मादेतदग्निमभितः परिस्तृणन्ति तृष्णाया वै बिभेमीति का ते तृप्तिरिति ब्राह्मणस्यैव तृप्तिमनुतृप्येयमिति तस्मात्स७ँस्थिते यज्ञे ब्राह्मणं तर्प्पयितवै ब्रूयाद्यज्ञमेवैतत्तर्प्पयति ॥२८॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [७. ३.] ॥

सो वह यज्ञ बोला, मैं नग्नता से डरता हूँ। तब उससे पूछा तेरी अनग्नता कैसे होगी? तब वह बोला, मुझे चारों तरफ से परिसरण करो। इसलिए इस अग्नि का चारों तरफ से परिसरण करते हैं। तात्पर्य यह कि एकभावना से एक संगठन में दीक्षित लोगों की वस्त्र-भूषा, निवासादि एक समान तथा अन्य लोगों से पृथक् होना चाहिए और वह अपने संगठन के विचारों से घिरे होने चाहिए। फिर यज्ञ बोला, मैं प्यास से डरता हूँ, तब उससे पूछा कि तेरी प्यास कैसे बुझे, तेरी तृप्ति कैसे हो, वह बोला कि ब्राह्मण की तृप्ति से मेरी तृप्ति होती है। इसलिए यज्ञ की समाप्ति पर ब्राह्मण को तृप्त करने को कहे, इससे यज्ञ का तर्पण होता है।

तात्पर्य यह कि राष्ट्र के हरेक कार्य का अन्तिम लक्ष्य ज्ञान-वृद्धि अवश्य होना चाहिए, वह तभी हो सकता है जब हर कार्य में से विद्या की उन्नति में लगे ब्राह्मणों का तर्पण हो।

इसका स्विष्टकृत् प्रकरण में वर्णन इसलिए है कि निरीक्षण करने वाले का कर्त्तव्य इन दो बातों का मुख्य रूप से देखना है कि कार्यकर्त्ता लोग तथा विद्वान् लोग तृप्त हैं वा नहीं ॥२८॥

इति सप्तमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्।

अथ सप्तमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्

प्रजापतिर्ह वै स्वां दुहितरमभिदध्यौ । दिवं वोषसं वा मिथुन्यनेया स्यामिति ताᳮ सम्बभूव ॥१॥

अब अगले प्रसंग को समझने के लिए पहले अगली विधि समझ लेनी चाहिए । स्विष्टकृत् आहुति के अनन्तर अध्वर्यु स्फ्य का सहारा देकर उपभृत् को प्रस्तर पर उसके (जुहू के) पीछे रखकर स्फ्य को लेकर प्रणीता के जल से अनुयाज के संचर (हवन की आहुति देने के लिए जाने का मार्ग) को अभ्युक्षण करके प्राशित्र-हरण-पात्र में प्राशित्र का अवदान करे। उसकी रीति यह है कि प्राशित्र-हरण पात्र को बाएं हाथ में लेकर आज्यस्थाली में से घृत लेकर उसका (प्राशित्रहरण पात्र में) उपस्तरण करके (हवि रखने से पहले जो घृत-पात्र में डाला जाता है उसे उपस्तरण अर्थात् बिछौना कहते हैं) करके आग्नेय पुरोडाश के मस्तक भाग अर्थात् उपरिभाग में से यव मात्र भाग दो बार लेकर फिर अग्नीयषोमीय पुरोडाश में से (दर्शेष्टि में ऐन्द्राग्न पुरोडाश में से) यवमात्रा दो वार लेकर प्राशित्र-हरण में रखकर आज्यस्थाली में से दो बार घृत लेकर स्रुव द्वारा घृत अवधारण करें फिर प्राशित्रपात्र को द्वितीय पात्र से ढक कर पूर्व अभ्युक्षित संचर मार्ग से आकर वह प्राशित्र ब्रह्मा को देकर आचमन करे । क्योंकि प्राशित्र रुद्रिय कर्म है । उधर ब्रह्मा अध्वर्यु द्वारा समर्थमाण प्राशित्र को '**ओं मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्षे**" इस वाक्य द्वारा दर्शन करे, फिर देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि । इस मन्त्र से अञ्जलि से प्रतिग्रहण करके ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे । इस मन्त्र द्वारा अनामिका तथा अंगुष्ठद्वारा पात्र में से प्राशित्र भाग लेकर ओं अग्नेष्ठा स्थ न प्राश्नामि । इस मन्त्र द्वारा दांतों से स्पर्श न करता हुआ प्राशित्र का भोजन करें । फिर आचमन कर के प्राशित्र-हरण के पात्रों को जल से उत्कर प्रदेश में प्रक्षालन करके ओं या अस्वन्न देवता स्मा इदं शमयन्तु स्वाहा कृतं जठरमिन्द्रस्य गच्छ घसिनां मे मा सम्पृक्था ऊर्ध्वं मे नाभेः सेदिन्द्रस्य त्वा जठरे सादयामि । इस वाक्य से नाभि-स्पर्श करके जलोपस्पर्शन करे। इस प्राशित्रावदान तथा भक्षण की व्याख्या शतपथ में इस प्रकार आरम्भ होती है—

प्रजापति के हृदय में अपनी पुत्री के प्रति ध्यान उत्पन्न हुआ कि मैं इसके साथ मैथुन करूं । वह पुत्री चाहे द्यौः समझ लो चाहे उषा (इससे स्पष्ट है कि यह वर्णन आलंकारिक है) सो उसने उसके साथ संभोग किया ॥१॥

तद्वै देवानामाग आस । य इत्थᳮ स्वां दुहितरमस्माकᳮ स्वसारं करोतीति ॥२॥

सो यह (देवों की दृष्टि में) बड़ा अपराध हुआ (वे बोले) कि देखो यह हमारी बहिन और अपनी पुत्री के साथ इस प्रकार व्यवहार करता है ॥२॥

ते ह देवा ऊचुः । योऽयं देवः पशूनामीष्टेऽतिसन्धं वा ऽ अयं चरति य इत्थंᳩ स्वां दुहितरमस्माकᳩ स्वसारं करोति विध्येममिति तᳩ रुद्रोऽभ्यायत्य विव्याध तस्य सामि रेतः प्रचस्कन्द तथेन्नूनं तदास ।।३।।

सो वे देव इस देव से जो पशुओं का स्वामी है बोले कि (प्रजापति) बड़ा अत्याचार करता है कि जो अपनी पुत्री और हमारी बहिन के साथ इस प्रकार व्यवहार करता है सो इस पर प्रहार कर । तब रुद्र ने उस पर आक्रमण करके प्रहार किया । इससे उसका वीर्य अधूरे में स्खलित हो गया (अर्थात् बाहर हो गया) सो यह बात इस प्रकार हुई ।।३।।

तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् । पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेत सञ्जग्मानो निषिञ्चदिति तदाग्निमारुतमित्युक्थं तस्मिंस्तद्व्याख्यायते यथा तद्देवा रेतः प्रजानयंस्तेषां यदा देवानां क्रोधो व्यैदथ प्रजापतिमभिषज्यंस्तस्य तᳩ शल्यं निरकृन्तन्त्स वै यज्ञ एव प्रजापतिः ॥४।।

सो इसकी व्याख्या (अनुवचन) (नाभानेदिष्ठ मानव नामक) ऋषि ने (ऋग्वेद दशम काण्ड के अग्निमारुत नामक सूक्त) पिता यत् स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेतः संजग्मानो निषिञ्चत् । स्वाध्यो जनयत् ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन् ।। इस मंत्र में की गई है कि किस प्रकार देवों ने उस वीर्य को भी प्रजनन के योग्य बना दिया । जब उन देवों का क्रोध उतर गया तो उन्होंने प्रजापति की भी चिकित्सा की । उस पर जो रुद्र ने प्रहार किया हुआ था उसे बाहर निकाला । सो वस्तुतः वह प्रजापति यज्ञ ही है ।।४।।

ते होचुः । उपजानीत यथेदन्नामुयासत्कनीयो हाहुतेर्यथेदᳩ स्यादिति ।।५।।

वे बोले कि कोई ऐसा उपाय निकालो कि यह स्खलित वीर्य) व्यर्थ न जावे । यह आहुति के लिए बड़ी हीनता की बात है कि वह इस प्रकार हो (अर्थात् व्यर्थ जावे ।।५।।

ते होचुः । भगायैनद्दक्षिणत आसीनाय परिहरत तद्भगः प्राशिष्यति तद्यथाहुतमेवं भविष्यतीति तद्भगाय दक्षिणत आसीनाय पर्याजह्रुस्तद्भगोऽवेक्षांचक्रे तस्याक्षिणी निर्ददाह तथेन्नूनं तदास तस्मादाहुरन्धो भग इति ॥६॥

तब वे बोले कि इसे दक्षिण दिशा में बैठे भगदेवता को दे दो । इसे भग खा लेगा, सो वह ऐसा ही हो जायेगा मानो यज्ञ में हवन कर दिया गया । सो वे उसे दक्षिण दिशा में बैठे हुए भग देवता के पास ले आए, सो उसे भग देवता ने देखा सो उसने भग देवता की आँखें जला दीं । सो यह बात इसी प्रकार हुई और इसीलिए कहते हैं भग देवता अन्धा है ।।६।।

ते होचुः । नो न्वेवात्राशमत्पूष्णऽएनत्परिहरतेति तत्पूष्णे पर्याजह्रुस्तत्पूषा प्राशतस्य दतो निर्जघान तथेन्नूनं तदास तस्मादाहुरदन्तकः पूषेति तस्माद्यं पूष्णे चरुं कुर्वन्ति प्रपिष्टानामेव कुर्वन्ति यथादन्तकायैवम् ।।७॥

तब वे बोले यह यहाँ तो शान्त नहीं हुआ । इसे पूषा देवता को ले जाकर दो सो वे पूषा के पास लाए । उसे पूषा ने खाया सो उसने उसके दांत तोड़ दिये, सो यह इसी प्रकार तो हुआ । इसी से तो कहते हैं कि पूषा के दांत नहीं होते । इसीलिए पूषा के लिए जो चरु बनाया जाता है, वह पिट्ठी का ही बनाया जाता है । जैसी वस्तु कि बेदांत वाले के लिए बनाई जाती है, ऐसी पिट्ठी का ।।७।।

ते होचुः । नो न्वेवात्राशमद्बृहस्पतयऽएनत्परिहरतेति तद्बृहस्पतये पर्याजह्रुः स बृहस्पतिः सवितारमेव प्रसवायोपाधावत्सविता वै देवानां प्रसवितेदम्मे प्रसुवेति तदस्मै सविता प्रसविता प्रासुवत्तदेनꣳ सवितृप्रसूतं नाहिनत्ततोऽर्वाचीनꣳ शान्तं तदेतन्निदानेन यत्प्राशित्रम् ॥८॥

सो वे बोले कि यह यहाँ भी शान्त नहीं हुआ, इसे बृहस्पति के पास ले चलो। सो वह बृहस्पति के पास ले गये सो वह सविता के पास नियम बनवाने के लिए पहुँचा क्योंकि सविता ही देवों को आज्ञा देने वाला है। सो उसे (बृहस्पति को) सविता ने आज्ञा दी कि हाँ तुम खा लो, सो सविता से आज्ञा पाये हुए उस बृहस्पति को उसने कुछ हानि नहीं पहुँचाई। और उस दिन से लेकर यह शान्त है। और यही इस प्राशित्र का निदान (मूल) है ॥८॥

स यत्प्राशित्रमवद्यति । यदेवात्राविद्धं यज्ञस्य यद्रुद्रियं तदेवैतन्निर्मिमीतेऽथाप उपस्पृशति शान्तिरापस्तदद्भिः शमयत्यथेडां पशूनसमवद्यति ॥९॥

सो यह जो प्राशित्रावदान लेता है सो यज्ञ में जो कुछ खण्डित होता है और जो भी रुद्र के अधिकारगोचर होता है उसी का पुनर्निर्माण करता है, फिर जल का उपस्पर्शन करता है सो जल शक्ति रूप है इसलिए जल से उसे शान्त करता है। उसके पश्चात् इडा का अवदान करता है जो पशु रूप है ॥९॥

स वै यावन्मात्रमिवैवावद्येत् । तथा शल्यः प्रच्यवते तस्माद्यावन्मात्रमिवैवाद्येदन्यतरत ऽआज्यं कुर्य्यादधस्ताद्वोपरिष्टाद्वा तथा खदन्निःसरणवद्भवति तथा निस्रवति तस्मादन्यतरत आज्यं कुर्य्यादधस्ताद्वोपरिष्टाद्वा ॥१०॥

सो वह उसमें से थोड़ा-सा ही तोड़े। इस प्रकार का शल्य जल्दी बाहर निकल आता है (गहरा गड़ा हुआ निकलना कठिन है। इसलिए थोड़ा-सा ही तोड़े उसके नीचे ऊपर घृत करे। इस प्रकार करने से गड़ने वाला कठोर पदार्थ (खद स्थर्ये) सुगमता के निकलने वाला हो जाता है और निकल जाता है। इसलिए दोनों ओर घृत रक्खे ऊपर भी नीचे भी ॥१०॥

स आज्यस्योपस्तीर्य । द्विर्हविषोऽवदायाथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयति तद्यथैव यज्ञस्यावदानमेवमेतत् ॥११॥

सो वह पहले घृत का उपस्तरण करके हवि में से (पुरोडाश में से) दीवार तोड़ कर फिर ऊपर से घृत का अभिघारण करता है सो घृत में से जिस प्रकार (चार वार) अवदान होता है उसी प्रकार यह भी (चार वार) हो गया ॥११॥

तन्न पूर्वेण परिहरेत् । पूर्वेण हैके परिहरन्ति पुरस्ताद्वै प्रत्यञ्चो यजमानं पशव उपतिष्ठन्ते रुद्रियेण ह पशून्प्रसजेद्यत्पूर्वेण परिहरेत्तेऽस्य गृहाः पशव उपमूर्य्यमाणा ईयुस्तस्मादित्येव तिर्यक्प्रजिहति तथा ह रुद्रियेण पशून्न प्रसजति तिर्यगेवैनं निर्मिमीते। ।१२॥

यह (प्राशित्र भाग) पूर्व दिशा से न लेना चाहिए। कई लोग पूर्व की ओर से ले जाते हैं क्योंकि पशु लोग (प्राङ्मुख) यजमान के सामने (पश्चिमाभिमुख) हो कर आते हैं सो यदि पूर्व से ले जाएगा तो उधर से ही पशु आते हैं। सो पशुओं का रुद्र के साथ सम्पर्क करा देगा। सो इसके घर से पशु मरिपल से होकर निकल जाते हैं। इसलिए उधर से थोड़ा बचाकर ले जावें। इससे फिर पशुओं को रुद्र सम्पर्क से बचा लेता है। इसलिए उसका संचर मार्ग पृथक् ही बनाता है ॥१२॥

तत्प्रतिगृह्णाति । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामीति ।।१३।।

सो उस को ग्रहण करते समय वाक्य बोलता है । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्वाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रति गृह्णामि ।।१३।।

तद्यथैवादो बृहस्पतिः । सवितारं प्रसवायोपधावत्सविता वै देवानां प्रसवितेदं मे प्रसुवेति तदस्मै सविता प्रसविता प्रासुवत्तदेनꣳ सवितृप्रसूतं नाहिनदेवमेवैष एतत्सवितारमेव प्रसवायोपधावति सविता वै देवानां प्रसवितेदं मे प्रसुवेति तदस्मै सविता प्रसविता प्रसौति तदेनꣳ सवितृप्रसूतं न हिनस्ति ।।१४।।

सो जिस प्रकार पहले कह आये हैं कि वृहस्पति सविता के पास आज्ञा प्राप्त करने के लिए आया कि हे सविता क्योंकि आप देवों के आज्ञा-प्रदाता हैं इसलिए मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं इसे (प्राशित्र भाग को) खा लूं सो सविता ने उसे आज्ञा दे दी । सो सविता से आज्ञा पाये हुए उस को इस प्राशित्र ने कोई हानि नहीं पहुँचाई । इसलिए यहाँ भी सविता के पास ही आज्ञा लेने के लिए आता है । क्योंकि सविता देवों का आज्ञादाता है सो उससे कहता है मुझे इस विषय में आज्ञा दीजिए । तब सविता उसे आज्ञा देता है । सो सविता से आज्ञा पाये हुए उसको (ब्रह्मा को) यह (प्राशित्र भाग) हानि नहीं पहुँचाता ।।१४।।

तत्प्राश्नाति । अग्नेष्टवास्येन प्राश्नामीति न वाऽअग्निं किं चन हिनस्त तथो हैनमेतन्न हिनस्ति ।।१५।।

तन्न दद्भिः खादेत् । नेन्मऽइदꣳ रुद्रियं दतो हिनसदिति तस्मान्न दद्भिः खादेत् ।।१६।।

उसको खाते समय मन्त्र वोलता है, अग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामिः । यजु० २।११। अग्नि को कोई पदार्थ हानि नहीं पहुँचा सकता । इसी प्रकार इसको यह प्राशित्र हानि नहीं पहुँचाता । सो उसको दांतों से न खावे । यह रुद्रिय पदार्थ है, यह मेरे दांतों को कहीं हानि न पहुँचावे । इसलिए दांतों से न खावे ।।१६।।

अथाप आचामति । शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयतेऽथ परिक्षाल्य पात्रम् ।।१७।।

फिर जल का आचमन करता है। जल शक्ति का उपलक्षण है। सो इस जल रूप शक्तिकारक पदार्थ से शान्त करता है । फिर पात्र धोने के पश्चात् ।।१७।।

अव इन १७ कण्डिकाओं का तत्त्व समझने के लिए प्रजापति का अर्थ समझना होगा। राज्य में जितने विभाग हैं वे कुछ न कुछ उत्पन्न करने के लिए बनाये जाते हैं। तव कहीं घन उत्पन्न होता है, इनमें से हर विभाग का अधिष्ठाता एक प्रजापति है । अव यदि वह अपने विभाग से कोई स्वार्थ सिद्ध करना चाहे तो उसे यह नाम दिया गया कि यह पुत्री के साथ व्यभिचार के समान घोर पाप है । क्योंकि वह विभाग उसे पुत्री के रूप में सौंपा गया है, जिस प्रकार पिता के घर में गर्भवती पुत्री आई हो तो वह वच्चे समेत उसे जामाता को अर्पण कर देता है । इसी प्रकार विभाग अधिष्ठाता को फल समेत सारा विभाग राष्ट्र के अर्पण करना है। सो यह रुद्र का विभाग इसीलिए है कि इस व्यभिचार के अपराधियों को दण्ड दे, वस इतनी वात को समझ लेने के पश्चात् सम्पूर्ण कण्डिकाओं को समझ लीजिए ।

प्रत्येक विभाग का उच्च कर्मचारी वर्ग द्यौः है और उनका उत्साह उषा है ।

इस उत्साह तथा विश्वास का दुरुपयोग करके अध्यक्ष स्वार्थ सिद्ध करते हैं। इसलिए कहा प्रजापति ने अपनी पुत्री की ओर ध्यान किया कि इसके साथ मैथुन करूँ ।।१।।

आध्यात्मिक क्षेत्र में विवेक का नाम रुद्र है, जिसके प्रतिनिधि लोग हैं, जो कार्य ठीक हुआ या नहीं इसका विवेक करते हैं। विवेक-शक्ति पशुओं अर्थात् नैसर्गिक भावनाओं पर राज्य करती है। निरीक्षण-विभाग का इससे सम्बन्ध दिखा चुके हैं, सो सब देवों ने इस निरीक्षण-विभाग के अध्यक्ष से कहा कि यह प्रजापति घोर अन्याय कर रहा है इसे दण्ड दो। आगे चलकर यह दिखाया कि निरीक्षण-विभाग का उद्देश्य प्रजापति को नहीं नष्ट करना किन्तु उसके प्रमाद आलस्य अथवा दुष्टता को दूर करना तथा उससे उत्पन्न हुई क्षति को पूर्ण करना है। इसीलिए कहा कि जब देवों का क्रोध उतर गया तो उन्होंने यत्न किया कि प्रजापति का जो वीर्य स्खलित हो गया है वह भी काम में आ जावे। क्योंकि अन्त को तो इससे यज्ञरूप प्रजापति की हानि है, यह विभागाध्यक्ष रूप प्रजापति तो उसके आधीन ही है। इसीलिए देवों ने वास्तोष्पति का व्रत यानि यज्ञ किया। (ऋ० १०।६।१। देखो सप्तमाध्याय तृतीय ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका की व्याख्या)।

अब इस विषय पर विचार करते हैं कि निरीक्षक कौन हो? इसमें एक मत है कि जिसका निरीक्षण कराना हो, उसका न्याय उसी के वर्ग के सम्बन्धी लोगों से कराना चाहिए। जिससे उसके आत्मसम्मान को धक्का न पहुँचे, तथा दण्ड के साथ उचित नर्मी भी मिली रहे, किन्तु यह ठीक नहीं। भग देवता कुटुम्बी लोग अपने कुटुम्बियों के दोषों के प्रति अन्धे होते हैं। उन्हें दोष दीखता ही नहीं, भग देवता कुटुम्ब का देवता है। यह इतने से स्पष्ट है कि सुभग तथा सुभगे सम्बोधन परिवार के सम्बन्ध में ही आते हैं। सौभाग्य शब्द का वधू के आशीर्वाद से सम्मिलित होना इसके पर्याप्त प्रमाण हैं। इससे भी अधिक स्पष्ट ऋग्वेद के मन्त्र का प्रमाण उपस्थित करते हैं। सूर्योदय हुआ है गृहपत्नी सूर्य को उदय होता देखकर कहती है—

उदसौ सूर्योऽगाद् उदयं मामको भगः ।। ऋ० १०।१५६।१

इस सूक्त में भगः की इतनी सुपष्ट व्याख्या है कि आगे प्रमाण देने की अपेक्षा नहीं।

अब दूसरा यह मत है कि उसी विभाग के दूसरे लोगों से उसकी परीक्षा कराई जाए, यहाँ पूषा देवता का वर्णन है। पूषा का अर्थ है वेद में हम जहाँ देखते हैं सवितुः प्रसवे (आज्ञा में) अश्विनोः बाहुभ्याम् (अश्वियों की बाहु-शक्ति से) पूष्णो हस्ताभ्याम् (पूषा के हाथों से) यह तिकड़ सदा इकट्ठा आता है। इसमें स्पष्ट है कि सविता का काम आज्ञा देना है। वह शिरःस्थानीय है। भुजा का काम आज्ञा को हाथ तक पहुँचाना है, पूषा का काम वह है जो हाथ करता है किन्तु यहाँ की सदा आज्ञा-पालन करते करते पूषा की मर्षण शक्ति नष्ट हो जाती है। उसके दांत नहीं रहते अर्थात् कार्यकर्त्ता को एक तो कार्यकर्त्ता का पक्षपात हो जाता है। दूसरे उनमें नैसर्गिक रूप से यह प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, देख लें कि जो आज्ञा मिली थी, उसका पालन हुआ कि नहीं। आज्ञा भी ठीक थी वा नहीं। यह जाँचने की उनकी आदत नहीं रहती इसलिए यह भी ठीक नहीं। इसलिए निरीक्षण का कार्य किसी निष्पक्षपात परम विद्वान् स्वतन्त्र ब्राह्मण को देना चाहिए। ऐसे ब्राह्मणों के अधिपति का नाम ही बृहस्पति अथवा ब्राह्मणस्पति है। किन्तु यह निरीक्षक ब्राह्मण भी राज्य नियम द्वारा प्रसून हों, यही बात

सवितृ-प्रसूत होने में कही गई है। घृत के अभिघारण का तात्पर्य यह है कि निरीक्षक-विभाग का यत्न होना चाहिए कि जहाँ तक हो सके पुनर्निर्माण के लिए दोष निकालें। किसी को जहाँ तक हो सके दूषित न ठहरावें।

इसी प्रकार जल के उपस्पर्शन का तात्पर्य यह है कि यदि कभी किसी का दोष निकाले तो अन्त में फिर एक बार ठण्डे हृदय से सोच ले कि कहीं से द्वेष-बुद्धि तो हृदय में नहीं आई तब इडावदान को हाथ लगाता है। आगे चलकर दिखायेंगे कि इडा नाम अन्न का है जो श्रमजीवी मात्र को मिलना चाहिए। जिससे कोई वंचित नहीं रहना चाहिए। सो उस पर तो प्रहार बिल्कुल ही नहीं होना चाहिए। अन्न तो बड़े से बड़े अपराधी तक को जिसे प्राणदण्ड हो उसको भी जीने के समय तक मिलना ही चाहिए ॥ ३-१० ॥

इसके पश्चात् घृतोपस्तरण तथा अभिघारण है जिस का भाव यही है कि निरीक्षण का उद्देश्य प्रेम बढ़ाना है ना कि कलह उत्पन्न करना ॥११॥

फिर यह दिखाया कि इस विभाग की कार्यवाही गुप्त (तिर्यक्) रहनी चाहिए जिससे चोरी पकड़ी जा सके तथा भेद प्रकट होने पर निर्लज्जता न बढ़े, जिसका दोष हो उसे जहाँ तक बने गुप्त रूप से समझाया जावे, जिससे वह हतोत्साह न हो ॥१२॥

साथ ही यह निरीक्षण का कार्य सर्वथा सवितृ-प्रसूत अर्थात् राजनियम से नियन्त्रित होना चाहिए ॥१४॥

फिर कहा कि तुझे अग्नि के मुख से खाता हूँ अर्थात् जिस प्रकार अग्नि में ज्ञान तथा प्रकाश है इसी प्रकार पूर्ण विद्या तथा निर्मम निष्पक्षपातता के द्वारा निरीक्षण करता हूँ अथवा परमात्मा का मुख बनकर प्राशन करता हूँ, अर्थात् पक्षपात रहित होकर उसके निमित्त निरीक्षण करता हूँ। ऐसे सच्चे भक्तों को आंच नहीं आती ॥१५॥

फिर अपने किये न्याय निर्णय को बार-बार व्यर्थ न उलटे, चर्वित चर्वण न करे। इसीलिए कहा न दद्भिः खादेत् ॥१६॥

फिर आचमन करता है अर्थात् शान्त होकर प्रभु-चिन्तन करता है ॥१७॥

अथास्मै ब्रह्मभागं पर्याहरन्ति। ब्रह्मा वै यज्ञस्य दक्षिणत आस्तेऽभिगोप्ता स एतं भागं प्रतिविदान आस्ते यत्प्राशित्रं तदस्मै पर्याहार्षुस्तत्प्राशीदथ यमस्मै ब्रह्मभागं पर्य्याहरन्ति तेन भागी स यदत ऊर्ध्वमसꣳस्थितं यज्ञस्य तदभिगोपायति तस्माद्वाऽअस्मै ब्रह्मभागं पर्याहरन्ति ॥१८॥

फिर पात्र धोकर उसे (ब्रह्मा के) सामने ब्रह्म-भाग लाकर रखते हैं। ब्रह्मा यज्ञ के दक्षिण ओर यज्ञ का रक्षक बनकर बैठता है। सो वह इस भाग का अर्थात् प्राशित्र का विशेष रूप से प्रतिभू बनकर बैठता है, अब वह उसके सामने ला चुके, उसको खा लिया, अब जो उसके सामने ब्रह्म भाग दिया जाता है। इससे वह यज्ञ में भागी होता है। इसके कारण वह यज्ञ का जो असमाप्त भाग है, उसकी रक्षा करता है। इसलिए इसे ब्रह्म-भाग लाकर देते हैं। इससे यह पता लगता है कि निरीक्षण-विभाग वालों को कुछ धन निरीक्षण से अलग निरीक्षण के कार्य को सुन्दर रूप से चलाने के लिए पृथक् मिलना चाहिए जो उस संगठन के लिए ही व्यय किया जाए। और उसका वेतन पृथक् हो तथा निरीक्षकों का वेतन कार्य की समाप्ति से पहले ही मिलना चाहिए। जिससे वे उसे समाप्ति तक पहुँचने में सहायक हों ॥१८॥

स वै वाचंयम एव स्यात्। ब्रह्मन्प्रथास्यामीत्येतस्माद्वचसो विवृहन्ति वाऽएते

यज्ञं क्षण्वन्ति ये मध्ये यज्ञस्य पाकयज्ञियेयेडया चरन्ति ब्रह्मा वाऽऋत्विजां भिषक्तमस्तद्ब्रह्मा सन्दधाति न ह सन्दध्याद्यद्वावद्यमान आसीत तस्माद्वाचंयम एव स्यात् ।।१६।।

आगे चलकर अनुयाज से पूर्व इस प्रकार विधि होती है—अध्वर्यु आवहनीय के लिए पहले से रक्खी हुई समिधा को लेकर ब्रह्मा के सामने उपस्थित होता है और पूछता है" हे ब्रह्मन् ! प्रस्थास्यामि । और अग्नीत् से कहता है समिधमाधायाग्निमग्नीत् समृद्धिर्तव ब्रह्मा" यह मन्त्र जपता है ।

ओ३म् एतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहु—बृहस्पतये ब्राह्मणे तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव । यजु० २ । १२ ।। मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोत्वरिष्टं यज्ञं समिमं दधातु । विश्वदेवास इह मादयन्ताम् । यजु० २ । १३ ।। इतना भाग मुख में बोले (उपांशु जपे) फिर (ओ३म् प्रतिष्ठ) यह उच्च स्वर से बोले । तब अग्नीत् अध्वर्यु की दी हुई समिधा को आवहनीय में स्थापन कर दे । इस विधि में ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि इस आपृच्छा तक ब्रह्मा मौन ही रहे । यह जो यज्ञ के बीच में पाकयज्ञिया इडा का प्राशन करते हैं सो यज्ञ को एक प्रकार का यज्ञ-प्राशन सा करते हैं उसे क्षिण्वन्तु अर्थात् टुकड़े करते हैं सो ब्रह्मा ऋत्विजों में भिषक्तम है सो ब्रह्मा इस यज्ञ का संधान करता है । यदि वह बोलता चालता रहेगा तो क्षत-संधान का कार्य भली प्रकार न हो सकेगा । इसलिए यहाँ तक ब्रह्मा मौन रहे तात्पर्य यह कि यज्ञ अथवा संगठन में कार्य करने वाले समस्त श्रमजीवियों को अन्न मिलने तक ब्रह्मा को अत्यन्त सावधान रहना चाहिए । क्योंकि बड़े-बड़े कर्मचारी तो अपने भाग की रक्षा स्वयं भी कर सकते हैं । किन्तु इन बेचारों के भाग पर ही बीच में हड़प करने वाले दांत लगाये रहते हैं । इसलिए तब तक निरीक्षण विभाग को बड़ी सावधानी की आवश्यकता है ।।१६।।

स यदि पुरा मानुषीं वाचं व्याहरेत् । तत्रो वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेद्यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञं पुनरारभते तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिः ।।२०।।

यदि इससे पहले कोई बातचीत करनी ही पड़े तो ऋग्वेद वा यजुर्वेद का कोई विष्णु देवता वाला मन्त्र जप लें । विष्णु नाम यज्ञ का है । सो इस प्रकार फिर यज्ञ आरम्भ होता है । यही इसका प्रायश्चित्तत्ति है अर्थात् फिर आगे बढ़ने का निश्चय है । यहाँ प्रायश्चित्ति शब्द का सौन्दर्य देखने योग्य है । ये तीन शब्द हैं पूर्वचित्ति, अनुचित्ति, प्रायश्चित्ति । किसी समारम्भ के उपायापाय पर विचार करके कार्यक्रम बनाना पूर्वचित्ति है—भूल होने पर पश्चात्ताप अनुचित्त है । फिर नये सिरे से अर्थात् आगे अयः अर्थात् चलने का दृढ़ निश्चय प्रायश्चित्त है । भूलकर पश्चात्ताप कर के रोते रहना उससे भी भारी भूल है । अनुताप तब ही सच्चा अनुताप है जब उसमें से फिर आगे बढ़ने का दृढ़ संकल्प उपज आवे । यदि ब्रह्मा को कार्यवश मौन भंग करना पड़े, यदि निरीक्षक को कार्यवश अपने मन को हटाना पड़े तो यज्ञ का प्रबन्ध कर दे, जिससे कार्य चलता रहे यही प्रायश्चित्ति है ।।२०।।

स यत्राह ब्रह्मन्प्रस्थास्यामीति तद्ब्रह्मा जपत्येत ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुरिति तत्सवितारं प्रसवायोपधावति स हि देवानां प्रसविता बृहस्पतये ब्रह्मणऽइति बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा तद्य एव देवानां ब्रह्मा तस्माऽएवैतत्प्राह तस्मादाह बृहस्पतये ब्रह्मणऽइति तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामवेति नात्र तिरोहितमिवास्ति ।।२१।।

सो जब अध्वर्यु कहे ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि (मैं अब अनुयाज यजन के लिए प्रस्थान करूँगा) तब ब्रह्मा जपता है । एतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुः । सो यह आज्ञा लेने के लिए सविता के पास जाता है । क्योंकि वही देवों का प्रसविता है । इससे

स्पष्ट है कि राष्ट्र के प्रत्येक उद्योग-धन्धे में एक राजपुरुष ब्राह्मण नियत होना चाहिए। जो यजमान के कार्यों में तो सीधा हस्तक्षेप न करे, परन्तु निरीक्षण एक-एक बात का करे तथा गड़बड़ किसी बात की हो उसे रोक दे। तथा राष्ट्र का भाग चोरी न होने दे। कार्यकर्त्ताओं का भाग चोरी न होने दे। श्रमजीवियों का भाग चोरी न होने दे। उसके पश्चात् जपता है। बृहस्पतये ब्रह्मणे सो बृहस्पति देवों का ब्रह्मा है उसी की ओर निर्देश करता है। इसीलिए कहा, बृहस्पतये ब्रह्मणे अर्थात् हे सवितृ देव बृहस्पति ब्रह्मा को जो यज्ञ अर्पण किया वह वस्तुतः आपके अर्पण है आपकी आज्ञा से वह कार्य करता है। सो स्पष्ट है कि निरीक्षक के पद पर बृहताम्पति नाना शास्त्रों का विद्वान् बड़ों का बड़ा ही बैठना चाहिए। आगे बोलता है। तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव—यह स्पष्ट है इसमें तिरोहित कुछ नहीं ॥२१॥

मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्येति। मनसा वाऽइदꣳ सर्वमाप्तं तन्मनसैवैतत्सर्वमाप्नोति बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोत्वरिष्टं यज्ञꣳ समिमं दधात्विति यद्विवृढं तत्सन्दधाति विश्वे देवास इह मादयन्तामिति सर्वं वै विश्वेदेवाः सर्वेणैवैतत्सन्दधाति स यदि कामयेत ब्रूयात्प्रतिष्ठेति यद्य कामयेतापि नाद्रियेत ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥ २ ॥ [७.४.] ॥ अध्यायः ॥७॥

आगे बोलता है मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य। मन रूपी जूति अर्थात् वाहन को आज्य से प्रीति लाभ हो। सो मन से ही यह सब-कुछ प्राप्त किया जाता है सो यहाँ भी मन से सब-कुछ प्राप्त करता है अर्थात् ब्रह्मा का मन सबके लिए स्नेह भरा होना चाहिए तब ही यज्ञ सफल हो सकता है आगे कहता है, बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोतु अरिष्टं यज्ञं समिमं दधातु अर्थात् बृहस्पति इस यज्ञ के तन्तु का विस्तार करे। इसे अरिष्ट रक्खे तथा जहाँ तार टूटे वहाँ जोड़ दे। सो यह जहाँ यज्ञ में भूल हो उसका सुधार करता है तथा यज्ञ का संधान करता है। आगे बोलता है, विश्वे देवास इह मादयन्ताम्। सो जब सब इकट्ठे मिलें तो विश्वे देवाः कहे जाते हैं। सो ब्रह्मा का सम्बन्ध सबके साथ स्थापन करता है। ब्रह्मा छोटे बड़े सब का है। किसी एक का नहीं। आगे ओं प्रतिष्ठ यह अनुज्ञा का वाक्य चाहे कहे और न चाहे तो न कहे ॥२२॥

इति सप्तमोऽध्यायः चतुर्थं ब्राह्मणम।

अथ अष्टमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

यहाँ से इडावदान तथा इडा प्राशन आरम्भ होता है। उसकी व्याख्या से पूर्व पद्धति लिखते हैं तब वह व्याख्या ठीक समझ में आ सकती है।

प्राशित्र भाग खाकर ब्रह्मा प्राशित्रहरण पात्रों को जल से उत्कर प्रदेश में धोकर ओं या अस्वप्ना देवतास्ता क्षा इदं शमयन्तु स्वाहाकृतं जठरमिन्द्रस्य गच्छ घसिना मे मासंपृक्थ उर्ध्वं मे नाभिः सोदिन्द्रस्य जठरे सादयामि ।। (यह स्पष्ट है कि यह प्राशित्र भाग इन्द्र का है उसके पेट में रहे मेरे भोज के साथ न मिले) इस मन्त्र से नाभि स्पर्श करके जलोपस्पर्शन करे। फिर अध्वर्यु इडा पानी में आज्यस्थाली से घी लेकर उसका उपस्तरण करके दोनों पुरोडाशों अग्नि अग्नीषोमीयं दर्शेष्टि आग्नेय से आग्न) के दक्षिण तथा मध्य भाग में से तोड़कर स्थाली के घृत से दो बार अभिघार करके इस प्रकार इडा को पंचावत्ता बनाकर फिर षडवत्र पात्र में दोनों पुरोडाशों में किसी भी स्थान से अग्नीध्र् का भाग तोड़कर फिर किसी यज्ञिय काष्ठ के पात्र में दोनों पुरोडाशों में किसी स्थान से ब्रह्मा का भाग तोड़कर ध्रुवा के चंचु भाग में रक्खे। फिर किसी दूसरे यज्ञिय काष्ठ पात्र में अथवा धातुपात्र में दोनों पुरोडाशों के पूर्वार्धे भाग से यजमान के लिए एक लम्बा सा भाग तोड़कर ध्रुवा के सामने बर्हियों पर स्थापन करें। भागों का प्रमाण इस प्रकार है (प्रधान अवदान आहुति के लिए अंगुष्ठ पर्व मात्र, उससे बड़ा स्विष्टकृत् उपसे बड़ा इडावदान, उससे बड़ा चातुर्प्राशिक। फिर पश्चिमाभिमुख होकर इडा को होता के हाथ में देकर इडा को हाथ से न छोड़ता हुआ होता की प्रदक्षिणा करके होता के पश्चिमाभिमुख बैठकर होता से दी हुई इडा को प्रति ग्रहण, इडा में से ही स्रुव द्वारा घृत लेकर होता के तर्जनी के मध्यम तथा उत्तम पर्व पर स्रुव से घृत लेप करें। तव होता निचले पर्व के घृत में 'ओम् मनसस्पतिना ते हुतस्याश्नामीषे प्राणाय' इस वाक्य द्वारा अधरोष्ठ पर लेप करें। फिर होता के हाथ में इडा के पड़े पुरोडाश के होता जब चार अवदान कर लें तो पंचम अवदान होता स्वयं लेवे। इस पर अध्वर्यु इडा को होता के अर्पण करे। फिर होता इहोपहूति करे। उस समय होता को सब स्पर्श किये रहें। उधर होता अध्वर्यु द्वारा समर्पित इडा को प्रतिग्रहण करके मुड़ी हुई अंगुलियों द्वारा (न फैली न मुट्ठी बँधी) मुख के समीप ले जाकर उपांशुमुख हो (मुख चले शब्द सुनाई न दे) इस प्रकार कहे—उपहूतं रथन्तरं सह पृथिव्योपमा रथन्तरं सह पृथिव्या ह्वयताम् उपहूतं वामदेव्यं सहान्तर्गृक्षणोपमां वामदेव्यं सहान्तरिक्षण ह्वयताम् उपहूतं बृहत् सह दिवौव मां बृहत् सहदिवा ह्वयतां उपहूता गावः सहर्षभा

उपमां गाव सहर्षभा ह्वयताम् उपह्रेनेडा ततुरिरुग्मामिडा ततुरिर्ह्वयताम् उपद्रूहूत सरपा भक्ष उपमा सखा भक्षा ह्वयताम् उपहूतं हे गुत्र मां हेग् ह्वयताम् उपद्रूहूतो अग्निरुपहूतः (यहाँ तक उपांशु) फिर ऊँचे स्वर से इडोपहूतो पहूतोडोयाऽस्त्रा इडा ह्वयतामिडोपहूता। यह वाक्य बोले, फिर जब होता इडोपहोता यह वाक्य बोल रहा हो उसी समय यजमान आग्नेय पुरोडाश को चार भाग करके ओं ब्रह्म मे धुक्ष्व क्षत्रं में धुक्ष्व विशेभिधुक्ष्व मा अस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्य प्रजया पशुभिराणया स्व। इस मन्त्र को बोलकर बर्हि पर रख के अग्नि आदि उपदिशाओं में चारों भाग स्थापन कर के प्रदशिशिक्षण चलता हुआ आग्नेय स्थान से आरम्भ करके इदं ब्रह्मणः इदं होतु इद अष्टवर्यो: इदमग्नीधः इस प्रकार ऋत्विजों का नाम लेकर उनका भाग प्रकाशित करे। फिर उन भागों को स्पर्श करके अन्य पितरः मादयध्वम् यथाभागमातृपायध्वम् यह वाक्य स्वर सहित बोले। फिर भागों को रखकर ग्रोम् अमीमदन्त पितरो भागमानृषायिषा इस मन्त्र का सस्वर जप करे। फिर जल उपस्पर्शन करके इदं ब्रह्मणे कहकर ब्रह्मा का भाग ब्रह्मा को दें। इदं होत्रे कहकर होता का भाग होता को। इदम् अध्वर्यवे कहकर अध्वर्यु को इदमग्नीध्र् कहकर अग्नीध्र् को दे फिर जब होता कहे उपहूते द्यावापृथिवी इस समय यजमान षडवन्त भाग अग्नीत् को दे। फिर जब होता कहे 'उपहूतो यं यजमानः" कहे। इस समय यजमान मयेदमिन्द्र इन्द्रियं यजमानो दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्। अस्माकं सन्त्वाशिषः सत्या सत्या नाः सन्त्वाशिषः इस मन्त्र को सस्वर पढ़े। उत्तर होता उच्चैः स्वर से य० २।१०।

मानवी घृत यदी घृतमैत्रावरुणी ब्रह्मा देव कृतोपहूतोपहूता देव्या अध्वर्यव उपहूता मनुष्या। य इमं यज्ञं भवान् पय यज्ञपतिं वर्धानुपहूते द्यावापृथिवी पूर्वज ऋतावरी देवी देवपुत्रा उपहूतो यजमान उत्तरस्यां देव यज्यायामुा इतो भूयसि हविष्करण उपहूतो देवा म इदं हवि जुषतामुपहूत यह मन्त्र बोले।

तब सब प्रणीता तथा उत्कर के बीच से निकलकर किसी पवित्र स्थान में बैठकर यजमान द्वारा दिये ग्रपने-अपने इडादि भाग को जिस क्रम से दिए गए थे अर्थात् पहले ब्रह्मा फिर होता फिर अध्वर्यु फिर अग्नीत् इस प्रकार भक्षण करें। इनमें से अग्नीत् सबसे पहले चतुर्धाकरण भाग का भोजन करे। फिर आचमन करके उपहूता पृथिवी मातोपमां पृथिवी माता हव्यतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहा यजु० ॥२।१०॥ इस मन्त्र से पहले षडवत्र भाग को खाकर आचमन करके दूसरी बार तोड़े हुए षडवत्र भाग को ओम् उपहूतो द्यौष्पितोपमां द्यौष्पिता हव्यतामग्निध्रात्। यजु० २।११। स्वाहा इस मंत्र से खाकर इडा भाग को खावे और यजमान इडा में से लिए पंचम भाग को खावे। फिर सब यजमान सहित ऋत्विज लोग आचमन करके जिस मार्ग से गए थे उसी मार्ग से लौटकर पश्चिम की ओर आकर वेदि के पीछे बैठकर ग्रों सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु ।।यजु० २।११। इस मन्त्र से ब्रह्मादि क्रम से पवित्रा से मार्जन करें। फिर अध्वर्यु ग्रोर यजमानस्य प्राणापानो पातम्। इस मन्त्र से पवित्रों को प्रस्तर पर रख दें। फिर षडवत्रादि भागों में रक्खे हुए ब्रह्म भाग को जो ध्रुवा के पुष्कर भाग के ऊपर रक्खा हुआ था। आहवनीय के पूर्व की ओर ब्रह्मा को दे। तथा ध्रुवा के अग्र भाग के सामने प्रस्तर पर रक्खे हुए यजमान भाग को गार्हपत्य के पीछे की ओर यजमान को दें। फिर यजमान अपना भाग बर्हि पर ही रख दे और व्रत-विसर्जन के पीछे खावे ग्रोर उसी समय अध्वर्यु यजमान के साथ वाले भाग को खावे (उतने समय बर्हि पर रक्खा रहे) यह

इडा-प्राशन विधि समाप्त हुई । अब इसकी शतपथानुमत व्याख्या इस प्रकार है ।

मनवे ह वै प्रातः । अवनेग्यमुदकमाजह्रुर्यथेदं पाणिभ्यामवनेजनायाहरन्त्येवं तस्यावनेनिजानस्य मत्स्यः पाणीऽआपेदे ॥१॥

मनु प्रातः उठ कर मुँह धोने लगा । उसके मुख धोने के लिए लोग जल लाए । जैसा कि प्रातः मुख धोने के लिए जल लाते हैं । जब वह मुँह धोने लगा तो एक मछली अचानक उसके हाथों में आ पड़ी ॥१॥

स हास्मै वाचमुवाद । बिभृहि मा पारयिष्यामि त्वेति कस्मान्मा पारयिष्यसीत्यौघ इमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढा ततस्त्वा पारयितास्मीति कथं ते भृतिरिति ॥२॥

वह उससे बात करने लगी । मुझे पालन कर मैं तुझे पार उतार दूँगी । मनु ने पूछा मुझे किससे पार उतार देगी तो मछली बोली एक बाढ़ आने वाली है । जो इस सारी प्रजा को बहा ले जाएगी । मैं तुझे उससे पार उतार दूँगी तब मनु ने पूछा तेरा पालन कैसे हो ॥२॥

स होवाच । यावद्वै क्षुल्लका भवामो बह्वी वै नस्तावन्नाष्ट्रा भवत्युत मत्स्य एव मत्स्यं गिलति कुम्भ्यां माग्रे बिभरासि स यदा तामतिवर्धाऽअथ कर्षूं खात्वा तस्यां मा बिभरासि स यदा तामतिवर्धाऽअथ मा समुद्रमभ्यवहरासि तर्हि वाऽअतिनाष्ट्रो भविता-स्मीति ॥३॥

मछली बोली हम नन्ही होती हैं तो हमारी बड़ी हत्या होती है । मछली मछली को खा जाती है । सो मुझे एक घड़े में पालना जब मै उसमें न समाऊँ तब एक खाई खोद कर उसमें मुझे पालना, फिर जब उसमें भी मैं न समाऊँ तब मुझे समुद्र में ले जाना तब मैं नाश को पार कर जाऊँगी ॥३॥

शश्वद्ध झष आस । स हि ज्येष्ठं वर्धतेऽथेति समां तदौघ आगन्ता तन्मा नावमुपकल्प्योपासासै स औघऽउत्थिते नावमापद्यासै ततस्त्वा पारयितास्मीति ॥४॥

वह मछली बड़ी हो गई । उसका स्वभाव ही शीघ्र बढ़ने का है । उसने तिथि बतायी कि इस तिथि को इस समय बाढ़ आएगी । तब मेरे पास नाव तैयार करके आना सो बाढ़ आने पर नाव पर चढ़ आना फिर उससे मैं तुझे पार कर दूँगी ॥४॥

तमेवं भृत्वा समुद्रमभ्यवजहार । स यतिथीं तत्समां परिदिदेश ततिथीं समां नावमुपकल्प्योपासांचक्रे स औघऽउत्थिते नावमापेदे तं स मत्स्य उपन्यापुप्लुवे तस्य शृङ्गे नावः पाशं प्रतिमुमोच तेनैतमुत्तरं गिरिमतिदुद्राव ॥५॥

उसको इसी प्रकार पालन करके समुद्र में छोड़ दिया सो जो तिथि इसने बताई थी उसी तिथि पर नाव बनाकर मनु उसकी प्रतीक्षा करने लगा सो बाढ़ उठने पर वह नाव पर चढ़ गया । उस समय वह मछली उछलकर उसके पास आ गई तब उसके सींग में नाव का फंदा डाल दिया सो उसके सहारे वह उसे लेकर उत्तर पर्वत की ओर दौड़ पड़ी ॥५॥

स होवाच । अपीपरं वै त्वा वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व तं तु त्वा मा गिरौ सन्त-मुदकमन्तश्छैत्सीद्यावदुदकं समवायात्तावत्तावदन्ववसर्पासीति स ह तावत्तावदेवा-न्ववससर्प्प तदप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्प्पणमित्यौघो ह ताः सर्वाः प्रजा निरुवाहाथेह मनुरेवैकः परिशिशिषे ॥६॥

वह बोली मैंने तुझे पार उतार दिया है, नाव वृक्ष के साथ बाँध दे । सो इसी

लिए पर्वत पर बैठे हुए तुझे पानी की मार नहीं पहुँच सकती और जल तुझे अन्दर नहीं खींच सकता। ज्यों-ज्यों जल उतरता जावे उतना-उतना उतरता चला आ। सो वह उतना ही उतरता गया सो वही कथा उत्तरगिरि से मनु के उतरने की कथा कहलाती है। वह जल की बाढ सारी प्रजा को बहा ले गई। बस इनमें से एक मनु शेष रह गया ॥६॥

सोऽर्चंश्राम्यंश्चचार प्रजाकामः। तत्रापि पाकयज्ञेनेजे स घृतं दधि मस्त्वामिक्षामित्यप्सु जुहवांचकार ततः संवत्सरे योषित्सम्बभूव सा ह पिब्दमानेवोदेयाय तस्यै ह स्म घृतं पदे सन्तिष्ठते तया मित्रावरुणौ सञ्जग्माते ॥७॥

वह अपनी प्रजा की वृद्धि की कामना से प्रभु की पूजा करता हुआ तथा परिश्रम करता हुआ विचरता रहा। सो उसने पाक यज्ञ से हवन किया। उसने घी, दही, मस्तु (दही ही का तोड़) आमिक्षा का जल में हवन किया सो संवत्सर में एक स्त्री पैदा हुई सो वह गाती हुई सी पैदा हुई। उसके पैरों में घृत विराजमान था। उससे मित्रावरुण का मेल हुआ ॥७॥

ताᳫं होचतुः कासीति। मनोर्दुहितेत्यावयोर्ब्रूष्वेति नेति होवाच य एव मामजीजनत तस्यैवाहमस्मीति तस्यामपि त्वमीषाते तद्वा जज्ञौ तद्वा न जज्ञावति त्वेवेयाय सा मनुमाजगाम ॥८॥

वे उससे पूछने लगे तू कौन है? उसने कहा मैं मनु की लड़की हूँ। उन्होंने कहा तुम कहो कि हमारी लड़की हो, उसने कहा नहीं। जिसने मुझे पैदा किया हैं मैं उसी की हूँ। वे दोनों उस पर प्रभुत्व जमाना चाहते थे। सो उसने इस बात को जाना या न जाना पर वह उन्हें अतिक्रमण कर गई और वह मनु के पास आई ॥८॥

ताᳫं ह मनुरुवाच कासीति। तव दुहितेति कथं भगवति मम दुहितेति य अमूरप्स्वाहुतीरहौषीर्घृतं दधि मस्त्वामिक्षां ततो मामजीजनथाः साशीरस्मि तां मा यज्ञेऽवकल्पय यज्ञे चेद्वै मावकल्पयिष्यसि बहुः प्रजया पशुभिर्भविष्यसि याममुया कां चाशिषमाशासिष्यसे सा ते सर्वा समर्धिष्यत ऽ इति तामेतन्मध्ये यज्ञस्यावाकल्पयन्मध्यᳫं ह्येतद्यज्ञस्य यदन्तरा प्रयाजानुयाजान् ॥९॥

मनु उससे बोला तू कौन है? उसने कहा मैं तेरी पुत्री हूँ। मनु ने पूछा तू मेरी पुत्री कैसे है? वह बोली तूने जो जल में आहुतियाँ की हैं—घृत, दही, मस्तु, आमिक्षा यह सब हवन किया है। उससे तूने मुझे पैदा किया है—सो मैं तेरे लिए एक आशीर्वाद रूप हूँ। तू मुझे यज्ञ में स्थान दे। यदि तू मुझे यज्ञ में सुशोभित कर देगा तो तेरी प्रजा तेरे पशु खूब बढ़ेंगे। मेरे द्वारा तू जो मनोरथ सिद्ध करना चाहेगा, वह तेरे सब पूरे हो जावेंगे। सो तब से सबने उसे यज्ञ के बीच में स्थान दिया। सो प्रयाज और अनुयाज के मध्य का भाग यज्ञ का मध्य है ॥९॥

तयार्चंश्राम्यंश्चचार प्रजाकामः। तयेमां प्रजातिं प्रजज्ञे येयं मनोः प्रजातिर्यास्वेनया कां चाशिषमाशास्त सास्मै सर्वा समार्ध्यत ॥१०॥

तब मनु उसके सहारे से प्रजा-वृद्धि की इच्छा करता हुआ प्रभु-भजन तथा श्रम युक्त होकर विचरता रहा। तब उससे उसे वह सब प्रजा प्राप्त हुई। यह जो मनु की प्रजा (मानव जाति है) और उसके बल से उसने जो मनोरथ चाहा वह उसका सिद्ध हुआ ॥१०॥

सैषा निदानेन यदिडा। स यो हैवं विद्वानिडया चरत्येताᳫं हैव प्रजातिं प्रजायते यां मनुः प्राजायत यामवेनया कां चाशिषमाशास्ते सास्मै सर्वा समृध्यते ॥११॥

सो यहीं तत्त्वरूप से यह इडा है अर्थात् यही इडा का निदान=मूल है) सो इस सारे तत्त्व को जानता हुआ जो इडा का सहारा लेता है, उसको यही प्रजा प्राप्त होती है जो मनु को हुई और उसकी जो इच्छा होती है। वह सब पूरी होती है ।।१ ।।

सो इडा के पांच अवदान किए जाते हैं । सो इसका कारण है कि इडा पशु रूप है। और इस पंचजनाः अर्थात् क्या चार वर्ण और क्या दस्यु सब ही एक समान हैं। और यह अन्त रूप इडा सबके रूप में आई है। अब इस कथा का मर्म जानने के लिए पहले आप: तथा किनारे को जानना होगा कि वे क्या हैं ? पुरुष जब स्त्री में गर्भाधान करता है तो उसे वृषा कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण में सैकड़ों स्थलों पर हम योषा और वृषा शब्द पढ़ते हैं। वृषा ने एक गर्भाधान किया तो वह एक विन्दु हुआ तथा माता ने एक बच्चा जना तो वह बिन्दु प्रजा रूप में परिणत हुआ। इस प्रकारके बिन्दुओं से जो प्रजा रूप नदी प्रवाहित हुई उसी का नाम आप: है। अब यह आप: अन्न आदि जिन पदार्थों का उपभोग करती हैं वे सब उपभोग्य पदार्थ किनारे हैं। इनमें से अन्न मुख्य है सो वही इडा है। पशु, पक्षी आदि में कृषि द्वारा अपनी उपभोग्य सामग्री बढ़ाने की शक्ति नहीं। अत: वे इस जनसंख्या की बाढ़ में डूब जाते हैं किन्तु मनुष्य खेती करना जानता है। इसलिए इस बाढ़ में डूबने से वह बच जाता है। बस इस कथा में मनुष्य की इस उच्चता का वर्णन किया गया है। और जो श्रमजीवी खेती द्वारा मनुष्य की रक्षा करते हैं उन्हें मत्स्यों से उपमा दी गई है। अब कथा का अर्थ सुनिये।

मनुष्य जब जल से मुख धोता था अर्थात् जनसंख्या की बाढ़ में नहीं डूबा तथा फल और दूध खाकर जी लेता था किसी एक को खेती की सूझी ।।१।।

वह समझ गया कि थोड़े दिन में जनसंख्या की बाढ़ आयेगी और ये पशु पक्षी मनुष्य के सहारे जीते हैं। चारा आदि न मिलने से मरेंगे और मनुष्य भी मरेगा सो उसने मनुष्य जाति से अर्थात् मनुष्य जाति के नेता मनु(मननशील) से कहा कि तू मेरी सहायता कर, तो मैं तुझे जनसंख्या बाढ़ रूपी संकट से बचाऊँगी ।।२।।

किन्तु उसने मनु को सावधान कर दिया कि यदि यह संगृहीत अन्न-भंडार तूने छोटे-छोटे प्रजापतियों को अर्पण कर दिया तो संघर्ष द्वारा एक दूसरे को खा जावेंगे। इसलिए इसे तू सारे मनुष्य जाति की सम्पत्ति बनाना एक व्यक्ति के हाथ में न छोड़ना ।।३।।

सो मनु ने ऐसा ही किया और तब इस मत्स्य अर्थात् सदा मस्त रहने वाले श्रमजीवी समाज ने उसे उत्तरगिरि अर्थात् अन्नकूट तक पहुँचा दिया ।।५।।

और कहा कि अभी तो हमने यथा कथंचित् फलादि सामग्री संग्रह करके तेरी (मानव समाज की) रक्षा कर दी है परन्तु अब तू खेती करना। सो इस बाढ़ में मनुष्य के अतिरिक्त सब डूब मरे वह नहीं डूबा ।।६।।

जब सामग्री-संग्रह से बाढ़ टल गई। मनुष्य ने अपने में से कुछ मनुष्यों को खेती पर लगा दिया और घृत, दही, मट्ठा, आमिक्षा आदि पका पकाया संवत्सर अर्थात् फसल उत्पन्न होने तक किसानों को देते रहे। यही पाक यज्ञ है। इस पाक यज्ञ से एक स्त्री खेती नाम की पैदा हुई वह गीत गाती-उत्पन्न हुई और घृत उसके चरणों में लोटता था। उसका मेल मित्र तथा वरुण अर्थात् क्षत्रिय और ब्राह्मण से हुआ ।। शत-पथ१। ४।१७

उन्होंने चाहा कि खेती पर अपना अधिकार जमा लें किन्तु खेती ने कहा, मैं तो

मनुष्य मात्र की हूँ, क्योंकि मनुष्य मात्र ने मेरे उत्पन्न करने में भाग लिया है ॥८॥

सो मनु ने पूछा तू किसकी है ? वह बोली तूने जो एक वर्ष घी, दही मट्ठा, आमिक्षा आदि का हवन किया उससे मैं पैदा हुई हूँ । सो यज्ञ में अर्थात् राज्य शासन में मेरा भी भाग होना चाहिए। इसलिए प्रयाजानुयाज के बीच इडा का भाग रक्खा गया। भाव यह है कि ब्राह्मण लोगों का काम उत्तम शिर बनाना है, उसके बदले में समाज उनको विशेष भाग देता है वह प्राशित्रावदान है । किन्तु शारीरिक श्रम के लिए वह समाज जो उन्हें अन्न देता है वह इडा भाग है। जिस प्रकार यह भाग ब्राह्मणों को मिलता है, इसी प्रकार अपने श्रम के लिए मनुष्य मात्र को अन्न भाग मिलता है, वह इडा भाग है और यह मनुष्य मात्र को मिलना चाहिए ॥९॥

इसी प्रकार जो यजमान सब को अन्न भाग देता है । उसकी सब कामना पूरी होती हैं जिस उद्देश्य के लिए वह यज्ञ करता है वह सिद्ध होता है ॥१०॥

यही बात समझाने के लिए इडा भाग है, इसीलिए कहते हैं कि इडा भाग से कामना सिद्ध होती है ॥११॥

सा वै पञ्चावत्ता भवति । पशवो वाऽइडा पाङ्क्ता वै पशवस्तस्मात्पञ्चावत्ता भवति ॥१२॥

सो यह इडा पाँच भागों में बटी हुई है अर्थात् इससे जेलखाने में रहने वाले दस्युलोग भी वंचित नहीं किए जा सकते चार वर्ण तो इसके अधिकारी हैं ही । हाँ जेलखाने वालों से श्रम करवाना पड़ता है ॥१२।

स समवदायेडाम् । पूर्वार्धं पुरोडाशस्य प्रशीर्य पुरस्ताद् ध्रुवायै निदधाति ताᳬ होत्रे प्रदाय दक्षिणात्येति ॥१३ ।

राष्ट्र के प्रत्येक विभाग में श्रमजीवियों के लिए कुछ अन्न सदा स्थिर भण्डार में संग्रह करके रखना चाहिए। जिससे कि दुर्भिक्षादि पड़ने पर खाने के काम में आ सके । इसीलिए पुरोडाश के पूर्वार्ध को तोड़कर ध्रुवा के सामने रखता है। इडा को होता को देकर दक्षिण दिशा में जाता है। अर्थात् प्रत्येक कार्य का कार्यक्रम बनाने वाला होता है। इस बात का पूरा ध्यान रक्खे कि सब को अन्न ठीक-ठीक मिले । और इसके लिए दक्षिण दिशा में जाने का भाव है कि अन्न की रक्षा के लिए अवश्य किसी शक्तिशाली का आश्रय ले ॥१३॥

स होतुरिह निलिम्पति । तद्धोतौष्ठयोर्निलिम्पते मनसस्पतिना ते हुतस्याश्नामीषे प्राणायेति ॥१४॥

फिर वह (अध्वर्यु) होता के इस प्रदेश में (तर्जनी के मध्यम तथा पर्व में) घृत लेप करता है। फिर होता उस घृत को ओठों पर लगाता है। उस समय ये मन्त्र बोलता है । मनसस्पतिना ते हुतस्याश्नामीषे प्राणायेति, (यह अधरोष्ठ लेप हैं) ॥१४॥

अथ होतुरिह निलिम्पति । तद्धोतौष्ठयोर्निलिम्पते वाचस्पतिना ते हुतस्याश्नाम्यूर्ज्जऽउदानायेति ॥१५॥

फिर अध्वर्यु होता के इस भाग में (तर्जनी के उत्तम पर्व में) लेप करता है । इस को होता (ओष्ठों पर लेप करता है) उस समय मन्त्र बोलता है ! वाचस्पतिना ते हुतस्याश्नाम्यूर्जे उदानायेति) ।

भाव यह कि मेरा कर्त्तव्य है कि ऐसा संविधान बनाऊँ जिससे अन्न और बल को इष और ऊर्ज की महिमा सब को ठीक-ठीक ज्ञात रहे तथा ये दोनों पदार्थ सब

को मिलें। मेरे मन तथा वचन दोनों में यह भावना भरी हो जिससे निष्पादयिष्य भाग मस्तिष्क में तथा यजमान के मस्तिष्क में यह भावना पूर्ण रूप से भर जाय। मैं जो भोजन खाता हूँ वह मुझे इसी कर्त्तव्य-पालन के बदले में दिया जाता है ॥१५॥

एतद्ध वै मनुर्बिभयांचकार। इदं वै मे तनिष्ठं यज्ञस्य यदियमिडा पाकयज्ञिया यद्वै मऽइह रक्षाᳬसि यज्ञ न हिᳬस्युरिति तामेतत्पुरा रक्षोभ्यः पुरा रक्षोभ्य इत्येव प्रापयत तथोऽएवैनामेष एतत्पुरा रक्षोभ्यः पुरा रक्षोभ्य इत्येव प्रापयतेऽथ यत्प्रत्यक्षं न प्राश्नाति नेदनुपहूतां प्राश्नामीत्येतदेवैनां प्रापयते यदोष्ठयोर्निलिम्पते ॥१६॥

साथ ही इससे यह भी सूचित होता है कि संविधान बनाने वालों को ओष्ठ लेप मात्र ही अन्न कार्य की समाप्ति से पूर्व मिलना चाहिए। विशेष भाग तो तब मिलना चाहिए जब वे कहें इडोऽहूना अर्थात् हमने अन्न बुला लिया है। सो यही बात आगे कहते हैं। मनु इस बात से डरता था कि यह पाक यज्ञ से उत्पन्न इडा (खेती है) यह मेरी सबसे दुर्बल वस्तु है। सो इस बेचारी को असुर राक्षस नष्ट न कर दें सो उसे राक्षसो परे, राक्षसो परे कहकर बचाता हुआ ले जाता है। सो यहां जो ओष्ठ लेप मात्र करता है प्रत्यक्ष खाता नहीं, सो इसका भाव यह है कि इडोपाह्वान से पहले खाना नहीं। सो इसलिए ओष्ठों पर लेप करता है ॥१६॥

अथ होतुः पाणौ समवद्यति। समवत्तामेव सतीं तदेनां प्रत्यक्षᳬ होतरि श्रयति तय स्मैतच्छ्रितया होता यजमानायाशिषमाशास्ते तस्माद्धोतुः पाणौ समवद्यति ॥१७॥

फिर इडा को होता के हाथ में रखी हुई इडा के अध्वर्यु चार भाग तोड़ता है (और पांचवां भाग तोड़कर होता को देता है) और उस तोड़ी हुई को वहां प्रत्यक्ष होता के अर्पण करता है उस अपने आश्रित इडा से होता यजमान के लिए आशीर्वाद मांगता है। इसलिए होता के हाथों में तोड़ता है। भाव यह है कि होता के तथा होता की सन्तान के मस्तिष्क की ठीक बनावट की जिम्मेवारी मैं उठाता हूँ यह प्रतिज्ञा होता यहां करता है। और इसी निमित्त पुरोडाश भाग उसे मिलता है ॥१७।

अथोपᳬशूपह्वयते। एतद्ध वै मनुर्बिभयांचकारेदं वै तनिष्ठं यज्ञस्य यदियमिडा पाकयज्ञिया यद्वै मऽइह रक्षाᳬसि यज्ञ न हन्युरिति तामेतत्पुरा रक्षोभ्यः पुरा रक्षोभ्य इत्येवोपाᳬ-इत्येवोपाᳬशूपह्वयत तथोऽएवैनामेष एतत्पुरा रक्षोभ्यः पुरा रक्षोभ्य इत्येवोपाᳬ-शूपह्वयते ॥१८॥

यह इडा के बुलाने का काम उपांशु (जिसमें मुख हिले किन्तु आवाज न निकले) किया जाता है। सो मनु को वह भय हुआ कि यह पाक याज्ञिया इडा मेरे यज्ञ का सबसे सुकुमार अंग है। इसे राक्षसों के प्रहार से पहले बचाकर ले जाऊँ। जिससे वे राक्षस लोग प्रहार न कर सकें। इसलिए इसे राक्षसों से पहले इस भावना से उपांशु बुलाता है। इसलिए जैसे मनु ने किया ऐसे ही अध्वर्यु भी उपांशु बुलाता है। भाव यह कि कृषि को तथा श्रमजीवियों के अन्न भाग की ओर जिस श्रम के बदले अन्न मिलता है उस श्रम की रक्षा बिलकुल एकाग्र मन से करनी चाहिए। यहाँ तक कि वह हमारे स्वाभाव का भाग बन जाये। अहंकार में प्रवेश कर जाये। जहाँ उपांशु हो वहां यही भाव जानना ॥१८॥

स उपह्वयते। उपहूतᳬ रथन्तरᳬ सह पृथिव्योप माᳬ रथन्तरᳬ सह पृथिव्या ह्वयतामुपहूतं वामदेव्यᳬ सहान्तरिक्षेणोप मां वामदेव्यᳬ सहान्तरिक्षेण ह्वयतामु-

पहूतं बृहत्सह दिवोप मां बृहत्सह दिवा ह्वयतामिति तदेतामेवैतदुपह्वयमान इमांश्च लोकानुपह्वयतऽएतानि च सामानि ।।१६।।

इडा के बुलाने के समय जो मन्त्र बोलता है वह इस प्रकार है—उपहूतं रथन्तरं सह पृथिव्योपमा रथन्तरे सह पृथिव्या ह्वयताम्। उपहूतं वामदेव्यं सहान्तरिक्षेणेय मां वामदेव्यं सहान्तरिक्षेण ह्वयताम्। उपहूतं बृहत् बृहत् सह दिवोप मां बृहत् सह दिवा ह्वयताम् ।। सो इस इडा को बुलाते समय इन लोकों तथा सामों को बुलाता हूँ। मन्त्रों का अक्षरार्थ यह है, मैंने पृथिवी के साथ रथन्तर साम को बुलाया अब पृथिवी सहित रथन्तर मुझे बुलावे। मैंने अन्तरिक्ष सहित वामदेव्य को बुलाया अब अन्तरिक्ष सहित वामदेव्य के साथ मुझे बुलावे। मैंने द्यौ सहित बृहत् साम को बुलाया। देवलोक सहित बृहत् मुझे बुलावे। सो पहले रथन्तर वामदेव्य तथा बृहत् साम का अर्थ समझ लेना, फिर इस कण्डिका का अर्थ समझ लेना सुगम हो जायगा। रथन्तर साम की गति चंचल है जैसे रथ चलता है। यह आजकल के त्रिवाल गाने के समान है; वामदेव्य की गति वाम अर्थात् बांकी है जैसे ठुमरी की। बृहत् की गति गम्भीर है, जैसे ख्याल के गायन की। तीन साम क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थाश्रम के सुख के प्रतिनिधि हैं तथा पृथिवी अन्तरिक्ष तथा द्यौः इन तीन आश्रमों के नाम हैं। इसकी विशेष व्याख्या हमारी स्वर्ग नामक पुस्तक में देखिये। अब गृहस्थ यजमान के लिए होता इडा को बुलाते समय कहता है तथा उन्हें जीवन में संगीत प्रदान करता है। अब ब्रह्मचारी लोग अपने संगीत से इसे कृतार्थ करें। मैंने इस मस्तिष्क द्वारा गृहस्थों को ठुमरी के जीवन के साथ बुलाया है। वह गृहस्थ और उनकी ठुमरी मुझे बुलावे। मैंने वानप्रस्थों को खयाल के संगीत सहित बुलाया है अब उनके ख्याल गीत तथा उनका वानप्रस्थाश्रम मुझे बुलावे अर्थात् मैं सब की सेवा करूँ तथा वे मुझ पर कृपा करें तो मेरा अन्न तथा मस्तिष्क सफल हो ।।१६।।

उपहूता गावः सहऽर्षभा इति। पशवो वाऽइडा तदेनां परोऽक्षमुपह्वयते सहऽर्षभा इति समिथुनामेवैनामेतदुपह्वयते ।।२०।।

फिर कहता है उपहूता गावः सहर्षभा सो इडा अर्थात् कृषि पशुओं के आश्रित है। सो इडा को परोक्ष नाम से बुलाता है। मैंने इडा के निमित्त ऋषभ सहित गौवें बुलाईं। सो यह भी परोक्ष रूप से अन्न का ही बुलाना है ऋषभ का नाम इसलिए लिया कि जोड़े का नाम लेना है। गाय बैल आदि पशुओं को भी गिनना केवल मनुष्यों को अन्न देकर कर्त्तव्य की समाप्ति न समझना ।।२०।।

उपहूता सप्तहोत्रेति। तदेनाᳬ सप्कहोत्रां सौम्येनाध्वरेणोपह्वयते ।।२१।।

उपहूता सप्तहोत्रा यह बोलने का भाव यह है कि सप्तहोता वाला सोमयाग (उत्तम विश्वविद्यालय जहां हो) वहां ही अच्छा अन्न भी होता है। क्योंकि कृषि भी कृषि विद्या के आधीन है ।।२१।।

उपहूतेडा ततुरिरिति। तदेनां प्रत्यक्षमुपह्वयते ततुरिरिति सर्वᳬ ह्येषा पाप्मानं तरति तस्मादाह ततुरिरिति ।।२२।।

आगे कहता है उपहूता इडा ततुरिः सो यहाँ स्पष्ट ही इडा का नाम लिया कि मैं तरन तारनी इडा को बुलाता हूँ कि बुभुक्षितः किन्न करोति पापं संसार में अनेक पाप भूख के कारण होते हैं उन्हे अन्न द्वारा तरना है ।।२२।।

उपहूतः सखा भक्ष इति। प्राणो वै सखा भक्षस्तत्प्राणमुपह्वयतऽउपहूतᳬ हेगिति तच्छरीरमुपह्वयते ।।२३।।

फिर कहा उपहूत सखा यक्षः अर्थात् अन्न के सखा यक्ष अर्थात् प्राण को भी बुलाता हूँ। बहुत से मनुष्य इतने प्राणहीन होते हैं कि भूख न लगने के कारण सामने पड़ा उत्तम अन्न भी नहीं खा सकते। फिर आगे कहता है। उपहूतं हेग सो यह शरीर को बुलाता है अर्थात् वह शरीर किस काम को जो शरीर पुष्ट न हुआ सो यह व्यायाम आदि कृत शारीरिक पुष्टि युक्त शरीर को बुलाता है ॥२३॥

अथ प्रतिपद्यते। इडोपहूतोपहूतेडोपोऽअस्मां २॥ ऽइडा ह्वयतामिडोपहूतेति तदुपहूतामेवैनामेतत्सतीं प्रत्यक्षमुपह्वयते या वै सासीद्गौर्वै सासच्चितुष्पदी वै गौस्त-स्माच्चतुरुपह्वयते ॥२४॥

फिर वह कहता है इडोपहूतोपहूते डोपो अस्मां २॥ इडा ह्वयतामिडोपहूता सो यह चार वचन बोलकर प्रत्यक्ष चतुष्पदी गौः को बुलाता हैं। गौ के चार पद होते हैं सो यहां भी इडा उपहूता उपहूताइडा उपाअस्मां इडा ह्वयतां इडा उपहूता यह चार वचन है क्योंकि गौ के चार पैर होते हैं।।२४।

स वै चतुरुपह्वयमानः। अथ नानेवोपह्वयतेऽजामितायै जामि ह कुर्याद्यदिडोपहूते-डीपहूतेत्येवोपह्वयेतोपहूतेदेति वेडोपहूतेति तदर्वाचीमुपह्वतऽउपहूतेति तत्पराची मुपो-ऽअस्मां २॥ ऽइडा ह्वयतामिति तदत्मानं चैवैतन्नान्तरेत्यन्यथैव च भवतीडोपहूतेति तत्पुनरर्वाचीमुपह्वयते तदर्वाचीं चैवैनामेतत्पराचीं चोपह्वयते ॥२५॥

सो चार वार पुकारते हुए भिन्न-भिन्न प्रकार से पुकारता है। यह भिन्नता अजामिता अर्थात् नवीनता के लिए की जाती है। यदि इडोपहूता इडोपहूता यही चार वार कहे तो पुनरुक्ति हो सो इडोपहूता उपहूतेडा है ऐसा कहता है सो जो इडोपहूता ऐसा कहता हैं सो अभिमुख आवी हुई को बुलता है और जब उपहूता इडा कहता है तब वह परामुखी को बुलता है। कहता है अब उपोअस्मां २ इडा हव्याताम् तब नवीनता भी उत्पन्न करता है। अपने आपको अर्वाचित भी करता है। फिर जब दूसरी वार इडोपहूता कहता है तो परोमुखी को फिर उपसंहार में अभिमुखी करता है। सो भाव यह है कि मनुष्य को कृषि में खेती को बुलाना चाहिए तथा जिसे बुलावे वह खेती हो अर्थात् खेती से अतिरिक्त को उखाड़कर फेंक देना चाहिए। फिर खेती से इतना प्रेम हो कि खेती उसे बुलावे। फिर दूसरी वार इडोपहूता का भाव यह है कि हमें यह भी उपाय करना चाहिए कि जो भी पदार्थ खेत में हो वह जहाँ तक हो उपयोगी हो अर्थात् इडा बन जावे ॥२५॥

मानवीघृतपदीति। मनुर्ह्येतामग्रेऽजनयत तस्मादाह मानवीति घृतपदीति यदे-वास्यै घृतं पदे समतिष्ठत तस्मादाह घृतपदीति ॥२६॥

आगे कहता है मानवी घृतपदी क्योंकि उसे मनुष्य मात्र ने उत्पन्न किया है इसलिए मानवी है क्योंकि घी इस खेती के चरणो में लोटता है। इसीलिए कहा घृत पदी ।।२६।।

उत मैत्रावरुणीति। यदेव मित्रावरुणाभ्याᳬ समगच्छत स एव मैत्रावरुणो न्यङ्-गो ब्रह्मा देवकृतोपहूतेति ब्रह्मा ह्येषां देवकृतोपहूतोपहूता दैव्या अध्वर्यव उपहूता मनुष्या इति तद्दैवांश्चैवाध्वर्युनुपह्वयते ये च मानषा वत्सा वै दैव्या अध्वर्यवोऽथ यऽइतरे ते मानुषाः। २७॥

आगे कहता है उतमित्रावरुणी क्योंकि उसका मित्र तथा वरुण से मेल हुआ

इसलिए कहा मित्रावरुणी क्योंकि यह उसमें मित्रवरुण का अंश आ गया। भाव यह कि यद्यपि ब्राह्मण क्षत्रिय उसके मुख्य उत्पन्न करने वाले नहीं किन्तु वे उत्पत्ति के नये से नये उपाय बताने तथा प्राण देकर खेती की रखवाली करने के कारण मुख्य भाग प्राप्त करने वाले हैं। इसलिए यह उनका व्यंग अर्थात् भाग है। व्यंग शब्द का यह अर्थ ठीक है इसका प्रमाण इसी काण्ड के षष्ठाध्याय तृतीय ब्राह्मण सत्रहवीं कण्डिका में इन शब्दों में मिलता है "तस्ययत् सौम्यं व्यक्तमास" इसका स्पष्ट अर्थ यह किया गया है कि इन्द्र ने वृत्र पर जो प्रहार किया सो जो सोम का अंग रुधिर रूप में स्रुप्त हुआ वह चन्द्रमा बना सो व्यक्त पदार्थ का नाम व्यंग है सो खेती है मनुष्यमात्र की किन्तु ब्राह्मण क्षत्रियों ने पसीना और खून उसके लिए दिया है। इसलिए उनका मुख्य भाग है। वैसे मनुष्यमात्र का है। ब्राह्मण क्षत्रिय का भी अधिकार नहीं कि उसे अपनी कहे। वह पहले मानव की है फिर मैत्रावरुणी की। फिर कहता है ब्रह्मदेव कृतोपहूता अर्थात् यह जो उत्तम मस्तिष्क बनाने के लिए विभिन्न अन्न व्यय होता है यह देवों ने सब यज्ञों का ब्रह्मा बनाकर भेजी इडा भेजी है अर्थात् जो अन्न विद्यावृद्धि के लिए दान होता है यह अन्न का सर्वश्रेष्ठ उपयोग है। इसीलिए कहा सर्वेषामेव दानानां ब्रह्म दानं विशिष्यते। फिर कहता है उपहूता देव्या अध्वर्यु उपहूता देव्या मनुष्या सो यह देव और मनुष्य दोनों प्रकार के अध्वर्युओं को बुलाता है। सो बछड़े देव अध्वर्यु हैं और जो प्रत्यक्ष अध्वर्यु हैं वह मानुष अध्वर्यु हैं। सो जब खेती देव कृत ब्रह्मा हुई, तो विद्या पढ़कर बड़े होने वाले इस चतुष्पदी (धर्मार्थ काम मोक्ष चार पैर वाली) ब्रह्म गवी के बछड़े अर्थात् सच्चे विद्यार्थी अध्वर्यु हुए। इन्हें देव अध्वर्यु इसलिए कहा कि इनका भविष्य देव परमात्मा अथवा राजा की रक्षा में है। और यही देवलोक अर्थात् वानप्रस्थाश्रम की विभूति हैं ॥२७॥

यऽइमं यज्ञमवान्ये च यज्ञपतिं वर्धनिति। एते वै यज्ञमवन्ति ये ब्राणह्माः शुश्रुवाᳬसोऽनूचाना एते ह्येनं तन्वतऽएतऽएनं जनयन्ति तदु तेभ्यो निह्नुते वत्सा उ वै यज्ञपतिं वर्धन्ति यस्य ह्येते भूयिष्ठा भवन्ति स हि यज्ञपतिर्वर्धते तस्मादाह ये च यज्ञपतिं वर्धानिति ॥२८॥

आगे कहता है 'इमं यज्ञभवान् ये च यज्ञपतिर्वर्धान्' सो यही तो यज्ञ की रक्षा करते हैं, यह जो गुरु मुख से श्रुति का श्रवण कर चुके हैं और अनुवचन भी कर चुके हैं। यह ब्राह्मण यज्ञ की रक्षा करते हैं। यही इस यज्ञ का विस्तार करते हैं यही इसे जन्म देते हैं सो उनके आगे नम्र होता है और बछड़े यज्ञपति को बढ़ाते हैं जिसके बहुत बछड़े होते हैं (उपलक्षण या जिस गुरु के बहुत छात्र होते हैं) वह यज्ञपति बढ़ता है। इसलिए कहा ये च यज्ञपतिर्वर्धान् ॥२८॥

उपहूते द्यावापृथिवी पूर्वजेऽऋतावरी देवी देवपुत्रेऽइति। तदिमे द्यावापृथिवीऽउपह्वयते ययोरिदᳬ सर्वमध्युपहूतोऽयं यजमान इति तद्यजमानमुपह्वयते तद्यदत्र नाम न गृह्णाति परोऽक्षᳬह्यत्राशीर्यदिडायां मानुषᳬ ह कुर्याद्यन्नाम गृह्णीयाद्वृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद्वृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्मान्न नाम गृह्णाति ॥२९॥

आगे कहता है उपहूते द्यावापृथिवी पूर्वज ऋतावरी देवपुत्रे अर्थात् हम ने द्यौः और पृथिवी को भी इडा द्वारा बुलाया है किन्तु ज्ञान वृद्धि के लिए ऋतावरी बनाकर बुलाया है।, जिससे उनके पुत्र देव हों देवपुत्रों में बहुब्रीहि मानना, नहीं तो देवपुत्र्या ऐसा होता सो जो कुछ भी ज्ञान अन्न द्वारा प्राप्त होता है वह इन द्यौः और पृथिवी

से ही प्राप्त होता है सो इन्हें ऋतावरी ज्ञान देने वाला बाकर बुलाता है। आगे कहता है 'उपहूतोयं यजमान' यद्यपि मस्तिष्क निर्माण में ऋत्विज सहायक हैं परन्तु यजमान का भी यह कर्त्तव्य है यदि वह ब्राह्मण है तब तो स्पष्ट ही उसका उत्तरदायित्व है यदि क्षत्रिय, वैश्य हैं तो भी यद्यपि उनके सन्तान के मस्तिष्क निर्माण का मुख्य उत्तरदायित्व ब्राह्मण पर है तथापि उनका भी सहयोग अपेक्षित है। यही कात्यायन के स्तुतित्यं सूत्र का बीज है। पुरोडाश न खाने से क्षत्रिय, वैश्य अछूत नहीं बनते किन्तु साक्षात् उत्तर-दायित्व से छूट जाते हैं। इसीलिए उनका भाग निकाला जाता है पर वे खाते नहीं। मानो वे क्षत्रिय, वैश्य यजमान ब्राह्मणों से कहते हैं कि सहयोग देना अवश्य हमारा भी कर्तव्य है परन्तु यदि बालक अयोग्य होंगे तो कान आपके ही पकड़े जावेंगे क्योंकि पुरोडाश आपने ही खाया है। फिर यहाँ जो यजमान का नाम नहीं लेते सो यह उत्तम आशीर्वाद है क्योंकि यह परोक्ष है, नाम लेकर तो यह साधारण मनुष्यों का व्यवहार हो जावेगा। सो यज्ञ में साधारण मनुष्यों का व्यवहार उत्पन्न करना हीनता उत्पन्न करना है सो यज्ञ में कोई व्यृद्ध (वि + ऋद्ध = असमृद्ध) व्यवहार न करूँ इसलिए ऐसा करता है। भाव यह कि अन्त को विद्या की सेवा मे तथा विद्या को प्रजामात्र को अन्न देने के लिए जो इडा भाग का भाव है यह यजमान मात्र का कर्तव्य है। इसलिए इसमें किसी का नाम नहीं लिया जाता ॥२९॥

उत्तरस्यां देवयज्यायामुपहूत इति। तदस्माऽएतज्जीवातुमेव परोऽक्षमाशास्ते जीवन् हि पूर्वमिष्ट्वाथापरं यजते ॥३०॥

आगे कहता है, 'उत्तरस्यां देवयज्यायामुपहूतः।' सो यह एक परोक्ष मार्ग से यजमान की दीर्घायु के लिए प्रार्थना है। क्योंकि जो जीता है वही एक बार यज्ञ करके फिर यज्ञ करता है। अक्षरार्थ यों है, यजमान को आगामी देवयज्या के लिए इडा से बुलाया है ॥३०॥

तदस्मा एतत्प्रजामेव परोऽक्षमाशास्ते। यस्य हि प्रजा भवत्यमु लोकमात्मनैत्यथा-स्मिंल्लोके प्रजा यजते तस्मात्प्रजोत्तरा देवयज्या ॥३१॥

साथ ही इसी वाक्य से परोक्षरूप से सन्तान मांगता है जिसके सन्तान होती है सो वह जब स्वयं परलोक को भी चला जाता है तो भी इस लोक में उसकी सन्तान यज्ञ करती है। सो उत्तर देवयज्या में यह भी सम्मिलित है ॥३१॥

तदस्माऽएतत्पशूनेव परोऽक्षमाशास्ते। यस्य हि पशवो भवन्ति स पूर्वमिष्ट्वाथा-परं यजते ॥३२॥

साथ ही उसके घर पशु सम्पत्ति भी बहुत हो यह मांगता है क्योंकि जिसके घर अपने पशु होते हैं वही एक बार यज्ञ करके फिर यज्ञ करता है ॥३२॥

भूयसि हविष्करणऽउपहूत इति। तदस्मा एतज्जीवातुमेव परोऽक्षमाशास्ते जीवन् हि पूर्वमिष्ट्वाथ भूयो भूय एव हविष्करोति ॥३३॥

आगे कहता है, 'भूयसि हविष्करण उपहूतः।' यह भी परोक्ष रूप से दीर्घायु मांगता है। क्योंकि जो देर तक जीता है वह एक बार हवि बनाकर फिर हवि बनाता है ॥३३॥

तदस्माऽएतत्प्रजामेव परोऽक्षमाशास्ते। यस्य ह प्रजा भवत्येक आत्मना भवत्य-थोत दशधा प्रजया हविष्क्रियते तस्मात्प्रजा भूयो हविष्करणम् ॥३४॥

यह परोक्षरूप से उसके लिए प्रजा की प्रार्थना है क्योंकि जिसके सन्तान

होती है वह एक हवि स्वयं बनाता है दश उसकी सन्तान बनाती हैं। सो यहाँ अनेक सन्तान की प्रार्थना है। अर्थात् हरे-भरे घर की, इसलिए पुनरुक्ति नहीं ।।३४।।

तदस्मा एतत्पशूनेव परोऽक्षमाशास्ते। यस्य हि पशवो भवन्ति स पूर्वञिष्ट्वाथ भूयो भूय एव हविष्करोति ।।३५।।

सो फिर हविष्करण की प्रार्थना द्वारा पशु-समृद्धि की भी परोक्षरूपेण प्रार्थना है जिसके पशु होते हैं वही घी दूध के बल पर फिर हवि बनाता है ।।३५।।

एषा वा आशीः। जीवेयं प्रजा मे स्याच्छ्रियं गच्छेयमिति तद्यत्पशूनाशास्ते तच्छ्रियमाशास्ते श्रीर्हि पशवस्तदेताभ्यामेवैतदाशीर्भ्या७ सर्वमाप्तं ऽतस्माद्वा एतेऽत्र द्वेऽआशिषौ क्रियेते ।।३६।।

सो यही संसार में लोग आशीर्वाद मांगते हैं। मैं चिरकाल तक जीऊँ। मेरे सन्तान हो, मैं श्री को प्राप्त होऊँ। (सो जिसके पशु हैं उसके ही श्री है) इसलिए इस आशीर्वाद में ही सब-कुछ मांग लिया। इसीलिए यह दो 'उत्तरस्यां देवयज्यायाम्' और भूयसि हविष्करण यह दो आशीर्वाद मांगता है ।।३६।।

देवा मऽइद७ हविर्जुषन्तामिति। तस्मिनुपहूत इति तद्यज्ञस्यैवैतत्समृद्धिमाशास्ते यद्धि देवा हविर्जुषन्ते तेन हि महज्जयति तस्मादाह जुषन्तामिति ।।३७।। शतम् ७००।।

फिर आगे कहता है, 'देवा म इदं हविर्जुषन्तामिति तस्मिन्नूपहूतः।' देव लोग मेरी इस हवि से प्रसन्न हों। इसलिए इस यज्ञ में यजमान उपहूत हुआ है। सो भाव यह है कि दीर्घायु प्रजा, पशु सब मेरे लिए निष्फल हैं यदि मेरा बनाया मस्तिष्क परोपकारी विद्वानों को नहीं भाया, तो देवों को भाना यही यज्ञ की समृद्धि है। वह मांगता है जब देवों को हवि भाती है तो यजमान की खूब विजय होती है। इसलिए कहा 'जुषन्तां प्रीयन्तां वा सेवन्ताम्' ।।३७।।

तां वै प्राश्नन्त्येव। नाग्नौ जुह्वति पशवो वाऽइडा नेत्पशूनग्नौ प्रवृणजामेति तस्मान्नाग्नौ जुह्वति ।।३८।।

सो इस इडा को खाते हैं। यज्ञ में हवन नहीं करते। भाव यह है कि जो अन्न भाग है, सो अन्नयाग है, उसका न खाना दोष है, खाएगा नहीं तो काम क्या करेगा। अति भोजन दोष है तो अभोज भी दोष है। युक्ताहार विहारता ही यज्ञ है। सो अन्न खाना यह मनुष्य पशु अर्थात् शरीर का भाग है. खाएगा नहीं तो यह शरीररूप पशु क्या करेगा। सो मनुष्य के पशु भाग की भी तृप्ति होनी चाहिए यदि वह कष्टकर भी कोपकार की अग्नि में पड़ने लगा तो विनाश होगा। इसलिए पशु को अग्नि में नहीं डालना। इसलिए इडा को यज्ञाग्नि में नहीं डालते ।।३८।।

प्राणेष्वेव हूयते। होतरि त्वद्यजमाने त्वदध्वर्यौ त्वदथ यत्पूर्वार्धं पुरोडाशस्य प्रशीर्य पुरस्ताद् ध्रुवायै निदधाति यजमानो वै ध्रुवा तद्यजमानस्य प्राशितं भवत्यथ यत्प्रत्यक्षं न प्राश्नाति नेदस७स्यिते यज्ञे प्राश्नानीत्येतदेवास्य प्राशितं भवति सर्वे प्राश्नन्ति सर्वेषु मे हुतासदिति पञ्च प्राश्नन्ति पशवो वाऽइडा पाङ्क्ता वै पशवस्तस्मात्पञ्च प्राश्नन्ति ।।३९।।

सो प्राशन द्वारा वह प्राणों में ही हवन की जाती है अर्थात् प्राण-यात्रा का साधन बनती है। चाहे होता के प्राणों में चाहे यजमान के प्राणों में चाहे अध्वर्यु में फिर वह जो पूर्वार्द्ध को तोड़कर ध्रुवा के सामने रख देता है। सो ध्रुवा यजमान का रूप

है, यजमान का भण्डार अटूट रहे, तब ही वह यजमान है नहीं तो यज्ञ क्या करेगा और जब तक यज्ञ है तब तक ही यजमान है। सो यही यजमान का भोजन हो गया और हाँ जो यजमान यज्ञ-मण्डप में नहीं खाता सो इसका भाव यह है कि यज्ञ-समाप्ति होने से पहले न खाऊँ। बस सब ऋत्विजों ने खा लिया सो उसने भी खा लिया। होता अध्वर्यु आदि सबने पुरोडाश पूर्वक यजमान को तथा बालक के मस्तिष्क की परिपूर्णता तक पहुँचने की शपथ ले लीं तो फिर वह निश्चिन्त है। वह हल्का हुआ (बिलकुल मुक्त नहीं हुआ), उसका भी उत्तरदायित्व में गौण भाग है, इसीलिए उसका भाग निकालकर ध्रुवा के सामने रख दिया जाता है। जिसे वह (कात्यायन मतानुसार) यदि ब्राह्मण हो तो पीछे खा लेता है, नहीं तो अग्नि में डाल देता है क्योंकि यदि क्षत्रिय, वैश्य राज्य तथा व्यापार में लगे रहे हैं तथा बच्चों की मस्तिष्क-सम्पत्ति वे ही करें तो यह उन पर अत्याचार है। हाँ देखरेख करते रहना उनका भी कर्त्तव्य है, जिससे ब्राह्मण निःशंक होकर प्रमाद अथवा धूर्तता न करें। यही क्षत्रिय, वैश्य यजमान का भाग है और इसीलिए वे पुरोडाश नहीं खाते। सारे ऋत्विज तथा यजमान मिलकर खाते हैं। जिससे मेरी इडा सब तक पहुँचे, पांच मिलकर खाते हैं। इडा पशु भाग की सूचक है। आहार, निद्रा, मैथुन, आत्मरक्षा तथा श्वासोच्छ्वास यह पाँच पशु-कर्म हैं। इडा अन्न होने के कारण इन पाँचों की रक्षा करती है। इसलिए पाँच मिलकर खाते हैं अर्थात् हम इन पाँचों कर्मों की रक्षा करने के निमित्त इडा के रखवाले हैं ॥३९॥

अथ यत्र प्रतिपद्यते। तच्चतुर्धा पुरोडाशं कृत्वा बर्हिषदं करोति तदत्र पितॄणां भाजनेन चतस्रो वाऽअवान्तरदिशो वै पितरस्तस्माच्चतुर्धा पुरोडाशं कृत्वा बर्हिषदं करोति ॥४०॥

फिर जब होता इडोपहूति में इडोपहूता इस वाक्य तक पहुँचता है, उस समय पुरोडाश को चार भाग करके बर्हि पर रख देता है। सो यह पितरों के भाग रखने के समान हैं। चार संख्या अवान्तर दिशाओं की हैं। अवान्तर दिशा पितृ दिशा हैं (मुख्य प्राची आदि) देव दिशा हैं। इसलिए पुरोडाश को चार भाग करके बर्हि पर रखता है—

प्राची अग्नि की दिशा है, अर्थात् आगे बढ़ने की।
दक्षिणा इन्द्र की दिशा है अर्थात् शक्ति की।
प्रतीची वरुण की दिशा है अर्थात् वैराग्य की
उदीची सोम की दिशा है अर्थात् सान्त्वना की।

इनके बीच में अवान्तर गुण हैं प्राची तथा दक्षिणा के बीच आग्नेय कोण है, जो असित गुण युक्त है अर्थात् आगे बढ़ने के लिए विषय बन्धन रहित होना। दक्षिण पश्चिम के बीच में नैऋत्य कोण है जो तिरश्चराजी रक्षिता कहा गया है अर्थात् अभिमान रहित होना। पश्चिमोत्तर में तीसरा वायव्य कोण होता है जिसका रक्षिता पृदाकू है जिसका अर्थ है कुटिलता रहित होना।

चौथी पूर्वोत्तर में ईशान दिशा है जिसका स्वजो रक्षिता में वर्णन है, जिसका अर्थ है दूरी से रहित होना अथवा जन्म मरण रहित होना। ये चारों गुण निषेधात्मक होने से गौण कहलाते हैं तथा मुख्य गुणों के रक्षिता हैं। जैसे राजा के अंग रक्षक। सो यह अवान्तर गुण भी इस चतुर्धाकरण का भाव है ॥४०॥

अथ यत्राहोपहूते द्यावापृथिवीऽइति। तदग्नीधऽआदधाति तदग्नीत्प्राशनात्युपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात्स्वाहोपहूतो द्यौष्पितोप मां

द्यौष्पिता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात्स्वाहेति द्यावापृथिव्यो वाऽएष यदाग्नीध्रस्तस्मादेवं प्राश्नाति ।।४१।।

फिर जब होता कहता है उपहूते द्यावापृथिवी तो यजमान अग्नीत् को षड्वत्त भाग देता है उसे अग्नीत् खाता है। फिर कहता है, उपहूता पृथिवी मातोपमां पृथिवी माता ह्वयातामग्नि एग्नीध्रात स्वाहोपहूतो द्यौष्पितोपमां द्यौष्पिता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहा। सो यह आग्नीध्रात स्वाहा। सो यह अग्नीध्र द्यावापृथिवी का सम्बन्ध जोड़ने वाला है। इसलिए ऐसा कहता है। प्रत्येक संगठन में जो सब कार्यकर्त्ताओं में उत्साह और सम्पर्क उत्पन्न करने वाला है। उसी का नाम अग्नीत् है। यह ब्रह्मा का सहायक ऋत्विज् है ।।४१।।

अथ यत्राशिषमाशास्ते। तज्जपति मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघ**वानः सचन्तां अस्माकꣳ सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिष इत्याशिषामेवैष प्रतिग्रहस्तद्या एवात्रर्ऽत्विजो यजमानायाशिष आशासते ता एवैतत्प्रतिगृह्यात्मन्कुरुते ।।४२।।**

आगे जब यजमान अपने लिए आशीर्वाद मांगता है तो जपता है, मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्। अस्माकं सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषः। यजु० २।१०। सो इन आशीर्वादों की प्राप्ति के लिए ही ऋत्विजों को प्रतिग्रह देता है। सो जो आशीर्वाद ऋत्विज उसके लिए देते हैं उन्हें प्रतिग्रहण करके अपने अन्दर धारण करता है। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है— मेरे अन्दर इन्द्र इन्द्रियशक्तियों को स्थापन करे। सुखकारी सम्पत्ति हमें प्राप्त हों। हमें आशीर्वाद प्राप्त होवे। आशीर्वाद सत्य हुआ, सो जो यजमान जानेगा ही नहीं कि मैं किसलिए यज्ञ कर रहा हूँ वह सफल कैसे होगा। यजमान ऋत्विजों पर ही आश्रित न रहें। स्वयं भी अपने संकल्प के लिए सदा जागरूक तथा यत्नवान् रहे तभी आशीर्वाद सच्चे होते हैं ।।४२।।

अथ पवित्रयोर्मार्जयन्ते। पाकयज्ञियेव वाऽएतदिडयाचारिषुः पवित्रपूता यदत ऊर्ध्वमसꣳस्थितं यज्ञस्य तत्तनवामहाऽइति तस्मात्पवित्रयोर्मार्जयन्ते ।।४३।।

फिर इडा भाग भोजन करके यजमान तथा ऋत्विज लोग अपने स्थान पर लौटकर वेदि के पश्चिम भाग में बैठकर ब्रह्मादि क्रम से—ओं सुमित्रिया न आप ओषधय सन्तु' यह वाक्य बोलकर पवित्रों से मार्जन करे। यह इडा-प्राशन यज्ञ के बीच में एक खाने पीने की बात आ गई सो यज्ञांग रूप आवश्यक बात थी, परन्तु खाने पीने में ही तो नहीं रहना। पाक-यज्ञ का प्रसंग समाप्त हुआ सो यज्ञ अब बढ़ेगा। इसलिए मार्जन करके आगे बढ़ते हैं, जिससे भोजन में आसक्ति न हो तथा जिस पवित्र भावना से यज्ञ आरम्भ हुआ था सो यज्ञ का असमाप्त भाग इससे परे शेष है। वह भी उसी भावना से पूरा हो इसलिए पवित्रों द्वारा मार्जन करते हैं ।।४३।।

अथ ते पवित्रे प्रस्तरेऽपिसृजति। यजमानो वै प्रस्तरः प्राणोदानौ पवित्रे यजमाने तत्प्राणोदानौ दधाति तस्मात्ते पवित्रेऽपिसृजति ।।४४।। ब्राह्मणम् ।।३। [८.१]

फिर उन पवित्रों को प्रस्तर (बिछाए हुए दर्भ) पर रखता है, पवित्रे प्राण और उदान के चिह्न हैं और प्रस्तर यज्ञ का सो उन्हें यथास्थान वापस भेजता है। भाव यह है कि यज्ञ में जब कभी कोई ऐसा प्रसंग आए जहाँ यज्ञ के तन्तु-विच्छेद का भय हो, वहाँ विशेष प्रयत्न द्वारा प्राणायाम पूर्वक मन को निग्रह करे और मन के निगृहीत होते ही प्राणायाम निवृत्त हो जाता है और फिर यथापूर्व कार्य आरम्भ हो जाता है। प्राणायाम भी साधन है, साध्य नहीं। कार्य पूरा होते ही साधन को उसके स्थान पर भेज दे न कि उसमें आसक्त होकर उसकी पूजा में लगा रहे ।।४४।।

अथ अष्टमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

ते वाऽएतेऽउल्मुकेऽउद्गूहन्ति । अनुयाजेभ्यो यातयामेव वाऽएतदग्निर्भवति देवेभ्यो हि यज्ञमूहिवान्भवत्ययातयाम्न्यनुयाजांस्तनवामहाऽइति तस्माद्वाऽएतेऽउल्मुके-उद्गूहन्ति ।।१।।

फिर वे लोग दो दहकती लकड़ियों को ऊपर निकालते हैं । यह कार्य अनुयाज होम के लिए किया जाता है क्योंकि इतनी देर प्राशनादि कर्मों में व्यस्त रहने के कारण अग्नि यातयाम अर्थात् क्षीण-शक्ति सा हो जाता है उसमें याम नहीं अर्थात् आगे चलने की शक्ति क्षीण हो जाती है क्योंकि वह इतनी देर तक देवों के लिए हवि वहन कर चुका है। सो अब उसे फिर ताजा करके उसमें यज्ञ-विस्तार करें । इसलिए उल्मुक (दहकती लकड़ी) ऊपर (राख में से) निकालते हैं ।।१।।

ते पुनरनुसꣳस्पर्शयन्ति । पुनरेवैतदग्निमाप्याययन्त्ययातयामानं कुर्वन्त्ययात-याम्न यदत उर्ध्वमसꣳस्थितं यज्ञस्य तत्तनवामहाऽइति तस्मात्पुनरनुसꣳस्पर्शयन्ति ।।२।।

फिर उन्हें आपस में इकट्ठा कर लेते हैं क्योंकि अग्नि यात याम हो चुका है सो दो दहकती लकड़ी इकट्ठी करने से वह फिर चमक उठता है। सो हम दहकती अग्नि में यज्ञ का विस्तार करें । इसलिए उन्हें इकट्ठा करते हैं ।।२।।

अथ समिधमभ्यादधाति । समिन्द्धऽएवैनमेतत्समिद्धे यदत ऊर्ध्वमसꣳस्थितं यज्ञस्य तत्तनवामहाऽइति तस्मात्समिधमभ्यादधाति ।।३।।

फिर अनुयाज के लिए पहले बचाकर रक्खी हुई एक समिधा को अग्नि में आग्नीध्र रखता है । सो यह अग्नि प्रदीप्त करता है कह सकें । इसलिए समिदाधान करता है ।।३।।

ताꣳ होतानुमन्त्रयते । एषा तेऽग्ने समित्तया वर्धस्व चा च प्यायस्व वर्धिषी-महि च वयमा च प्यासिषीमहीति तद्यथैवादः समिध्यमानायान्वाहैवमेवैतन्वाह तदेतद्धोतुः कर्म स यदि मन्येत न होता वेदेत्यपि स्वयमेव यजमानोऽनुमन्त्रयेत ।।४।।

फिर उसके समिधा के विषय में अनुमंत्रण करता है, एषा ते अग्ने समित्तया वर्धस्व चा च प्यायस्व वर्धिषीमहि वयमा च प्यासिषीमहि । यजु० २।१४।। सो जिस प्रकार पहले समिध्यमान अग्नि के विषय में सामिधेनी चयन करता है, इसी प्रकार यहाँ भी अनुवचन करता है, सो यह होतृ कर्म है । सो यदि होता इसे ठीक न कर सकता हो तो यजमान स्वयं कर ले ।।४।।

इस सारे प्रसंग को समझने के लिए यह समझ लेना आवश्यक है कि अनुयाज वस्तु क्या है ? बात यह है कि अब पुरोडाश सम्पादन हो चुका, होम हो चुका, अपना

भाग सबको मिल चुका अर्थात् उत्तम मस्तिष्क बन चुका, उसका परोपकार की अग्नि में हवन हो चुका, उसे खाकर ऋत्विज यजमानोंने भविष्य में मस्तिष्क-सम्पादन के कर्त्तव्य पर सदा आरूढ़ रहने की प्रतिज्ञा भी कर ली । अब इतने समय में जो कुछ हुआ उसकी आलोचना और उससे हमने क्या सीखा यह अनुभव इकट्ठेकरके भविष्यके लिए नियम बनाने का कार्य है यह प्रत्यलोचनऔर नियम-निर्माण का कार्य हर संगठित कर्म में आवश्यक अंग है। इसे अनुयाज कहते हैं। प्राय: फल-प्राप्ति के पश्चात् इस महत्त्वपूर्ण अंग को लोग भूल जाते हैं। उनके कार्य वषट्कार हीन होते हैं। परिपूर्ण नहीं होते और यज्ञ का उद्देश्य है वषट्कार सिखाना। सो पुरोडाश प्राशन होते ही अनुयाजार्थ समिन्धन में लग गये। इस कार्य में कम से कम दो प्रतिनिधि साधारण परिश्रम करने वाले आवश्यक हैं। जो उत्साही प्रकृति के हों, इसलिए दो दहकती लकड़ियाँ लेता है। दो इसलिए कहा कि जिस बात का अनुमोदन एक भी मनुष्य न करे वह प्राय: खोखला होता है। इसलिए दो होना अच्छा है। फिर यजमान को भी अपना पूर्ण सहयोग देना चाहिए। इसलिए इसकी सूचनार्थ उसने पहले से ही एक समिधा बचा रक्खी है, यह क्योंकि पूर्वकृत का प्रत्यालोचन मात्र है इसलिए होता इसमें सम्मिलित न भी हो तो क्षति नहीं। क्योंकि किस-किस ने, किस-किस प्रकार कार्य किया है, इसे होता क्या जाने। इसे तो ब्रह्मा जाने या अध्वर्यु और यदि होता भी सम्मिलित हो तो और अच्छा होता, क्योंकि होता का मुख्य कार्य तो संविधान बनाना है। व्यक्तियों के कार्य को हो सकता है कि 'न वेद'। नहीं जानता और प्राय: नहीं जानता। हाँ कितना कार्य हुआ, किसने किया, कैसे किया, यह जानना यजमान के लिए आवश्यक है। इसलिए यह अनुमंत्रण वह स्वयं ही करे तो ठीक है। हाँ कार्य के आरम्भ में संविधान की रोचकता बनाना उसी का कार्य है। मस्तिष्क-निर्माण में हम सब किस-किस प्रकार कैसा मस्तिष्क बनाने जा रहे हैं। यह वही ठीक बना सकता है।

अथ सम्मार्ष्टि । युनक्तत्येवैनमेतद्युक्तो यदत ऊर्ध्वमस७ँस्थितं यज्ञस्य तद्वहा-दिति तस्मात्सम्मार्ष्टि सकृत्सकृत्सम्मार्ष्टि त्रिस्त्रिर्वाऽअग्रे देवेभ्यः सम्मृजन्ति नेत्तथा करवाम यथा देवेभ्य इति तस्मात्सकृत्सकृत्सम्मार्ष्ट्यजामितायै जामि ह कुर्याद्यत्त्रिः पूर्वं त्रिरपरं तस्मात्सकृत्सकृत्सम्मार्ष्टि ॥५॥

अब (अग्नीत्) अग्नि-संमार्जन करता है सो वह अग्नि को फिर यज्ञ में जोतने लगा है कि जो यज्ञ का इससे परे असपाप्त भाग है उसका वहन करे। इसलिए संमार्जन करता है। सो यहाँ एक-एक बार संमार्जन करता है। पहले देवों के निमित्त तीन-तीन बार संमाजिन करते हैं। सो उससे मित्रता करने के लिए यहाँ एक बार करते हैं, जिससे जो देवों के लिए किया था वह यहाँ न करे। इसलिए एक-एक बार संमार्जन करता है। यदि पहले भी तीन बार और यहाँ देवों के वाहन अनुयाजों में भी तीन बार करे तो फिर भिन्नता कोई न रहे। भाव यह है कि प्रत्यालोचन मुख्य हवन की अपेक्षा गौण है। यह गौण मुख्य भाव यहाँ तीन बार और एक बार से दिखाया गया है ॥५॥

स सम्मार्ष्टि । अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा ससृवा७ँसं वाजजित७ँ सम्मार्ज्मीति सरिष्यन्तमिति वाऽअग्रऽआह सरिष्यन्निवि हि तर्हि भवत्यथात्र ससृवा७ँसमिति ससृवेव ह्यत्र भवति तस्मादाह ससृवा७ँसमिति ॥६॥

संमार्जन के समय मन्त्र पढ़ता है 'अग्ने वाजजिद् वाजं त्वा ससृवा७ँसं वाजजितं

सम्मार्ज्मि ॥ यजु० २।१४। पहले समार्जन में मन्त्र पढ़ा था, 'अग्ने वाजजिद् वाजं त्वा सरिष्यन्तं सम्मार्ज्मि ॥ य० २।७ क्योंकि उस समय उसे आगे बढ़ना था अब वह आगे बढ़ चुका, कार्य कर चुका, इसलिए कहा, ससृवांसम् क्योंकि उसका मुख्य कार्य हो चुका। इसलिए ससृवेव अर्थात् वह पहुँच चुका-सा है ॥६॥

अथानुयाजान्यजति। या वाऽएतेन यज्ञेन देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायते सर्वा वै तत्ता इष्टा भवन्ति तद्यत्तासु सर्वास्विष्टास्वथैतत्पश्चेवानुयजति तस्मादनुयाजा नाम ॥७॥

अब वह अध्वर्यु अनुयाजों का हवन करता है, सो पहले यह बताते हैं कि इन का नाम अनुयाज क्यों है? सो इस यज्ञ में अग्नि अग्निषोम आदि जिन देवों के निमित्त हवन करना था, जिन्हें बुलाना था जिनके निमित्त यज्ञ का विस्तार था वह उन सबके लिए तो हवन हो चुका। अब उन सबके निमित्त हवन हो चुकने के पश्चात् यह जो पिछड़ा हुआ-सा हवन है, इसलिए इसका नाम अनुयाज है ॥७॥

अथ यदनुयाजान्यजति। छन्दाᳪसि वाऽअनुयाजाः पशवो वै देवानां छन्दाᳪसि तद्यथेदं पशवो युक्ता मनुष्येभ्यो वहन्त्येवं छन्दाᳪसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति तद्यत्र छन्दाᳪसि देवान्त्समतर्प्पयन्नथ छन्दाᳪसि देवाः समतर्प्पयंस्तदतस्तत्प्राग-भूद्यच्छन्दाᳪसि युक्तानि देवेभ्य यज्ञमवाक्षुर्यदेनान्त्समतीतृपन् ॥८॥

अब प्रश्न उठता है कि जब सब देवों का हवन हो चुका तो इनकी आवश्यकता ही क्या थी। सो इस अंग का महत्त्व बताते हैं। ये अनुयाज यज्ञरूप गद्य को छन्दोमय बनाते हैं अर्थात् पहले किये कार्य से प्राप्त अनुभवों की अलोचना से जो नियम बना लिये जाते हैं, वे अगले विद्वानों के लिए वाहन का कार्य करते हैं, उन अनुभवों की कृपा से देवों को अपना कार्य छन्दोबद्ध दीखने लगता है। उसमें सुगमता से रस आ जाता है। गद्य और पद्य में यही भेद है कि पद्य में नियम है। इसलिए कहा अनुयाय छन्दोरूप हैं, छन्द देवों के पशु अर्थात् वाहन हैं। सो जिस प्रकार गाड़ी में जुते हए पशु मनुष्य को आनन्द से जहाँ-तहाँ ले जाते हैं इसी प्रकार छन्दोऽग्नि अर्थात् पूर्वानुभव मन्थन-लब्ध मर्यादाएँ देवों को तृप्त करती हैं, किन्तु यज्ञ करके देव जो प्रत्यालोचन करते हैं सो वे मर्यादाओं को तृप्त करते हैं सो यहाँ तक जो यज्ञ हुग्रा सो वह भाग हुआ जो छन्द जुते हुए थे और देवों के लिए यज्ञ रथ का वहन कर रहे थे और उन्होंने इन देवों को तृप्त कर दिया ॥८॥

अथ यदनुयाजान्यजति। छन्दाᳪसि वाऽअनुयाजाश्छन्दाᳪस्येवैतत्सन्तर्प्पयति तस्मादनुयाजान्यजति तस्माद्येन वाहनेन धावयेत्तद्विमुच्य ब्रूयात्पाययतैनत्सुहितं कुरुतेत्येष उ वाहनस्यापह्नवः ॥९॥

अब यह जो अनुयाजों का हवन करता है सो अनुयाज है। छन्द अर्थात् नियम। सो अब नये नियम बनाता है मानो इन्हें तर्पण करता है। सो ठीक ही है, जिस वाहन को रथ में दौड़ाएँ मंजिल पर पहुँचकर उसे खोलकर कहे, इसे पानी पिलाओ, खूब खिलाओ। सो यही वाहन की सेवा है ॥९॥

सो अनुयाजों में से प्रथम र्बाह है। वह जगती छन्द के तुल्य है। सो प्रश्न उठता है कि यह जगती पहले क्यों आई सर्वत्र तो मात्रा पहले आती है। सो इसकी व्याख्या करते हैं। वह जो गाय की मात्राओं में से इन कनिष्ठ होती हुई भी प्रथम स्थान में जोड़ी जाती है सो अपनी शक्ति के कारण क्योंकि वह श्येन बनकर देवलोक से सोम

छीन लाई थी। अर्थात् विद्या में ही यह बल है कि समस्त पदार्थों में छिपे रूप को प्रकट कर देती है। ब्रह्माण्ड के परले से परले भाग में छिपे ज्ञान रूप सोम को उड़ाकर ले आती है। परन्तु मात्राओं की दृष्टि से यह अनुचित है कि वह छोटी होकर प्रथम स्थान में जोड़ी जावे, सो देवों ने उस कमी को यहाँ पूरा किया है। यहाँ मात्रा के नाम से देवों ने छन्दों को स्थान दिया। जिससे पक्षपात युक्त व्यवहार से किसी के हृदय में पाप न बस जावे।

स वै खलु बर्हिः प्रथमं यजति। तद्वै कनिष्ठं छन्दः सद्गायत्री प्रथमा छन्दसां युज्यते तद् तद्वीर्येणैव यच्छ्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत्तद्यथायथं मन्यन्ते यत्कनिष्ठं छन्दः सद्गायत्री प्रथमा छन्दसां युज्जतेऽथात्र यथायथं देवाश्छन्दाᳬस्यकल्पयन्ननुयाजेषु नेत्पापवस्यसमसदिति ॥१०॥

इस कण्डिका के मर्म को समझने के लिए जहाँ प्रयाजों में बर्हि आया है उसका स्मरण करना चाहिए। बर्हि की वहाँ शरद् से उपमा दी है। कार्य के आरम्भ में जो उत्साह है उसे वसन्त कहा है, गायत्री को अग्नि का छन्द कहते हैं। बात स्पष्ट है किसी समारम्भ के आरम्भ में मुख्य स्थान संकल्प तथा उत्साह का होता है। परन्तु अन्त में जब आलोचना की जाती है तो सबसे प्रथम यही देखना होता है कि संकल्प सफल हुआ वा नहीं, यहाँ फल का स्थान प्रथम है, हमने यह संकल्प किया कि पाँच वर्ष में हमारे राज्य में कोई निरक्षर न रहे अथवा हमारा बालक १० वर्ष में व्याकरण का विद्वान् बने। इसी के अनुसार विधान तैयार हुआ। अब ५ या १० वर्ष के पश्चात् जब सारे कार्य पर विचार होगा तो पहले यही देखना होगा कि सफलता हुई वा नहीं। इसलिए अनुयाज में फल का स्थान प्रथम है ॥१०॥

स वै खुल बर्हिः प्रथमं यजति। अयं वै लोको बर्हिरोषधयो बर्हिरस्मिन्नेवैतल्लोक-ऽओषधीर्दधाति ता इमा अस्मिंल्लोकऽओषधयः प्रतिष्ठितास्तदिदᳬ सर्वं जगदस्यां तेनेयं जगती तज्जगतीं प्रथमामकुर्वन् ॥११॥

सो वह पहले बर्हि का यजन करता है। यह पृथिवी लोक बर्हि है (यहीं खेती पकती है फल के विचारने के समय हवा में नहीं उड़ना। अब आसमान से जमीन पर आओ, स्वप्न की दुनिया से यथार्थ की दुनिया में आ जाओ। फल या कान्त औषधि बर्हि है सो इस पृथिवी लोक में औषधि अर्थात् पकी खेती की स्थापना करता है। यह देखो न प्रत्यक्ष संसार में भी उसी लोक में औषधि (अन्न) प्रतिष्ठित हैं और क्योंकि इसी अन्नपूर्णा धरती पर सब जगत् खड़ा है इसीलिए इस पृथिवी को जगती कहते हैं। इसलिए इस बर्हि को जगती छन्द माना गया है और प्रथम स्थान दिया है ॥११॥

अथ नराशᳬसं द्वितीयं यजति। अन्तरिक्षं वै नराशᳬसः प्रजा वै नरस्ता इमा अन्तरिक्षमनु वावद्यमानाः प्रजाश्चरन्ति यद्वै वदति शᳬसतीति वै तदाहुस्तस्मादन्तरिक्षं नराशᳬसोऽन्तरिक्षमु वै त्रिष्टुप् तत् त्रिष्टुभं द्वितीयामकुर्वन् ॥१२॥

द्वितीय स्थान अनुयाजों में शेष का है। यह अन्तरिक्ष लोक है। यह सम्पूर्ण प्रजा नरः कहलाती है सो नृणामाशंसः नराशेषः यह व्युत्पत्ति हुई सो यह नर रूप प्रजा इस अन्त-रिक्ष में चहल-पहल करती फिरती हैं। सो शेष का अर्थ है बोलना। इसलिए जहाँ लोग बोलें उस अन्तरिक्ष को नराशेष कहते हैं। अन्तरिक्ष त्रिष्टुप् छन्द है। इसीलिए त्रिष्टुप का स्थान दूसरा है ॥१२॥

बात स्पष्ट है यदि कार्य में सफलता न भी हो तब भी यदि कार्यकर्त्ताओं ने कार्य ईमानदारी तथा कुशलता से किया हो और कोप ने असफल कर दिया तो अच्छे कार्यकर्त्ताओं की प्रशंसा तो होगी ही परन्तु प्रशंसा ठीक तब ही है जब पहले सफलता हो ले। इसलिए बर्हि के पश्चात् नराशंस है इसमें यह उल्लेख होगा कि किस किसने कार्य ईमानदारी, कुशलता और तत्परता से किया। इन तीन ईमानदारी, कुशलता और तत्परता के कारण यह त्रिष्टुप् छन्द है ॥१२॥

अथाग्निरुत्तमः। गायत्री वाऽअग्निस्तद्गायत्रीमुत्तमामकुर्वन्नेवं यथायथेन क्लृप्तेन छन्दाᳬसि प्रत्यतिष्ठंस्तस्मादिदमपापवस्यसम् ॥१३॥

तीसरा अनुयाज अग्नि के नाम का है किस मनुष्य ने कितनी निष्काम भावना तथा प्रभु प्रीति दिखाई ? कार्य के आरम्भ में इसका स्थान प्रथम है। इसके बल पर मनुष्य मस्त होकर गाता है। अतः यज्ञ के आरम्भ में इसका स्थान प्रथम है परन्तु आलोचना में यदि कोई मनुष्य न फल प्राप्ति करे, न कार्य तत्पर हो। केवल उत्साह के गीत ही गीत गाया करे, तो वह भक्त नहीं, भगतजी हो जाता है। इसीलिए अग्नि का स्थान यहाँ अन्तिम है। सो फल गणना में जिसका जहाँ स्थान था उसे वहाँ पहुँचा दिया। इसलिए पक्षपात रहित होने से किसी के हृदय में पाप नहीं बसता ॥१३॥

देवान्यजेत्येवाध्वर्युराह। देवं देवमिति सर्वेषु होता देवानां वै देवाः सन्ति छन्दाᳬस्येव पशवो ह्येषां गृहा हि पशवः प्रतिष्ठो हि गृहाश्छन्दाᳬसि वाऽअनुयाजास्तस्माद्-देवान्यजेत्येवाध्वर्युराह देवं देवमिति सर्वेषु होता ॥१४॥

सो यहाँ अनुयाजों में 'अध्वर्यु देवा ३ यज' ऐसा प्रेष देता है उधर—'देवं बर्हिर्वसुवने वसुधेयस्य वेद ३ वौ३षट्' ऐसी याज्या पढ़ता है। उसी प्रकार 'देवं नराशंसाम् देवमग्निम्' सो यह छन्द इस समय देवों का भी देव है। यह इनके पशु हैं, वाहन हैं, यह इसके घर बन गये हैं क्योंकि मनुष्य घर में प्रतिष्ठित होता है और देव इन नियमों में प्रतिष्ठित होते हैं। तो वह नियम मर्यादा वा छल ही अनुमात्र हैं। इसीलिए अध्वर्यु भी देवान् कहता है होता भी देवं देवं कहता है। भाव यह कि देवों ने सफलता पाई। इसी से लोग फिर यज्ञ में प्रवृत्त होते हैं, यह पहली प्रतिष्ठा है। जो उत्तम कार्य करते हैं उसकी प्रशंसा होती है, यह दूसरी प्रतिष्ठा है। धीर लोग निष्काम कर्म करते हैं। उन्हें अन्दर की अग्नि निष्फल होने पर भी फिर सफल होने के लिए प्रेरणा करती हैं, यह तीसरी प्रतिष्ठा है। इसीलिए अनुयाज देवों का देव है ॥१४॥

वसुवने वसुधेयस्येति। देवतायाऽएव वषट्क्रियते देवतायै हूयते न वाऽअत्र देवतास्त्यनुयाजेषु देवं बर्हिरिति तत्र नाग्निर्नेन्द्रो न सोमो देवो नाराशᳬस इति नात एकं चन यो वाऽअत्राग्निर्गायत्री स निदानेन ॥१५॥

एक प्रश्न यह है कि देवता के नाम पर ही आहुति होती है, देवता के नाम पर ही वषट्कार होता है किन्तु यहाँ अनुयाजों में किसी देवता का नाम ही नहीं। यह जो कहा, देवं बर्हिः सो यह कौन सा देव है। न यह अग्नि है, न इन्द्र, न सोम कह दिया देवो नराशंस, परन्तु इस अग्नि के देवता इन्द्राग्नी तथा इन्द्र में से तो यहाँ एक भी नहीं। सो यह जो यहाँ अग्नि है सो मूल में गायत्री छन्द है ॥१५॥

अथ यद्वसुवने वसुधेयस्येति यजति। अग्निर्वै वसुवनिरिन्द्रो वसुधेयोऽस्ति वै छन्दसां देवतेन्द्राग्नीऽएवैनमु हैतद्देवतायाऽएव वषट्क्रियते देवतायै हूयते ॥१६॥

और वसुवने वसुधेयस्य यज कहता है सो अग्नि असुवनि है। वसु को अपने संकल्प द्वारा मैं इतना कार्य भाग अवश्य करूँगा इस प्रकार से भजन करने वाला है और इन्द्र वसुधेय (सम्पूर्ण वसुओं का ध्येय) है और इन्द्राग्नी सम्पूर्ण छन्दों के देवता हैं सो यजनीय त्रिष्टुप् गायत्री का हवन जो हुआ यह अग्नि तथा इन्द्र का ही तो हुआ। इसलिए देवता के लिए ही आहुति तथा उसके लिए वषट्कार हुए।

भाव यह है कि संकल्पाग्नि की सफलता ही सफलता है सो उसकी आलोचना अग्निके ही निमित्त हुई। प्रशंसा की जाती सो भी संकल्प पूर्ति तथा यजमान रूप इन्द्र की सेवा के लिए। सो सब अग्नि का अर्थ ब्राह्मण तथा इन्द्र का अर्थ राजा करें तो उनके निमित्त ही तो यज्ञ हैं और वह भी तो परमात्मा की आराधना के लिए कार्य कर रहे हैं। इसलिए सब यज्ञों का परम देव वही ही है जो सबसे बड़ा अग्नि तथा इन्द्र है। इसलिए यह अनुयाग भी देवगामी ही हैं ॥१६॥

अथोत्तममनुयाजमिष्ट्वा समानीय जुहोति। प्रयाजानुयाजा वाऽएते तद्यथैवादः प्रयाजेषु यजमानाय द्विषन्तं भ्रातृव्यं बलिँ हारयत्यत्रऽआद्यं बलिँ हारयत्येवमेवैतदनुयाजेषु बलिँ हारयति ॥१७॥ ब्राह्मणम् ॥४ [८.२] ॥ षष्ठः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासङ्ख्या ॥१११॥

फिर अन्तिम स्विष्टकृत् का अनुयाज हवन करके उपभृत का शेष जुहू में लाकर समानयन पूर्वक हवन करता है। सो जिस प्रकार प्रयाजों में यजमान के सामने यजमान के प्रतिपक्षी को छोटा दिखाने का अभिनय जुहू तथा उपभृत द्वारा किया जाता है तथा छोटे से बड़े के सामने कर दान करवाया जाता है। सामने आपसे कर दिलवाया जाता है। इसी प्रकार यहाँ अनुयाजों में भी कर दान करवाया जाता है। अर्थात् आलोचना में भी देखना कि जितना व्यय करना था उतनी आय भी हुई वा नहीं। व्यय तथा आय में से व्यय को मुख्य बताना वैदिक सभ्यता की विलक्षणता तथा वीरता का चिह्न है। व्यर्थ व्यय करना नहीं जो काम करना निष्काम भाव से परोपकार बुद्धि से करना किन्तु व्यय आवश्यक है उसके लिए आय आनी ही चाहिए तथा व्यर्थ संचय नहीं होना चाहिए। यदि संचय हो तो उसके सद्व्यय का तुरन्त उपाय होना चाहिए नहीं तो व्यर्थ संचय होने से भोग-विलासादि बढ़कर व्यर्थ कलह बढ़ता है। जितना आवश्यक संचय है, वह ध्रुवा रूप में पहले आ चुका है। यह इस क्रिया का भाव है ॥१७॥

इति अष्टमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्।

अथ अष्टमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

अब स्रुग्व्यूहन आरम्भ होता है। स्रुग्व्यूहन में मन्त्र पढ़कर जुहू तथा उपभृत् का मुख एक दूसरे के समीप करते हैं। विधि इस प्रकार है। अध्वर्यु दक्षिण हाथ में वेद लेकर दहिना हाथ उत्तान रखकर उससे जुहू को प्रस्तर से पूर्व की ओर सरकावे। उस समय मन्त्र पढ़े अग्नीषोमयोरुज्जितिमित्यादि। य० २।१५। फिर वायां हाथ अधोमुख रखते हुए उससे उपभृत् को प्राङ्मुख रखते हुए अग्नीषोमौ तमपनुदताम्। य० २।१६।। इस मन्त्र से पश्चिम की ओर लावे।

फिर अध्वर्यु जुहू का अभ्युक्षण करके वसुभ्यस्त्वा। य० २।१६। आदि तीन वाक्यों से जुहू में पड़े घृत से पश्चिम दक्षिण उत्तरपरिधि का यथाक्रम अभ्यंजन करे। फिर जुहू को प्रस्तर से उत्तर की ओर प्रेरणा करे फिर प्रथम परिधि बोलकर ओं श्रावय ऐसा प्रैष अग्नीध्र को दे वह अस्तु श्रौ३षट् कहे तब इषिता देव्या होतारो भद्रवाक्याय प्रेषितौ मानुषाय सूक्तवाकाय सूक्ता ब्रूहि यह प्रैष होता को देकर ग्रों संजानाथां द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम्॥ यजु० २।१६।। इस मन्त्र से प्रस्तर से प्रस्तर लेकर विधृति नामक तृणों को आहवनी में फेंककर प्रस्तर के अग्र भाग को ओ३म् व्यन्तु वयोवतं रहिणा। यजु० इस मन्त्र से जुहू में अभ्यंजन करके उसके मध्य भाग को उसी मन्त्र से उपभृत् में डुवाकर उसके मूल क उसी मन्त्र से ध्रुवा डुवकाकर मरुतां पृषतिर्गच्छेति वशा वृश्चिभूर्त्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह। य० २।१६।। इस मन्त्र से प्रस्तर को स्रुचों के दक्षिण ओर लाकर भूमि के साथ साथ लगे।

तब अध्वर्यु प्रस्तर का एक तृण बचाकर सूक्तवाक के अग्र में अग्र भाग पूर्व की ओर रखते हुए आहवनीय में फेंक दे।

तब अध्वर्यु उस प्रस्तर को हाथ की अँगुलियों से जहाँ अग्नि प्रदीप्त हो उस ओर सरका दे। फिर अग्नीत् अनुप्रहर इस प्रकार अध्वर्यु को अध्येषण दे। तब अध्वर्यु प्रस्तर में से बचाए हुए एक तृण को फिर अग्नि में फेंक कर ओं चक्षुषा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि २।१६।। यह मन्त्र बोलकर अपने आपको स्पर्श करके जलोपस्पर्शन करे।

फिर संवाद् विधि आरम्भ होती है।

अग्नीत् संवदस्व, अध्वर्यु अगानग्नीत्।

अग्नीत्=अगन्, अध्वर्यु, श्रा३वय, अग्नीत् श्रौ३षट्

अध्वर्यु स्वगा दैव्यां होतृभ्यः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः शंयोर्ब्रूहि ऐसा प्रैष होता को दे तब होता तच्छंयोरावृणीमहे गातु यज्ञाय गातु यज्ञपतये दैवी स्वस्तिरस्तु नः स्वस्ति

मनुषेभ्यः। ऊर्ध्वं जिगातु भेषजं शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे, यह शंयुवाक् पढ़कर, यह मन्त्र पढ़कर प्रादेश को वेदि पर रख दे।

इस सारे प्रसंग को समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है। इडा प्राशन के साथ यज्ञ का मुख्य भाग समाप्त हो लिया। अब अनुयाजों से वह भाग आरम्भ होता है, जिसे हम उपसंहार कह सकते हैं। वैसे तो स्विष्टकृत् के साथ ही आलोचना आरम्भ हो गई थी, परन्तु वह तो एक राज्याधिकारी द्वारा किया निरीक्षण था। अनुयाजों में यजमान अपने ऋत्विजों सहित सारे कार्य पर दृष्टिपात करता है। कार्य की सफलता देखता है। किसने कैसा काम किया, यह देखता है। अपने हृदय में संकल्पाग्नि की क्या दशा है, यह देखता है। इसीलिए तीसरे अनुयाज का नाम भी स्विष्टकृत् है। भेद केवल इतना है कि पहला स्विष्टकृत् राज्य के संतोष के लिए है दूसरा यजमान के तथा उसके सहकारियों के सन्तोष के लिए।

अनुयाजों के पश्चात् स्रुग्व्यूहन है इसका भाव है आय तथा व्यय को एक-दूसरे के अनुकूल बनाना अर्थात् हिसाब का निरीक्षण करके नीवीपत्र बनाना इसको बर्हि न समझना। बर्हि का भाव है यह देखना हमारे पास द्रव्य कितना है। कच्चा माल कितना है। व्यवहार में कितना आया। उसके उपयोगी बनाने के अन्य क्या उपाय किये जा सकते हैं।

किन्तु स्रुग्व्यूहन का भाव है आय-व्यय का लेखा। इसी प्रकार मस्तिष्क के बनाने में उस मस्तिष्क ने एक संवत्सर में कितने नये विचार अपने संकल्पित क्षेत्र में बनाये। कितने लोकप्रिय हुए, कितने और नये बनाये जा सकते हैं। यह देखना बर्हि अनुयाज है।

किन्तु इस विचार के उत्पन्न करने में कितनी शक्ति लगी ? कितना समय लगा, कितना व्यय हुआ ? व्यर्थ वीर्य नाश द्वारा आय की हानि तो नहीं हुई इत्यादि विचार करना स्रुग्व्यूहन है। बर्हि फल का हिसाब है, स्रुग्व्यूहन फलोत्पादन में लगने वाली शक्ति का। यह दोनों में भेद है।

स वै स्रुचौ व्यूहति। अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामीति जुहूं प्राचीं दक्षिणेन पाणिनाग्नीषोमौ तमपनुदतां योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामीत्युपभृतं प्रतीचीᳬ सव्येन पाणिना यदि स्वयं यजमानः ॥१॥

वाज नाम जवानी की मस्ती का है। जुहू अर्थात् शक्ति-व्यय को आगे बढ़ाते हुए कहता है। अग्नि तथा सोम के सुन्दर समन्वय से उत्तम जीत मैं सदा पाऊँ। इस लिए हे मेरे शक्ति-व्यय करने वाले मस्तिष्क तुझे जवानी की सच्ची मस्ती की आज्ञा से अग्नि बढ़ाता हूँ। यह अग्निसोम का सुन्दर जोड़ा मेरे हानि करने वाले तथा द्वेष के पात्र काम, क्रोधादि शत्रुओं को तथा इन व्यसन वाले दुष्ट मनुष्यों को मुझसे सदा दूर रक्खें। जवानी की मस्ती की प्रेरणा से मैं उस आय को बलपूर्वक वश में लाता हूँ। जब यजमान स्वयं हवन करे तो इस प्रकार कहे ॥१॥

यद्युऽअध्वर्युः। अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जयत्वयं यजमानो वाजस्यैनं प्रसवेन प्रोहाम्यग्नीषोमौ तमपनुदतां यमयं यजमानो द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामीति पौर्णमास्यामग्नीषोमीयᳬ हि पौर्णमासᳬ हविर्भवति ॥२॥

यदि अध्वर्यु हवन कराता हो तो वह अहम् के स्थान में अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जयत्वयं यजमानो वाजस्येन प्रसवेन प्रोहाम्यग्नीषोमौ तमपनुदताम यमयं यजमानो द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि वास्येनं प्रसवेनापोहामि इस प्रकार कहे अर्थात् मैं के स्थान

में मेरा यह यजमान इस प्रकार कहे ॥२॥

अथामावास्यायाम्। इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामीन्द्राग्नी तमपनुदतां योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामीति यदि स्वयं यजमानः ॥३॥

इसी प्रकार अमावस्या में इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषम् ॥ म० २।१५॥ इत्यादि कहे यदि यजमान स्वयं कहे तो ॥३॥

यद्युऽअध्वर्युः। इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जयत्वयं यजमानो वाजस्यैनं प्रसवेन प्रोहामीन्द्राग्नी तमपनुदतां यमयं यजमानो द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामीत्यमावास्यायामैन्द्राग्नꣳ ह्यामावास्यꣳ हविर्भवत्येवं यथादेवतं व्यूहति तद्वेव व्यूहति ॥४॥

यदि अध्वर्यु कार्यकर्त्ता हो तो इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जयत्वयं यजमानः ऐसा कहे, क्योंकि अमावस्या में हवि इन्द्राग्नी के नाम पर दिया जाता है। भाव यह है कि जव क्षीणता आ जाये तो जिस प्रकार की क्षीणता हो उसी प्रकार के ऐश्वर्य से उसे उस क्षीणता को दूर करके अग्नि को सोम के सवन के योग्य वना दे। यही दर्शेष्टि का भाव है।

जो भूमि एक उत्तम फसल पैदा कर दे, उसने पौर्णमास याग किया। क्योंकि उसने एक आह्लादकारक चन्द्र उत्पन्न कर दिया। अब क्षीण हुई तो उसमें खाद डाल कर उसे नया करना यह दर्शेष्टि है। जव भूमि में खेती कट जाय तथा नया बीज अभी न बोया हो वह वीज का काल अमावस्या का काल है। उस काल में उसमें खाद डाल कर नया करना तब वह इन्द्रवती हो गया। सब फसलों में सबसे श्रेष्ठ फसल एक वालक को जो अर्ध चन्द्र उत्पन्न हुआ है, विद्या दान द्वारा पूर्ण चन्द्र वना देना, असली पौर्णमास है। यही सर्व श्रेष्ठ पौर्णमास है। यही इस प्रसंग का मर्म है ॥४॥

यजमान एव जूहमनु। योऽस्माऽअरातीयति स उपभृतमनु प्राञ्चमेवैतद्यजमानमुदूहत्यपाञ्चं तमपोहति योऽस्माअरातीयत्यत्तैव जुहूमन्वाद्य उपभृतमनु प्राञ्चमेवैतदत्तारमुदूहत्यपाञ्चमाद्यमपोहति ॥५॥

यजमान जुहू है जो उस का आसति है। जिससे वह लेना चाहता है और वह नहीं देता वह उपभृत् है, सो यजमान को आगे बढ़ाता है। प्राची की ओर लाता है। जो उसे नहीं देना चाहता उसकी ओर प्रतीची की ओर खेंचता है अत्ता को प्राची की ओर ले जाता है। अद्य को प्रतीची की ओर ॥५॥

सो यह दोनों स्रुचों का व्यूहन एक अध्वर्यु के ही द्वारा होता है क्योंकि कौन अत्ता है कौन अद्य है? यह निर्णय एक ही समान कर्म में प्रतियोगिता होने पर पता लगता है। इसीलिए यदि एक प्रकार के लोग दो हों तो तीसरे के पश्चात् यदि तीन हों तो चौथे के पास इकट्ठे हो जाते हैं। और वह उनके विवाद का निर्णय करता है यह नहीं होता कि देवदत्त तो अपनी उत्कृष्टता की व्यवस्था यज्ञदत्त से ले ले और विष्णुमित्र अपने उत्कृष्टत्व की व्यवस्था देवमित्र से ले ले। दोनों को एक ही के पास आना होगा। फिर परीक्षा भी एक विषय में होगी। यह नहीं हो सकता कि देवदत्त संगीत की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर विष्णुमित्र से उत्कृष्ट कहलाये, जिसने व्याकरण में परीक्षा दी है। यज्ञदत्त देवदत्त तथा विष्णुमित्र तीनों को यदि समान कर्म में एक ही विषय संगीत अथवा व्याकरण में परीक्षा ले तब एक को अत्ता तथा एक को अद्य बनायेगा। इस प्रसंग की व्याख्या में हरिहर स्वामी ने जो कवड्डी

खेली है तथा सौराष्ट्र दाक्षिणात्यों के विवाद का गोरखधन्धा छेड़ा है, उसे देखकर हँसी आये बिना नहीं रहती।

तद्वाऽएतत् । समानऽएव कर्मन्व्याक्रियते तस्माद् समानादेव पुरुषादत्ता चाद्यश्च जायेतेऽइदꣳ हि चतुर्थे पुरुषे तृतीये सङ्गच्छामहऽइति विदेवं दीव्यमाना जात्या आसतऽएतस्माद् तत् ॥६॥

भाव यह है कि आय-व्यय दोनों के निपुण विशेषज्ञ किसी तीसरे विशेषज्ञ के सामने अपनी बात रक्खें तब यह हिसाब ठीक होगा। यह इस कण्डिका का भाव है ॥६॥

अथ जुह्वा परिधीन्त्समनक्ति । यया देवेभ्योऽहौषीद्यया यज्ञꣳ समतिष्ठिपत्तयेवैतत्परिधीन्प्रीणाति तस्माज्जुह्वा परिधीन्त्समनक्ति ॥७॥

अब प्रश्न उठता है कि परिधि नाम से पूर्व परम्परा वर्तमान लोकमत तथा प्रचलित राजनियम इन तीन मर्यादाओं का वर्णन पहले हो चुका । परन्तु इन तीनों जो जानने के लिए जो पुरुष स्थिर रूप से नियुक्त हों अथवा जिनसे समय समय पर सहायता ली जावे, उन पर कुछ व्यय होना चाहिए वा नहीं। इसका उत्तर यह है कि कुछ नाम मात्र व्यय अवश्य होना चाहिए, क्योंकि निष्काम रूप से बिना वेतन कार्य करने वालों को भी मार्ग-व्ययादि कुछ व्यय ऐसे भारी पड़ते हैं कि यदि वह न दिये जावें तो कार्यकर्त्ता कार्य करने से कन्नी काटने लगते हैं। इसलिए व्यय के प्रतिनिधि भूत जुहू से इन परिधियों का समंजन करता है। साथ ही इसका यह भी भाव है कि आय-व्यय की जांच के समय इस व्यय की भी गणना अवश्य होनी चाहिए तभी वषट्कार उत्पन्न होता है। इसलिए अध्वर्यु के जुहू से परिधियों का समंजन करता है ॥७॥

स समनक्ति । वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वादित्येभ्यस्त्वेत्येते वै त्रयो देवा यद्वसवो रुद्रा आदित्या एतेभ्यस्त्वेत्येवैतदाह ॥८॥

समजन के समय वाक्य पढ़ता है वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वाऽदित्येभ्यस्त्वा सो यह वसु, रुद्र तथा आदित्य तीन ही प्रकार के देव हैं। २४ वर्ष का ब्रह्मचर्य धारण करने वाले वसु ब्रह्मचारी हैं। रुद्र ४४ वर्ष ब्रह्मचर्य धारण करने वाले तथा आदित्य ४८ वर्ष ब्रह्मचर्य धारण करने वाले ब्रह्मचारी हैं। वर्णों में वैश्य बस्ती में बसने वालों में मुख्य होने के कारण वसु। क्षत्रिय दुष्टों का रोदन कराने वाला होने से रुद्र तथा ब्राह्मण आदित्य के समान प्रकाशमान होने वाला होने से आदित्य हैं। इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार के परिधिरूप मनुष्य कम से कम स्नातक होने चाहिए। विद्याहीन मनुष्यों को इतना उत्तरदायित्वपूर्ण पद नहीं देना ॥८॥

अथ परिधिमभिपद्याश्रावयति । परिधिभ्यो ह्येतदाश्रावयति यज्ञो वाऽआश्रावणं यज्ञेनैवैतत्प्रत्यक्षं परिधीन्प्रीणाति तस्मात्परिधिमभिपद्याश्रावयति ॥९॥

अब सूक्तवाक आरम्भ होता। इस क्रिया को समझने पर ही अगली कण्डिकाओं की व्याख्या होगी। यह क्रिया एक प्रकार का सिंहावलोकन है। किन्तु इसे पूर्णरूप से सिंहावलोकन भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें भले-बुरे दोनों की आलोचना होती है। सो वह तो नरशंस अनुयाज में ही हो चुकी, परन्तु सूक्तवाक तथा नरशंस में भेद यह है कि इसमें अच्छाई अच्छा भाग सामने आता है। भाव यह कि नरशंस में यथा-योग निग्रह वा अनुग्रह हो चुका, जिसने जो प्रशंसित कार्य किया था वह देख लिया गया जो भूल थी उसके विषय में वक्तव्य भी कह दिया गया किन्तु सूक्तवाक में हर विभाग में जो जो अच्छा कार्य हुआ है उसका संग्रह करके सम्पूर्ण प्रजा के सामने घोषणा की जाती है। इस क्रिया के दो उद्देश्य हैं यजमान द्वारा कृतज्ञता का प्रकाश यजमान के

लिए तथा उत्साह वर्धन कार्य कर्त्ताओं के लिए। इसलिए यह कार्य का श्रवण पूर्वक किया जाता है। सो लोकमत राजमत तथा परम्परादि के जो प्रतिनिधि सामयिक रूप में बीच में सम्मिलित कर लिये जाते उन्हें भी इस प्रशंसा से वर्जित नहीं करना चाहिए। इस लिए सूक्तवाक् इन परिधियों को स्पर्श करके होता है। सो क्योंकि आश्रवण अर्थात् सबको कार्यकर्त्ताओं की प्रशंसा सुनाना भी यज्ञ है। इसलिए परिधियों को प्रत्यक्ष रूप से यज्ञभागी बनाता है ॥९॥

स आश्राव्याह । इषिता दैव्या होतार इति दैव्या वाऽएते होतारो यत्परिधयोऽग्नयो हीष्टा देव्या होतार इत्येवैतदाह यदाहेषिता दैव्या होतार इति भद्रवाच्यायेति स्वयं वाऽएतस्मै देवा युक्ता भवन्ति यत्साधु वदेयुर्यत्साधु कुर्युस्तस्मादाह भद्रवाच्यायेति प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकायेति तदिमं मानुषꣳ होतारꣳ सूक्तवाकाय प्रसौति ॥१०॥

सो आश्रवण के समय वाक्य बोलता है। इषिता देव्या होतारो भद्र वाच्याय प्रेषितो मानुषः सूक्त वाकाय सूक्तान्ब्रूहि सो यह परिधि ही दैव्य होता है। अग्नि ही स्वयं प्रेरित दैव्य होता है। सो भाव यह कि दैव होता तो स्वभाव से ही भद्रवाच्य में प्रेरित होते हैं। उनका तो स्वभाव ही है कि वह सदा अच्छा करें तथा सबको अच्छा ही अच्छा कहें। किन्तु हे मानुष होता तू भी सूक्तावाक के लिए प्रेरित होकर सूक्त वचन कर।

भाव यह कि प्रतिनिधि रूप से आये सहकारी लोग तो स्वभाव से ही प्रशंसाशील होते हैं, किन्तु विभागों के अध्यक्ष लोग प्रायः मितभाषी होते हैं तथा प्रशंसा करते संकोच करते हैं यह सूक्तवाक यज्ञ का अंग बना दिया गया। जिससे सबको यज्ञ की समाप्ति पर एक बार ऐसा अवश्य करना पड़े ॥१०॥

अथ प्रस्तरमादत्ते । यजमानो वै प्रस्तरस्तद्यत्रास्य यज्ञोऽगंस्तदेवैतद्यजमानꣳ स्वर्गाकरोति देवलोकं वाऽअस्य यज्ञोऽगन्देवलोकमेवैतद्यजमानमपि नयति ॥११॥

अब यहाँ यह समझ लेने की बात है कि अब यज्ञ का उपसंहार हो रहा है। यहाँ सब की आलोचना हुई नराशंसी हुई सूक्तवाक हो रहा है। अब यह समय यजमान के लिए यज्ञ की तैयारी का है। सो प्रथम यज्ञ की समाप्ति तथा नए यज्ञ के आरम्भ के बीच के सन्धि काल में यजमान पूर्व यज्ञ के रसास्वाद तथा विश्रान्ति का है। यह बड़ा मनोरम काल है। एक तो मनुष्य स्वभाव से ही यज्ञ में इस सुख के लिए प्रवृत्त होता है तथा निष्काम काम करने वालों के लिए भी यह विश्रान्ति उत्तर देवयज्या में सहायक होने का कारण आवश्यक हैं। भेद केवल इतना है कि सकाम कार्य करने वाले सुख के लिए यज्ञ करते हैं तथा निष्काम यज्वा यज्ञ के लिए सुख भोगते हैं सकाम लोगों में आसक्ति भय है निष्काम में नहीं। किन्तु विश्रान्ति तथा सुख दोनों के लिए आवश्यक है। जो यजमान जहाँ स्वयं सुख भोगता है, वहाँ अपने प्रस्तर को, अपने सम्पूर्ण सहकारियों को भी उसी सुख का आस्वादन कराता है इसीलिए वे उसके दुःख में भी साथी होते हैं। इस प्रकार अपने सहकारी वर्ग के साथ सम दुःख सुख मनुष्यों पर सदा यौवन रहता है। इसीलिए प्रस्तर को यौवन का चिह्न कहा है। सो यही बात यहाँ कही है। अब प्रस्तर को लेता है प्रस्तर यजमान का रूप है। प्रस्तर ही तो यजमान है। यजमान के बिना कुछ नहीं। सो जहाँ उसका यज्ञ नहीं यजमान को भी पहुँचाता है। इस समाप्ति पर पहुँचने के कारण यह स्वर्ग सन्धि में पहुँच गया। सो यजमान को भी देवलोक में पहुँचाता है ॥११॥

स यदि वृष्टिकामः स्यात् । एतेनैवाददीत सञ्जानाथां द्यावापृथिवी ऽइति यदा वै द्यावापृथिवी सञ्जानाथेऽअथ वर्षति तस्मादाह सञ्जानाथां द्यावापृथिवीऽइति मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावतामिति तद्यो वर्षस्येष्टे स त्वा वृष्ट्यावस्त्वित्येवैतदाहायं वै वर्षस्येष्टे योऽयं पवते सोऽयमेक इवैव पवते सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टः प्राङ्च प्रत्यङ् च ताविमौ प्राणोदानौ प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ तद्य एव वर्षस्येष्टे स त्वा वृष्ट्यावत्वित्येवैतदाह तस्मेतेनैवाददीत यदा ह्येव कदा च वृष्टिः स मिव तमनक्त्याहुतिमेवैतत्करोत्याहुतिर्भूत्वा देवलोकं गच्छादिति ॥१२॥

सो यदि वृष्टि काम हो अर्थात् वर्षा करवाना चाहे तो प्रस्तर को संजानाथां द्यावापृथिवी कहकर ग्रहण करे जब द्यावापृथिवी आपस में सहयोग करते हैं तो वर्षा होती है। इसलिए कहा संजानाथां द्यावापृथिवी। वह द्यावापृथिवी का संयोग क्या है ? वह आगे बताते हैं। तब मन्त्र बोले। मित्रा वरुणौत्वा वृष्ट्यावताम् ।य०२। १६।। सो जो वर्षा का मस्तिष्क है वह मुझे वर्षा से रक्षा करे। वही यहाँ कहा है सो वर्षा का अधिष्ठाता यही है यज्ञ जो पवन करता है अर्थात् वायु सो वह पुरुष में आगे तथा पीछे रूप में प्रविष्ट है। उसी का नाम प्राणोदान है। और प्राणोदान का नाम ही मित्रावरुणौ है। सो वह वृष्टि का अधिष्ठाता तुझे रक्षा करे यही कहता है। सो वृष्टि काम प्रस्तर को इस मंत्र से ही ग्रहण करे सो इसका फल यह होता है कि इस प्रकार करने वाले को जब कभी वह चाहे वृष्टि प्राप्त होती है। क्योंकि मित्र वायु तो वायु में रहती है स्निग्ध पदार्थों को जलाने से वरुण उसमें मिलाता है सो वृष्टि अवश्य होती है। इसलिए प्रस्तर का समंजन करता है। सो यह समंजन करना ही आहुति करता है। जिससे आहुति बनकर देवलोक में जावे ।।१२।।

स वाऽअग्रं जुह्वामनक्ति। मध्यमुपभृति मूलं ध्रुवायामग्रमिव हि जुहूर्मध्यमिवोपभृन्मूलमिव ध्रुवा ॥१३॥

सो वह अग्रभाग का समंजन जुहू में करता है मध्य उपभृत् में मूल ध्रुवा में भाव यह कि जिस प्रकार राष्ट्र में मित्र अर्थात् ब्राह्मण वरुण अर्थात् क्षत्रिय तथा ध्रुवा अर्थात् प्रजा मिलकर सफलता पाते है उनमें भी ब्राह्मण व्यय का (जुहू का) वरुण (क्षत्रिय) आपः का तथा प्रजा ध्रुवा की अर्थात् राष्ट्रीय सम्पत्ति का अधिकारिणी हैं, इसी प्रकार वृष्टि के क्षेत्र में भी मित्र, वरुण, ध्रुवा, विद्युत् के सहयोग से ही वृष्टि होती है ।।१३।।

सोऽनक्ति। व्यन्तु वयोऽक्त७ रिहाणा इति वय एवैनमेतद्भूतमस्मान्मनुष्यलोकाद्देवलोकमभ्युत्पातयति तन्नीचैरिव हरति द्वयं तद्यस्मान्नीचैरिव हरेद्यजमानो वै प्रस्तरोऽस्याऽएवैनमेतत्प्रतिष्ठायै नोद्धन्तीहोऽएव वृष्टिं नियच्छति ।।१४।।

सो अंजन के समय मन्त्र पढ़ता है व्यन्तुवयोक्तं रिहाणा ।।य० २-१६।। इस अंजन किये हुए प्रस्तर को चाटते हुए पक्षी उड़ते हुए जावे। सो वह किरण जो अपने बल से हवि के सूक्ष्म कणों को आकाश में उड़ाते जाते हैं यहाँ पक्षी कहे गए हैं। इस प्रस्तर को धरती के साथ लगा हुआ-सा नीचे ही नीचे आहुत्यर्थ ले जावे। सो इस प्रकार नीचे ही नीचे ले जाने के दो कारण हैं। प्रस्तर यजमान रूप है। सो उसे पृथिवीलोक से दूर नहीं होने देता और क्योंकि उसे आहुति द्वारा देवलोक तक पहुँचाता है इस प्रकार वृष्टि से भी वंचित नहीं होने देता। उसे भी वश में करता है। भाव यह कि जब मेघ धरती के समीप होते हैं। तब ही वृष्टि होती है। सो ऐसा उपाय करना चाहिए दूसरी

ओर अधिराष्ट्र का अर्थ यह है कि यजमान तथा उसके सम्पूर्ण प्रस्तर को इस सुख
सम्पत्ति भोग के सन्धिकाल में नम्र भाव करना चाहिए किन्तु नम्रता और नीचता में
भी भेद ही समझना चाहिए। देवलोक की तरह जाने वाला जब जान-बूझकर नम्र
होता है वह नम्रता है। जब वह भी सत्ता वा लोभ का प्रकाश करता है वह दब्बूपन
तथा नीचता है। इसलिए कहा, नीचैरिव ननु नीचैः ॥१४॥

**स हरति। मरुतां पृषतीर्गच्छेति देवलोकं गच्छेत्येवैतदाह यदाह मरुतां पृषती-
र्गच्छेति वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावहेतीयं वै वशा पृश्निर्यदिदमस्यां
मूली चामूलं चान्नाद्यं प्रतिष्ठितं तेनेयं वशा पृश्निरियं भूत्वा दिवं गच्छेत्येवैतदाह ततो
नो वृष्टिमावहेति वृष्टाद्वाऽऊर्ग्रसः सुभूतं जायते तस्मादाह ततो नो वृष्टिमावहेति ॥१५॥**

आहुति के लिए उसे ले जाते समय मन्त्र पढ़ता है, मरुतां पृषतीर्गच्छ अर्थात्
तू मेघ रूप वृत्र से लड़ते हुए सूर्य रूप इन्द्र के सैनिक पवन प्रवाहों के पृषती अर्थात्
ऐ जिनो में जा मिल। सो यह उसे देवलोक में जाने को कहता है। आगे कहता है,
वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह ॥ य० २।१५॥ सो यह जो धरती है
इसी का नाम वशा पृश्नि (चमकदार गाय है) इस पर जो मूल वाले तथा विना मूल के
अर्थात् जिनकी मूल (जड़) खाने में नहीं आती किन्तु फल पत्रादि खाने में आते हैं। इस
प्रकार के अन्न जमे हुए हैं उसके कारण यह वशा पृश्नि (उज्ज्वला) कहलाती है। सो
तू धरती रूप होकर आकाश को जा, यह कहता है। वहां से हमारे लिए वृष्टि ला। सो
वर्षा से ही बल तथा रस पैदा होता है। इसलिए कहा, ततो नो वृष्टिमावह ॥१५॥

**अथैकं तृणमपगृह्णाति। यजमानो वै प्रस्तरः स यत्कृत्स्नं प्रस्तरमनुप्रहरेत् क्षिप्रे
ह यजमानोऽमुं लोकमियात्तथो ह यजमानो ज्योग्जीवति यावद्वेवास्येह मानुषमायुस्त-
स्माऽएवैतदपगृह्णाति ॥१६॥**

सो प्रस्तर में से एक तृण अलग करता है। सो प्रस्तर यजमान का रूप है।
यदि सारे ही प्रस्तर को अग्नि में डाल दें तो यजमान शीघ्र ही उस लोक में पहुँच जावे
परन्तु ऐसा करने से (एक तृण निकालने से) यजमान चिरकाल तक जीता है। जितनी
उसकी मानुष आयु है पूरी भोगता है। इसलिए एक तृण निकालता है।

भाव यह है कि कई लोग भावावेश में शक्ति से अधिक दान दे डालते हैं।
पीछे कष्ट पाकर क्षीणायु होते हैं, इस समय यजमान सुखास्वाद की सन्धि में है।
किन्तु यदि वह अपना सारा सर्वस्व उत्तर देवयज्या के निमित्त लगा दे तो फिर कष्ट
पायेगा। इसलिए हर एक यजमान को कुछ अंश अपने लिए अवश्य मिलना चाहिए।
जिससे उसकी जीवन-यात्रा ठीक चले, उसी का चिह्न है ॥१६॥

**तन्मुहूर्त्तं धारयित्वानुप्रहरति। तद्यत्रास्येतर आत्मागंस्तदेवास्यैतद् गमयत्यथ
यन्नानुप्रहरेदन्तरियाद्ध यजमानं लोकात्तथो ह यजमानं लोकान्नान्तरेति ॥१७॥**

उस तृण को कुछ देर अलग रख के पीछे से आहुति करता है। सो जहाँ उसका
अन्य अंश गया वहीं इस बचे अंश को भी पहुँचाता है। यदि इससे पीछे से वही आहुति
न करे तो यजमान के पुण्य लोक में अन्तराय पैदा हो जावे।

भाव यह कि सच्चे भक्त का सुख भी मुख्य ध्येय की पूर्ति के लिए है। इसलिए
सुख भोग इस प्रकार न करे कि वह मुख्य ध्येय की प्राप्ति में अन्तराय बन जावे।
अन्ततो गत्वा सुख भोग का परिणाम भी ध्येय की प्राप्ति होना चाहिए ॥१७॥

तं प्राञ्चमनुसमस्यति । प्राची हि देवानां दिगथोऽउदञ्चमुदीची हि मनुष्याणां दिक्तमङ्गुलिभिरेव योयुप्येरन्न काष्ठैर्दारुभिर्वाऽइतरꣳ शवं व्यृषन्ति नेत्तथा करवाम यथेतरꣳ शवमिति तस्मादङ्गुलिभिरेव योयुप्येरन्न काष्ठैर्यदा होता सूक्तवाकमाह ॥१८॥

उस प्रस्तर को आहुति की ओर ले जाते समय पूर्व की ओर समेटता है। क्योंकि प्राची देवों की दिशा है। उदीची साधारण मनुष्यों की उसे अंगुलियों से ही समेटे लकड़ी वा दारु (फटी लकड़ी) से नहीं, यह जो मुर्दे की लाश है उसे तख्ते में समेटते हैं। सो वैसा न करें जैसा कि मुर्दा लाश के साथ किया जाता है। इसलिए अंगुलियों से समेटे ॥१८॥

अथाग्नीदाहानुप्रहरेति । तद्यत्रास्येतर आत्मागंस्तदेवास्यैतद् गमयेत्येवैतदाह तूष्णीमेवानुप्रहृत्य चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहीत्यात्मानमुपस्पृशति तेनोऽअध्यात्मानं नानुप्रवृणक्ति ॥१९॥

उधर अग्नीत् कहता है, अनुप्रहर सो जहाँ (उत्तर देवयज्या रूप लोक में) इस यजमान का सारा आत्मा गया है। वहीं इसके अवशिष्टांश को भी पहुँचाता है। फिर मौन होकर अनुप्रहरण करके अपने आप को जल द्वारा उपस्पर्शन करता है। उस समय बोलता है, चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि ॥ य० २।१६।।

सो भाव यह कि इतना कठोर त्याग कि सुखभोग भी ध्येय में बाधक न हो और अन्त को अपना सर्वस्व आहुति हो जावे। साधारण कार्य नहीं। ऐसा करके तो मनुष्य या तो पछताते हैं या चुपके से आँख बचाकर अपने आपको धोखा देकर कुछ न कुछ इधर उधर कर लेते हैं। सो इस दोष से बचने के लिए परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे अग्ने ! मेरी आँख झपके नहीं तथा लोभवश न हो, किन्तु मैं आँख खोलकर ऐसा त्याग करूँ। इस प्रकार शान्ति तथा धैर्य पूर्वक त्याग करके अपने आपको भस्म होने से बचाता है ॥१९॥

अथाह संवदस्वेति । संवादयैनं देवैरित्येवैतदाहागानग्नीदित्यगन्नुखल्वित्येवैतदाहागन्नितीतरः प्रत्याह श्रावयेति तं वै देवैः श्रावय तमनुबोधयेत्येवैतदाह श्रौषडिति विदुर्वाऽएनमनु वाऽएनमभुत्सतेत्येवैतदाहैवमध्वर्युश्चाग्नीच्च देवलोकं यजमानमपि नयतः ॥२०॥

इसके पश्चात् कहता है संवदस्व संवाद करूँ। सो उसका अर्थ है कि इसे देवों से संवाद करवा। यह अपने आपको उनमें समझे। भाव यह कि साधारण मनुष्य प्रायः झींकते ही पाए जाते हैं। जब देखो तब यही कहते पाए जाते हैं कि चलो जैसे तैसे जीवन चल ही रहा है, जीने में रस कुछ नहीं। किन्तु यज्ञ करने वाले को अपना यज्ञ तब सफल समझना चाहिए जब उसका इस प्रकार संवाद हो सके।

अध्वर्यु=अगान्नग्नीत्=हे अग्नीत् क्या यजमान स्वर्ग में पहुँच गया। अग्नीत्=अगन्=हाँ पहुँच गया। यह अग्नीत् उत्तर देता है।

अध्वर्यु=श्रावय=तू इसे देवों से परिचित कर दे।

अग्नीत् श्रौषट्=सो सुन चुके अर्थात् परिचित हो चुके। यह अग्नीत् कह रहा है। इस प्रकार अध्वर्यु तथा अग्नीत् यजमान को भी स्वर्ग लोक को पहुँचा देते हैं अर्थात् इस प्रकार सदा यजमान का उत्साह बढ़ाते रहना चाहिए। उसे रोदनशील

नहीं बनने देना चाहिए। जो लोग स्वर्ग लोक को अन्यत्र ढूंढते रहते हैं, उनकी आँखें इस प्रसंग को पढ़कर खुल जानी चाहिएँ ।।२०।।

अथाह स्वगा दैव्या होतृभ्य इति । दैव्या वाऽएते होतारो यत्परिधयोऽग्नयो हि तानेवैतत्स्वगाकरोति तस्मादाह स्वगा दैव्या होतृभ्य इति स्वस्तिर्मानुषेभ्य इति तदस्मै मानुषाय होत्रेऽह्वलामाशास्ते ।।२१।।

अध्वर्यु स्वगा दैव्या होतृभ्यः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः शंयो ब्रूहि । हमारे होता ने देव होताओं के साथ अपनापन पा लिया। अब मानुष होताओं के लिए स्वस्ति हो। यह जो परिधि नामक अग्नि है उनको स्वगा करता है। इसलिए कहा, स्वगा दव्या होतृभ्यः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः । सो इस मानुष होता के लिए अविघ्नता की प्रार्थना करता है ।।२१।।

अथ परिधीननुप्रहरति । स मध्यममेवाग्रे परिधिमनुप्रहरति यं परिधिं पर्यधत्था अग्ने देव पणिभिर्गुह्यमानः । तं तऽ एतमनु जोषं भराम्येष नेत्त्वदपचेतयाताऽइत्यग्नेः प्रियं पाथोऽपीतमितीतरावनुसमस्यति ।।२२।।

इसके पश्चात् परिधियों को अग्नि में डालता है। भाव यह कि किसी मुख्याग्नि के सहायक रूप से कुल परम्परा लोकमतादि के जो नियम किये गए हैं वा विशेष नियम बनाए गए हैं। वे उस यज्ञ के साथ ही समाप्त हो जाने चाहिए। उन्हें सदा के लिए बनाए रखना मूर्खता है। जिन अवस्थाओं से बाधित होकर पर्दे की प्रथा चली थी उनके हट जाने पर भी इसे घसीटते जाना परिधि को चिपटना है। यह परिधि मुख्याग्नि के साथ ही समाप्त हो जानी चाहिए। परिधि मुख्याग्नि के लिए है। मुख्याग्नि परिधियों के लिए नहीं। सो पहले मध्यम परिधि को अग्नि में डालता है। उस समय मन्त्र पढ़ता है। यं परिधि पर्यधत्था अग्ने देव पणिभिर्गुह्यमानः तं तऽ एतमनु जोषं भराम्येष मेत्त्वदपचेत याता ।। य० २।१७।।

जुआरी दुष्ट लोगों से घिर कर हे देव अग्ने तुमने कवच रूप से जिस परिधि अर्थात् मर्यादा को धारण किया था इस तुम्हारे प्रति युक्त तुम्हारा सेवक अर्थात् अनुचर बनाकर तुम्हारे अर्पण करता हूँ जिससे यह तुम्हारे प्रतिकूल आचरण न करे अथवा यदि देव को पणि के साथ जोड़ दे तो हे देव व्यवहार को जानने वालों से गुह्यमानतूने—इस प्रकार अर्थ हो जाएगा। भाव यह है कि परिधि मुख्याग्नि का विरोध नहीं कर सकता। शेष दोनों परिधियों को भी अग्नेः प्रियम्पाथोऽपीतम् अग्नि के प्रिय मार्ग पर चलो कहकर समेटता है ।।२२।।

अथ जुहूं चोपभृतं च सम्प्रगृह्णाति। अदो हैवाहुतिं करोति यद्दनत्स्याहुतिर्भूत्वा देवलोकं गच्छादिति तस्माज्जुहूं चोपभृतं च सम्प्रगृह्णाति ।।२३।।

फिर संस्रव होम के लिए जुहू तथा उपभृत् को लेता है। जुहू की यही आहुति है कि उसका संभजन करता है, जिससे वह देवलोक में पहुँचें। इसीलिए जुहू तथा उपभृत् को लेता है। यह संस्रव भाग आहुति यह है कि यज्ञ में जो भूल हुई हो किन्तु उसका अब संशोधन हो सकता हो। आपका कोई भाग शेष रह गया हो किन्तु अब भी वसूल हो सकता हो तो करके उसे भी किसी प्रकार उपकारी काम में लगा दें ।।२३।।

स वै विश्वेभ्यो देवेभ्यः सम्प्रगृह्णाति। यद्वाऽअनादिष्टं देवतायै हविर्गृह्यते सर्वा वै तस्मिन्देवता अपित्विन्यो मन्यन्ते न वाऽएतत्कस्यै चन देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशति यदाज्यं तस्माद्विश्वेभ्यो देवेभ्यः सम्प्रगृह्णात्येतदु वैश्वदेवꣳ हविर्यज्ञे ।।२४।।

सो वह सब देवों के नाम पर ग्रहण की जाती है। जो हवि किसी देव के नाम पर नहीं दी जाती, उस पर सब देवता अपना अधिकार जमाते हैं। यज्ञ में घृत ऐसा पदार्थ है जो किसी देवता के नाम पर नहीं होता। इसलिए यह सब देवों के नाम पर लिया जाता है। इसलिए यह यज्ञ में वैश्वदेव यज्ञ है।

भाव यह कि जो हविः शेष पीछे से बच रहे उसे ऐसे किसी कार्य में लगा दे। जो सब लोगों को प्यारा हो जैसे सार्वजनिक वाचनालय सहभोज संगीत आदि ॥२४॥

स सम्प्रगृह्णाति। सꣳस्रवभागा स्थेषा बृहन्त इति सꣳस्रवो ह्येव खलु परिशिष्टो भवति प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च देवा इति प्रस्तरश्च हि परिधयश्चानुप्रहृता भवन्तीमां वाचमभि विश्वे गृणन्त इत्येतद् वैश्वदेवं करोत्यासद्यास्मिन्बर्हिषि मादयध्वꣳ स्वाहा वाडिति तद्यथा वषट्कृतꣳ हुतमेवमस्यैतद्भवति ॥२५॥

सो जुहू उपभृत् के ग्रहण के समय मन्त्र पढ़ता है। संस्रवभागा स्थेषा बृहन्तः॥ यजु० २।१८॥ सो जो इधर उधर बिखर जाता है उसे ही संस्रव कहते हैं। प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च देवाः। सो प्रस्तर तथा परिधियों की आहुति हो चुकी। यह संस्रव उन्हीं को मिलता है। सब देव इस बात को कहते हुए आप सब लोग आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वं स्वाहा वाट्। यजु० २।१८॥ इस आसन पर बैठकर आनन्दित हो जाइए तथा हमारे कार्यों को भली प्रकार वहन कीजिए।

सो जो विद्वान् सामयिक रूप से इकट्ठे हुए तथा जो स्थिर कार्यकर्त्ता हैं। उन सबका संस्रव के धन से सहभोजादि द्वारा यज्ञ-समाप्ति पर सत्कार करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक विभाग के बचत में से जो थोड़ी बचत हो जाती है वह इस काम में लानी चाहिए ॥२५॥

स यस्यानसो हविर्गृह्णन्ति। अनसस्तस्य धुरि विमुञ्चन्ति यतो युनजाम ततो विमुञ्चामेति यतो ह्येव युञ्जन्ति ततो विमुञ्चन्ति यस्यो पात्र्यै स्पयेतस्य यतो युनजाम ततो विमुञ्चामेति यतो ह्येवं युञ्जन्ति ततो विमुञ्चन्ति ॥२६॥

सो इसके पश्चात् जिस शकट से चावलों की मुष्टि ली थी उसी के गले प्रागा जुहू तथा उपभृत् रक्खे और जिसने पात्री में से व्यष्टि ली हो वह स्वयं को उदयग् रख कर उसपर जुहू उपभृत् को रख दें। क्योंकि जिस वाहन को जिस घर से लावें, कार्य-समाप्ति पर वहीं पहुँचा दें ॥२६॥

युजौ ह वाऽएते यज्ञस्य यत्स्रुचौ। ते ऽएतद्युङ्क्ते यत्प्रचरति स यं निधायावद्येद्यथा वाहनमत्राछेदेवं तत्तेऽएतत्स्विष्टकृति विमोचनमागच्छतस्ते तत्सादयति तद्विमुञ्चति तेऽएतत्पुनः प्रयुङ्क्तेऽनुयाजेषु सोऽनुयाजैश्चरित्वैतद्विमोचनमागच्छति ते तत्सादयति तद्विमुञ्चति तेऽएतत्पुनः प्रयुङ्क्ते यत्सम्प्रगृह्णाति तद्यां गतिमभियुङ्क्ते तां गतिं गत्वा विमुञ्चते यज्ञं वाऽअनु प्रजास्तस्मादयं पुरुषो युङ्क्तेऽथ विमुञ्चतेऽथ युङ्क्ते तद्यां गतिमभियुङ्क्ते तां गतिं गत्वान्ततो विमुञ्चते स सादयति घृताची स्थो धुर्यौ पातꣳ सुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तमिति साध्व्यौ स्थः साधौ मा धत्तमित्येवैतदाह ॥२७॥ ब्राह्मणम् ॥१॥ [८. ३.] ॥ अध्यायः ॥८॥

सो इस यज्ञ में यह जुहू उपभृत् ही बैलों की जोड़ी के समान है। सो जब इनसे काम लेता है तो मानो इन्हें गाड़ी में जोतता है। सो यदि इन्हें रखकर अगला अवदान करे सो मानो बैल नीचे गिर पड़े, गड्डा उलट गया हो, ऐसी क्रिया हो। इस

लिए इन्हें स्विष्टकृत्-समाप्ति पर विधिपूर्वक विमोचन करता है, वहाँ खादन करता है। वह विमोचन है फिर अनुयाजों में इनका विमोचन करता है सो इनका यहीं विमोचन होता है। फिर यहाँ ग्रहण होता है, अब शकट की धुरी में विमोचन होता है। सो जिस कार्य में लगाया था वहीं पहुँचाकर फिर वहाँ से विमोचन करता है। सो प्रजा भी अपना संगठन यज्ञ के पीछे करती है। सो इसीलिए संसार में मनुष्य बैलों को जोतते हैं, छोड़ते हैं, फिर जोड़ते हैं। जिस घर से बैल आया, कार्य-समाप्ति पर वहीं उस प्रकार ज्यों का त्यों छोड़ते हैं। सो जुहू उपभृत् के यथास्थान रखने के समय मन्त्र पढ़ता है। घृताची स्थो धुर्यौ पातं सुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तम्। य० २।१६

सो इसका अर्थ है तुम सकल कार्यसिद्धि समर्थ हो, मुझे भी कार्यसिद्धि में रक्खो। सो इसका भाव यह है कि किसी कार्य की सिद्धि में मूल रूप से जहाँ से जिस निमित्त व्यय हुआ, वहाँ उसी निमित्त उतनी या उससे कुछ अधिक आय जब तक न हो जावे तब तक यज्ञ पूरा हुआ न जानो। यदि कुल के निमित्त यज्ञ हुआ तो कुल का जितना व्यय हुआ उतना लाभ कुल का अवश्य होना चाहिए। इसी प्रकार एक राष्ट्र आदि में जानना, साथ ही मध्य में भी जो कोई एक महत्त्व पूर्ण कार्य समाप्त हो तो आय-व्यय की जांच अवश्य होती रहनी चाहिए।

फिर संवाद की समाप्ति पर शंयोः ब्रूहि कहने पर होता तच्छंयोरावृणीमहे गातुं यज्ञापगातुं यज्ञपतये दैवीरस्तु नः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः। ऊर्ध्वं जिगातु भेषजं शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे। यह शंयुवाक पढ़े। यह विधि बीच में इसलिए छोड़ दी गई क्योंकि इसकी व्याख्या अगली कण्डिकाओं में सूक्तवाक के साथ है। किन्तु सूक्तवाक की व्याख्या से पहले इसका देना आवश्यक समझकर यहाँ दे दी। यह शंयुवाक परिधि-प्रहरण से पहले है ॥२७॥

इति अष्टमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्।
समाप्तोऽष्टमाध्यायः॥

अथ नवमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

स यत्राह । इषिता दैव्या होतारो भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकायेति वदतो होताग्वाह सूक्तऽ इव तदाह यजमानायैवैतदाशिषमाशास्ते तद्वाऽएतदुपरिष्टाद्यज्ञस्याशिषमाशास्ते द्वयं तद्यस्मादुपरिष्टाद्यज्ञस्याशिषमाशास्ते ।।१।।

अब सूक्तवाक तथा शंयुवाक की व्याख्या आरम्भ होती है। सो जब कहा, इषिता दैव्या होतारोभद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकाय। सो इसके पश्चात् जो कुछ होता कहता है वह सब सूक्त ही कहता है। सो वह यजमान के लिए आशीर्वाद मांगता है। सो यह यज्ञ के पश्चात् आशीर्वाद मांगता है। सो इस यज्ञ की समाप्ति पर आशीर्वाद मांगने के दो कारण हैं ।।१।।

यज्ञं वाऽएष जनयति। यो यजतऽएतेन ह्युक्ता ऋत्विजस्तन्वते तं जनयन्त्यथाशिषमाशास्ते तामस्मै यज्ञ आशिषꣳ सन्नमयति यामाशिषमाशास्ते यो माजीजनतेति तस्माद्वाऽउपरिष्टाद्यज्ञस्याशिषमाशास्ते ।।२।।

जो यजमान यज्ञ करता है, वह यज्ञ का जन्मदाता है। उसकी प्रार्थना पर ऋत्विज् ताना तानते हैं और इस यज्ञ को उत्पन्न करते हैं। सो अब समाप्ति पर वह आशीर्वाद माँगता है। सो यह यज्ञ (क्योंकि वह उत्पन्न हो चुका है) उसके लिए जो आशीर्वाद वह पहुँचाता है क्योंकि वह कृतज्ञ होता है कि इसने मुझे उत्पन्न किया। इस लिए यज्ञ की समाप्ति पर आशीर्वाद मांगता है। यह एक कारण हुआ ।।२।।

जो यज्ञ करता है यह देवों को प्रसन्न करता है। ऋचाओं से कहो तब यजुर्वेद से कहो, तब आहुतियों से कहो, तब वह देवों को प्रसन्न करके अपने आपको उनके प्रति हकदार समझता है। तब उन पर अपना हक जमाकर फिर जो आशीर्वाद मांगता है। क्योंकि वह कहते हैं कि इसने हमें प्रसन्न किया। इसलिए यज्ञ की समाप्ति पर आशीर्वाद मांगता है (यह दूसरा कारण हुआ)।

देवान्वाऽएष प्रीणाति। यो यजतऽएतेन यज्ञेनर्ग्भिरिव त्वद्यजुर्भिरिव त्वदाहुतिभिरिव त्वत्स देवान्प्रीत्वा तेष्वपित्वी भवति तेष्वपित्वी भूत्वाथाशिषमाशास्ते तामस्मै देवा आशिषꣳ सन्नमयन्ति यामाशिषमाशास्ते यो नोऽप्रैषीदिति तस्माद्वाऽउपरिष्टाद्यज्ञस्याशिषमाशास्ते ।।३।।

तात्पर्य यह कि जब कोई मनुष्य सफलता पूर्वक कोई संगठित कार्य करता है तो प्रथम तो उसे उस कर्म से लाभ होता है दूसरा उस सफलता से वह सबके हृदय में अधिकार जमा लेता है। इसलिए सफलता और सफलता लाती है। इसलिए यज्ञ की

समाप्ति पर ही योग्य बनकर ही देवों (परमात्मा तथा विद्वानों) से कुछ मांगना शोभा देता है ।।३।।

अथ प्रतिपद्यते । इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूदिति भद्रꣳ ह्यभूद्यो यज्ञस्य सꣳस्थामगन्नार्ध्म सूक्तवाकमुत नमोवाकमित्युभयं वाऽएतद्यज्ञ एव यत्सूक्तवाकश्च नमोवाकश्चारात्स्म यज्ञमविदाम यज्ञमित्येवैतदाहाग्ने त्वꣳ सूक्तवागस्युपश्रुती दिवस्पृथिव्योरित्यग्निमेवैतदाह त्वꣳ सूक्तवागस्युपशृण्वत्योरनयोर्द्यावापृथिव्योरित्योमन्वती तेऽस्मिन्यज्ञे यजमान द्यावापृथिवी स्तामित्यन्नवत्यौ तेऽस्मिन्यज्ञे यजमान द्यावापृथिवी स्तामित्येवैतदाह ।।४।।

अब प्रार्थना के लिए उपस्थित होता है । वह कहता है, इदं द्यावापृथिवी भद्रमभू सो यह यज्ञ समाप्त हुआ तो भद्र ही तो हुआ । आगे कहता है, 'आर्ध्म सूक्तवाकमुत नमोवाकम्' । सो यह सूक्तवाक तथा नमोवाक दोनों यज्ञ ही तो हैं । बात यह कही कि अब हम सूक्तवाक तथा नमोवाक (शंयुवाक) के योग्य हुए । अग्ने त्वं सूक्तवागसि उपश्रुतो दिवस्पृथिव्या । अग्ने तू ही इस द्यौ और पृथिवी के बीच हमारा उपश्रुतो अर्थात् हमारा साक्षी है । ओमन्वती तेऽस्मिन् यज्ञे यजमान द्यावापृथिवी स्ताम् । सो ओमन्वती का अर्थ है अन्नवती । परन्तु अन्न के स्थान पर ओमन् का प्रयोग है इस लिए है कि यह शब्द प्रभुभक्ति रूप आध्यात्मिक अन्न को अधिक स्पष्ट रूप से कहता है क्योंकि उसमें ओंकार प्रविष्ट है ।।४।।

शंगवी जीवदानूऽइति । शंगवी ते जीवदानू स्तामित्येवैतदाहात्रस्नूऽअप्रवेदेऽइति माह कस्माच्चन प्रत्रासीर्मो तऽइदं पुष्टं कश्चन प्रविदतेत्येवैतदाह ।।५।।

शंगवी जीवदानू यह सब विशेषण द्यावापृथिवी के हैं । वे कल्याणवादिनी तथा जीवनप्रद हों । अत्रस्नू अप्रवेदे । तुझे किसी से भय न हो, कोई तेरे पुष्टिकारक पदार्थों को छीन न सके, यह कहा ।।५।।

उरुगव्यूती ऽअभयङ्कृताविति । उरुगव्यूती तेऽभये स्तामित्येवैतदाह वृष्टिद्यावा रीत्यापेति वृष्टिमत्यौ ते स्तामित्येवैतदाह ।।६।।

उरु गव्यूती अभयङ्कृतौ । सबको शरण देने वाली वड़े मैदान वाली हों तथा मुझसे सबको अभय दिलाने वाली हों । वृष्टिद्यावारीत्यापा । वृष्टि से देदीप्यमान तथा उत्तम रीतियों को चलाने वाली हों ।।६।।

शम्भुवौ मयोभुवाविति । शम्भुवौ ते मयोभुवौ स्तामित्येवैतदाहोर्ज्जस्वती च पयस्वती चेति रसवत्यौ तऽउपजीवनीये स्तामित्येवैतदाह ।।७।।

शम्भुवौ मयोभुवौ शान्ति तथा लौकिक सुख देने वाली हों । उर्जस्वती च पयस्वती च । तेरे लिए उपजीवनीय हों ।।७।।

सूपचरणा च स्वधिचरणा चेति । सूपचरणाह तेऽसावस्तु यामधस्तादुपचरसि स्वधिचरणो तऽइयमस्तु यामुपरिष्टादधिचरसीत्येवैतदाह तयोराविदीति तयोरनुमन्यमानयोरित्येवैतदाह ।।८।।

सूपचरणा च स्वधिचरणा च तेरे लिए सुख सेवनीय हों । जिन पर तू अधिकार से चलता है वह खुशी से तेरे अधिकार को माने । तयोरात्रिदि (आविदि=अनुमति सप्तमी एकवचन) उन दोनों की पूर्ण अनुमति हो । यह कहा ।।८।।

अग्निरिद७ँ हविः । अजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽक्रतेति तदाग्नेयमाज्यभाग-माह सोम इद७ँ हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽक्रतेति तत्सौम्यमाज्यभागमाहाग्नि-रिद७ँ हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽक्रतेति तद्य एष उभयत्राच्युत आग्नेयः पुरोडाशो भवति तमाह ।।९।।

अग्निरिदं हविः अजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽक्रतेति । आग्नेय आज्यभाग ने हवि ग्रहण की, बढ़ा और तेरी महिमा को बढ़ाया । सोम इदं हविरजुषतावीवृधत महो-ज्यायोऽक्रतेति । यह सौम्य आज्य भाग को कहा, फिर कहा अग्निरिदं हविरजुषतावी वृधता महो ज्यायोऽक्रत । यह जो दर्श पौर्णमास दोनों अच्युत आग्नेय पुरोडाश हैं । उस को कहा ।।९।।

अथ यथादेवतम् । देवा आज्यपा आज्यमजुषन्तावीवृधन्त महो ज्यायोऽक्रतेति तत्प्रयाजानुयाजानाह प्रयाजानुयाजा वै देवा आज्यपा अग्निर्होत्रेणेद७ँ हविरजुषतावी-वृधत महो ज्यायोऽक्रतेति तदग्नि७ँ होत्रेणाहा जुषतेत्येवं या इष्टा देवता भवन्ति ताः सम्पश्यत्यसौ हविरजुषतासौ हविरजुषतेति तद्यज्ञस्यैवैतत्समृद्धिमाशास्ते यद्धि देवा हवि-र्जुषन्ते तेन हि महज्जयति तस्मादाहाजुषतेत्यवीवृधतेति यद्वै देवा हविर्जोषयन्ते तदपि गिरमात्रं कुर्वते तस्मादाहावीवृधतेति ।।१०।।

अब सब देवों को यथाक्रम कहता है, देवा आज्यपा आज्यमाजुषन्तावीवृधन्त महो ज्यायोऽक्रत । सो यह प्रयाजानुयाजों का वर्णन करता है, प्रयाजानुयाज ही आज्यपा देव हैं । अग्निहोत्रेणेद हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽक्रत । सो अग्नि को कहा कि होत्र से प्रसन्न किया जो जिन देवताओं का यज्ञ हुआ उनका परिगणन करता है । इसे हवि मिला, इसे हवि मिला, सो यह यज्ञ की समृद्धि चाहता है । जब देव हवि आस्वादन करते हैं तो उससे उनकी बड़ी विजय होती हैं । देव लोग जब हवि पाते हैं तो उसे पर्वत के समान कर देते हैं । इसीलिए कहा, अवीवृधत बात यह कि यज्ञ की समाप्ति पर यह कल्पना नहीं कर लेनी चाहिए कि सबको भाग मिल ही गया होगा किन्तु एक एक से पूछकर जान लेना चाहिए कि मिला वा नहीं । दूसरी बात यह है कि देव लोग उसे बढ़ाते हैं, एक तो वास्तव में वृद्धि होती है दूसरे देव लोग थोड़े उपकार को भी बड़ा मानते हैं । इसीलिए कहा, परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं निजहृदि विल-सन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः । सो इस भावुकतामय तथा वास्तविक दोनों प्रकार की वृद्धि को देखकर कहा, अवीवृधत ।।१०।।

महो ज्यायोऽक्रतेति । यज्ञो वै देवानां महस्त७ँ ह्येतज्ज्याया७ँसमिव कुर्वते तस्मादाह महो ज्यायोऽक्रतेति ।।११।।

जो कहा, महो ज्यायोऽक्रत । सो यज्ञ ही देवों की महिमा है अर्थात् उन्होंने केवल यजमान की व्यक्तिगत उन्नति नहीं की, समाज का भी गौरव बढ़ाया । इसीलिए कहा, महो ज्यायोऽक्रत ।।११।।

अस्यामृधेद्धोत्रायां देवङ्गमायामिति । अस्या७ँ राध्नोतु होत्रायां देवङ्गमाया-मित्येवैतदाहाशास्तेऽयं यजमानोऽसाविति नाम गृह्णाति तदेनं प्रत्यक्षमाशिषा सम्पाद-यति ।।१२।।

अस्यामृधेद्धोत्रायां देवङ्गमायाम् । सो ऋधत् का अर्थ है ऋध्नोतु अर्थात् इस यज-मान की सब प्रकार की वृद्धि बढ़े और यह सफल हो यहाँ उस यजमान का नाम लेते हैं क्योंकि यह प्रत्यक्ष आशीर्वाद है ।।१२।।

दीर्घायुत्वमाशास्तऽइति । सा यामुत्रोत्तरा देवयज्या तदिह प्रत्यक्षं दीर्घायुत्वᳬ ॥१३॥

यह यजमान दीर्घायुत्वमाशास्ते पहले उत्तरा देवयज्या में जो बात अर्थापत्ति से कही थी, वह यहाँ कह दी ॥१३॥

सुप्रजास्त्वमाशास्तऽइति । तद्यदमुत्र भूयो हविष्करणं तदिह प्रत्यक्षᳬ सुप्रजास्त्वं प्रशासनᳬ स कुर्य्याद्य एवं कुर्यादुत्तरां देवयज्यामाशास्तऽइति त्वेव ब्रूयात्तदेव जीवातुं तत्प्रजां तत्पशून् ॥१४॥

सुप्रजास्त्वमाशास्ते सो पहले जो 'भूयो हविष्करणमाशास्ते' में अप्रत्यक्ष बात कही थी वह यहाँ प्रत्यक्ष कही । यहाँ उसका सुप्रजास्त्व है । जो इस प्रकार यज्ञ करता है। उसका खूब बढ़िया शासन चलता है, किन्तु यथास्थान उत्तरां देवयज्यामाशास्ते, भी कहना आवश्यक है क्योंकि उसमें अपना जीवन सन्तान तथा उत्तम पशु तीनों एक शब्द में आ जाते हैं । उसी शब्द से तीनों काम चल जाते हैं ॥१४।

भूयो हविष्करणमाशास्तऽइति । तद्वेव तत्सजातवनस्यामाशास्तऽइति प्राणा वै सजाताः प्राणैर्हि सह जायते तत्प्राणानाशास्ते ॥१५॥

भूयो हविष्करणमाशास्ते । यह तो नहीं है जो पहले आ चुका है । सजातवनस्यामाशास्ते । अपने सगों का प्यारा होने की कामना करता है । सो सबसे बड़े सगे प्राण हैं क्योंकि उनके साथ मनुष्य पैदा होता है सो यह प्राण की कामना है (प्राण का अर्थ यहाँ इन्द्रियाँ भी है (दश मे प्राणाः) ॥१५॥

दिव्यं धामाशास्तऽइति । देवलोके मेऽप्यसदिति वै यजते यो यजते तद्देवलोकऽएवैनमेतदपित्वनं करोति यदनेन हविषाशास्ते तदश्यात्तदृध्यादिति यदनेन हविषाशास्ते तदस्मै सर्वᳬ समृध्यतामित्येवैतदाह ॥१६॥

दिव्यं धामाशास्ते जो भी यज्ञ करता है इसलिए करता है कि मैं देवलोक पाऊँ अर्थात् लेने वालों से देने वालों में पहुँचना सभी चाहते हैं सो इस प्रकार उसे देवलोक पर अधिकार बनाना है । यदनेन हविषाशास्ते तदश्यात्तदृध्यात् । सो बहुत-सी वस्तु जो नहीं गिनीं वे भी इस गिनती में आ गईं । इस यज्ञ प्राप्त होने वालों को सब-कुछ प्राप्त हो ॥१६॥

ता वाऽएताः । पञ्चाशिषः करोति तिस्र इडायां ता अष्टावष्टाक्षरा वै गायत्री वीर्यं गायत्री वीर्यमेवैतदाशिषोऽभिसम्पादयति ॥१७॥

सो यहाँ १ दीर्घायुत्वम्, २ सुप्रजास्त्वम्, ३ भूयो हविष्करणम्, ४ सजातवनस्याम्, ५ दिव्यं धाम । ये पांच आशीर्वाद मांगे गए हैं। इसी प्रकार १ उत्तरस्यां देवयज्यायामुपहूतः, २ भूयसि हविष्करण उपहूतः, (३) देवा इदं हविर्जुषतामिति तास्तिस्र इडो पहूतः ॥ यह तीन इडोपहूति में मांगे गए हैं सो आठ पूरी हो गईं सो गायत्री आठ प्रकार की होती है । सो गायत्री की पवित्र भावना इसमें आ गई ॥१७॥

नातो भूयसीः कुर्यात् । अतिरिक्तᳬ ह कुर्याद्यदतो भूयसीः कुर्याद्धै यज्ञस्यातिरिक्तं द्विषन्तᳬ हास्य तद्भ्रातृव्यमभ्यतिरिच्यते तस्मान्नातो भूयसीः कुर्यात् ॥१८॥

इससे अधिक आशीर्वाद वचन न कहे। क्योंकि यों तो सारा यज्ञ आशीर्वादों से ही भर जायेगा । जो मनुष्य लोभी होकर आवश्यकता से अधिक वस्तुएँ मांगने लगता

है उसके शत्रु उससे प्रबलतर हो जाते हैं। इसलिए यज्ञ में जहाँ न्यूनता दोष है वहाँ अतिरेक भी दोष है। इसलिए यह मर्यादा बाँध दी गई कि इससे अधिक न करे ॥१८॥

अपीद्वै कनीयसीः सप्त। तदस्मै देवा रासन्तामिति तदस्मै देवा अनुमन्यन्तामित्येवैतदाह तदग्निर्देवो देवेभ्यो वनुतां वयमग्नेः परि मानुषा इति तदग्निर्देवो देवेभ्यो वनुतां वयमग्नेरध्यस्माऽएतद्वनवामहाऽइत्येवैतदाह ॥१६॥

अब ये आठ बड़े आशीर्वाद थे, अब सात छोटे आशीर्वाद आगे दिये जाते हैं। तदस्मै देवा रासन्ताम् रासन्ताम् का अर्थ है अनुमन्यन्ताम् अर्थात् अनुमति है। तदग्निर्देवो देवेभ्यो वनुतां वयमग्नेः परि मानुषा। सो इसका भाव यही है कि अग्नि देवों के लिए हवि रूप में हमसे यह सब प्राप्त करे और हम साधारण मनुष्य अग्नि से यह सब प्राप्त करें ॥१६॥

इष्टं च वित्तं चेति। ऐषिषुरिव वाऽएतद्यज्ञं तमविदंस्तस्मादाहेष्टं च वित्तं चेत्युभे चैनं द्यावापृथिवीऽअꣳहसस्पातामित्युभे चैनं द्यावापृथिवीऽआर्त्तेर्गोपायतामित्येवैतदाह ॥२०॥

वह वस्तुएँ क्या हैं सो आगे कहते हैं, इष्टं च वित्तं च खोजी हुई वस्तु तथा कमाई हुई वस्तु सो यज्ञ को खोजकर लोगों ने पाया। इसलिए इष्टं च वित्तं च कहा। उभे चैनं द्यावापृथिवी अंहसस्पाताम्। सो द्यावापृथिवी कष्टों से बचायें यह कहा ॥२०॥

तद्ध हैकऽआहुः। उभे च मेति तथा होताशिष आत्मानं नान्तरेतीति तद्ध तथा न ब्रूयाद्यजमानस्य वै यज्ञऽआशीः किं नु तत्रर्त्विजां यां वै काञ्च यज्ञऽऋत्विज आशिषमाशासते यजमानस्यैव सा न ह स एतां वत्र चनाशिषं प्रतिष्ठापयति य आहोभे च मेति तस्माद्ध ब्रूयादुभे चैनमित्येव ॥२१॥

कई लोग यहाँ इस प्रकार मन्त्र बोलने के लिए कहते हैं। उभे च मा। वे कहते हैं कि इस प्रकार होता अपने लिए भी आशीर्वाद माँग लेता है। अपने आपको अवंचित करता है किन्तु याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ऐसा न करे। यज्ञ में सब आशीर्वाद यजमान के लिए ही हैं, ऋत्विजों का इसमें क्या अधिकार है। (यज्ञ से तो इस प्रकार यज्ञ भावना ही नष्ट होती है। यज्ञ में जो कोई भी आशीर्वाद ऋत्विज् मांगते हैं सो यजमान को ही पहुँचनी चाहिए। सो जो यह कहता है कि उभे च मा। सो न यजमान को आशीर्वाद मिलना है न होता को। इसलिए उभे चैनमिति दोनों इस यजमान को ऐसा ही कहना चाहिए। तात्पर्य यह कि जिसे यज्ञ में बड़ा मानना उसकी भलाई में ही सबकी भलाई है। अपनी-अपनी भलाई में किसी की भी भलाई नहीं ॥२१॥

इह गतिर्वामस्येति। तद्यदेव यज्ञस्य साधु तदेवास्मिन्नेतद्दधाति तस्मादाहेह गतिर्वामस्येति ॥२२॥

इह गतिर्वामस्य सब वाम वननीय अर्थात् कमनीय पदार्थों की गति इस यजमान में हो। सब साधु पदार्थ इसे मिलें। यह कहता है ॥२२॥

इदं च नमो देवेभ्य इति। तद्यज्ञस्यैवैतत्सꣳस्थां गत्वा नमो देवेभ्यः करोति तस्मादाहेदं च नमो देवेभ्यः इति ॥२३॥

इदं च नमो देवेभ्यः। सो यह यज्ञ की समाप्ति पर कहता है ॥२३॥

अथ शंयोराह। शंयुर्ह वै बार्हस्पत्योऽञ्जसा यज्ञस्य सꣳस्थां विदांचकार स देवलोकमपीयाय तत्तदन्तर्हितमिव मनुष्येभ्य आस ॥२४॥

अब शंयुवाक आरम्भ होता है। शंयु बृहस्पति का पुत्र था, वह यज्ञ की समाप्ति
ठीक ठीक जानता था। वह देवलोक में चला गया। तब वह यज्ञ-समाप्ति का प्रकार
मनुष्यों से छिप-सा गया ॥२४॥

यह बात ऋषियों ने सुन रक्खी थी, शंयु बार्हस्पत्य यज्ञ संस्था को ठीक जानता
था किन्तु वह देवलोक को चला गया। तब लोगों ने यत्न करके उसी यज्ञ-समाप्ति को
ढूँढ़ निकाला जिसे शंयु बार्हस्पत्य जानता था। जिसे शंयु की समाप्ति कहते थे और
अब भी जो शंयुवाक कहता है वह उसी यज्ञ-समाप्ति को पहुँचता है जिसे शंयु बार्ह-
स्पत्य पहुँचा और जिसे अब भी शंयु की संस्था कहते हैं। इसलिए शंयुवाक होता है।

शंयु का अर्थ भक्ति रस है। इसीलिए शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये
शंयोरभिस्रवन्तु नः। में इन देवीः आपः का वर्णन है। देवी विशेषण बताता है कि यह
साधारण आपः नहीं यह वही आपः है कि जिनके लिए कहा है—

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु॥ अथर्व०१।३४।२

तद्धाऽऋषीणमनुश्रुतमास। शम्युर्ह वै बार्हस्पत्योऽञ्जसा यज्ञस्य सꣳस्थां विदां-
चकार स देवलोकमपीयायेति ते तामेव यज्ञस्य सꣳस्थामुपायन्याꣳ शंयुर्बार्हस्पत्योऽवे-
द्यच्छम्योरब्रुवंस्तां वेवैष एतद्यज्ञस्य सꣳस्थामुपैति याꣳ शंयुर्बार्हस्पत्योऽवेद्यच्छंयोराह
तस्माद्धै शंयोराह ॥२५॥

बात यह है कि भक्ति रस दो प्रकार का है। एक निर्वेद से अर्थात् दुःख से
उत्पन्न होने वाला, दूसरा भगवान् के गुणों के बुद्धि पूर्वक चिन्तन द्वारा, उसके चमत्कार
देखकर उत्पन्न होता है। इसी को पर वैराग्य कहा। वस्तुतः यह वैराग्य है ही नहीं।
यह तो परमात्मा का प्रबल अनुराग है। संसार से वैराग्य इसका अनायास लाभ फल
है। यह समृद्धिय नहीं बार्हस्पत्य है। दुःख से उत्पन्न नहीं है। इसीलिए बार्हस्पत्य कहते
हैं। हाँ इससे आनन्द तो अवश्य उत्पन्न होता है। इसी को शंयु बार्हस्पत्य कहते हैं।
परन्तु इसके उत्पन्न होने पर मनुष्य में असाधारण शक्तियाँ आ जाती हैं और लोग उसे
अपने से दूर देवलोक का मनुष्य समझने लगते हैं। परन्तु याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ऐसा
नहीं करना चाहिए, वे सच्चे भक्त भी हम सरीखे ही हैं। हाँ वे अशान्ति की ओर नहीं
दौड़ रहे, वे शंयु हैं (बध+यु अहंशुभमोर्युस्) और वह भक्ति-भावना भी शंयु है। तुम
भी हर यज्ञ की समाप्ति पर किसी ऐसे सच्चे भक्त को बुलाकर उसके सत्संग से इस
भक्ति का लाभ करो, तुम भी इसी रंग में रंग जाओगे। यह कर्म यज्ञ की समाप्ति पर
इसलिए किया जाता है कि वही अभिमान के आक्रमण का समय है। साथ ही निश्चि-
न्तता का समय है। यज्ञ समाप्त हो चुका है। यदि इस समय भक्ति-भावना आई तो
रंग भी चढ़ेगा। इसलिए यज्ञ-समाप्ति का यही प्रकार है कि यज्ञ की समाप्ति पर
किसी शान्तमूर्ति शंयु से भक्ति-रस का पान करे ॥२५॥

स प्रतिपद्यते। तच्छंयोरावृणीमहऽइति तां यज्ञस्य सꣳस्थामावृणीमहे याꣳ
शंयुर्बार्हस्पत्योऽवेदित्येवैतदाह ॥२६॥

सो वह इस प्रकार शंयु के पास पहुँचते हैं। तच्छंयोरावृणीमहे सो भाव यह
कि उस यज्ञ-समाप्ति को प्राप्त करते हैं जिसे तत्त्ववित् शंयु लोग पाते हैं ॥२६॥

गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतयऽइति। गातुꣳ ह्येष यज्ञायेच्छति गातुं यज्ञपतये यो
यज्ञस्य सꣳस्थां दैवी स्वस्तिरस्तु नः स्वस्तिर्मानुषेभ्य इति स्वस्ति नो देवत्रास्तु स्वस्ति

मनुष्यत्रेत्येवैतदाहोर्ध्वं जिगातु भेषजमित्यूर्ध्वं नोऽयं यज्ञो देवलोकं जयत्वित्येवतदाह ॥२७॥

गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये। निर्वेद वैराग्य वाले भक्त आप भी रोते हैं और दूसरों को भी रोदू बनाते हैं। विषय वासनाओं से हटने के लिए यह रोदूं वैराग्य भी आवश्यक है किन्तु सच्चा वैराग्य वह है जहां पहुँचकर भक्त आनन्द की मस्ती में झूम-झूम कर गाता है। सो कहा कि इस गातु गान की अवस्था को हम अपने यज्ञ तथा यज्ञपति के लिए आवृणीमहे ढूंढ़कर पाते हैं। देवी स्वतिरस्तु नः स्वतिर्मानुषेभ्यः। हमारे नेता रूप देवों तथा साधारण मनुष्यों में उनके सत्संग से स्वति विराजे। उर्ध्वम् यह भक्तिरस की बूटी हमें ऊँचा ले जावे। हमें करे न करे। हमारा यज्ञ देवलोक को जिगातु अर्थात् जीते ॥२७॥

शं नो ऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदऽइति। एतावद्वाऽइदꣳ सर्वं यावद्द्विपाच्चैव चतुष्पाच्च तस्माऽएवैतद्यज्ञस्य सꣳस्थां गत्वा शं करोति तस्मादाह शं नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदऽइति ॥२८॥

शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे। इन दो पाये चौपाये में सब प्राणी उपलक्षणतया आ गये। इसलिए यज्ञ की समाप्ति पर सबके लिए शम् अर्थात् शान्ति की प्रार्थना करता है। इसलिए कहता है, शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥२८॥

अथानयेत्युपस्पृशति। अमानुष इव वाऽएतद् भवति यदार्त्विजीये प्रवृत इयं वै पृथिवी प्रतिष्ठा तदस्यामेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति तदु खलु पुनर्मानुषो भवति तस्मादनयेत्युपस्पृशति ॥२९॥ ब्राह्मणम् ॥२ [९. १.] ॥

यहाँ अनया अर्थात् दक्षिण हाथ की कनिष्ठिका से अध्वर्यु पृथिवी को स्पर्श करता है। सो ऋत्विज् कर्म में प्रवृत्त मनुष्य कुछ देर के लिए अमानुष अर्थात् देव-सा हो जाता है। परन्तु अन्तिम डेरा सबका यही पृथिवी है। इसलिए उसे इस पृथिवी पर प्रतिष्ठित करता है इसलिए फिर मनुष्य हो जाता है। भाव यह कि ऋत्विज् कर्म करके मनुष्य अभिमान में न भर जावे और उड़ा उड़ा न फिरे, उसे समझना चाहिए कि यह सब साधारण मनुष्यों में दैवी भावना उत्पन्न करने के लिए ही है। और मैं भी उन मनुष्यों में से ही हूँ। इसलिए इस प्रकार की क्रिया स्थान पर आती हैं। इनका महत्त्व वही जानते हैं जिन्होंने कभी आध्यात्मिक उत्सवों में अपने आप को किसी अलौकिक अवस्था में पहुँचा पाया ॥२९॥

इति नवमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्।

अथ नवमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

ते वै पत्नीः संयाजयिष्यन्तः प्रतिपरायन्ति । जुहूं च स्रुवं चाध्वर्युरादत्ते वेद७-होताज्यविलापनीमग्नीत् ॥१॥

अब पत्नी संयाज आरम्भ होता है जो इसका भाव यह है कि पत्नी यजमान के साथ सम्मिलित है। इसलिए जितने यजमान के कार्य हैं उनमें से तो उसका भाग है ही किन्तु कुछ कार्य ऐसे हैं जिनमें बोलने का अधिकार पत्नी का ही है। इसलिए यजमान का यज्ञ परा हो, पर यह पत्नी संयाज पृथक् प्रारम्भ होता है। भाव यह है कि पुरुष लोग कुछ कहते रहें किन्तु इन विषयों में उन की कुछ न सुनी जायेगी। पत्नी जगत् का अधिकार है कि इन विषयों में पुरुषों द्वारा बने बनाये नियमों को टाल दें और जो राष्ट्र इन विषयों में पत्नियों की नहीं सुनेगा, वह रसातल को जायेगा। राष्ट्रों में इन पदों पर पत्नी ही प्रतिष्ठित होनी चाहिए। स्त्री न कह कर पत्नी कहने का अभिप्राय यह है कि इन पदों पर जो स्त्रियाँ प्रतिष्ठित हों वह पत्नीत्व का अनुभव अवश्य प्राप्त कर चुकी हों। अब इन क्रियाओं को देखने से बात स्वयं स्पष्ट हो जायेगी।

अब आगे पत्नी संयाज कराने के लिए तैयार अध्वर्यु आदि ऋत्विज् आहवनीय से गार्हपत्य की ओर आते हैं। उस समय जुहू और स्रुव को अध्वर्यु लेता है। वेद को होता लेता है। आज्य विलापनी को अग्नीत् लेता है ॥१॥

तद्धैकेषामध्वर्युः पूर्वेणाहवनीयं पर्येति तदु तथा न कुर्याद् बहिर्धा ह यज्ञात्स्याद्यत्तेने-यात् ॥२॥

इसमें कई सम्प्रदाय हैं। कई लोगों का मत है कि अध्वर्यु आहवनीय के पूर्व की ओर से आता है किन्तु ऐसा न करें क्योंकि इसका अर्थ तो यज्ञ से ही बाहर हो जाना होगा ॥२॥

जघनेनो हैव पत्नीम् । एकेषामध्वर्युरेति नोऽएव तथा कुर्यात्पूर्वार्धो वै यज्ञस्या-ध्वर्युर्जघनार्धः पत्नी यथाभसत्तः शिरः प्रतिदध्यादेवं तद्बहिर्धा हैव यज्ञात्स्याद्यत्तेनेयात् ॥३॥

कई लोगों का मत है कि अध्वर्यु पत्नी के पीछे की ओर से आता है। ऐसा भी न करे। यज्ञ का पूर्वार्ध अध्वर्यु है पश्चिमार्ध पत्नी। सो पत्नी के पीछे अध्वर्यु का आना ऐसे होगा जैसे नितम्ब के पीछे सिर जोड़ दें ॥३॥

अन्तरेणो हैव पत्नीम् । एकेषामध्वर्युरेति नोऽएव तथा कुर्यादन्तरियाद्ध यज्ञात्पत्नीं यत्तेनेयात्तस्मादु पूर्वेणैव गार्हपत्यमन्तरेणाहवनीयं चैति तथा ह न बहिर्धा यज्ञाद् भवति यथोऽएवादः प्रचरन्नन्तरेण सञ्चरति स उऽएवास्यैष संचरो भवति ॥४॥

कइयों का मत है अध्वर्यु यजमान तथा पत्नी के बीच होकर आता है सो यह भी यज्ञ तथा पत्नी के बीच में अन्तराय होना होगा। सो गार्हपत्य तथा आहवनीय के बीच गार्हपत्य के सामने से आवे। इस प्रकार यज्ञ से बहिष्कृत नहीं होता जिस प्रकार इधर से आहवनीय की ओर जाते हुए गया था। वही लौटने का मार्ग है। यही पत्नी संयाज में अध्वर्यु का संचार है ।।४।।

अथ पत्नीः संयाजयन्ति । यज्ञाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते यज्ञात्प्रजायमाना मिथुना प्रजायन्ते मिथुनात्प्रजायमाना अन्ततो यज्ञस्य प्रजायन्ते तदेना एतदन्ततो यज्ञस्य मिथुनात्प्रजननात्प्रजनयति तस्मान्मिथुनात्प्रजननादन्ततो यज्ञस्येमाः प्रजाः प्रजायन्ते तस्मात्पत्नीः संयाजयन्ति ।।५।।

अब पत्नी से यज्ञ करवाते हैं। यज्ञ से ही उत्तम प्रजा उत्पन्न होती है। यज्ञ से उत्पन्न होने के अनन्तर मैथुन से उत्पन्न होते हैं। स्नातक वन के यज्ञ दीक्षित हो कर मैथुन करते हैं और ऐसा जन्म पाने वालों को यज्ञ के अन्त में मैथुन करना चाहिए जिससे यज्ञ की पवित्र भावना मैथुन में प्रविष्ट हो। इसीलिए यहाँ भी यज्ञ के अन्त में पति पत्नी का जोड़ा इकट्ठा करके मैथुन से उत्पन्न करता है। इसलिए उस मैथुन कर्म को यज्ञ के अन्त में रक्खा है। इसलिए यहाँ पत्नी संयाज करते हैं।

भाव यह कि ऋत्विजों का धर्म पति पत्नी में समन्वय उत्पन्न करना है न कि अन्तराय होना (संचर मम)। फिर जिस प्रकार पति-पत्नी के जोड़े के विना सन्तान उत्पन्न नहीं होती इसी प्रकार राज-नियम तथा गृह प्रबन्ध सम्बन्धी नियम भी दोनों की सम्मति के विना ठीक नहीं बनते। इसलिए जिन क्षेत्रों में पतियों की सम्मति प्रधान है, उनको पत्नी संयाज में दिखाया है ।।५।।

चतस्रो देवता यजति । चतस्रो वै मिथुनं द्वन्द्वं वै मिथुनं द्वे द्वे हि खलु भवतो मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्माच्चतस्रो देवता यजति ।।६।।

पत्नी संयाज में चार देवताओं का यज्ञ है। सो चार जोड़े की संख्या है। सुगम संख्या है। सो घर में जोड़ी ही गृहस्थ बनाती हैं। इसलिए दो-दो की दो जोड़ी होती हैं। इसीलिए ४ देवताओं का यज्ञ करता है ।।६।।

ता वाऽआज्यहविषो भवन्ति । रेतो वाऽआज्यꣳ रेत एवैतत्सिञ्चति तस्मादाज्यहविषो भवन्ति ।।७।।

इन चारों देवताओं को घृत की आहुति दी जाती है। घृत वीर्य है और यह वीर्य-सेचन का प्रसंग है। इसलिए यहाँ घृत ही हवि है ।।७।।

तेनोपाꣳशु चरन्ति । तिर इव वै मिथुनेन चर्यत तिर इवैतद्यदुपाꣳशु तस्मादुपाꣳशु चरन्ति ।।८।।

यह यज्ञ उपांशु किया जाता है। घरेलू सब व्यवहारों में एकान्त चाहता है। सो इस एकान्त का प्रतिनिधि यहाँ उपांशु कर्म है ।।८।।

अथ सोमं यजति । रेतो वै सोमो रेत एवैतत्सिञ्चति तस्मात्सोमं यजति ।।९।।

सो सबसे पहले सोम देवता के नाम का यज्ञ होता है। सोम नाम वीर्य का है। इस आहुति द्वारा वीर्याहुति करता है इसलिए सबसे प्रथम सोम के नाम का यजन करता हैं।

भाव यह कि पुरुष जाति अत्यन्त कामातुर निर्लज्ज तथा इस वषय में अति स्वार्थ-परायण है। यदि व्यभिचार सम्बन्धी नियम पुरुषों के हाथ में दे दिये जावें तो

वे अपने पक्ष में नियम बनावेंगे। जिससे पुरुष तो मनमानी करें किन्तु स्त्रियों के नाम पर सारा भण्डा फूटे। इसलिए वीर्य-रक्षा सम्बन्धी नियम पत्नियों के हाथ में होने चाहिए। इस विषय में उन्हें अन्तिम निर्णय का अधिकार होना चाहिए ॥९॥

अथ त्वष्टारं यजति। त्वष्टा वै सिक्तꣳ रेतो विकरोति तस्मात्त्वष्टारं यजति ॥१०॥

फिर त्वष्टा के नाम की आहुति देता है। गर्भाशय में पड़ा हुआ वीर्य स्त्री-पुरुष के गुणों को मिलाकर नया व्यक्तित्व उत्पन्न करता है। सो गर्भाशय में पलने वाले भ्रूण के प्रति भी मनुष्य बड़ा निर्लज्ज है। इसलिए अधिकारों की रक्षा भी पत्नियों हाथ में सौंपी जानी चाहिए ॥१०॥

अथ देवानां पत्नीर्यजति। पत्नीषु वै योनौ रेतः प्रतिष्ठितं तत्ततः प्रजायते तत्पत्नीष्वेवैतद्योनौ रेतः सिक्तं प्रतिष्ठापयति तत्ततः प्रजायते तस्माद्देवानां पत्नीर्यजति ॥११॥

फिर पत्नियों के पत्नी रूप में घर में अनेक अधिकार हैं। उन सबकी रक्षा देव-पत्नियों के अधिकार में होनी चाहिए क्योंकि अगली सन्तान उनकी ही गोद में पलकर प्रजा का रूप धारण करती है ॥११॥

स यत्र देवानां पत्नीर्यजति। तत्पुरस्तात्तिरः करोत्युप ह वै तावद्देवता आसते यावन्न समष्टियजुर्जुह्वतीदं नु नो जुह्वत्विति ताभ्य एवैतत्तिरः करोति तस्मादिमा मानुष्य स्त्रियस्तिर इवैव पुꣳसो जिघत्सन्ति या इव तु ता इवेति ह स्माह याज्ञवल्क्यः ॥१२॥

सो जहाँ देव-पत्नियों के नाम का यज्ञ करता है उस स्थान पर पर्दा-सा कर दिया जाता है। सो बात यह है कि जब तक समिष्ट यजुः का हवन नहीं हो जाता तब तक सब देवता वहीं रहते हैं कि कहीं यह आहुति हमें न मिल जावे सो उनसे बचाकर यह कर्म करता है। इसीलिए स्त्रियाँ पुरुषों के सामने भोजन खाना पसन्द नहीं करतीं। जैसे वह लौकिक स्त्रियाँ होती हैं वैसे ही देव-पत्नियां भी हैं। यही याज्ञवल्क्य का मत है।

भाव यह कि पत्नियों से सम्बन्ध रखने वाली सभाओं में पुरुषों का बिलकुल प्रवेश तक न होना चाहिए। क्योंकि संकोचशील होने के कारण उनके सामने वे खुलकर अपने भाव प्रकाशित नहीं कर सकतीं। इस विषय में पढ़ी-लिखी तथा साधारण स्त्रियाँ एक समान हैं। लज्जा संकोच सब में एक समान है ॥१२॥

अथाग्निं गृहपतिं यजति। अयं वाऽअग्निर्लोकं इममेवैतल्लोकमिमाः प्रजा अभिप्रजनयति ता इमं लोकमिमाः प्रजा अभिप्रजायन्ते तस्मादग्निं गृहपतिं यजति ॥१३॥

अब गृहपति अग्नि के नाम का यजन करता है। यह प्रत्यक्ष लोक अग्निलोक है सो प्रजा को परलोक वृत्ति से हटाकर इस लोक की सुधि लेना तथा लिवाना स्त्रियों का विशेष भागधेय है। कल्पना की हवा में उड़ने वालों का धरती पर रखना (अच्छे अर्थों में इन्हीं का काम है। यही प्रजा की इस लोक की अग्नि की रक्षा के लिए गृहपति अग्नि के नाम का यजन करता है। भाव यह कि यदि स्त्रियाँ नाक पकड़कर पुरुषों को यथार्थता की ओर न घसीटें तो ये घर बार से बिलकुल लापरवाह होकर हवा में उड़ते हैं ॥१३॥

तदिडान्तं भवति । न ह्यत्र परिधयो भवन्ति न प्रस्तरो यत्र वाऽअदः प्रस्तरेण यजमानꣳ स्वगाकरोति पतिं वाऽअनु जाया तदेवास्यापि पत्नी स्वगाकृता भवतीयसि तꣳ ह कुर्याद्यत्प्रस्तरस्य रूपं कुर्यात्तस्मादिडान्तमेव स्यादुतो प्रस्तरस्यैव रूपं क्रियते ।।१४।।

पत्नी-संयाज कर्म इडोपहूति तक होता है । न यहाँ परिधि होती हैं. न प्रस्तर होता है (यह स्त्री-पुरुषों का समान है) । सो जहाँ प्रस्तर द्वारा यजमान को देवों में स्वगा करता है, सो जाया भी पति के साथ ही है । सो पत्नी स्वयं ही वहां स्वगा हो जाती है। सो वहां प्रस्तर का रूप कर दे तो ईयसि तं अर्थात् बिछोड़े की बात कर दे । इसलिए (इडान्त) कर्म ही करना चाहिए और चाहें तो प्रस्तर का रूप भी (अभिनय भी) किया जाता है ।।१४।।

स यदि प्रस्तरस्य रूपं कुर्यात् । यथैवादः प्रस्तरेण यजमानꣳ स्वगाकरोत्येवमेवैतत्पत्नीꣳ स्वगाकरोति ।।१५।।

सो यदि प्रस्तर का रूप करे तो जैसे यजमान की विधि में वहाँ किया था यजमान को स्वगाकरण किया था, इसी प्रकार यहाँ पत्नी का स्वगाकरण करता है ।।१५।।

स यदि प्रस्तरस्य रूपं कुर्यात् । वेदस्यैकं तृणमाच्छिद्याग्रं जुह्वामनक्ति मध्यꣳ स्रुवे बुध्नꣳ स्थाल्याम् ।।१६।।

सो यदि प्रस्तर का रूपक भी यही करे तो वेद के एक तृण को निकालकर उसका अग्रभाग जुहू में मध्य स्रुव में और मूल स्थाली में समंजन करे ।।१६।।

अथाग्नीदाहानुप्रहरेति । तूष्णीमेवानुप्रहृत्य चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहीत्यात्मानमुपस्पृशति तेनोऽअप्यात्मानं नानुप्रवृणक्ति ।।१७।।

तब अग्नीत् कहे, अनुप्रहर। फिर चुपचाप अनुप्रहरण करके 'चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि' कहकर अपने आपका उप स्पर्शन करे । इससे अपने आपको यज्ञाग्नि में नहीं डालता ।।१७।।

अथाह संवदस्वेति । अगानग्नीदगञ्छ्रावय श्रौषट् स्वगा दैव्या होतृभ्यः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः शंयोर्ब्रूहीति ।।१८।।

फिर कहे संवदस्व फिर अगान्, अग्नीत्, अगन्, श्रावय, श्रौषट्, स्वगा दैव्या होतृभ्यः। स्वतिर्मानुषेभ्य शंयोः ब्रूहि सारी क्रिया पूर्ववत् होती है ।।१८।।

अथ जुहूं च स्रुवं च सम्प्रगृह्णाति । अदो हैवाहुतिं करोति यदनक्त्याहुतिर्भूत्वा देवलोकं गच्छादिति तस्माज्जुहूं च स्रुवं च सम्प्रगृह्णाति ।।१९।।

फिर जुहू तथा स्रुव को लेता है सो यह जो समंजन करता है यही आहुति करता है जिससे जुहू भी देवलोक को पहुंचे । इसलिए जुहू और स्रुव का सम्प्रग्रहण करता है ।।१९।।

स वाऽअग्नये सम्प्रगृह्णाति । अग्नेऽदब्धायोऽशीतमेत्यमृतो ह्यग्निस्तस्मादाहादब्धायवित्यशीतमेत्यशिष्ठो ह्यग्निस्तस्मादाहाशीतमेति पाहि मा दिद्योः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्ट्यै पाहि दुरद्मन्या ऽइति सर्वाभ्यो मार्त्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाहाविषं नः पितुं कृणिवत्यन्नं वै पितुरनमीवं न इदमकिल्विषमन्नं कुर्वित्येवैतदाह सुषदा योनावित्यात्मन्येतदाह स्वाहा वाडिति तद्यथा वषट्कृतꣳ हुतमेवमस्यैतद्भवति ।।२०।।

मन्त्र पढ़ता है अग्नेऽदब्धायो ऽशीतम। य० २।२०। हे अकुण्ठितायु अग्ने हे बहु-भोजी ऽग्ने पाहि मा दिद्योः पाहि प्रसत्यै पाहि दुरिष्ट्यै पाहि दुरद्मन्या। सो सब प्रकार के कष्टों से मुझे बचा यह कहता है।

अविमं नः पितुं कृणु सो पितुनाम अन्न का है। सो हमारा अन्न रोगरहित, विषरहित, दोषरहित कर यह कहता है। सुषदा योनौ स्वाहा वाट्।। सो आय व्यय को पत्नी अन्न की दृष्टि से देखती तथा उसे उत्तम स्थान में सम्भाल कर रखती है। सो वह ऐसा हुआ मानो हवि का वषट्कार पूर्वक हवन हुआ।।२०।।

अथ वेदं पत्नी विस्रꣳसयति। योषा वै वेदिर्वृषा वेदो मिथुनाय वै वेदः क्रियतेऽथ यदेनेन यज्ञऽउपालभते मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते।।२१।।

पत्नी वेद को ढीला करती है। वह उस समय मन्त्र पढ़ती है। वेदोऽसियेन त्वं देव वेद देवेभ्यो ऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः। सो यदि मन्त्रपूर्वक वेद खोलना हो तो यह मन्त्र है।

अथ यत्पत्नी विस्रꣳसयति। योषा वै पत्नी वृषा वेदो मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्माद्वेदं पत्नी विस्रꣳसयति।।२२।।

पत्नी वेद को इसलिए खोलती है :—पत्नी स्त्री है, वेद पुरुष है। इस प्रकार सन्तान उत्पन्न करने वाली सन्धि हो जाती है। इसलिए पत्नी वेद को खोलती है।।२२।।

सा विस्रꣳसयति। वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूया इति यदि यजुषा चिकीर्षेदेतेनैव कुर्यात्।।२३।।

भाव यह है कि गर्भाधान का उचित समय वह है जब पत्नी स्वयं पति को अपने पास बुलावे। पशुओं में ऐसा ही होता है। पत्नी का रोम-रोम कह रहा हो कि हे पति देव तुम मेरे ज्ञान-भण्डार (विद्ज्ञाने) अथवा लाभ-भण्डार (विद् लाभे) हो इसलिए मुझे सन्तान रूप उत्तम लाभ के देने वाले बनिये। जब यह मन की अवस्था हो वही पति-पत्नी के मेल का समय है।।२३।।

तमा वेदेः सꣳस्तृणाति। योषा वै वेदिर्वृषा वेदः पश्चाद्वै परीत्या वृषा योषामधिद्रवति पश्चादेवैनामेतत्परीत्य वृष्णा वेदेनाधिद्रावयति तस्मादा वेदेः सꣳस्तृणाति।।२४।।

उस वेद को (कुश ग्रन्थी को) खोलकर वेदि तक बिछा देता है। सो वेदि स्त्री है, वेद पुरुष है। वृषा योषा को पीछे से आकर पकड़ता है सो यही क्रिया यहाँ करवाता है। भाव यह है कि ऐसे समय पति अपना सर्वस्व पत्नी के लिए बिछा देता है। सो दोनों ओर से यह भावना हो तब गर्भाधान होना चाहिए तथा अन्य सब राष्ट्रहित-कारी कार्यों में भी उनका ऐसा ही प्रेम होना चाहिए। गर्भाधान तो उपलक्षण मात्र है।।२४।।

अब समिष्ट यजु का हवन करता है। इसका भाव यह है कि मेरा मन आगे बढ़ता जाय। यदि समिष्ट यजु हवन के पश्चात् पत्नी-संयाज करे तो यज्ञ को फिर पीछे लौटना पड़े। इसलिए यहाँ समिष्ट यजु करता है। जिससे यज्ञ आगे-आगे बढ़ना जावे।

अथ समिष्टयजुर्जुहोति। प्राङ् मे यज्ञोऽनुसन्तिष्ठाताऽइत्यथ यद्धुत्वा समिष्टयजुः पत्नीः संयाजयेत्प्रत्यङ् हैवास्यैष यज्ञः सन्तिष्ठेत तस्माद्वाऽएतर्हि समिष्टयजुर्जुहोति प्राङ् मे यज्ञोऽनुसन्तिष्ठाताऽइति।।२५।।

भाव यह कि हर कार्य में एक समाप्ति की तिथि अवश्य रखनी चाहिए। जिससे

सब लोग उस समय तक कार्य अवश्य समाप्त कर लें, नहीं तो कार्य समाप्त ही होने में नहीं आता। इसी का नाम समिष्ट यजु है ॥२५॥

अथ यस्मात्समिष्टयजुर्नाम। या वाऽएतेन यज्ञेन देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायते सर्वा वैतत्ताः समिष्टा भवन्ति तद्यत्तासु समिष्टास्वथैतज्जुहोति तस्मात्समिष्ट-यजुर्नाम ॥२६॥

सो क्योंकि इसका नाम समिष्ट यजु है सो इस यज्ञ में जो देवता बुलाए जाते हैं जिनके नाम का हवन होता है, वह इस समय तक सब समिष्ट हो चुकते हैं। इसी-लिए इसका नाम समिष्ट यजु है ॥२६॥

अथ यस्मात्समिष्टयजुर्जुहोति। या वाऽएतेन यज्ञेन देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायतऽउप ह वै ता आसते यावन्न समिष्टयजुर्जुह्वतीदं नु नो जुह्वत्विति ता एवैतद्यथायथं व्यवसृजति यत्र यत्रासां चरणं तदनु यज्ञं वाऽएतदजीजनत यदेनमतत तं जनयित्वा यत्रास्य प्रतिष्ठा तत्प्रतिष्ठापयति तस्मात् समिष्टयजुर्जुहोति ॥२७॥

अब क्योंकि समिष्ट यजुयाग करता है सो इस यज्ञ में जिन देवताओं को बुलाता है। जिनके लिए यह यज्ञ का ताना ताना जाता है वे सब इकट्ठे बैठते हैं। और जब समिष्ट यजु न हो बैठे रहते हैं कि कदाचित् अभी और हवन हो सो उनको यहाँ यथायोग्य विदाई देता है। जहाँ-जहाँ जिसका स्थान है वहीं वहीं उन्हें भेजता है। सो इसका कारण है कि यज्ञ के पीछे ही यह इकट्ठे हुए थे। उन्होंने जो यहाँ कार्य-विस्तार किया उससे यज्ञ को विस्तार किया। अब उत्पन्न हो चुका सो जहां जिसका स्थान है उसे वहाँ प्रतिष्ठित करता है। इसलिए समिष्ट यजु का हवन करता है भाव यह कि यज्ञ का आरम्भ प्रायः लोग जानते हैं परन्तु अन्त नहीं जानते। बुलाते समय तो बढ़ बढ़कर स्वागत करते हैं, विदाई के समय थकावट तथा आलस्यवश कोई बात भी नहीं पूछता। कार्य के आरम्भ के समय तो सब यन्त्र उपकरण जुटा लेते हैं। समाप्ति पर उन्हें यथास्थान कोई नहीं रखता। परन्तु यज्ञ का अन्त उतना ही महत्त्वपूण है जितना आरम्भ। यही बात यहाँ समिष्ट यजु द्वारा कही गई है ॥२७॥

उस समय मन्त्र पढ़ता है, देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित। यजु० २।२१ यह यथायोग्य विर्सजन है। जैसे गाते आए थे वैसे गाते जाओ। मनसस्पत इमं देव यज्ञं स्वाहा वातेधाः। यजु० २।२१ सो यही यज्ञ है। सो जो यह पवन बहता है सो इस यज्ञ को संग्रह करके इस यज्ञ में प्रतिष्ठित करता है। जो यज्ञ को यज्ञ के साथ जोड़ता है। इसलिए कहा स्वाहा वाते धाः ॥

स जुहोति। देवा गातुविद इति गातुविदो हि देवा गातुं वित्वेति यज्ञं वित्त्वेत्ये-वैतदाह गातुमितेति। तदेतेन यथायथं व्यवसृजति मनसस्पतऽइमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धाऽ इत्ययं वै यज्ञो योऽयं पवते तदिमं यज्ञꣳ सम्भृत्यैतस्मिन्यज्ञे प्रतिष्ठापयति यज्ञेन यज्ञꣳ सन्दधाति तस्मादाह स्वाहा वाते धा इति ॥२८॥

भाव यह कि जिस प्रकार पवन का धर्म चलना है इसी प्रकार यज्ञ भी चलता है। यज्ञ भी चलता है। यज्ञ में आये देवता भी यथास्थान जाते हैं। परन्तु यह सुग-न्धित वायु के समान आवें और ऐसे ही जावें ॥२८॥

अथ बर्हिर्जुहोति। अयं वै लोको बर्हिरोषधयो बर्हिरस्मिन्नेवैतल्लोकऽओषधी-र्दधाति ता इमा अस्मिँल्लोक ऽ ओषधयः प्रतिष्ठितास्तस्माद् बर्हिर्जुहोति ॥२९॥

फिर बर्हि नामक आहुति करता है। सो बर्हि नाम इस लोक का है। यह जो अन्नादि खेतों में खड़ा है। अथवा भण्डार में पड़ा है जो यज्ञ के काम नहीं आया, यह बर्हि है। सो इस लोक में बर्हि को धारण करता है। इसीलिए इस लोक में अन्न प्रतिष्ठित है। इसलिए बर्हि हवन करता है ॥२९॥

तां वाऽअतिरिक्तां जुहोति। समिष्टयजुर्ह्यन्तो यज्ञस्य यदूर्ध्वᳪ समिष्टयजुषोऽतिरिक्तं यद्वदा हि समिष्टयजुर्जुहोत्यथैताभ्यो जुहोति तस्मादिमा अतिरिक्ता असम्मिता ओषधयः प्रजायन्ते ॥३०॥

बर्हि याग अन्य आहुतियों से अलग हवन किया जाता है। क्योंकि समिष्ट यजु के पीछे यज्ञ में जो कुछ किया जाता है वह अतिरिक्त भाग है। इसीलिए यह अन्न भी अपरिमित पैदा होता है। यज्ञ में तो नाप कर लिया जाता है।

भाव यह कि यज्ञ की समाप्ति पर कुछ न कुछ उपयोगी द्रव्य अवश्य बच जाता है। उसे व्यर्थ न फेंककर ठीक द्रव्यगणना करनी आवश्यक है। वही बर्हि भाग है। इस प्रकार गणना करने वालों को कभी द्रव्यों का टोटा नहीं होता। परन्तु यह कार्य स्वतन्त्र रूप से धीरे-धीरे होता रहना चाहिए। इसे विदाई के साथ न रखना चाहिए नहीं तो विदाई नीरस हो जायेगी ॥३०॥

स जुहोति। सं बर्हिरङ्क्ताᳪ हविषा घृतेन समादित्यैर्वसुभिः सं मरुद्भिः समिन्द्रो विश्वदेवेभिरङ्क्तां दिव्यं नभो गच्छतु यत्स्वाहेति ॥३१॥

उस समय मन्त्र पढ़ता है। सं बर्हिरङ्क्तां हविषा घृतेन समादित्यैर्वसुभिः सं मरुद्भिः। समिन्द्रो विश्वदेवेभिरङ्क्तां दिव्यं नभो गच्छतु यत् स्वाहा ॥ यजु० २।२२ अर्थात् परमात्मा कृपा करे कि यह शेष बचा द्रव्य भी हवि बने घृत युक्त हो तथा आदित्य बसु रुद्र आदि देवों के काम आवे ॥३१॥

अथ प्रणीता दक्षिणतः परीत्य निनयति। युङ्क्ते वाऽएतद्यज्ञं यदेनं तनुते स यन्न निनयेत्पराङ् हाविमुक्त एव यज्ञो यजमानं प्रक्षिणीयात्तथो ह यज्ञो यजमानं न प्रक्षिणाति तस्मात्प्रणीता दक्षिणतः परीत्य निनयति ॥३२॥

फिर आहवनीय की प्रदक्षिणा करके प्रणीता जल वेदि में डाल दे। सो प्रणीता का अर्थ सुशिक्षिता स्त्रियाँ ऐसा पहले दिखा आये हैं। वेदि का अर्थ यजमान पत्नी कह आये हैं। इस विदाई के पवित्र समय में वे सब प्रेम, उपदेश तथा आशीर्वाद देकर विदा हों ऐसा प्रयत्न यजमान पत्नी को सदा करना चाहिए यह इस क्रिया का भाव है।

सो जो यज्ञ का ताना तानता है वह एक-एक यज्ञकर्त्ता को यज्ञ रस के जूये में जोतता है। सो यदि यह जल का निनयन (वेदि में गिराना) न करे तो यज्ञ यज्ञ के वाहन वियुक्त न होने के कारण यजमान को दोषभागी बनावें। इस क्रिया से यज्ञ यजमान को दोष का भागी नहीं होने देता। इसलिए प्रदक्षिणा करके प्रणीता का जल गिराता है ॥३२॥

स निनयति। कस्त्वा विमुञ्चति स त्वा विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चति तस्मै त्वा विमुञ्चति पोषायेति तत्पुष्टिमुत्तमां यजमानाय निराह स येनैव प्रणयति तेन निनयति येन ह्येव योग्यं युञ्जन्ति योक्त्रेण हि योग्यं युञ्जन्ति योक्त्रेण विमुञ्चन्त्यथ फलीकरणान्कपालेनाधोऽधः कृष्णाजिनमुपास्यति रक्षसां भागोऽसीति ॥३३॥

मो निनयन के समय मन्त्र पढ़ता है : कस्त्वा विमुञ्चति स त्वा विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चति तस्मै त्वा विमुञ्चति पोषाय ॥ य० २:२३ ॥ सो यह आशीर्वाद द्वारा यजमान को उत्तम पुष्टि का निर्वचन होता है। सो जिनकी साक्षी करके प्रणयन पूर्वक यज्ञ में व्रत ग्रहण किया था उन्हीं के सामने उसी जल से निनयन पूर्वक यज्ञ का विसर्जन करता है। जिस रस्सी से बैल को जोतते हैं। उसी से खोलते हैं। जोत से बैल को जोतते हैं सो जोत से खोलते हैं। अब फलीकरण अर्थात् धान कूटने के समय जो कण टूटकर बिखर गए थे, उन्हें कपाल के सहारे कृष्णाजिन के नीचे गिराता है। उस समय वाक्य बोलता है, रक्षसां भागोऽसि। य० २।२३।।३३ ॥

देवाश्च वाऽअसुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरऽएतस्मिन्यज्ञे प्रजापतौ पितरि संवत्सरेऽस्माकमयं भविष्यत्यस्माकमयं भविष्यतीति ॥३४॥

देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान थीं। उनमें होड़ लग गई। दोनों कहने लगे प्रजापति के इस संवत्सर रूप यज्ञ में हमारा यह होगा, हमारा यह होगा ॥३४॥

ततो देवाः। सर्वं यज्ञꣳ संवृज्याथ यत्पापिष्ठं यज्ञस्य भागधेयमासीत्तेनैनान्निरभजन्नस्ना पशोः फलीकरणैर्हविर्यज्ञात्सुनिर्भक्ता असन्निस्येष वै सुनिर्भक्तो यं भागिनं निर्भजन्त्यथ यमभागं निर्भजन्त्यैव स तावच्छꣳसतऽउत हि वशे लब्ध्वाह किं मा बभक्थेति स यमेवैभ्यो देवा भागमकल्पयंस्तमेवैभ्य एष एतद्भागं करोत्यथ यदधोऽधः कृष्णाजिनमुपास्यत्यनग्ना वेवैभ्य एतदन्धे तमसि प्रवेशयति तथोऽएवासृक्पशो रक्षसां भागोऽसीत्यनग्नावन्धे तमसि प्रवेशयति तस्मात्पशोस्तेदनीं न कुर्वन्ति रक्षसाꣳ हि सः भागः ॥३५॥ ब्राह्मणम् ॥३॥ [९. २.]

तब देवों ने सारे यज्ञ पर अधिकार जमाकर जो यज्ञ का रद्दी माल बचा था, वह इन असुरों के हिस्से में डाल दिया। इन्हें जानवरों का रुधिर, यज्ञ के बचे तण्डुल यह भाग यज्ञ में से मिला।

उसके लिए वही अच्छा था। सो जिसे अपना इष्ट पदार्थ मिल गया वह सु सुनिर्भक्त हो जाता है। जिसे नहीं मिलता वह पकड़ कर कहता है, मुझे क्या दिया ? सो जो देवों ने इसके लिए भाग दिया था, वही इन्हें देता है, जब इन तण्डुल कणों को कृष्णाजिन से गिराता है। सो वह अग्नि में हवन नहीं होता क्योंकि ये लोग अन्धकार में पड़े होते हैं। इसलिए इनका भाग भी वहीं भेजा जाता है। इसलिए पशुयाग में हृदयादि सभी अंगों की कल्पना है कि कौन-सा भाग किस देव द्वारा सु सम्पन्न होता है। परन्तु रुधिर की तेदनी कहीं नहीं आती वह राक्षसों का भाग है।

भाव यह है कि नीचे पतित जेलखाने के अन्धकार में पड़े असुर राक्षस भी उपेक्षा का विषय नहीं। बचा खुचा अन्न, बचा खुचा समय तथा बचा-खुचा ज्ञान भाग पुस्तकादि उनके लिए भी अवश्य निकालना चाहिए और नहीं तो हर यज्ञ में जो टूट-फूट बचती है वह अथवा उसको बेचकर उसका मूल्य इन लोगों के लिए सुरक्षित कर देना चाहिए, यज्ञ में राक्षस तक यज्ञ भाग से वंचित न रहें। और सच्चे महापुरुष तो अपना रुधिर देते ही हैं। देव कार्य करते हुए वे अपना जीवन बिताते हैं तो अपनी चर्बी देवों को अर्पण करते हैं तथा जब धर्म रक्षार्थ राक्षसों के हाथ मारे जाते हैं तो रुधिर राक्षसों को दे जाते हैं। तब वह रक्षसां भागः हो जाता है ॥३५॥

इति नवमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्।

अथ नवमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

स꣡ꣳस्थिते यज्ञे। दक्षिणतः परीत्य पूर्णपात्रं निनयति तथा ह्युदग्भवति तस्माद्दक्षिणतः परीत्य पूर्णपात्रं निनयति देवलोकं मेऽप्यसदिति वै यजते यो यजते सोऽस्यैष यज्ञो देवलोकमेवाभिप्रैति तदनूची दक्षिणा यां ददाति सैति दक्षिणामन्वारभ्य यजमानः ॥१॥

अब पत्नी संयाज भी हो चुका सो यज्ञ पूर्णतया समाप्त हो गया। अब इस यज्ञ के बाहर से आये लोग विदा हो गए, अब घर के लोगों का कार्य आरम्भ होता है। अब ऋत्विज यजमान को आशीर्वाद देते हैं। सो अध्वर्यु आहवनीय की प्रदक्षिणा करके पूर्ण पात्र लेकर दक्षिण की ओर बैठा हुआ उत्तराभिमुख होकर यजमान की अंजलि में पूर्णपात्र का निनयन करे (जल गिरावे) सो इसका भाव यह है कि देव लोक में भी यह पूर्ण पात्र मेरे पास रहे। इसी भावना से जो भी यज्ञ करता है, वह यज्ञ में प्रवृत्त होता है। फिर उसका यह यज्ञ देव लोक में जाता है। उसकी अनुचरी दक्षिणा जाती है फिर उसके पीछे-पीछे यजमान जाता है ॥१॥

स एष देवयानो वा पितृयाणो वा पन्था। तदुभयतोऽग्निशिखे समोषन्त्यौ तिष्ठतः प्रति तमोषतो यः प्रत्युष्योऽत्यु त꣡ꣳ सृजेते योऽतिसृज्यः शान्तिरापस्तदेतमेवैतत्पन्थान꣡ꣳ शमयति ॥२॥

सो वह चाहे देवयान मार्ग हो चाहे पितृयाण, उसके दोनों ओर दहकती हुई अग्नि-ज्वाला जलती रहती है। जो दहन योग्य होता है उसे जला देती है। जो पार निकलने योग्य होता है उसे पार निकाल देती है। सो यह जल शान्ति रूप है सो इसके द्वारा मार्ग को शान्त बनाता है।

भाव यह है कि चाहे कोई ऊर्ध्वरेता होकर देवयान मार्ग से चले चाहे गृहस्थाश्रम के मार्ग से पिता बनकर जावे। जब विद्वान् लोग उसकी परीक्षा करते हैं तो उसने जो यज्ञरूप परोपकारमय कर्म किये होते हैं और जो ऋत्विजों को अर्थात् सहकारी कार्यकर्त्ताओं को दक्षिणा दी होती है वही इन समालोचकों की तीव्र अग्नि-परीक्षा में उसे पार लगाती है। और वही परलोक में बड़े समालोचकों के सामने भी शान्ति देती है। सो यही अध्वर्यु द्वारा ऋत्विजों का पूर्ण पात्र में आशीर्वाद है कि तेरा अमर लोक पाथेय सुकृत पात्र सदा भरा रहे ॥२॥

पूर्णं निनयति। सर्वं वै पूर्ण꣡ꣳ सर्वेणैवैनमेतच्छमयति सन्ततमव्यवच्छिन्नं निनयति सन्ततेनैवैनमेतदव्यवच्छिन्नेन शमयति ॥३॥

सो वह पात्र पूरा भरकर उलटा जाता है। पूर्णपात्र सम्पूर्णता का चिह्न है—

यजमान उस समय मन्त्र पढ़ता है, उस पाठ के अन्त तक लगातार अविच्छिन्न धारा बहती है। भाव यह कि कभी पुण्य, कभी पाप का जीवन अच्छा नहीं, यावज्जीवन अविच्छिन्न एक रस पुण्य धारा बहनी चाहिए ॥३॥

यद्वेव पूर्णपात्रं निनयति यद्वै यज्ञस्य मिथ्या क्रियते व्यस्य तद्बृहन्ति क्षण्वन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः सन्दधाति ॥४॥

सो इस पूर्ण पात्र द्वारा यज्ञ का कोई अंग कहीं से टूट गया हो तो शान्ति के प्रतिनिधि जल से उसे फिर मरम्मत करता है ॥४॥

पूर्णं निनयति। सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वेणैवैतत्सन्दधाति सन्ततमव्यवच्छिन्नं निनयति सन्ततेनैवैतदव्यवच्छिन्नेन सन्दधाति ॥५॥

पात्र को भरकर उलटता है। पूर्ण सर्व का पर्यायवाची है। सो सम्पूर्ण शक्ति भरी है। तब ही त्रुटि सन्धान सम्भव है। सन्तत अव्यवच्छिन्न का भी यही भाव है। उसी से त्रुटि-सन्धान भाव होता है ॥५॥

तदञ्जलिना प्रतिगृह्णाति। सं वर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन। त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टमिति यद्विवृढं तत्सन्दधाति ॥६॥

यजमान उस जल को अंजलि में लेता है। उस समय मन्त्र पढ़ता है। सं वर्चसा पयसा संतनूभिरगन्महि मनसा संशिवेन त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥ यजु० २।२४॥ यह जहां से वितृढ अर्थात् टूटा हो वहीं से सन्धान करता है ॥६॥

अथ मुखमुपस्पृशते। इयं तद्यस्मान्मुखमुपस्पृशतेऽमृतं वाऽआपोऽमृतेनैवैतत्सꣳस्पृशतऽएतदु चैवैतत्कर्मात्मन्कुरुते तस्मान्मुखमुपस्पृशते ॥७॥

अब यजमान अन्तर्मुख हो रहा है। वह कहता है इस यज्ञ की कृपा से हमने तेज दूध आदि उत्तम अन्न, उत्तम शरीर, शिव संकल्प युक्त मन सब-कुछ पाया। व्यक्तियों का देव त्वष्टा मुझ व्यक्ति को अपने उत्तम दान से तृप्त करे और वह दान यही है कि मुझ में जहाँ कहीं त्रुटि हो उसमें मार्जन करूँ और वह मार्जन करे।

अथ विष्णुक्रमान्क्रमते। देवान्वाऽएष प्रीणाति यो यजतऽएतेन यज्ञेनर्ग्भिरिव त्वद्यजुर्भिरिव त्वदाहुतिभिरिव त्वत्स देवान्प्रीत्वा तेष्वपित्वी भवति तेष्वपित्वी भूत्वा तानेवाभिप्रक्रामति ॥८॥

इतनी कड़ी परीक्षा के बाद वह अपने आपको विष्णु का सैनिक समझता है तथा उसका सिपाही बनकर पाद-विक्षेप करता है। यही बात यहाँ इस प्रकार कहते हैं जो यज्ञ करता है वह देवों को प्रसन्न करता है। सो इस यज्ञ से, ऋचाओं से, यजुओं की आहुतियों से देवों को प्रसन्न करके वह उन पर अपना हक समझने लगता है। अपनापन समझने लगता है और अपनेपन को पाकर उन्हीं की चाल से उनकी ओर चलता है ॥८॥

यद्वेव विष्णुक्रमान्क्रमते। यज्ञो विष्णुः स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे येषामियं विक्रान्तिरिदमेव प्रथमेन पदेन पस्पाराथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेनैता-न्वेवैष एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विक्रान्तिं विक्रमते तस्माद्विष्णुक्रमान्क्रमते तद्वाऽइत एव पराचीनं भूयिष्ठा इव क्रमते ॥९॥

सो यह जो विष्णु क्रम नाम की क्रिया करता हुआ चलता है, सो वह संग-

ठन ही विष्णु है। सो उसने देवों के हितार्थ यह विक्रान्ति दिखाई। यही जो इनकी विक्रान्ति है। प्रथम पद में उसने इस पृथिवी लोक अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम को पार किया (देखो स्वर्ग नामक हमारा निबन्ध)। द्वितीय पाद में इस अन्तरिक्ष अर्थात् गृहस्थाश्रम को पार किया। तीसरे पग में द्यौः अर्थात् वानप्रस्थाश्रम को पार किया। वही विक्रान्ति यजमान को विष्णु अब भी सिखाता है। इसी अभ्यास के लिए यजमान विष्णु क्रमों को पार करता है। इसी की देखादेखी आगे-आगे बहुत लोग चलते हैं ॥९॥

तदु तत्पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रँस्त। गायत्रेण छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रँस्त त्रैष्टुभेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो दिवि विष्णुर्व्यक्रँस्त जागतेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इत्येवमिमांल्लोकान्त्समारुह्याथैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा य एष तपति तस्य ये रश्मयस्ते सुकृतोऽथ यत्परं भा: प्रजापतिर्वा स स्वर्गो वा लोकस्तदेवमिमांल्लोकान्त्समारुह्याथैतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति परस्तात्त्वेवार्वाङ् क्रमते य इतोऽनुशासनं चिकीर्षेद् द्वयं तद्यस्मात्परस्तादर्वाङ् क्रमते ॥१०॥

सो वहीं इन मन्त्रों में कहा गया है। विष्णु ने पृथिवी में पराक्रम दिखाया। वहाँ गायत्री (विद्याभ्यास) उसका छन्द था। उसके बल से, काम क्रोध आलस्यादि जो दोष हम पर आक्रमण करते हैं तथा जिनसे हम द्वेष करते हैं 'उस रिपु वर्ग को हमने मार भगाया। फिर विष्णु ने अन्तरिक्ष लोक अर्थात् गृहस्थ में अपना पराक्रम दिखाया। वहाँ त्रिष्टुप् (शूरता) इसका छन्द (मर्यादा) था। उससे उसने उसे मार भगाया। जो हमसे द्वेष करता है। जिससे हम द्वेष करते हैं। सो इस विष्णु-शक्ति का प्रत्यक्ष उदाहरण सूर्य है। यह इस स्थूल देवलोक की गति है, प्रतिष्ठा है। जो इन तीन आश्रमों को ठीक पालन करता है, वह इसी की भांति तपता है। जैसे इसकी रश्मि अर्थात् किरणें हैं इसी प्रकार सच्चे ईश्वर भक्त की सुकृत अर्थात् पुण्यरूपी किरणें फैलती हैं और इस सूर्य के लिए वह प्रजापति परमात्मा अर्थात् आदर्श परम सूर्य है। सो सूर्य की नकल करता हुआ पुण्य करता है तो स्वयं सूर्य होकर उस महा सूर्य से जा मिलता है। सो क्रमशः आगे आगे बढ़े, जो इससे अनुशासन सीखना चाहे सो इसे आगे-आगे पर बढ़ने के दो कारण हैं ॥१०॥

अपसरणतो ह वाऽअग्रे देवा जयन्तोऽजयन्। दिवमेवाग्रेऽथेदमन्तरिक्षमथेतोऽनपसरणात्सपत्नानानुदन्त तथोऽएवैष एतदपसरणत एवाग्रे जयन्जयति दिवमेवाग्रेऽथेदमन्तरिक्षमथेतोऽनपसरणात्सपत्नान्नुदतऽइयं वै पृथिवी प्रतिष्ठा तदस्यामेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति ॥११॥

भाव यह कि जिस प्रकार बाल सूर्य सब का प्यारा होता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य काल में विष्णु-क्रम करने वाला सब का दिल हरता है। जिस प्रकार मध्याह्न का सूर्य प्रतापी होता है, इसी प्रकार सच्चा ईश्वर-भक्त गृहस्थ में प्रतापी होता है जिस प्रकार अस्तंगामी सूर्य फिर मधुर हो जाता है इसी प्रकार वानप्रस्थ में सच्चा भक्त वात्सल्य मधुर रूप धारण कर ज्ञान की किरणों का विस्तार करके सब को विश्राम दे परम पिता की गोद में जाता है और उसकी इच्छानुसार फिर उदय होता है। यदि पितृयाण मार्ग से जाता है तो साधारण मनुष्य रूप धारण करके प्रजा का कल्याण करके फिर मोक्ष को पहुँच जाता है। यही परम प्रतिष्ठा है, परम मार्ग है। यही यज्ञ का फल है ॥११॥

परन्तु इस विक्रम-यात्रा में देवों ने अपसरण क्रिया का लाभ लिया अर्थात् जैसे चतुर योद्धा शत्रुओं को घेर कर एक कोने में लाकर नष्ट कर देता है, इसी प्रकार विष्णु-क्रम में भी शत्रु देव लोक से खदेड़े जाकर अन्तरिक्ष में घिरे। वहाँ से अन्तरिक्ष लोक में घेर कर उन्हें मारा। वहाँ से खदेड़े जाकर पृथिवी पर लाये गये, वहाँ घेर कर मारा तो यह मनुष्य पृथिवी पर प्रतिष्ठित हुआ ॥११॥

फिर कहा :—दिवि विष्णुर्व्यक्रंस्त जागतेन छन्दसा ततो निर्भक्तो, योऽस्मान् द्वेष्टि यंच व यं द्विष्मोऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रंस्त त्रैष्टुभेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रंस्त गायत्रेण छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ य० १।२५॥११॥

तदु तद्दिवि विष्णुर्व्यक्रꣳस्त। जागतेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रꣳस्त त्रैष्टुभेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रꣳस्त गायत्रेण छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽस्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठायाऽ इत्यस्याꣳ हीदꣳ सर्वमन्नाद्यं प्रतिष्ठितं तस्मादाहास्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठायाऽइति ॥१२॥

भाव यह कि पहले विद्वान् लोग अपने दोष दूर करते हैं। फिर गृहस्थों के, फिर उनकी सन्तान के। जब दोष रहित सन्तान बढ़ती है, तब तीसरी पीढ़ी में वह और उन्नति दिखाती है। यही क्रम है, परन्तु इसका असली चमत्कार इस पृथिवी अर्थात् ब्रह्मचर्य में दीखता है। इसलिए कहा, अस्मादन्नादस्य प्रतिष्ठायाः। सब इसी पर प्रतिष्ठित हैं। सारे राष्ट्र का भविष्य निर्भर है ॥१२॥

अथ प्राङ् प्रेक्षते। प्राची हि देवानां दिक्तस्मात्प्राङ् प्रेक्षते ॥१३॥

अब पूर्व दिशा की ओर देखता है। यह आगे बढ़ने वाली प्राची ही देवों की दिशा है ॥१३॥

स प्रेक्षते। अगन्म स्वरिति देवा वै स्वरगन्म देवानित्येवैतदाह संज्योतिषाभूमेति सं देवैरभूमेत्येवैतदाह ॥१४॥

उस समय वाक्य बोलता है। अगन्म स्वः अर्थात् अब हम सुखधाम में पहुँच गये, यही कहता है। फिर कहते हैं, सं ज्योतिषाभूम। हम ज्योति को प्राप्त हुए, सो स्वर्ग में पहुँच गये का अर्थ कोई मूर्ख मर गये, न समझे; इसलिए स्पष्ट कहा कि हम ने ज्ञान ज्योति पाई ॥१४॥

अथ सूर्यमुदीक्षते। सैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति तस्मात्सूर्यमुदीक्षते ॥१५॥

यही बात अगली क्रिया में और स्पष्ट होती है। वह सूर्य का दर्शन करता है। जिस प्रकार भौतिक पिण्डों में सूर्य पराकाष्ठा है, परागति है। इसी प्रकार आभ्यन्तर ज्योति का पुंज वह प्रजापति है, इसी को लक्ष्य करके हमारी जीवन-यात्रा चल रही है ॥१५॥

स उदीक्षते। स्वयम्भूरसि श्रेष्ठो रश्मिरित्येष वै श्रेष्ठो रश्मिर्यत्सूर्य्यस्तस्मादाह स्वयम्भूरसि श्रेष्ठो रश्मिरिति वर्चोदा असि वर्चो मे देहीति त्वेवाहं ब्रवीमीति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तद्ध्येव ब्राह्मणेनेष्टव्यं तद्ब्रह्मवर्चसी स्यादित्युतो ह स्माहौपोदितेय एष वाव मह्यं गा दास्यति गोदा गा मे देहीत्येवं यं कामं कामयते सोऽस्मै कामः समृध्यते ॥१६॥

उस समय वाक्य पढ़ता है, स्वयम्भूरसि श्रेष्ठो रश्मि:। य० २।२५॥ इस संसार के पिण्डों में तू ही प्रकाश श्रेष्ठ रश्मि है। चन्द्रादि तुझ से ही प्रकाशमान हैं। वर्च्चोदा असि वर्च्चो मे देहि। हे प्रभो इस आभ्यन्तर जगत् में आप भी इसी प्रकार वर्च्चस् देने वाले हैं। मुझे वर्च्चस् का दान दीजिए क्योंकि जहा बाह्य सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता वहाँ के स्वयम्भू श्रेष्ठ रश्मि आप ही हैं। यही बात याज्ञवल्क्य ने कही कि सूर्य को दृष्टान्त रखकर ब्राह्मण को सदा यज्ञ में तत्पर रहना चाहिए और सदा ब्रह्मवर्चसी अर्थात् विद्या के तेज से देदीप्यमान बनना चाहिए। इसी सम्बन्ध में आचार्य औपोदितेय ने भी कहा कि य एव वाव मह्यं गा दास्यति गोदा गा मे देहीत्येवं यं कामं कामयते सोऽस्मै कामः समृध्यते ॥१६॥

यदि इस प्रकार ठीक रूप से अर्थात् सूर्य को दृष्टान्त रखकर वह ब्रह्मतेज को विद्याभ्यास द्वारा बढ़ाता है, तो यह आन्तरिक सूर्य उसकी सब कामनाएँ पूरी करता है। यदि वह अपने आन्तरिक विद्या सूर्य से कहे कि गौ ला तो तुरन्त गाय आ खड़ी होती है। तात्पर्य यह कि विद्या के सूर्य ब्रह्मवर्चसी लोगों को क्या दुर्लभ है ॥१६॥

अथावर्त्तते। सूर्य्यस्यावृतमन्वावर्त्तऽइति तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गत्वैतस्यैवावृतमन्वावर्त्तते ॥१७॥

अब स्वस्थान पर स्थित होकर प्रदक्षिणा करता है। उसी समय कहता है, सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्ते॥ यजु० २।२६॥ सो वह सूर्य के समान नाना शिष्य परिवार होकर अथवा नानानुचर परिवेष्टित होकर प्रतिष्ठा पाता है ॥१७॥

अथ गार्हपत्यमुपतिष्ठते। द्वयं तद्यस्माद्गार्हपत्यमुपतिष्ठते गृहा वै प्रतिष्ठा तद्गृहेष्वेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति यावद्वेवास्येह मानुषमायुस्तस्माऽएवैतदुपतिष्ठते तस्माद् गार्हपत्यमुपतिष्ठते ॥१८॥

अब गार्हपत्य के पास आकर खड़ा होता है। इस गार्हपत्योपस्थापन के दो कारण हैं। एक तो गार्हपत्य घर अर्थात् गृहस्थाश्रम का प्रतिनिधि है सो गृहाश्रम में घर ही गृहस्थ की प्रतिष्ठा है। सो उसे गृहस्थ कर्म में ठीक प्रतिष्ठित करता है। दूसरे उसके गृहस्थाश्रम की ओर ठीक ध्यान देने से पूर्ण मानुष आयु प्राप्त होती है अर्थात् राष्ट्रकार्य में गृहस्थ की उपेक्षा उचित नहीं। उसे प्रतिष्ठा तथा दीर्घायु गृहस्थाश्रम से ही प्राप्त होंगे। यह समझ कर गार्हपत्य का उपस्थान करता है ॥१८॥

स उपतिष्ठते। अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाग्नेऽहं गृहपतिना भूयासꣳसुगृहपतिस्त्वम्मयाग्ने गृहपतिना भूया इति नात्र तिरोहितमिवास्त्यस्थूरिणौ गार्हपत्यानि सन्त्वित्यानार्त्तानि नौ गार्हपत्यानि सन्त्वित्येवैतदाह शतꣳ हिमा इति शतं वर्षाणि जीव्यासमित्येवैतदाह तदप्येतद् ब्रुवन्नाद्रियेतापि हि भूयाꣳसि शताद्वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति तस्मादप्येतद् ब्रुवन्नाद्रियेत ॥१९॥

उस समय वाक्य पढ़ता है, अग्नेगृहपते सुगृहपतिस्त्वयाग्ने ह गृहपतिना भूयासं सुगृहपतिस्त्वं यदाग्ने गृहपतिना भूयाः। यजु २।२७॥ यह स्पष्ट ही है केवल अग्नि का अर्थ कुल पुरोहित समझना। अस्थूरिणे गार्हपत्याग्नि सन्तु। हमारे गृहस्थ कर्म अविघ्न हों। यही तो कहता है, शतं हिमाः अर्थात् सौ वर्ष तक जीऊं। सो यह वाक्य चाहे कहे, चाहे न कहे। क्योंकि पुरुष सौ वर्ष से अधिक भी तो जीता है ॥१९॥

अथावर्त्तते । सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्त ऽइति तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गत्वैतस्यै-वावृतमन्वावर्त्तते ।।२०।।

फिर दूसरी बार स्व स्थान की परिक्रमा करता है । उस समय फिर वही वाक्य बोलता है । सूर्यस्यावृतमन्त्वावर्त्ते । भाव यह है कि गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भी मैं आसक्त न होऊँ । नक्षत्रवत् मेरी परिक्रमा करे । मैं उसकी परिक्रमा न करूँ । मैं तो परम पुरुष प्रजापति रूप सूर्य की ही आवृत में ही घूमूं ।।२०।।

अथ पुत्रस्य नाम गृह्णाति । इदं मेऽयं वीर्यं पुत्रोऽनुसन्तनवदिति यदि पुत्रो न स्यादप्यात्मन एव नाम गृह्णीयात् ।।२१।।

अब अपने पुत्र का नाम लेकर कहता है अमुक शर्मा, वर्मा, गुप्तो वा इदं में वीर्यं पुत्रो नु सन्तनवद् । पुत्र न हो तो भी घबराना नहीं, शिष्य ही सही, वह तार नहीं टूटना चाहिए । पत्नी के मरने पर धर्म की दुहाई देकर दूसरा, तीसरा, चौथा विवाह करने वाले जड़ श्रोत्रिय यह वाक्य क्यों नहीं पढ़ते । यदि पुत्र न हो तो अपना ही नाम ले ले ।।२१।।

अथाहवनीयमुपतिष्ठते । प्राङ् मे यज्ञोऽनुसन्तिष्ठाताऽइति तूष्णी-मुपतिष्ठते ।।२२।।

अब आहवनीय के समीप आकर खड़ा होता है, मेरा यज्ञ आगे बढ़ता रहे । इस लिए यहां आकर आदरार्थ मौन धारण करके खड़ा हो जाता है । जिससे आहवनी यानि अहंकार तक प्रवेश कर जावे ।।२२।।

अथ व्रतं विसृजते । इदमहं य एवाऽस्मि सोऽस्मीत्यमानुष इव वाऽएतद्भवति यद् व्रतमुपैति न हि तदवकल्पते यद्ब्रूयादिदमहꣳ सत्यादनृतमुपैमीति तद्‌ खलु पुन-र्मानुषो भवति तस्मादिदमहं य एवाऽस्मि सोऽस्मीत्येवं व्रतं विसृजेत ।।२३।। ब्राह्मणम् ।। सप्तमः प्रपाठकः समाप्तः ।। कण्डिका संख्या ११४ ।। नवमोऽध्यायः ।। अस्मिन् काण्डे कण्डिकासंख्या ८३८ ।।

अब व्रत-विसर्जन करता है । उस समय वाक्य बोलता है । इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि । य० २।२८ । सो व्रत धारण करने से उसमें अमानुष अर्थात् लोकोत्तर भाव का आवेश हो ही जाता है । सो अब यह तो शोभा नहीं देता कि कहे कि अब मैं सत्य से अनृत की ओर आता हूँ । यह व्रत तो सदा स्थिर ही रहना चाहिए । वह तो यज्ञ ही निष्फल हुआ । फिर साधारण मनुष्य बन गया । इसलिए अभिमान निवारणार्थ कहता है, इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि । अर्थात् इस समय मुझमें देव भाव है परन्तु मुझे वह कभी न भूलना चाहिए कि अन्त को हूँ मैं मनुष्य ही । मुझमें यह भाव तब तक ही है जब तक मेरा प्रेम परम ज्योति परमात्मा के साथ है । मुझ में अग्नि है । परन्तु आ-विष्ट अग्नि है । स्वयम्भू रश्मि तो वही परम सूर्य है ।

इति नवमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ।

इति शतपथब्राह्मणे हविर्यज्ञं नाम प्रथमं काण्डम् ।



परिशिष्ट

अथ प्रथमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

प्रतीक	प्रत्यायनीय

अप उपस्पृशति=आचमन करता है। आभ्यन्तरिक शुचि पवित्रता
अग्निमेवाभीक्षमाणो=अग्नि को देखता हुआ=परमात्मा को साक्षी करके,
उपवास=देवों के समीप वसना
पितृदेवत्यो भवति=क्षीण होता है।
प्रणीता=सुशिक्षिता स्त्रियाँ।
गार्हपत्यम्=घर (गृहा वै गार्हपत्या)
अप: प्रणयति=विवाह करता है।
आप:=स्त्री जाति=(योषा वा आप:)
वृषा=अग्नि वृषाग्नि।
नान्तरेण स्त्री पुरुष के बीच से न जावे=स्त्री-पुरुष के पारस्परिक व्यवहार में कोई अन्य हाथ न बंटावे।
नातिहृत्य=अत्यन्त समीप भी न करे=स्त्री-पुरुष अत्यन्त समीप भी न रहें।
अनाप्रा:=अति दूर भी न रहे। जिससे उद्देश्य की पूर्ति ही न होवे।
सम्प्रति=उचित दूरी
तृणै: परिस्तृणाति=तृणों से आच्छादन करता है=स्त्री की रक्षा पुरुष का कर्त्तव्य है।

इति प्रथमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्।

अथ प्रथमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

शूर्प=विवेक
अग्निहोत्रहवणी=जिज्ञासा
वाचं यच्छति(मौन धारण करते हैं)=एकाग्रता होनी चाहिए
अथ प्रतपति=दम्पती गृहस्थाश्रम में तप न भूलें
उर्व्वन्तरिक्षमन्वेमि=गृहस्थों के मकान खुले हों

अनस=भूमा=अधिकता अग्रगामिता, संगठन
अन्तरायमु स्फ्यमु र्बहि अवस्तादुपोह्य पात्र के नीचे स्फ्य लगाता है=सन्तान उत्पन्न करने वालों को ब्राह्मणानुमोदन प्राप्त हो।
अन्तरिक्ष=गृहस्थाश्रम
दिवम्=वानप्रस्थ
अमास्यति=तृणादि हटाता है। दुष्टभावों को दूर करता है
अश्विनौ=आज्ञाओं को प्रयोग में लाने वाले कार्यकर्त्ता
पूषा=राज्य का अंश लेने या देने वाले कार्यकर्त्ता लोग
गार्हपत्य=मातृकुल
आहवनीय=अपने कुल (पितृकुल)

इति प्रथमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्।

अथ प्रथमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

पवित्रे=दो तपोयुक्त स्त्रियाँ राज्य की ओर से गर्भवती के लिए नियुक्त हों। देखभाल करने के लिए
वृत्र=भोगवाद
उदिंगन=स्त्रियों को उनकी महिमा तथा उनके गौरव से परिचित करा देना चाहिए।
यज्ञपात्राणि प्रोक्षति=गर्भिणी के वस्त्रादि शुद्ध होने चाहिए, यज्ञ पात्रों को शुद्ध करता है।

इति प्रथमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्।

अथ प्रथमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्

कृष्णाजिन=त्रयी विद्या, ऋग्, यजुः, साम। गद्य, पद्य, गीत।
कृष्णाजिनमधि दीक्षन्ते=बालक के खेल-कूद, आमोद-प्रमोद भी ज्ञान के बढ़ाने वाले ही होवें।
अभिनिहितमेव भवति सव्येन पाणिना=परिवार के बालकों के ज्ञान का भी आचार्य लोग ध्यान रक्खें।
बायें हाथ से मृगचर्म ढके रहता है।
उलूखल=गुरुकुल विश्वविद्यालय
मूसल=आचार्य
वैष्णवीमृचम्=संगठन कर्म
हवि=बालक का मस्तिष्क
वृद्धग्रावा=कुलपति (श्रेष्ठ विद्वान्)
हविष्कृत्=वाणी
ऋषभ=शब्द=गद्य
मानवी (मनु की पत्नी)=पद्य
पात्र=नाटक
यज्ञमेव=यज्ञ में=राष्ट्र के अधिकार में।

यज्ञपात्रम्=प्रत्यक्ष दर्शन प्रणाली
वर्षवृद्धम्=वह विद्वान् जिसके ऊपर अनेक वर्षों तक ज्ञान का बादल वर्षा हो।
चावल=विद्यार्थियों द्वारा आत्मसात् कर लिया हुआ ज्ञान
धान=जो आत्मसात्=समझ में नहीं आया हुआ हो
टूटे चावल=अधूरा ज्ञान

इति प्रथमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्।

इति प्रथमाध्यायः

अथ द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

कपाल=शिर कपाल
पिष्ट=मस्तिष्क
उपवेष=दण्डाधिकार
आमादग्नि=अब्रह्मचर्य
क्रव्यादम्=मृत्यु
मध्यमकपाल='पाठ्यक्रम में सर्वश्रेष्ठ समय'
अन्तरिक्ष=गृहस्थाश्रम
दृषद् (सिल)=ग्रंथ (पाठ्य ग्रंथ)
उपल (बट्टा)=बुद्धि
शम्या=स्मरण-शक्ति
पर्वती=विद्या
महीनां पयोऽसि=माता का वात्सल्य

इति द्वितीयाध्याये प्रथ मं ब्राह्मणम्।

अथ द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

पवित्रे=तपस्या
रेवती=अर्थकरी विद्या
जगती=व्यवहारोपयोगी
हविः=विद्यार्थी जीवन का आधा भाग
आज्य=अर्धावशिष्टभाग (लाड़ चाव का)
प्रथयति=विद्यार्थी अन्य विद्याओं से भी परिचित होवें।
न सत्रा पृथु=पल्लवग्राहिपाडित्य किसी विषय पर विस्तृत ज्ञान का यत्न न कर के विशेषज्ञ होना।
तमद्भि रभिमृशति=विद्यार्थी को विश्राम भी मिलना चाहिए
पर्यग्निकरोति=चारों तरफ अग्नि घुमाता है, ज्ञानाग्निमय वायुमण्डल।

सोऽभिमृशति=साधारण प्रजा भी बालकों का निरीक्षण करे
यात्रीनिर्णेजनम्=सर्व अधिकार अर्पित कर देना

इति द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ।

अथ द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

त्वष्टा=(व्यक्ति वाद) व्यक्तिगत अधिकार
द्वित=परीक्षास्थलों मे विद्वानों की खोज कर बताने वाले
त्रित=परीक्षा लेने वाले
एकत=विद्वानों की आवश्यकता बताने वाला
आप:=प्रजा (मनुष्या वा आप:)७।३।१।२०
अपक्रान्तमेध:=शक्तिहीन

इति द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ।

अथ द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्

स्फ्य=पुरोहित का अधिकार
यूप=अध्यापकों का अधिकार
रथ=राजाज्ञा
शर=दण्ड पूर्वक शासन
वेदि:=स्त्री (योषा वै वेदि:) श० १।३।३।८
पृथिवी=स्त्री जाति
आत्मानम्, अपने को=ब्राह्मण
उदञ्च=साधारण मनुष्यों के विचार
अग्नि, अग्निब्रह्म—ब्राह्मण, ब्रह्मशक्ति
चतुर्थ लोक=संन्यासाश्रम
तृणमन्तर्धाय=स्त्री तथा विद्वानों में थोड़ा व्यवधान भी रहे।
ओषधि=उत्साह शक्ति
अरस=ज्ञान सम्बन्धी चञ्चलता
गोष्ठानम्=जहां स्त्रियां मिलकर अपनी सहेलियों से वार्तालाप करें।
अध्वर्यु=गृहस्थाश्रम का पुरोहित

इति द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम ।

अथ द्वितीयाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम्

विष्णु:=संगठन
छन्द:=अनुशासन

छः ऋतु=विचार, अनुराग, सन्ध्युक्षण, रति क्रिया, वीर्य सेचन
असुर=स्वार्थी लोग
देव=संगठन के लिए जीने वाले लोग,
गायत्रेण (गायत्री)=ब्राह्मण मर्यादा से
त्रैष्टुभेन=क्षात्र मर्यादा से (क्षत्रं त्रिष्टुप् श० १।३।५।४)
विष्णु=गर्भ का बालक
वेदि=गर्भाशय
चन्द्रमा=सन्तान
प्रोक्षणी=सात विदुषी स्त्रियां जो यज्ञ में ज्ञान की वर्षा से यज्ञ के कार्यकर्त्ताओं को सींचती हों।
पाणीऽअवनेनिक्ते हाथ धोता है=युवावस्था में पुत्रादि के प्रति कठोर व्यवहार न करे।
अवमर्शं यजन्ते=सहशिक्षा
वर्हिः=लोम

इति द्वितीयाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम्
इति द्वितीयाध्यायः।

अथ तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

अग्नेरन्तरतः=कुशाग्र सूक्ष्म आभ्यन्तरिक शुद्धि
मूलतः=बाह्य शारीरिक शुद्धि
स्रुक् सम्मार्जन=नैमित्तिक नियम जो किसी बुरी आदत को दूर करने के लिए बनाये गये होते हैं।
पत्नीं सन्नह्यतिस्त्री को बाँधता है=स्त्री को गृहस्थ धर्म में प्रेम पूर्वक साथ रक्खें
आज्यमवेक्षते, घृत देखना=पति के वीर्य रक्षा का पत्नी को पूर्ण ध्यान रखना चाहिए
सूर्य=ज्ञान
स्रुक्=स्त्री
स्रुच्=पति

इति तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्।

अथ तृतीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

पुरुषो वै यज्ञः=पुरुष ही यज्ञ है
जुहू=भोक्ता
उपभृत्=भोग्य
अनुष्टुप्=वाणी

इति तृतीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

अथ तृतीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

नीवि—आच्छादन=कन्या को यौवनोद्गमकाल में ब्रह्मचर्य की महिमा बता दे ।
वर्हि स्तृणाति=शृंगार
परिधि=कवच वंशपरम्परा, राजानुमोदित, प्रजानुमोदित
वषट्कार=किसी पदार्थ को पूर्णता तक पहुँचाना
भुवपति=वंशपरम्परा
भुवनपति=राजानुमोदित
भूतानाम्पति=प्रजानुमोदित (प्रजानुमोदन)
अग्नि=विज्ञान

इति तृतीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

अथ तृतीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्

आर्द्र=विनम्र तथा तेजस्वी, ओजस्वी राजा के मार्गदर्शक
गन्धर्व=वे रूढ़ियाँ जो प्रजा को अत्यन्त प्यारी हों ।
इन्द्र=राजनियम
वेदि:=स्त्री=मुख्य 'सहायक'
प्रयाज—प्रत्येक कार्य को जितना समय देना हो ।
अनुयाज=कार्य के अनुकूल जितनी सामग्री बाँटनी हो । कार्यानुकूल देय वस्तु
विधृति=कर्त्तव्यशाला के निरीक्षक
ऊर्णम्रदस:=विघ्नहन्ता
प्रस्तर=शिष्टाचार
अभिनिहित एव सत्येन पाणिना भवति वांयें हाथ से दबाये रखता है=शिष्टाचार का पालन करते हुए बातचीत वाद-विवाद करे ।
उपभृत्=आप
जुहू=व्यय
ध्रुवा=स्थिर कोष
आज्यस्थाली=राष्ट्र की सम्पत्ति

इति तृतीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्

अथ तृतीयाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम्

सामिधेनी समिन्धन=संवत्सर
अध्वर्यु=मुख्य कार्यकर्त्ता

होता=मार्गदर्शक (भविष्य) नियम बताने वाला
एकादश मन्त्र=क्षत्रिय
गायत्री=ब्राह्मण
वसन्त=कार्यारम्भ
ग्रीष्म=जब कार्य जोर से चल रहा हो
वर्षा=विश्रान्ति
शरद्=कार्य जांच पड़ताल
हेमन्त=उपसंहार
अग्नि (भू)=तर्क से कार्य जानना
वार्य (भुवः)=सामग्री उपस्थित करना तथा कार्य में लगाना।
आदित्य (स्वः)=सौन्दर्य सम्पन्न करने का प्रकार

इति तृतीयाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम्।

अथ चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

हिंकार=कार्य पर विचार
प्र=प्रकर्षता की परीक्षा
आ=आदर पूर्वक बुलाना
वैश्वानर=शिक्षा का सर्वसाधारण में प्रचार
वीतिहोत्र शिक्षा=मनुष्यों को खाने कमाने के योग्य बनाने वाली
अर्चिष्मती शिक्षा=उच्चकोटि के विद्वान्
वैश्वानर अग्नि=सर्वसाधारण प्रजा में ज्ञान का प्रसार (लोकप्रिय शिक्षण)
द्यौः ऊपर चली गई=कार्य के लिए अवकाश करना
अंगिरः=संविधान का वर्गीकरण
बृहच्छोचा=अविरत श्रम
यविष्ठ्य=मिश्रणामिश्रण करना

इति चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्।

अथ चतुर्थाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

उपामदन्ति=उत्साह बढ़ाते हैं।
यजमान=संकल्पकर्त्ता
अध्वर्यु=प्रयत्नशील (प्रबन्धकर्त्ता)
होता=ज्ञानशील
उद्गाता=अनुभूतिशील
ब्रह्मा=सूक्ष्म निरीक्षक

इति चतुर्थाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

अथ चतुर्थाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

प्राणा=उपयोगितान्वेषण परायणता ।
अपान=अव्यवस्था को दूर करना ।
उदान=पदार्थों का नये जोड़ तोड़ द्वारा परीक्षण करना
श्रवाय्य=सुविश्रुत विख्यात
नमस्य=नमस्करणीय हो ।
देववाहन=दिव्य भावनाओं से युक्त
दीप्यतम् वृहत्=वह देदीप्यमान तथा बहुदर्शी
शोचिष्केश=अलुप्त ब्रह्मचर्य बहुदर्शी
मध्यम प्राण=ज्ञान के लिए सर्वस्व अर्पण
अधोगामी प्राण=कार्य-समाप्ति पर अन्तिम दृष्टिपात
अनुव्याहरण=बीच में बोलना या बाधा डालना,

इति चतुर्थाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ।

अथ चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्

आघार=अक्षुण्ण रूप से कार्य पर चलता रहे ।
पूर्वाघार=होतादि का मानसिक कार्यक्रम बनाना
उत्तराघार=वाचिक क्रिया
तिष्ठन् वाच आघारयति=खड़े होकर ही कार्य क्रम सुनावे
त्रि उपवाजन=त्रयी विद्या अर्थात् वेदानुमोदित संविधान
प्रजापति का ध्यान करना=आने वाली सन्तान का भी ध्यान संविधान

इति चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

अथ चतुर्थाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम्

उत्तराघार=बजट
नमः=देवों का वेतन
स्वधा=पितरों की पेन्शन
द्यावा=व्यय
पृथिवी=आय
ध्रुवा=यजमान
अत्रि=रहस्य का गोल माल रूप
गर्भ=गपोड़ा रूप गर्भ ।

इति चतुर्थाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम् ।

अथ पञ्चमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

प्रवराश्रवण=शपथ ग्रहण करना (घोषणा पूर्वक)
इध्म सन्नहन=होता के प्रतिष्ठित करने के नियम पालन कर लिए गए हैं।
वसु=माल पैदा करने वाले।
रुद्र=रक्षा करने वाले।
आदित्य=क्षति पूर्ति करने वाले।
गार्हपत्य=स्त्री सहयोग
आहवनीय=यजमान का संकल्प

इति पञ्चमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्।

अथ पञ्चमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

जुहू=यजमान
उपभृत्=यजमान का विरोधी
प्रत्याश्रावण=लौटकर सूचना देना

इति पञ्चमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्।

अथ पञ्चमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

प्रयाज=यज्ञ में ठीक समय का विभाग
आज्य=कार्यकर्त्ता और यजमान का परस्पर स्नेह
यत्रैव तिष्ठन्, एक स्थान पर स्थित रखना=कार्यकर्त्ताओं के कार्यों में वार वार हस्ताक्षेप न करना,

तनूनपात्=कार्य सरगर्मी से चल रहा हो।
रेतसा सिक्तेन=वस्तुओं को फिर सजाना
स्विष्टकृत्=निरीक्षण
जुहू में अवशिष्ट घृत=अगले अंगों के लिए कार्य बचाकर रखना

इति पञ्चमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्।

अथ पञ्चमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्

समिध=प्राण (प्राणा वै समिधः)
हेमन्त=बालक को गुरुकुल भेजने पर जो अवसाद होता है

इति पञ्चमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्।

अथ षष्ठाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

यूप=विचार के पश्चात् निर्धारित किया हुआ नियम
कच्छप=मन्दगति जितेन्द्रियता
अग्नीषोमीय=पारिवारिक सुख
ऐन्द्राग्नि= ,, ,,
आग्नेय=शुद्ध सामाजिक सुख

इति षष्ठाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्।

अथ षष्ठाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

इन्द्र=समाज का प्रतिनिधि राजा
त्वष्टा=व्यक्ति के देवता
सूर्य=विज्ञान
चन्द्रमा=ललित
दिन रात=स्त्री पुरुष
शुक्ली=गर्भाधान से प्रसूत काल तक
कृष्णपक्ष=प्रसूत द्वितीय गर्भाधान
त्वष्टा का पुत्र=श्रम
त्रिशीर्षा (तीन शिर)=तीन प्रकार का श्रम
तानि शीर्षाणि प्रचिच्छेद=समाज ने व्यक्ति के अधिकारों को काट डाला
कपिञ्जल=उपयोगी श्रम
कलविङ्क=विलासी श्रम
सौत्रामणि याग=आपत्ति-काल में प्रजा से बलपूर्वक कार्य लेना
अग्नि=विज्ञान (पुरुष)
सोम=ललित कला (स्त्री)
इन्द्र=राज्य
सोम=स्नातक
आज्य भाग=प्रेम व्यवहार
उपांशु याग=अहंकार क स्थिति
दांत=विवेक
एक तरफ दाँत=अहंकारावस्था
दोनों तरफ दांत=बुद्धि और अहंकार
संवत्सर=शामियाना

इति षष्ठाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्।

अथ षष्ठाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्

अग्नि देव=संकल्प-पूर्ति की भावना
हिरण्यस्तूप=परिवार के आमोद-प्रमोद की सुवर्णमयी भावना
बृहती=बड़ा राष्ट्र देखने की भावना
ओषधि=उत्तम गम्भीर साहित्य
दधि=उत्तम मनोरंजक साहित्य

इति षष्ठाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

अथ सप्तमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

सोमलोक=आचार्य का आश्रम
पलाश=ब्राह्मण
वत्सान् (बछड़ों को)=मनोवृत्तियों को
यवागु=मुख्य कार्य की अपेक्षा नित्य कार्य गौण है ।
तिस्रो दोग्धि=पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, तीन लोक
याविहोत्र=दुर्बलों के प्रति सहायता और सहानुभूति ।।

इति सप्तमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ।

अथ सप्तमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

स्विष्टकृत्=निरीक्षण
उत्तरतः=साधारण मनुष्य की विचारधारा
पशुपति=निरीक्षण करने वाला विभाग

इति सप्तमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ।

अथ सप्तमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्

प्रजापति=किसी भी अपने विभाग का अधिष्ठाता
दुहितु : मिथुनम्, पुत्री के साथ भोग=अपने विभाग से कोई स्वार्थ सिद्ध करना
उषा=उत्साह
भग=कुटुम्ब के लोग
पूषा=निरीक्षणीय विभाग का ही कार्यकर्त्ता
बृहस्पति=पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण
घृतोपस्तरण=प्रेम की वृद्धि
वाचंयम=चुपचाप निरीक्षण करे ।

इति सप्तमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

अथ अष्टमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

मत्स्य=कृपा करने वाला मनुष्य
उत्तरगिरि=अन्नकूट
योषित् सम्बभूव=खेती नामक स्त्री पैदा हुई
दक्षिणात्येति, दक्षिण की ओर जाता है=अन्नरक्षार्थ बलिष्ठ का सहारा लेते रहना।
सामानि=ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ
पवित्रे=प्राणोदान

इति अष्टमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्।

अथ अष्टमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

नराशंस=भले बुरे की जांच तथा प्रशंसा और घोषणा
अनुयाज=प्रत्यालोचन और नियम बनाना
उल्मुके, दो दहकती लकड़ी=कम से कम एक अनुमोदन करने वाला
छन्दोऽग्नि=पूर्वानुभव
छन्द=नियम
वर्हिः, याज=फल (फल का हिसाब)
त्रिष्टुप्=ईमानदारी, कुशलता और तत्परता

इति अष्टमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्।

अष्टमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

स्रुग्व्यूहन=आय व्यय का हिसाब
वाज=यौवन मस्ती
दशष्टि=क्षीणता दूर करना
सूक्तवाक—केवल अच्छे कार्यों की पड़ताल तथा प्रशंसा

इति अष्टमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्।

अथ नवमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

पत्नीसंयाज=पत्नी का अधिकार
समिष्ट यजुः=कार्य समाप्ति की निश्चित तिथि
अग्नि=कुल पुरोहित

इति नवमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्।

इति शतपथब्राह्मणे प्रथमं काण्डम्।

दयानन्द संस्थान का आकर्षक साहित्य

1. Light of Truth

अंग्रेजी सत्यार्थ प्रकाश—महर्षि दयानन्द के महान् ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश का मास्टर दुर्गाप्रसाद कृत यह अनुवाद प्रत्येक दृष्टि से अनुपम है। छपाई, कागज, जिल्द सभी दृष्टि से अत्यन्त आकर्षक यह ग्रन्थ लागत मात्र पर दिया जा रहा है। पृष्ठ ५७८। साइज डिमाई आठवाँ।

कपड़े की बढ़िया जिल्द १२)

2. TEACHINGS OF SWAMI DAYANANDA

—मूल्य १.००

महर्षि दयानन्द की विचार धारा और शिक्षाओं से सभी को परिचित कराने के लिए अनुपम पुस्तक।

3. TEN COMMANDMENTS OF THE ARYASAMAJ Re. 1.00

आर्य समाज के १० नियमों की अभूतपूर्व व्याख्या : स्व० पं० चमूपतिजी की लेखनी से। स्वामी जी के तिरंगे चित्र सहित मूल्य १)

4. MESSAGE OF THE ARYA SAMAJ TO THE UNIVERSE

भारतेन्द्रनाथ साहित्यालङ्कार लिखित—आर्य समाज का संदेश फैलाने हेतु प्रभावशाली पुस्तिका—जिसका ८ भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। —मूल्य ५० पैसे।

5. VEDIC-PRAYER

संध्या, प्रार्थना, मंत्र, हवन, स्वस्तिवाचन, शांतिप्रकरण, ईशोपनिषद् आदि सभी की पूर्ण व्याख्या हिन्दी अंग्रेजी में एक साथ—और चुने हुए भजन, भेंट के लिए अत्युत्तम मूल्य २) ५०

6. DAYANAND THE GREAT (तीसरा नया संस्करण)

पं० वेद मित्र ठाकुर लिखित प्रभावशाली ट्रैक्ट मूल्य १५ पैसे

7. AN INTRODUCTION TO THE ARYA SAMAJ

(तृतीय संस्करण) आर्य समाज से सभी को परिचित करने के लिए भावशाली ट्रैक्ट मूल्य १५ पैसे

8. THE GREAT GAYTRI मूल्य २०। १५ पैसे) सैकड़ा

गायत्री मंत्र का यह सुन्दर अंग्रेजी अनुवाद प्रत्येक दृष्टि से आकर्षक है। ७५) रिम के सवश्रेष्ठ कागज पर रंगीन मोहक छपायी

9. THE VEDIC FUNDAMENTALS RS. 2.50

वैदिक धर्म के सिद्धान्त समझने हेतु प्रभावपूर्ण मार्ग दर्शन

10. VEDIC LIFE

वैदिक जीवन पद्धति पर चुनें मंत्रों का अर्थ सहित संग्रह मूल्य २)५०

11. What is yoga ? योग के सम्बन्ध में मार्गदर्शन मूल्य—१५ पैसे

12. The man and His Religion

स्वामी सत्यप्रकाश जी लिखित एक ऐसा ग्रन्थ जो अपूर्व है—मूल्य १)

13. Life of Swami Dayanand D. N. Vasudeva···मूल्य १)

14. Christianity and Vedas

पं० धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड लिखित मूल्य १.५०

15. Bible in the Balance चार्ल्स स्मिथ द्वारा लिखित मूल्य १५ पैसे

16. A challenge to the christian faith स्वामी श्रद्धानन्द ५ पैसे

17. Essence of vedic Religion मूल्य 15 पैसे

18. The Fundamentals of the Arya Samaj मूल्य 15 पैसे

वैदिक हिन्दी साहित्य

१. वदिक सत्संग पद्धति (हिन्दी) नया संस्करण मूल्य ६० पैसे

केवल हिन्दी में प्रत्येक मंत्र के साथ उनका अर्थ दिया गया है। २८ पौंड बढ़िया कागज, तिरंगा बढ़िया आवरण, चुने हुए भजन। ८४ पृष्ठ। मूल्य ६० पैसे। ५० रु० सैकड़ा।

२—उपनिषद्—वचनामृत। पं० दीनानाथ सिद्धान्तालंकार—मूल्य ४०पैसे

उपनिषदों का सार पुस्तक में प्रभावशाली ढंग से अंकित हैं।

३—धर्मग्रन्थावलोकन—संसार के प्रमुख धर्म ग्रन्थों का प्रामाणिक परिचय अनुपम ग्रंथ-प्रिंसीपल रत्नचन्द शर्मा एम. ए. लिखित —मूल्य १) ५०

४—गीत मंजरी—नया तीसरा बड़ा संस्करण मूल्य १)४०। १००)सैकड़ा

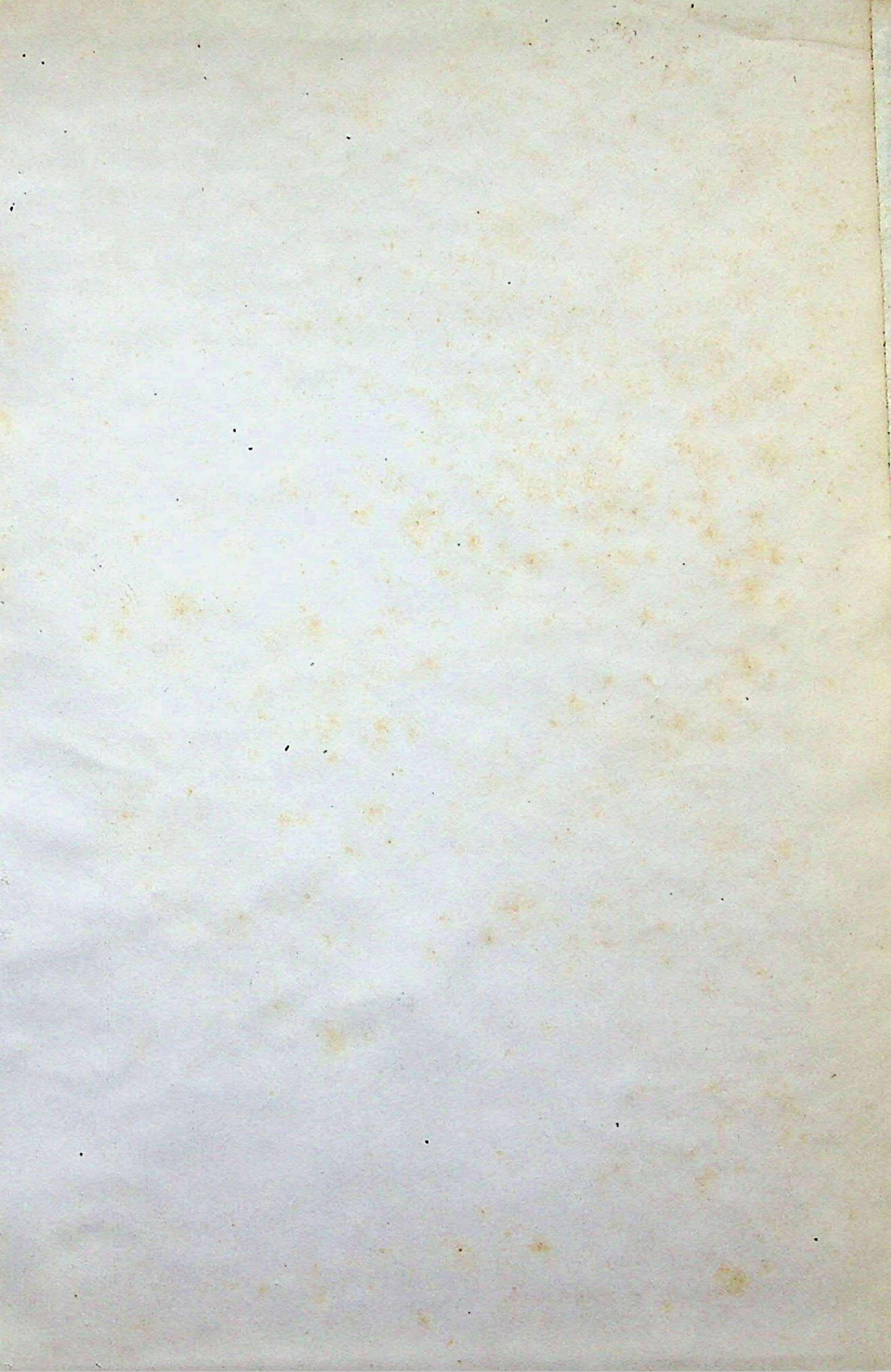
ईश्वर भक्ति के गीत और प्रभु से प्रार्थना करते हुए यदि आप सचमुच अपने आपको भुलाना चाहते हैं तो 'गीत-मंजरी" का सहारा लीजिए।

५—ईश्वर-भक्ति—स्वामी सर्वदानन्द जी द्वारा लिखित अनमोल रचना —मूल्य ८० पैसे

६—मोक्ष का वैदिक मार्ग आचाय वैद्यनाथ-योगिराज पथिक का अनुपम मार्गदर्शन —मूल्य ५० पैसे

दयानन्द संस्थान करोलबाग नई दिल्ली

मुद्रक : भाटिया प्रेस, गाँधीनगर दिल्ली-३१





वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।

महर्षि दयानन्द